वैष्णव साधना और सिद्धान्त :

हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव

लेखक

स्व० डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
कदमकुआँ, पटना-३

वैष्णव साधना और सिद्धान्त : हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव

(**Vaishnav Sadhana Aur Siddhant :
Hindi Sahitya Par Uska Prabhav**)

वैष्णव साधना और सिद्धान्त :

हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव

लेखक

स्व० डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

भू० पू० प्राचार्य, गया कॉलेज

निदेशक, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्;

रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग

मगध-विश्वविद्यालय, बोधगया

आत्मनिवेदन

पद्मविभूषण महामहोपाध्याय

डॉ० गोपीनाथ कविराज महोदय

काशी

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

कदमकुआँ, पटना-३

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत सरकार (शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रकाशित ग्रंथ-संख्या ५३

प्रथम संस्करण : मई १९७३ ई०
५,०००

मूल्य : रु० १६.०० (सोलह रुपए मात्र)
संशोधित मूल्य रु०- Rs 32=00

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
कदमकुआँ, पटना—३

मुद्रक :
बिहार प्रिंटिंग प्रेस
पटना—४

परम भागवत

पुण्यश्लोक

स्व० भाईजी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

की

पावन स्मृति में
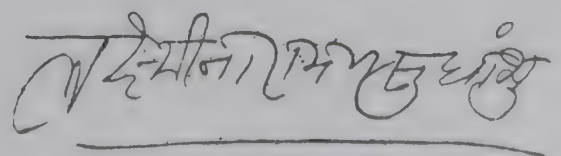
प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशत: केन्द्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदी-भाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ 'वैष्णव साधना और सिद्धान्त : हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव' स्व० डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। यह ग्रंथ विश्वविद्यालय-स्तर के छात्रों के लिए महत्त्वपूर्ण होगा।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

पटना
दिनांक ५ मई, १९७३

अध्यक्ष
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रंथ 'वैष्णव साधना और सिद्धान्त : हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव' मध्यकालीन हिंदी-साहित्य के अधिकारी विद्वान् स्वर्गीय डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' की अनुपम कृति है। डॉ० माधव वैष्णव साहित्य के गम्भीर अध्येता और साधक विद्वान् थे। प्रस्तुत ग्रंथ में उन्होंने दीर्घकालीन साधना का अमृत निचोड़कर रख दिया है। मुझे खेद है, यह ग्रंथ माधव जी के जीवनकाल में मुद्रित होकर प्रकाशित न हो सका। अब यह पाठकों के हाथों में है।

मेरा विश्वास है, हिंदी-भाषी क्षेत्र के विश्वविद्यालयों के उच्चस्तरीय विद्यार्थी इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ से भरपूर लाभान्वित होंगे और इस कृति के प्रकाशन का सर्वत्र स्वागत होगा।

इस ग्रंथ का मुद्रण बिहार प्रिंटिंग प्रेस, पटना—४ में सम्पन्न हुआ है। प्रूफ-संशोधन का कार्य विद्वद्वर श्री श्रीरंजन सूरिदेवजी ने किया है। आवरणशिल्पी श्री बी० के० सेन हैं। आवरण का मुद्रण हिंद आर्ट काटेज, पटना में सम्पन्न हुआ है। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

शिवचन्द्र प्रसाद

पटना
दिनांक ५ मई, १९७३

निदेशक
बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी

विषय-सूची

आत्मनिवेदन

हिन्दी-काव्य-साहित्य का प्रायः निन्यानब्बे प्रतिशत वैष्णववाद से प्रभावित है। जो कुछ इस प्रभाव-सीमा से बाहर है, वह भी येन केन कारणेन प्रभाव से सर्वथा मुक्त है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। बात यह है कि भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण का मनोहारी रूप, उनकी विविध अगजग-मोहिनी लीलाएँ, अवध एवं व्रज, जनकपुर, चित्रकूट, द्वारका, मथुरा, निधुवन, वंशीवट आदि उनके धाम और सबसे अधिक उनके 'मङ्गलं मङ्गलानां' नाम में ऐसा दिव्य आकर्षण है कि कोई भी उसकी चपेट में आये बिना बच नहीं सकता। हिन्दू तो हिन्दू, अनेक मुसलमान और ईसाई भक्तों ने अपना सर्वस्व इनके चरणों में निवेदित कर अपने को धन्य किया है। ऐसा अपूर्व रूप, ऐसी मधुमयी लीला, ऐसा हृदयहारी नाम और ऐसा दिव्य धाम और है कहाँ? भारतवर्ष का एक-एक व्यक्ति, एक-एक कण उनकी दिव्य लीलाओं के रस से ओतप्रोत है। और भारतवर्ष ही क्यों, विदेशों में भी उनकी रूपमाधुरी, लीलामाधुरी का जादू अपना चमत्कार दिखा रहा है। आज अपने देश में भौतिक विकास की जो चकाचौंध छाई हुई है, उसमें हृदय का रससागर सूख रहा है, परन्तु विदेशों में भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का, नाम का, रूप का विस्मयकारी चमत्कार देखने में आ रहा है। जो हो, कन्याकुमारी से कश्मीर तक और द्वारका से कामरूप तक यह सारा देश रामकृष्णमय है—साहित्य में, ललित कलाओं में, मन्दिरों और मठों में, संगीत और नृत्य में, वेशभूषा में, खान-पान में, आचरण-अभ्यास में सर्वत्र राम और कृष्ण का प्रभाव शाश्वत और सनातन है; हम चाह कर भी, चेष्टा करके भी इस प्रभाव से कभी नहीं मुक्त हो सकते। अस्तु।

भारतवर्ष में चार वैष्णव सम्प्रदाय चार पृथक्-पृथक् धाराओं में वैष्णव धर्म का प्रचार करते आ रहे हैं: श्रीरामानुजाचार्य का श्री-सम्प्रदाय (विशिष्टाद्वैत), श्रीनिम्बार्काचार्य का हंस-सम्प्रदाय (द्वैताद्वैत), श्रीमध्वाचार्य का ब्रह्म-सम्प्रदाय (द्वैत) और श्रीवल्लभाचार्य का रुद्र-सम्प्रदाय (शुद्धाद्वैत)। ये चारों सम्प्रदाय भगवान् के नाम, रूप, गुण, कर्म, सभी को नित्य और चिन्मय मानते हैं। इन चारों में श्रीरामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में स्वामी श्रीरामानन्द के तथा स्वामी श्रीवल्लभा-

चार्य के प्रभाव में हिन्दी-काव्य-साहित्य का अधिकांश निर्मित हुआ है। यों महाप्रभु चैतन्यदेव से प्रभावित वैष्णव साधकों की संख्या भी कम नहीं है, जिनमें जयदेव और जयदेव से प्रभावित विद्यापति मुख्य हैं। शैव और शाक्त सम्प्रदायों की अपेक्षा वैष्णव सम्प्रदाय का ही प्रभाव इस देश में विशेष रूप से क्यों पड़ा, यह अपने-आप में शोध का सुन्दर विषय है। मेरा अपना विचार है कि शैव और शाक्त मत में कृच्छ्र उपासना का जो उग्र रूप है और उसमें रंचमात्र भी इधर-से-उधर होने में भयंकर परिणाम की आशंका है—तान्त्रिक योग की विविध विकट क्रियाओं—कायशोधन, कुण्डलिनी-जागरण, पंचमकार का सेवन, श्मशान-सिद्धि, प्रेतसिद्धि आदि कष्टसाध्य अथवा भयावह साधनाओं के उपक्रम और जंजाल के कारण ही साधक इस दिशा में कम मुड़े। इसके अतिरिक्त उसका बहुत कुछ गुप्त और गोपनीय रहा, केवल शिष्य-परम्परा में ही। बहुत जतन से छिपाकर गुह्य बताते हुए व्यक्त करने की परम्परा से भी उसके प्रवाह में बाधाएँ आईं। ठीक इसके विपरीत वैष्णवों का राजमार्ग सबके लिए उन्मुक्त था; यहाँतक कि आँख मूँदकर इस मार्ग पर दौड़नेवालों के लिए भी स्खलन या पतन की शंका है ही नहीं—'धावन्निमीलयन्नेत्रं न स्खलेत् न पतेदिह'—डंके की चोट ऐसी घोषणा करने का साहस केवल वैष्णव उपासना में ही है। सबसे अधिक आकर्षण तो भगवान् के नाम, भगवान् के रूप, भगवान् की लीला और भगवान् के श्रीचरण से पवित्र श्रीधाम में है, जिसमें मानव-मन को आकृष्ट कर रस में सराबोर कर लेने की अपूर्व क्षमता है। प्रेम का जैसा हृदयावर्जक रूप वैष्णव ग्रन्थों में वर्णित हुआ, लीला के द्वारा जगत् को अपनी ओर आकृष्ट कर लेने का जैसा उपक्रम भगवान् में व्यक्त हुआ कि लगा कि हम उसकी तलाश में नहीं, वही हमारी तलाश में है—'नामसमेतं कृत सङ्केतं वादयते मृदुवेणुम्'—एक-एक का नाम लेकर वह वंशी में गाता है और अपनी ओर बुलाता है। लोक और वेद की शृंखला स्वयं टूट जाती है और भक्त अपने को भगवान् की प्रियतमा के रूप में उन्हें 'मनुहार' करते पाता है—'देहि मे पदपल्लवमुदारम्'। वास्तविक सेवाकुंज तो भक्त के हृदय में है—वन-वृन्दावन तो वन-वृन्दावन, भक्त का मन-वृन्दावन कितना मधुमय है, जहाँ नित्य वृन्दावन की नवनवोन्मेषशालिनी, नित्य नवनवायमान लीला-सुधारस की, 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति' जैसे रूप-रस की, जड़ को चेतन और चेतन को जड बना देनेवाली वेणुमाधुरी की सतत वर्षा होती रहती है। वैष्णव साधना ने वृन्दावन-लीला को भक्त के मन-वृन्दावन में उद्बुद्ध पर नित्य वृन्दावन का रसास्वादन कराया, यही उसकी अपार महिमा का मुख्य हेतु है। संक्षेप में, वैष्णव साधना और सिद्धान्त का प्राण है प्रेम; मानवीय प्रेम में दिव्य प्रेम का अवतरण, जिस कारण यहाँ का सब कुछ, क्या जड, क्या चेतन, 'सियाराममय', 'राधामाधवमय' हो जाता है और यह

दिव्य रूपान्तर होता है कितना सहज भाव से ? दिव्य प्रेम का महाभाव रूप क्या है, यह इस पथ के साधकों के अनुभव का विषय है। साधारण भाषा में उसे पकड़ा नहीं जा सकता, कारण कि वह अनुभवैकगम्य है, स्वसंवेद्य है, अनिर्वचनीय है।

प्रेम की कोई निश्चित वा उपयुक्त परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है। कदाचित् इसी कारण, देवर्षि नारद से लेकर प्रेम के अन्य आधुनिक मर्मज्ञों तक ने उसे किसी प्रकार अनिर्वचनीय ठहराने की ही चेष्टा की है।[1] फिर भी, प्रेम के व्यावहारिक रुप का परिचय देने की चेष्टा बराबर की जाती रही है। तदनुसार, 'प्रेम' शब्द का अभिप्राय साधारणतः उस मनोवृत्ति से है, जो किसी व्यक्ति की, दूसरे के सम्बन्ध में, उसके रूप, गुण, स्वभाव, सान्निध्य आदि के कारण उत्पन्न, कोई सुखद अनुभूति सूचित करती हो तथा जिसमें उस दूसरे के हित की कामना भी बनी रहती हो। किन्तु, इस कथन की परिधि के भीतर, प्रत्यक्षतः, किसी वस्तु, देश, विश्व वा भावना-विशेष के भी प्रति प्रकट किया जानेवाला प्रेम आता नहीं जान पड़ता, जिस कारण यह कुछ संकीर्ण प्रतीत होता है। इतना स्पष्ट है कि किन्हीं दो व्यक्तियों के बीच पाये जानेवाले प्रेम को ही अपने विकास वा पूर्ण अभिव्यक्ति का अवसर भी मिला करता है और इसी के अधिक-से-अधिक उदाहरण हमें समाज और साहित्य में उपलब्ध भी होते हैं। इसके सिवाय प्रायः यह भी देखा गया है कि किसी वस्तु, देश वा विश्व आदि के प्रति प्रेम-प्रदर्शन करते समय उसे कोई-न-कोई मूर्त्त रूप भी दे दिया जाता है। 'निर्गुण' एवं 'निराकार' परमात्मा तक की भावना को, इसके लिए, विना व्यक्तित्व प्रदान किये काम नहीं चलता।

अतएव, हमारे साधारण दैनिक अनुभवों में प्रेम का उक्त व्यक्तिपरक रूप ही अधिक स्पष्ट और उल्लेखनीय रहा करता है। प्रेमभाव के अन्तर्गत राग की वह प्रवृत्ति रहा करती है, जो किसी अन्य व्यक्ति वा अभिमत वस्तु की ओर आकृष्ट रहती है और जो सदा अप्रतिहत और अबाधित रूप में प्रवाहित होते रहने की चेष्टा करती है। यह मनुष्येतर प्राणियों तक में कभी-कभी नैसर्गिक रूप में पाई जाती है। इस कारण इसका एक रूप उस वासना में भी लक्षित होता है, जिसे साधारणतः 'काम' की संज्ञा दी जाती है और जिसे प्रायः सभी देश और काल के लोगों ने सृष्टि के उद्भव एवं विकास की मूल प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया है। 'काम' को हमारे यहाँ भी आदिसृष्टि तक का मूल स्रोत ठहराया गया है और कहा गया है कि इस विचार से देखने पर पशु और मनुष्य में पूरी समानता है। इस विषय के आधुनिक मर्मज्ञ हैवलाक एलिस का भी कथन है : "यौन सम्मेलन की प्रबल आसक्ति

---

१. 'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' तथा 'मूकास्वादनवत् ।' (नारदभक्तिसूत्र,५१-५२)

नर-नारियों को उद्भ्रान्त बना सकती है। और इस प्रकार की क्षुधा मनुष्य में पशुओं से किंचिन्मात्र भी विभिन्न नहीं हुआ करती।"[१] परन्तु, काम एवं प्रेम के बीच महान् अन्तर है। काम-वासना वस्तुतः स्थूल शरीरादि से सम्बन्ध रखती है और उन्हीं का उपभोग करना चाहती है तथा, इस प्रकार, वह कुछ काल के लिए तृप्त हो जाया करती है। किन्तु, प्रेम के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती; क्योंकि उसका आधार प्रधानतः मानसिक अथवा हृदयपरक हुआ करता है और वह सदा एक-रसता की अपेक्षा करता है। इसके सिवाय 'काम' एक प्रकार की चाह वा अभिलाषा है, जिसका प्रमुख उद्देश्य स्वार्थपरक हुआ करता है, जहाँ प्रेम के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में, 'काम' एवं 'प्रेम' दोनों मूलतः और तत्त्वतः एक होते हुए भी रूपतः एवं कार्यतः अभिन्न नहीं हैं।। 'काम' को हम प्रेम का रूप तभी दे सकते हैं, जब उसमें आमूल परिवर्त्तन करके उसे अधिक व्यापक और उदार बना दिया जाय। वैसा किये जाने पर ही उसकी इन्द्रियासक्ति का विष पूर्णतः दूर हो सकता है और उसके स्थान पर प्रेम का सुन्दर पुष्प विकसित और अधिष्ठित किया जा सकता है।[२] इस बात को 'विवर्त्त विलास' के रचयिता ने, दूसरे शब्दों में कहा है: "काम-वासना की दुर्गन्धि दूर होने पर 'गोपी-भाव' की दशा आ जाती है।"[३] गोपियों के प्रेम का प्रधान लक्ष्य अपने द्वारा प्रियतम कृष्ण को सुखी करना और उन्हें सुखी देखकर स्वयं भी आनन्दित होना था।[४]

फिर, 'काम' शब्द का अर्थ पहले 'इन्द्रियपरक वासना'-मात्र ही नहीं था, न इसी कारण, उसका व्यवहार ऐसे संकुचित रूप में हुआ करता था। 'काम' शब्द पहले प्रेम का ही वैदिक रूप था और वह इससे अधिक व्यापक भी समझा जाता था। वेदों में इसका प्रयोग अधिकतर 'कामना' के अर्थ में किया गया जान पड़ता है और इसीलिए 'पूर्ण कामनामुक्त' पुरुष को 'निकाम' भी कहा गया है।[५] 'कामस्तदग्रे

---

१. 'साइकोलॉजी ऑव सेक्स' से उद्धृत 'हारामणि', पृ० ४२।

२. वही, पृ० ४२।

३. 'काम गन्धहीन हइले गोपीभाव पाय।'—विवर्त्त विलास', पृ० ८६।

४. 'इहा के कहिये कृष्णे दृढ़ अनुराग । स्वच्छ धौतवस्त्र जेछे नाहि कोन दाग ॥
अतएव कामे प्रेमे बहुत अन्तर । काम अंधतम प्रेम निर्मल भास्वर ॥
अतएव गोपीगणे नाहि काम गंध । कृष्णसुख हेतु मात्र कृष्णेर संबंध ॥
—'श्रीचैतन्यचरितामृत'।

५. 'ऊर्व इव प्रपथे कामो अस्मे।' (ऋ० ३।३०।१९); 'इमं कामं मन्दया गोभिरश्वैश्चन्द्रवता राधासा प्रपथश्चै।' (वही, मं०२०) तथा 'ते कुत्सः सख्ये निकामः।' (वही, सू० १३, मं० १०)। इस सम्बन्ध में सन्त कबीर ने भी इस प्रकार कहा है:

'कांम कांम सब कोइ कहै, कांम न चीन्है कोइ।
जैती मन की कांमना, काम कहीजै सोइ ॥३२॥'

(क० सं० पृ० ४१, पादटिप्पणी)

समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' में काम शब्द वस्तुतः उस व्यापक अर्थ का ही बोधक है। फिर, पीछे इसका प्रयोग क्रमशः संकुचित अर्थ में भी होने लगा और अत्यधिक काम की प्रवृत्तिवाले पुरुष को 'कामी' कहकर उसे हेय तक ठहराया जाने लगा।[१] जान पड़ता है कि कामास्पद पदार्थ के प्रति अत्यधिक आसक्ति और तज्जनित वासना ने ही 'काम' को दूषित भावना अथवा कुसंस्कार का रूप दे डाला और अधिकतर, आत्मतृप्ति को ही अपना अन्तिम लक्ष्य बनाने के कारण उसकी प्रवृत्ति गर्ह्य एवं निन्दित समझी जाने लगी। प्रेम के भीतर भी कामना एवं आसक्ति का अंश प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहता है, किन्तु वह आत्मार्पण के भाव से मर्यादित भी होता है। इस कारण प्रेमी अपनी प्रेमास्पद वस्तु को आत्मसात् कर लेने की अपेक्षा उसके तद्रूप हो जाना तथा उसके साथ एक बन जाना चाहता है। काम की दशा में जहाँ किसी काम्य पदार्थ को अपना बनाकर उसे अपने उपभोग में लाने की प्रवृत्ति देखी जाती है, वहाँ प्रेम की स्थिति में प्रेमास्पद वस्तु सदा आत्मीय बनी रहती है और उसका क्षणिक वियोग भी प्रेम को विरहातुर बना देता है। प्रेम इस प्रकार 'इश्क' का पर्यायवाची-सा प्रतीत होता है और इस शब्द का प्रयोग बहुधा उसके लिए किया भी जाता है। परन्तु, 'इश्क' शब्द शामी जातियों के समाज का है, जहाँ इसके प्रयोग प्रायः सीमित अर्थ में ही किये जाते हैं और इसका समागम बहुत-सी ऐसी भावनाओं के साथ हो चुका है, जो सदा उच्च एवं पवित्र नहीं समझी जा सकतीं। अतएव, 'प्रेम' और 'इश्क' के बीच वैसा ही अन्तर जान पड़ता है, जैसा 'धर्म' और 'मजहब' के बीच है।

शुद्ध प्रेम अहेतुक, अर्थात् बिना किसी स्वार्थपरक इच्छा के हुआ करता है। उसका सम्बन्ध किसी गुण-विशेष के साथ भी नहीं रहता। किसी गुण के आधार पर जागरित हुआ प्रेम-भाव, उस गुण के किसी कारण न दीख पड़ने पर आप-से-आप नष्ट हो सकता है। परन्तु, सच्चे प्रेमी को तो अपने प्रेमास्पद में किसी गुण वा दोष के ढूँढ़ने का कभी अवकाश ही नहीं मिलता। कभी-कभी उसे यह भी पता नहीं चलता कि वह उसके प्रति क्यों और किस प्रकार आकृष्ट होता जा रहा है। उसकी लगन स्वाभाविक बन जाती है। प्रेम यदि गुणों और दोषों द्वारा प्रभावित होता, तो उसमें, क्रमशः कभी वृद्धि और कभी कमी भी दिखलाई पड़ती। परन्तु, ऐसी बात नहीं है। वह तो सदा एक अविच्छिन्न धारा की भाँति प्रवाहित होता

---

१. 'वि या जानाति जसुरिवितृष्यन्तं वि कामिनम्।
देवत्रा कृणुते मनः॥ (ऋ० ४।६१।८)

रहता है और उसमें नित्यश: बढ़ते रहने की ही प्रवृत्ति दीख पड़ती है।[१] प्रेमभाव के सागर में निरन्तर मग्न रहने के कारण एक प्रेमी को सदा वही अनुभूत होता रहता है। वह जैसे उसी को देखा करता है, उसीकी सुनता है, उसीकी चर्चा करता है और उसी एकमात्र का चिन्तन तक किया करता है।[२] वह प्रेमी के रोम-रोम में व्याप्त होकर उसे अपने रंग में पूर्णतः रँग देता है, जिस कारण उसकी दशा और-की-और हो जाती है। न केवल उसकी मनोवृत्ति बदल जाती है, अपितु उसके जीवन में ही आमूल परिवर्त्तन हो जाता है और वह सदा के लिए बिक-सा जाता है। प्रेमी के ऊपर इतनी गहरी मादकता बनी रहती है कि वह अपने आत्मनिरीक्षण द्वारा प्रेमभाव के सूक्ष्मतर तन्तुओं की परीक्षा करने में सर्वथा असमर्थ रहता है।[३]

प्रेमी एवं प्रेमाधार के पारस्परिक सम्बन्धानुसार व्यक्तिगत प्रेम का रूप कुछ भिन्न-भिन्न भी हो सकता है और तदनुसार इसके प्रधानतः तीन भेद बतलाये जा सकते हैं। प्रेममात्र की स्थिति यदि प्रेमी की अपेक्षा अधिक ऊँचे स्तर की हो, तो यह उसके प्रति श्रद्धा के भाव प्रदर्शित करता है और यदि अधिक निम्न स्तर की हो, तो यह उसे स्नेहभाव की दृष्टि से देखा करता है। किसी शिष्यका जो भाव गुरु के प्रति हुआ करता है, वही किसी माता का अपनी सन्तान के प्रति नहीं होता। इसी प्रकार एक समान वय अथवा वर्गवाले दो व्यक्तियों की स्थिति में यही भाव एक नितान्त भिन्न रूप ग्रहण कर लेता है। दो मित्रों अथवा पति-पत्नी का एक दूसरे के प्रति प्रकट किया जानेवाला भाव श्रद्धा वा स्नेह की अपेक्षा न करके सौहार्द के रूप में दीख पड़ता है। अतएव, इन तीनों प्रकार के प्रेम-भावों की व्याख्या

---

१. 'गुणरहितं, कामनारहितं, प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।' (नारद भ० सू०, ५४)

२. 'तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति।' (वही, सू० ५५)।

३. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च य ल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति। मत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति आत्मारामो भवति।

भक्ति ईश्वर के प्रति, परम प्रियतम के प्रति परमप्रेमस्वरूप है, अमृतस्वरूप है। उसकी प्राप्ति से मनुष्य सिद्ध बन जाता है, अमृतत्व लाभ करता है और परितृप्त हो जाता है। उसे पाकर मनुष्य और किसी की आकांक्षा नहीं करता, किसी के लिए शोक नहीं करता, किसी के भी प्रति द्वेष नहीं रखता, अन्य विषयों में आनन्द का अनुभव नहीं करता और किसी सांसारिक विषय से उत्साहित नहीं होता। उसे जान लेने पर मनुष्य मस्त और स्तब्ध हो जाता है, 'आत्माराम' हो जाता है।

—नारदभक्तिसूत्र, अनुवाक १५, सूत्र २-६।

बहुधा पृथक्-पृथक् भी की जाती है और इनका तुलनात्मक विवेचन भी किया जाता है। श्रद्धापरक प्रेमभाव को 'भक्ति' की संज्ञा दी जाती है और इसी प्रकार, स्नेहसिंचित प्रेम को वात्सल्य-भाव तथा सौहार्दपूर्ण प्रेम को सख्यभाव अथवा माधुर्यभाव कहा जाता है। प्रेमभाव की अनुभूति, इन तीनों में ही, अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ हुआ करती है और उसमें उन्हीं के अनुरूप तीव्रता भी पाई जाती है। भक्ति के क्रम-विकास में यह देखा जाता है कि वह नित्य कैंकर्य अथवा प्रपत्ति, सर्वतोभावेन भगवान् के चरणों में निःशेष शरणागति अथवा समर्पण से शुरू होकर प्रीति का रस प्रदान करती है और यही प्रीति भगवद्रति का रूप लेकर साधक को भगवद्रस प्रदान करती है और इसी में साधक कृतकृत्यता, जीवन-धारण करने की वास्तविक चरितार्थता को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, यह कहना चाहिए कि भक्ति के क्रम-विकास में साधक भगवान् का चरणामृत पान कर उनका अधरामृत पान करने का देवदुर्लभ सौभाग्य प्राप्त करता है। हाँ, निश्चय ही यह प्रभु के अहैतुक कृपा-प्रसाद से ही सम्भव होता है। स्वामी रामानुज से हितहरिवंश तक के आचार्यों एवं तत्तद् भाव से भजन करनेवाले साधकों का यही अनुभव है, जो भक्ति-साहित्य में यहाँ से वहाँतक अखण्डभाव से परिव्याप्त है, अनुस्यूत है।

इस विषय पर कुछ विशेष विचार करने से पता चलता है कि जो गम्भीरता और विशुद्धता उक्त तृतीय प्रकार के प्रेम में पाई जाती है, वह शेष दूसरे अथवा पहले प्रकार के प्रेमभावों में लक्षित नहीं होती। वास्तव में, बहुधा तीसरे को ही 'प्रेम' की संज्ञा दी जाती है, दूसरे की दशा में जहाँ प्रेमी का हृदय गर्व एवं अधिकार जैसे कतिपय बड़प्पन के भावों द्वारा प्रभावित रहा करता है, वहाँ पहले की दशा में प्रेमी अपने प्रेम-पात्र के प्रति भय, दैन्य, दासत्व अथवा ग्लानि के मनोविकार प्रदर्शित करने लगता है। इस कारण इन दोनों ही दशाओं में प्रेम का स्वाभाविक रंग कुछ-न-कुछ फीका पड़ जाता है और वह कुछ मन्द-सा बन जाता है।

सृष्टि के पहले परमात्मा अपनी अद्वयता के कारण, आत्मप्रेम में ही लीन था, किन्तु उस प्रेम को बाह्य रूप में भी अनुभव करने की इच्छा से उसने 'असत्' से 'सत्' उत्पन्न किया और अपने प्रतीक के रूप में मनुष्य की भी सृष्टि की।[1] इस प्रकार, प्रेम की अभिव्यक्ति के ही कारण उसकी अद्वयता भंग हुई और इसीसे उसे सृष्टि-निर्माण की प्रेरणा भी मिली। विश्व में जो कुछ भी नियम एवं सुव्यवस्था का परिणाम दीख पड़ता है, वह मूलतः प्रेम के ही कारण है। आकाश के जितने भी नक्षत्र-मण्डल हैं, वे सभी इस प्रेम के ही किसी अपूर्व आकर्षण द्वारा बद्ध और

---

१. निकालसन : स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टिसिज्म, पृ० ८०।

संचालित हैं, और सूर्य एवं चन्द्रमा भी उसी नियम के पालन में लगे हुए हैं। वृक्ष अपनी जड़ों द्वारा पृथ्वी से चिपके हुए हैं, भ्रमर कमल के चतुर्दिक् मँडराता फिरता है, मछली पानी का परित्याग नहीं कर पाती और स्त्री एवं पुरुष की जोड़ी एक दूसरे के प्रति आप-से-आप अनुरक्त हो जाती है।[१] वह परमात्मा मानों सभी को अनुप्राणित करता रहता है और वही हमारे श्रोत्र का श्रोत्र है, मन का मन है, वाणी की वाणी है और प्राण का प्राण भी है।[२] आत्मतत्त्व के रूप में वही हमारे अन्ततरतम में अवस्थित है और हमारे लिए वह पुत्र, धन, आदि सभी वस्तुओं से प्रियतर भी है।[३] अतएव, प्रेम वस्तुतः, परमात्मा के सारतत्त्व का भी सारतत्त्व है,[४] जैसे कि प्रसिद्ध सूफी हल्लाज ने बतलाया है। उसके कभी-कभी 'सहज' भी कहलाने की सार्थकता इसी बात में है कि यह न केवल सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुआ है ('सह'-साथ और 'ज'-उत्पन्न), अपितु विश्व का नैसर्गिक नियम भी है तथा आत्मा एवं परमात्मा के मौलिक सम्बन्ध का कारण भी इसी में निहित है। 'आत्मीयता' का वह 'भाव', जिसकी उमंग में आकर एक व्यक्ति अन्य के प्रति अपने स्वार्थ का सुखपूर्वक त्याग कर देता है, उस मौलिक वृत्ति का ही एक पर्याय है। शुद्ध प्रेम की प्रवृत्ति सदा स्वच्छन्द रहकर ही प्रवाहित होना चाहती है, वह किसी संयम वा मर्यादा के अंकुश को कभी सहन नहीं कर पाती।[५] प्रेमी और प्रेमपात्र की एक समान स्थिति प्रेमधारा के प्रसारार्थ एक समतल भूमि प्रस्तुत कर देती है और दोनों का पारस्परिक प्रणय, एक दूसरे की ओर अबाध गति के साथ वृद्धि पाता हुआ, दोनों को, अन्त में, एक और अभिन्न बना देने में पूर्णतः समर्थ होता है। फलतः, प्रेम-साहित्य के अन्तर्गत बहुधा सख्यभाव की ही प्रधानता दीख पड़ती है और उसका भी सर्वोत्तम रूप केवल उसी दशा में प्रत्यक्ष होता है जब प्रेमी एवं प्रेमपात्र के बीच स्त्री-पुरुष वा दाम्पत्य-सम्बन्ध रहा करता है। किन्तु, इसके लिए भी उन दोनों का किसी वैवाहिक सूत्र द्वारा आबद्ध हो जाना कुछ अनिवार्य नहीं है। एक पुरुष और एक स्त्री का एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हो जाना निसर्गसिद्ध है। इसका कारण है वह स्वकीया की अपेक्षा इसके परकीया रूप को स्वभावतः अधिक अपनाता है। इस प्रकार के

---

१. ज्ञानसागर (साहित्य-परिषद्-ग्रन्थावली, सं० ५९), पृ० २४-६।

२. केनोपनिषद् (१।२) : 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनो, यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकामृता भवन्ति।'

३. बृहदारण्यकोपनिषद् (१।४।८) : 'स उ पुत्रात्प्रेयः वित्तात्प्रेयः सर्वस्मात्प्रेयः।'

४. शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च।—नारदभक्तिसूत्र, ८।६०।

५. प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।—नारदभक्तिसूत्र, ७।५४।

स्वाभाविक अनुराग को ही, इसी कारण, 'सहजभाव' का भी नाम दिया जाता है, जो 'सहजिया-सम्प्रदाय' का आदर्श है ।

प्रेम के विषय की चर्चा कभी-कभी 'लौकिक' एवं 'अलौकिक' नामक दो भिन्न-भिन्न शीर्षकों के नीचे लाकर भी की जाती है । प्रेम का लौकिक रूप उसे समझा जाता है, जो किसी एक व्यक्ति का दूसरे के प्रति, उक्त तीनों में से किसी भी एक प्रकार, साधारणतः व्यक्त होता दीख पड़ता है । किन्तु, अलौकिक प्रेम किसी व्यक्ति को उसके किसी इष्टदेव के साथ सम्बद्ध कर देता है और उसका आश्रय अधिकतर काल्पनिक हुआ करता है । जगत् की सृष्टि और उसके नियन्त्रण के पीछे किसी अलौकिक शक्ति का काम करना अत्यन्त प्राचीन काल से माना गया है और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों अथवा जातियों ने उसे देश-कालानुसार किसी-न-किसी प्रकार का रूप भी दे डाला है । तदनुसार वे उसके प्रति सदा आदर और सम्मान के भाव प्रकट करते हैं और उसके साथ आत्मीयता प्राप्त करने के प्रयत्न में उसे रिझाया भी करते हैं । इस रिझाने वा प्रसन्न रखने की चेष्टा में ही वह व्यक्ति अपने इष्टदेव के प्रति श्रद्धापरक प्रेम का प्रदर्शन किया करता है, जो 'भक्ति' के नाम से भी प्रचलित है और जिसे, उसकी इष्टवस्तु के लोकोत्तर समझे जाने के कारण, 'अलौकिक प्रेम' भी कह दिया जाता है । यहाँ 'अलौकिक' शब्द की सार्थकता किसी प्रेमी वा भक्त के प्रेमभाव के कारण नहीं, अपितु उसके प्रेमपात्र भगवान् के कारण है; क्योंकि प्रेमी वा भक्त सदा लौकिक ही हुआ करता है और उसकी भक्ति भी सदा लौकिक नियमों का ही अनुसरण करती है ।

फिर भी, इस 'अलौकिकता' के सम्बन्ध में कई भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुमान किये जा सकते हैं । उपर्युक्त सहजिया-सम्प्रदायवाले वैष्णवों की धारणा है कि प्रत्येक मनुष्य को हम दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देख सकते हैं, जिनमें से एक को उन्होंने 'रूप' दूसरी को 'स्वरूप' का नाम दिया है और बतलाया है कि पहली अथवा रूप की दृष्टि से जहाँ वह इस भौतिक संसार का एक प्राणी-मात्र है, वहाँ दूसरी, अर्थात् स्वरूप की दृष्टि के अनुसार उसे हम कृष्ण वा राधा मान सकते हैं । इस प्रकार उसके रूप के ऊपर स्वरूप का 'आरोप' किया जा सकता है और इस रूप के ही आधार पर स्वरूप की साधना सिद्ध भी की जा सकती है । मानवीय प्रेम ही अपना पूर्ण विकास पाकर आध्यात्मिक प्रेम में परिणत हो सकता है, जिस कारण एक सहजिया भक्त को किसी बाह्य अलौकिक इष्टदेव के प्रति अपना भक्तिभाव प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं और न उसके लिए उसके किसी पूजन वा अर्चन का ही विधान है । जिस प्रकार दूध विना आग पर औंटाये हुए गाढ़ा नहीं हो सकता,

उसी प्रकार मानवीय प्रेम के पूर्ण विकास के लिए तथा उसके आध्यात्मिक प्रेम में परिणत होने के लिए भी साधक को किसी 'प्रकृति', अर्थात् स्त्री के संगरूपी अग्नि-कुण्ड की आवश्यकता पड़ जाती है।[१] बँगला के 'बाउल-सम्प्रदाय' वाले भी अपने इष्टदेव की कल्पना कहीं बाहर से नहीं करते। सहजियावालों की भाँति किसी 'आरोप' की चर्चा न करके वे प्रत्येक मनुष्य के हृदय में अपने प्रियतम 'मनेर मानुष' का अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं और उससे प्रेम करने लगते हैं। वही उनके लिए 'सहज' का स्थान ले लेता है और उसे ही वे एक प्रकार का अलौकिक व्यक्तित्व भी प्रदान कर देते हैं। वे उसके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करते हैं और उसके द्वारा वस्तुतः आत्मप्रेम की सहायता से आत्मसिद्धि लाभ करते हैं। उनकी प्रेम-साधना सूफियों की भी प्रेम-साधना से भिन्न है; क्योंकि सूफी लोग परमात्मा को अपनी रूह का मूल स्वरूप स्वीकार करके उसे ही अपना 'प्रियतम' भी माना करते हैं और उसकी ओर दाम्पत्य-प्रेम वा स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम वैसा महत्त्व नहीं रखता और इस बात में वे उत्तरी भारत के सन्तों के समान हैं। सन्तों के लिए आत्मा और परमात्मा तत्त्वतः एक और अभिन्न हैं और उनकी निर्गुणोपासना इन्हें केवल व्यवहारतः द्विधा करके इनके बीच उपासक और उपास्य का सम्बन्ध ला देती है। वे इस प्रकार, उसके प्रति भिन्न-भिन्न रूपों से प्रेमभाव प्रदर्शित करने लगते हैं। भगवान् भक्त का स्वामी भी है, सखा भी है, माँ भी है, और प्रियतम प्राणेश्वर भी है। इनमें से किसी भी एक या सभी भावों से भक्तजन भगवान् का भजन करते हैं।

प्रेम चाहे लौकिक हो, चाहे अलौकिक, उसमें प्रेमास्पद के प्रति अनन्यता के भाव का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके रहने से न केवल प्रेमी वा भक्त अपने इष्ट के प्रति आकृष्ट रहा करता है, अपितु वह अन्य वस्तुओं से उदासीन वा विरक्त तक बन जाता है। इसका एक परिणाम बहुधा यह भी देखा जाता है कि प्रेमी वा भक्त का जीवन क्रमशः एक निवृत्तिमूलक रूप ग्रहण कर लेता है। उसे फिर किसी प्रकार का सांसारिक प्रलोभन अपने प्रेममार्ग से कभी विचलित नहीं कर पाता। वह प्रत्येक अन्य वस्तु को अपने उद्देश्य की सिद्धि में बाधक मानने लगता है। इस प्रकार, कभी-कभी उसके सामने सारा संसार ही कष्टदायक प्रतीत होने लगता है। परन्तु, किसी प्रेमी वा भक्त का इस प्रकार की दशा को प्राप्त हो जाना उसके प्रेम-भाव की न्यूनाधिक व्यापकता एवं गम्भीरता पर निर्भर है। प्रेमभाव के लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह किसी एक बिन्दु पर केवल केन्द्रित हो जाने के ही कारण,

---

१. विवर्त्तविलास, पृ० १६४९।

सभी ओर से सीमित और अवरुद्ध भी हो जाय। उसकी तीव्रता एवं गम्भीरता के द्वारा उसमें एक अपूर्व शक्ति का संचार भी हो आता है, जिसके फलस्वरूप अन्त में, वह एक अणुबम की भाँति स्वभावतः फूटकर सर्वव्यापी बन जाता है और प्रेमी वा भक्त की मनोवृत्ति को सदा के लिए एकमात्र अपने ही रंग में रँग देता है। उसी क्षण से उसे सभी अन्य वस्तुएँ भी प्रेमरंग में ही सराबोर दीख पड़ने लगती हैं और वह उन्हें अपने प्रियतम से अभिन्न-सा पाता है। अलौकिक प्रेम की दशा में इस नियम का चरितार्थ होना और भी अधिक सम्भव है; क्योंकि वैसी स्थिति में एक भक्त अपने इष्टदेव को बहुधा सर्वव्यापक और सर्वनियन्ता भी मानता रहता है, जिससे उसके दृष्टिकोण के व्यापक बन जाने में सरलता होती है। इस प्रकार, अनन्य भक्त वस्तुतः वही कहला सकता है, जो अपने इष्टदेव को सबमें देखा करे और सबमें उसी का नाता भी निबाहे। दास्यभाव की भक्ति के उपासक गोस्वामी तुलसीदास ने इसी कारण, एक स्थल पर स्वयं अपने इष्टदेव रामचन्द्र द्वारा कहलवाया है :

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त॥३॥[1]

अनन्यता की दशा प्रेमभाव की पराकाष्ठा को सूचित करती है। और, वह प्रेमी की सिद्धावस्था में ही सम्भव है। ऐसी स्थिति में उसके अपने लिए प्रियतम का रूप ही प्रेममय बन जाता है, जो निरन्तर उसके रोम-रोम में व्याप्त और ओतप्रोत रहा करता है और वह तृप्त हो जाता है। परन्तु, अनन्यता की भी पूर्णावस्था तभी समझी जा सकती है, जब वह सदा एकरस बनी रहे, नित्य निरन्तर बढ़ती रहे और वह एक क्षण के लिए भी मन्द न पड़ने पावे। अनन्य प्रेमी अपने प्रियतम का वियोग क्षणमात्र के लिए भी सहन नहीं कर सकता : 'तदर्पिताखिलाचारिता, तद्विस्मरणे परम-व्याकुलता।' वह अपनी दशा में, आनन्द-सागर में मग्न-सा रहा करताहै, जिस कारण उससे तनिक भी बाहर आ जाना उसे जल से बिछुड़ी हुई मछली की भाँति, अधीर बना देता है। प्रेम की ऐसी मनोवृत्ति प्रेम के जीवन की चिरसंगिनी बनी रहना चाहती है और उसमें क्षणिक परिवर्त्तन का भी आ जाना उसके लिए घातक सिद्ध हो सकता है। यह मनोभाव उस व्यक्ति को इस प्रकार अभिभूत किये रहता है कि वह उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणों तक पर खेल जाना बहुत बड़ी बात नहीं समझता। प्रियतम की वियोगावस्था केवल उसी दशा में सह्य हो सकती है, जब या तो वह अधिक तीव्र न बन जाय अथवा उसकी अवधि सीमित एवं क्षणस्थायी हो। ऐसी दशा में उसकी आशा एवं प्रतीक्षा की वृत्तियाँ उसे सुरक्षित रखती हैं और वह पीछे अपने को सँभाल भी लिया करता है।

---

१. 'रामचरितमानस' (किष्किन्धाकाण्ड)।

प्रेम का भाव, इस प्रकार, अत्यन्त सुदृढ, गम्भीर एवं शक्तिशाली होता हुआ भी, साथ ही पारे की भाँति, सदा तरल एवं अस्थिर भी रह सकता है, जिसके कारण, तनिक भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ते ही, वह बेचैनी उत्पन्न कर देता है। उसमें स्थिरता को लाना तभी सम्भव हो सकता है, जब उसमें तृप्ति-जन्य सन्तोष एवं शान्ति भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहे। ऐसी दशा में वह प्रेमी के शान्त जलाशय-रूपी हृदय के ऊपर सूक्ष्म वनस्पति-जाल-सा फैलकर उसे आवृत कर लेता है और यदि किसी प्रकार उसपर बाहर से फेंके गये ढेले के समान कोई आघात भी पहुँच जाता है, तो वह फिर शीघ्र सिमटकर अपना पूर्व रूप ग्रहण कर लिया करता है। प्रेम एवं विरह दोनों एक ही दशा के दो भिन्न-भिन्न पार्श्व कहे जा सकते हैं। विरह की दशा में भी प्रेमास्पद का अभाव नहीं रहता। उसका रूप एक प्रकार से स्थूल से सूक्ष्म अथवा सूक्ष्मतम-मात्र बन जाता है और वह प्रेमी के मनोभाव में घुल-मिल-सा जाता है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र को, उस दशा में, चाहे अपनी बाहरी आँखों से न देख सके, कानों से उसकी वाणी न सुन सके अथवा उसके अंगों का स्पर्श न कर सके, उसके हृदय-पटल पर उसकी मूर्त्ति सदैव अंकित रहा करती है। इस प्रकार, वह अपने को उसके साथ बातचीत करता तथा उसे आलिंगन करता हुआ तक पा सकता है। अलौकिक प्रेम की दशा में तो इस स्थिति का परिचय हमें विरह के उपस्थित न होने पर भी, मिला करता है। श्रीमद्भागवत के निम्नांकित श्लोक में इस भाव का वर्णन है :

> क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्हसन्ति निन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
> नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तुष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥

इष्टदेव यदि सगुण और साकार हो, तो भी उसे स्थूल अथवा भौतिक रूप में कभी प्रत्यक्ष कर लेना किसी प्रकार सम्भव नहीं कहा जा सकता, उसका प्रतिनिधित्व उसका कोई-न-कोई प्रतीक किया करता है, जो भक्त के ही द्वारा कल्पित एक भावनामूलक रूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। और, इष्टदेव के निर्गुण एवं निराकार होने पर तो उसके रूप का वस्तुतः अभाव हो जाता है और उपास्य एवं उपासक का द्वैतभाव तक वहाँ स्वयं निर्मित और कृत्रिम रहा करता है। निर्गुणोपासक भक्त की भावना मूलतः अद्वय ज्ञान पर आश्रित रहती है और प्रेमभाव की अभिव्यक्ति के लिए वह अपने को ही द्विधा विभक्त कर डालता है। और इस प्रकार, अपने कल्पित प्रेमास्पद के सम्बन्ध में कभी-कभी विरह-भाव तक का अनुभव करने लग जाता है। अस्तु।

श्रीमोरो पन्त की एक मराठी कविता का हिन्दी-अनुवाद श्रीमाधवराव सप्रे ने की है —

सन्तों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी वाणी।
जानूँ उसका मर्म भला मैं क्या अज्ञानी ।।

यही उक्ति इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक लागू है। जो कुछ इसमें है, वह सब-का-सब सन्तों का उच्छिष्ट है—उनके ही अनुभव के प्रकाश में प्रस्तुत विषय का प्रकाशन एवं आकलन इस पूरे ग्रन्थ में मिलता है; मेरा 'अपना' कहा जाने योग्य कोई बात नहीं है, अतएव पाठकों से मेरा अनुरोध है कि वे इसी भाव से इसे देखें। हाँ, सन्तों के अनुभव शाश्वत एवं सनातन सत्य का उद्घाटन करते हैं, इसे कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रमाद या अज्ञान-वश इसे ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करने में मुझसे जो भूलें हुई हैं, उसके लिए मैं सदा क्षमाप्रार्थी हूँ। पिछले तीन-चार वर्षों से सन्तों के उन अनमोल वचनों के अध्ययन करने का स्वर्णिम अवसर मिला, इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ—यह भगवत्कृपा का प्रसाद मानता हूँ।

परमपूज्य पुण्यश्लोक महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज के पावन निर्देशन में यह कार्य सम्पन्न हुआ। इसमें अनेक विघ्न एवं अन्तराय आये, परन्तु प्रभु की अहैतुकी कृपा एवं श्रीगुरुचरणों के पुण्य-प्रसाद से यह कार्य लगभग तीन वर्षों में पूरा हुआ। इधर कुछ समय से पूज्य श्रीकविराजजी का स्वास्थ्य अतिशय शिथिल चल रहा है, फिर भी आपके कृपा-प्रसाद की अजस्र धारा मुझपर बरसती ही रही है। आपके वात्सल्य-स्नेहभाजन होने का महान् गौरव मुझे प्राप्त है। कृतज्ञता-पूर्ण भक्ति के भाव से श्रीचरणों में मेरी प्रणति सदा स्वीकार होती रहे, यही प्रार्थना है। पूज्यश्री कविराजजी की 'भूमिका' ने मेरे बाल-प्रयास को महिमा-मण्डित किया, यह उनका मेरे प्रति वात्सल्य-स्नेह का अमिट प्रतीक है।

पूज्यचरण श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार 'श्रीभाईजी' की पावन सन्निधि में पिछले चालीस वर्षों से हूँ। वे मेरे लिए माँ थे और मैं उनका एक अबोध शिशु। यह ग्रन्थ उन्हीं की पुण्यस्मृति को सादर, सभक्ति, सप्रीति, समर्पित करते हृदय भर-भर आता है, यह अनुभव कर कि उनका पार्थिव शरीर अब इस धराधाम पर नहीं है। हृदय-मन्दिर में उनकी पावन मनोज्ञ प्रतिमा विराज रही है। उनका मेरा सम्बन्ध जन्म-जमान्तर का है, ऐसा अनुभव प्रथम दर्शन में ही हुआ।

इस ग्रन्थ के लेखन में मेरे छात्र और अब मित्र पं० श्रीरणजीत त्रिपाठी एम्०ए० का मुख्य सहयोग रहा। यदि यह सहयोग न मिला होता, तो मेरे विचार शायद ही कागज पर उतरने का अवसर पाते। मैं श्रीत्रिपाठीजी के लिए उनके अकृत्रिम आत्मीयतापूर्ण योगदान के लिए साधुवाद करता हूँ—भगवान् के चरणों में उनकी

नित्य निरन्तर प्रीति बढ़ती रहे। मेरे दूसरे छात्र और अब सहाध्यापक श्रीविपिन-विहारीशरण द्विवेदी, एम्०ए० ने लेखन-कार्य के शेषांश को भक्तिपूर्वक सम्पन्न किया, जिसके लिए मेरा हृदय उन्हें आशीर्वाद करता है। वे जीवन में सच्चे सफल चरित्रवान् प्रतिभाशाली आदर्श प्राध्यापक हों।

'वैष्णव साधना और सिद्धान्त का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव' में मैंने कतिपय विशिष्ट प्रतिनिधि कवियों की प्रतिनिधि रचनाएँ ही ली हैं। वैष्णव साधना से प्रभावित सभी कवियों की सभी रचनाओं को विवेचन के लिए लेने पर इस ग्रन्थाकार के कम-से-कम दस खण्ड होते और अब उतना कर सकने का मेरे पास न साधन है, न शक्ति।

इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का सारा श्रेय बिहार-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी, पटना के सुयोग्य संचालक डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, एम्० ए०, डी० लिट्, साहित्यरत्न तथा अकादमी के वरेण्य अध्यक्ष साहित्यवाचस्पति डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, एम्०ए०, डी० लिट्० को है। आप दोनों के सुहृद्, सखा, स्नेही मित्र और अभिन्न आत्मीय बन्धु होने का गौरवपूर्ण सौभाग्य मुझे प्राप्त है और इनके प्रति स्नेहसिक्त आभार अभिव्यक्त करने के लिए मुझे शब्द नहीं मिल रहे हैं।

बिहार प्रिण्टिंग प्रेस, पटना के सुयोग्य संचालक की तत्परता के कारण ही यह ग्रन्थ इस भव्य रूप में और इतने कम समय में मुद्रित हो सका। मैं उनका भी हृदय से आभारी हूँ।

श्वासकष्ट से जर्जर इस शरीर से प्रभु ने इतना पूरा काम लिया, इसे उनकी सुधामयी अहैतुकी सर्वसमर्थ कृपा का चमत्कार ही मानता हूँ। वे क्या-क्या खेल रचते रहते हैं, कैसे-कैसे विलक्षण हैं उनके चमत्कार, यह पद-पद पर अनुभव करता हूँ। यह सर्वथा सत्य है और अपने सम्बन्ध में मेरा अनुभव भी है :

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥
मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते मन हरखत है मोर॥

हरिः ओम् तत्सत् श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

तूतबाड़ी, गया
वैशाखी पूर्णिमा, पुरुषोत्तम मास
२०२९ वि०

विनीत
भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

भूमिका

भारतवर्ष में चार वैष्णव-सम्प्रदाय चार पृथक्-पृथक् धाराओं में वैष्णव-धर्म का प्रचार करते आ रहे हैं। इन चारों सम्प्रदायों ने एक प्रकार से पांचरात्र-सिद्धान्त का ही अनुसरण किया है। इनके मूल प्रवर्त्तक भगवान् विष्णु हैं, इसलिए ये सभी वैष्णव-सम्प्रदाय कहे जाते हैं। विष्णु-भक्त श्री या महालक्ष्मी द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय श्री-सम्प्रदाय के नाम से, विष्णु-भक्त रुद्र द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय रुद्र-सम्प्रदाय के नाम से, विष्णु-भक्त ब्रह्मा के द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय ब्रह्म-सम्प्रदाय के नाम से और विष्णु के भक्त चतुःसन (सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन) अथवा परमहंसों द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय हंस-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

श्री-सम्प्रदाय का दार्शनिक मत विशिष्टाद्वैत है। श्रीरामानुजाचार्य इस मत के प्रधान प्रचारक थे। हंस-सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैत है और प्रधान प्रचारक थे निम्बार्काचार्य। तृतीय सम्प्रदाय, जो ब्रह्मा द्वारा प्रवर्त्तित हुआ था, द्वैतमतावलम्बी ब्रह्म-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्रीमन्मध्वाचार्य इस मत के प्रधान प्रचारक थे। चतुर्थ रुद्र-सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत है। इसके प्रधान प्रचारक थे विष्णुस्वामी, एवं परवर्त्ती युग में श्रीवल्लभाचार्य ने इस मत का प्रचार किया था। किसी-किसी के मत में चैतन्यदेव के गौड़ीय सम्प्रदाय की माध्व-सम्प्रदाय के अन्तर्गत गणना होती है। परन्तु, मध्वाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त और चैतन्यदेव के सिद्धान्तों में ऐक्य नहीं है एवं दोनों की उपासना-प्रणाली तथा आदर्शों में भी बहुत अंशों में भेद लक्षित होता है।

गौडीय मत के मूल का अन्वेषण करने से प्रतीत होता है कि पांचरात्र-शास्त्र, शाक्ततन्त्र और महायानादि बौद्ध साधन-प्रणालियों से गौडीय उपासक-वर्ग ने अपने सिद्धान्त के पोषण के लिए बहुत कुछ ग्रहण किया है। ये सभी आगम के अन्तर्गत हैं। गौडीय आचार्यों ने अन्यान्य सम्प्रदायों के आचार्यों के तुल्य अपने मत का वैदिक मत के रूप में प्रचार किया था और उपनिषद् तथा पुराणादि के प्रमाणों से अपने सिद्धान्त के प्रामाण्य के समर्थन का प्रयत्न किया था। यह कहना अनावश्यक है कि स्मार्त्त लोगों ने कहीं-कहीं वैष्णव मत की, पाशुपतादि शैवमतों के तुल्य अवैदिक मानकर, उपेक्षा की है।

गौडीय सम्प्रदाय को पांचरात्र-मत के अन्तर्गत होने से भागवत-सम्प्रदाय भी समझना चाहिए, अवश्य प्राचीन काल में इनमें कुछ-कुछ वैलक्षण्य था, परन्तु काल-क्रम से दोनों सम्प्रदाय मिलकर समान तन्त्र बन गये हैं।

पांचरात्र अथवा भागवतधर्म भक्तिप्रधान हैं। वैदिक साहित्य में भक्ति की चर्चा अधिक नहीं है। यद्यपि कई लोग वैदिक उपासना को भक्ति के स्थान में ग्रहण कर लेते हैं, तथापि भक्ति शब्द का जो वाच्यार्थ है, वह वैदिक कर्मकाण्ड अथवा ज्ञानकाण्ड या उपासनाकाण्ड में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। विभिन्न दृष्टि-कोणों से भक्ति का लक्षण विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है, परन्तु अन्त में यही मानना पड़ता है कि भक्ति चित्त का भावमय प्रकाश विशेष है। न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनशास्त्रों में जैसे भाव का आलोचन अंशी रूप से उपेक्षित किया गया है। वैसे ही वैदिक साधना-पद्धति में भी भक्ति का स्पष्ट स्थान नहीं दिखाई देता। सभी दर्शनशास्त्रों का यही सिद्धान्त है कि आत्मज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती है। भक्तिशास्त्र विशेषतया भक्ति के ही माहात्म्य का प्रख्यापक है। शाण्डिल्य तथा नारद द्वारा विरचित सूत्र-ग्रन्थों में स्वभावतः भक्ति का ही प्राधान्य निरूपित है। किसी-किसी स्थान में भक्ति को मुक्ति का साक्षात् कारण माना गया है और कहीं-कही भक्ति को भक्ति का ही कारण माना गया है, अर्थात् अपरा भक्ति परा भक्ति की साधिका है, ऐसा माना गया है। इस मत में मुक्ति दोनों ही भक्तियों की अन्तरालवर्त्ती व्यापार-रूप में मानी गई है। भक्तिशास्त्र अत्यन्त विस्तीर्ण है और विभिन्न प्रकार के मतों से भरा हुआ है।

पांचरात्रशास्त्र का मूल ग्रन्थ संहिता अथवा तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध आगम-साहित्य है। डॉ० श्रेडर ने कपिजल, पाद्म, विष्णु और हयशीर्ष संहिताओं से तथा अग्निपुराण से २१० पांचरात्र-संहिताओं के नामों का संकलन किया है। इस विस्तीर्ण साहित्य में सर्वत्र एक ही भाव अक्षुण्ण रूप से परिदृष्ट होगा, यह आशा नहीं की जा सकती। काश्मीर-आगम में जैसे अद्वैतवाद तथा द्वैतवाद दोनों का सन्निवेश दीख पड़ता है। प्रायः वैसी ही स्थिति पांचरात्र-आगम में भी दीख पड़ती है। परन्तु, वह अद्वैतवाद श्रीशंकराचार्य द्वारा प्रचारित निर्विशेष अद्वैतवाद से विलक्षण है। स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा, क्रम तथा कौल आदि दर्शनों में अद्वैत तथा अव्यय शब्द से शिव-शक्ति का सामरस्य समझा जाता है। शिव-शक्ति-वैषम्य ही षट्त्रिंशत्तत्त्वा-त्मक द्वैत है और दोनों का साम्य ही अद्वैत है। पांचरात्र-आगम में भी प्रायः यही भाव है। जब परा शक्ति, अर्थात् लक्ष्मी परमेश्वर में विलीन रहती हैं, वह प्रलय अवस्था है। इस अवस्था में लक्ष्मी निष्क्रिय रहती हैं।

शंकर-मत में शक्ति की वास्तविक सत्ता नहीं है—पारमार्थिक दृष्टि से शक्ति तुच्छ है, विचार-दृष्टि से अनिर्वचनीय अथवा मिथ्या है और व्यवहार-दृष्टि से सत्य है। इस मत में पारमार्थिक सत्ता एकमात्र ब्रह्म की ही है। अतएव, शक्ति का इसमें स्थान न होने से कर्म, उपासना, भक्ति प्रभृति की वास्तविकता निरस्त हुई है। भक्तिमार्ग में शक्ति की स्वीकृति आवश्यक है। शक्ति के विशुद्ध तथा निर्मल स्वरूप को स्वीकार न करने से ईश्वर, जीव और जगत् तथा उनका परस्पर सम्बन्ध सभी अज्ञान-कल्पित होने के कारण हेय हो पड़ते हैं। भक्ति, करुणा, कर्म आदि का स्रोत सूख जाता है। शैव, वैष्णव तथा शाक्त आगमों में जो अद्वैतवाद है, वह भक्ति-साधना तथा रस-साधना का विरोधी नहीं है; क्योंकि वह शक्ति त्यागमूलक नहीं है। वास्तव में, शक्ति ग्रहण-मूलक है। महायान बौद्ध-सम्प्रदाय में भी इसीलिए प्रज्ञापारमिता की सत्ता मानकर बोधिसत्त्ववाद की स्थापना की गई है। पांचरात्र-सम्प्रदाय का अद्वैतवाद शक्ति और शक्तिमान् दोनों में समवाय अथवा अविनाभाव-सम्बन्ध मानकर शक्ति की निष्क्रिय अथवा अव्यक्त अवस्था में भी सत्ता मानता है। भगवान् के संकल्प से उनमें विलीन शक्तियों का उन्मेष होता है। जिस संकल्प के प्रभाव से प्रसुप्त महाशक्ति प्रबुद्ध होती है, वह भगवान् का अनिर्वचनीय स्वातन्त्र्य है। यह उनका स्वभाव है। अभिव्यक्त शक्ति क्रिया और भूति के भेद से दो प्रकार की है। भूति-शक्ति के परिवर्त्तनादि सभी व्यापार क्रिया-सापेक्ष हैं। यह क्रिया-शक्ति ही सृष्टिकाल में प्रकृति में परिणाम-सामर्थ्य, काल में कलन-सामर्थ्य और आत्मा में भोग-सामर्थ्य का संचार करती है एवं संहार-काल में उन सब सामर्थ्यों को समेट लेती है।

शक्ति का विकास और संकोच के फलस्वरूप सृष्टि के बाद प्रलय, पुनः सृष्टि का क्रम स्वभावतया चलता रहता है। सृष्टि शुद्ध, मिश्र और अशुद्ध भेद से तीन प्रकार की है। शुद्ध सृष्टि गुणोन्मेष-दशा है। इस समय अप्राकृत षड्गुणों के सद्भाव से भगवान् प्राकृतिक गुणों से वर्जित (निर्गुणावस्था में) रहने पर भी नित्य सगुण रहते हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य तथा तेज की समष्टि उनमें सदा विद्यमान रहती है, इसीलिए वैष्णवागम में अनेक स्थलों पर उन्हें षाड्गुण्य-विग्रह कहा जाता है। ज्ञान भगवान् का स्वरूप और धर्म है, अन्यान्य गुण केवल धर्म ही हैं, स्वरूप नहीं। भगवान् की अबाधित इच्छाशक्ति ही ऐश्वर्य है। भगवान् जगत् के निमित्त तथा उपादान एक साथ ही दोनों कारण हैं। श्रम के अभाव को बल कहते हैं, वीर्य है विकासहीनता। प्रकृति विकृत हुए बिना परिणाम

को प्राप्त नहीं हो सकती। किन्तु, भगवान् जगत्प्रसव करने पर भी निर्विकार ही रहते हैं। तेज सहकारि-निरपेक्षता का नाम है, इन गुणों का समुदाय ही भगवान् और लक्ष्मी की मूर्त्ति है। परमव्योम अथवा वैकुण्ठवासी मुक्त आत्मा निरन्तर इस रूप का दर्शन किया करते हैं। षाड्गुण्ययुक्त अथच शक्ति से पृथग्भूत भगवान् का जो रूप है, उसका नाम वासुदेव है। वासुदेव से संकर्षणादि तीन व्यूहों का क्रमशः आविर्भाव होता है। इन व्यूहों में ज्ञान और बल संकर्षण में, ऐश्वर्य और वीर्य प्रद्युम्न में तथा शक्ति और तेज अनिरुद्ध में प्रधान रूप से प्रकाशित होते हैं। संकर्षण से अनिरुद्ध-पर्यन्त व्यूहों का आविर्भाव-काल और प्रलय-काल शुद्ध सृष्टि-काल कहा जा सकता है। संकर्षण से ही समग्र विश्व प्रकट होता है। ये अनन्त भुवनसमूह के आधार बलदेव के स्वरूप हैं। प्रद्युम्न से पुरुष और प्रकृति का भेद अभिव्यक्त होता है। ये ऐश्वर्य-योग से मानव-सर्ग और विद्या-सर्ग का विस्तार करते हैं। समष्टि पुरुष, मूल प्रकृति और सूक्ष्मकाल का प्रकाश इस व्यूह से ही होता है। अनिरुद्ध से व्यक्त जगत्, स्थूल काल और मिश्रसृष्टि का उद्भव होता है। अनिरुद्ध अपनी शक्ति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों तथा तदन्तर्गत विषयों का नियन्त्रण करते हैं। भगवान् की शक्ति लक्ष्मी या श्री हैं। शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं, जिनके नाम हैं—श्री, भू और लीला अथवा नीला। शक्तित्रयवादियों का कथन है कि श्री कल्याणवाचक और इच्छाशक्ति-स्वरूप है, भू प्रभाव-द्योतक और क्रियाशक्ति-स्वरूप है एवं लीला चन्द्र-सूर्य-अग्निमयी साक्षात् शक्ति-स्वरूप है।

परम व्योम में नित्य और मुक्त इन दो प्रकार के जीवों का आवास है। नित्य जीव सदा मुक्त हैं, इन लोगों का संसार से स्पर्श कभी नहीं हुआ। वैदिक साहित्य में 'सूरि' शब्द से इन्हीं का निर्देश किया गया है। ये सर्वज्ञ और भगवान् के सेवक हैं। इनमें द्वारपाल, नगरपाल, शय्या, वाहन और मन्त्रणा के सहायक के रूप में भगवान् के पार्षद हैं, जो नित्य जीवश्रेणी के अन्तर्गत हैं। ये जगत् में स्वेच्छा से अवतीर्ण हो सकते हैं। मुक्त जीव ज्ञानानन्दमय हैं। वे भगवान् के पार्षद से पृथक् हैं। वे स्वेच्छा से अप्राकृतिक देह धारण कर जगत् में विचरण कर सकते हैं। परन्तु, जगत् के किसी व्यापार में उन्हें हस्तक्षेप करने का हक नहीं है। वैकुण्ठधाम, जो प्रकृति के ऊर्ध्व देश में अवस्थित है, विशुद्ध सत्त्वमय तथा शक्तिसमन्वित परम पुरुष की क्रीडाभूमि है। रामानुजाचार्य ने अपने गद्यत्रय के अन्तर्गत 'वैकुण्ठगद्य' नामक निबन्ध में वैकुण्ठ का अपूर्व मनोहर वर्णन किया है।

वैष्णव-सम्प्रदाय में शक्तिमान् और शक्ति को विष्णु तथा लक्ष्मी के रूप में ग्रहण किया गया है। निम्बार्क-सम्प्रदाय राधाकृष्ण का उपासक है। श्रीचैतन्यदेव

तथा विष्णुस्वामी का सम्प्रदाय भी ऐसा ही है। साधारणतया विष्णु तथा लक्ष्मी की उपासना का वर्णन करते हुए भी पांचरात्रसंहिता में राधाकृष्ण का प्राधान्य और वृन्दावन-लीला का महत्त्व वर्णित है। मैं समझता हूँ कि प्राचीन काल में भागवत सम्प्रदाय ने राधाकृष्ण तथा वृन्दावन की महिमा का विशेष रूप से प्रचार किया था। जब उक्त सम्प्रदाय पांचरात्र-सम्प्रदाय में मिल गया, तभी से इस सांकर्य का आविर्भाव हुआ होगा। तत्त्व तथा रसास्वादन की दिशा छोड़ देने पर भी यह प्रतीत होता है कि देवकीनन्दन कृष्ण वासुदेव तथा यशोदानन्दन कृष्ण गोपाल की आख्यायिकाओं में साम्प्रदायिक अथवा ऐतिहासिक कुछ रहस्य निहित हैं।

श्री-सम्प्रदाय
(रामानुजमत : विशिष्टाद्वैत)

श्री-सम्प्रदाय की सृष्टि में चित्, अचित्, और ईश्वर ये ही मूल तत्त्व हैं। इनमें ईश्वर विशेष्य या अंगी हैं। ईश्वर सदा ही चित् और अचित् से विशिष्ट हैं। चित्-तत्त्व आत्मा है—यह देहादि से विलक्षण, स्वप्रकाश आनन्दरूप, अर्थात् स्वभावतः अनुकूल, नित्य, अणु, अव्यक्त या अतीन्द्रिय, अचिन्त्य, निरवयव, अर्थात् सर्वदा एकरूप और निर्विकार है। आत्मा ज्ञानस्वरूप होने पर भी ज्ञान का आधार अथवा ज्ञाता, ईश्वर का नियम्य, धार्य और अंगभूत है। ज्ञान की व्याप्ति से ही एक आत्मा एक ही समय बहुत देह ग्रहण कर सकता है। क्रिया तथा भोग ज्ञान के ही प्रकार-भेद हैं, इसीलिए आत्मा के ज्ञातृत्व के साथ उसका कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व भी सिद्ध हो जाता है। किन्तु, ईश्वर की अनुमति के बिना जीव को ज्ञान से क्रियारूप अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। जीव की आदि स्वातन्त्र्य-शक्ति ईश्वरप्रदत्त है। इसीलिए, भगवद्दास्य या कैंकर्य ही जीव के लिए यथार्थ स्वातन्त्र्य अथवा परम पुरुषार्थ है, यह मानना पड़ेगा। विशिष्टाद्वैतवादियों की मुक्ति का स्वरूप-लक्षण इसी से स्पष्ट होगा।

बद्ध, मुक्त तथा नित्य भेद से तीन प्रकार के आत्माओं का विवरण मिलता है। प्रकृति के साथ संसर्ग के कारण आत्मा में अविद्या, कर्म, वासना तथा रुचि उत्पन्न होती हैं। अचित्-सम्बन्ध निवृत्त होने पर अविद्या (अज्ञान) प्रभृति की भी निवृत्ति हो जाती है। पाप, पुण्य आदि क्रिया ही कर्म हैं। पूर्वकृत कर्म में पुनः अभिनिवेश का कारण जो संस्कार है, उसे वासना कहते हैं। रुचि आदर का

नामान्तर है। आत्मा के स्वरूप के तुल्य ज्ञान भी नित्य द्रव्यात्मक, अजड तथा आनन्दरूप है। आत्मा के संकोच-विकास नहीं होते, परन्तु प्रकृति के सम्बन्ध से ज्ञान के संकोच-विकास होते हैं। आत्मा अपना प्रकाशक है, परन्तु ज्ञान-मात्र पर-प्रकाशक है। ज्ञान नित्य है, वह इन्द्रिय-द्वार से प्रसृत होकर विषय ग्रहण कर निवृत्त हो जाता है। प्रकाश-अवस्था के अनुकूल रहने के कारण ज्ञान स्वभावतः ही आनन्द-रूप है। देहात्मक भ्रम ही प्रतिकूल ज्ञान अथवा दुःख का हेतु है। जगत् के सभी पदार्थ ईश्वरात्मक हैं, इसलिए वे स्वभावतः अनुकूल हैं। प्रतिकूल भाव औपाधिक मात्र है।

अचित् अथवा जड-तत्त्व विकार को प्राप्त होता है। शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और काल ये जड पदार्थों के तीन गुण हैं। शुद्धसत्त्व में रज और तमोगुण का संसर्ग नहीं रहता, इसीलिए वह नित्य, निर्मल तथा ज्ञान और आनन्द का जनक है। समग्र वैकुण्ठधाम, विमान, गोपुर आदि एवं नित्य मुक्त जीव की और भगवान् की देह आदि सभी पदार्थ इस विशुद्ध उपादान से बने हैं। यह अनन्त तेजोमय पदार्थ है। शुद्धसत्त्व अहंरूपेण प्रकाशित नहीं होता, परन्तु शरीरादि रूप में परिणत होता है एवं बिना विषय-सम्बन्ध के प्रकाशित होता है। शब्दादि इसके धर्म हैं। मिश्रसत्त्व रज और तम से मिश्रित बद्ध जीव के ज्ञान तथा आनन्द का आच्छादक, नित्य और ईश्वर के, जगत्-सृष्टि आदि व्यापारों का परिकर है। मिश्रसत्त्व ही विपरीत ज्ञान का हेतु है। प्रकृति, अविद्या, माया प्रभृति इसीके नामान्तर हैं। यह ज्ञानविरोधी और विचित्र सृष्टि का साधक है। यह वृद्धि को प्राप्त होकर क्रमशः २४ तत्त्वों में परिणत होता है। सत्त्वशून्य और त्रिगुणरहित अचिद् वस्तु का नाम काल है। यह प्रकृति तथा प्राकृत वस्तुओं के परिणाम का साधक है। नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृत सभी प्रकार के प्रलय काल के अधीन हैं। कला, काष्ठादि रूप से परिणत काल ईश्वर का लीला-परिकर और देह-स्वरूप है। लीला-विभूति में ईश्वर कालाधीन होकर कार्य करते हैं, किन्तु नित्य विभूति में काल का अस्तित्व रहने पर भी स्वातन्त्र्य नहीं है। जीवात्मा और परमात्मा के भोग्य, भोगस्थान और भोगोपकरण इन्द्रियाँ शुद्ध और मिश्रसत्त्व से उत्पन्न होती हैं। विशुद्ध सत्त्व चारों ओर तथा ऊर्ध्व प्रदेश में अनन्त हैं एवं मलिन सत्त्व चारों ओर और निम्न प्रदेश में अनन्त हैं।

ईश्वरतत्त्व ही मूलतत्त्व है। चित् और अचित् उनकी देह हैं। ईश्वर अनन्त ज्ञान और आनन्दस्वरूप, ज्ञान, सत्त्व आदि अनन्त कल्याण-गुणों से मण्डित, जगत् की सृष्टि आदि के विधाता, भक्तों के आश्रयदाता, कर्मफलप्रदाता एवं विकार आदि

सब प्रकार के दोषों से रहित परमतत्त्व हैं। लक्ष्मी, भू तथा लीला उनकी शक्तियाँ हैं। उनकी देह अत्यन्त चमत्कारपूर्ण, नित्य, एकरूप तथा शुद्धसत्त्वमय है, जो असीम तेज से विशिष्ट सुकुमार अलौकिक सौन्दर्यमय, सुगन्धि, नित्ययौवनसम्पन्न और योगियों द्वारा ध्येय है। भगवान् का रूप विश्व-विमोहन है। उसका दर्शन करते ही सब प्रकार के भोगों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और त्रिताप मिट जाते हैं। वह नित्य मुक्तों के आस्वादन-योग्य है। किसी भी अवतार का आविर्भाव उस भगवद्देह से ही होता है। उसका स्वरूप पाँच प्रकार का है: १. परस्वरूप, इसीका नाम वासुदेव है। इसका रूप नित्योदित है। इसमें आविर्भाव और तिरोभाव नहीं है, काल की कलना नहीं है एवं परिणाम नहीं है। यह परम आनन्द-समन्वित रूप ही भगवान् का षाड्गुण्यविग्रह है। २. व्यूह या संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। यह भगवान् का शान्तोदित रूप है। इसका उदय और अस्त होता है। सृष्टि आदि व्यापारों की निष्पत्ति, जीवों की रक्षा और उपासकों पर अनुग्रह-सम्पादन के लिए व्यूहों की अभिव्यक्ति होती है। ३. विभव, इनका नामान्तर प्रादुर्भाव है। इनके दो भेद हैं—मुख्य और गौण। मुख्य विभव भगवान् के अंश और अप्राकृत देह-विशिष्ट हैं। मुख्य विभव मुमुक्षुओं के उपास्य हैं। साहंकार जीवों में अधिष्ठित रहने के कारण गौण विभवों की उपासना नहीं होती। ४. अन्तर्यामी, ये अन्तर में प्रविष्ट होकर प्रकृति का नियन्त्रण करते हैं। भगवान् का यह रूप सभी अवस्थाओं में सब प्रकार के जीवों का साथी है और शुभदेहयुक्त है। जीवों के ध्यान के लिए, जीवों की रक्षा करने के लिए परमात्मा मित्र बनकर जीवों के हृदय-कमल में अवस्थान करते हैं। ५. अर्चावतार, ये गृह अथवा मन्दिर में स्थित उपास्य मूर्त्तिरूप हैं। संकर्षण जगत्संहारक और शास्त्रप्रवर्त्तक हैं, प्रद्युम्न प्रकृति से जीव का विवेचन करनेवाले तथा शुद्ध सृष्टि का विधान करनेवाले हैं एवं अनिरुद्ध काल तथा मिश्रसृष्टि के सम्पादक हैं। चारों वर्णों की मिथुन-सृष्टि प्रद्युम्न से ही होती है।

पांचरात्ररहस्य के अनुसार अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अन्तर्यामी—भगवान् के इन पाँच प्रकार के रूपों में, जो उपासक के भाव और प्रकृति के अनुसार ग्रहण किये जाते हैं, पूर्व-पूर्व रूपों की उपासना से मल की निवृत्ति होने पर उत्तर-उत्तर मूर्त्ति की उपासना में अधिकार होता है। जीव के क्रमशः इस प्रकार उपासना कर क्षीणपाप होने पर भगवान् प्रसन्न होकर उसकी कर्मसंघातरूपिणी अविद्या का नाश करते हैं, तब जीव के स्वाभाविक सर्वज्ञत्वादि कल्याण गुणों का अनावृत रूप से प्रकाश होता है। सर्वज्ञत्वादि गुण मुक्त जीव और ईश्वर दोनों में

एक-से हैं। किन्तु, सर्वकर्त्तृत्व एकमात्र ईश्वर में ही रहता है, इसीलिए यह ईश्वर का असाधारणधर्म जीव में कदापि नहीं रह सकता। ईश्वर के अंगभूत मुक्त जीव ईश्वर के साथ परमानन्द का उपभोग करते हैं।

उपासना का नामान्तर निदिध्यासन या योग है। विशिष्टाद्वैतवादी इसी को ज्ञान और भक्ति (ज्ञानविशेष) कहते हैं। तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृतिधारा ध्यान है। यही ध्रुवा स्मृति है एवं मुक्ति का साक्षात् साधन है। भावना के प्रकर्ष से स्मृति ही दर्शनरूप में परिणत होकर अपरोक्षत्व-लाभ करती है। कर्म के कारण आत्मा देह में प्रविष्ट होकर सुख-दुःख का अनुभव करता है। सुख-दुःख की प्रतीति ही बन्धन है। उपासना जब भक्ति का रूप धारण करती है, तब परमात्मा प्रीत और प्रसन्न होते हैं। उनकी प्रसन्नता से ही बन्धन कट जाता है। बन्धन-निवृत्ति का दूसरा उपाय नहीं है। जीव भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है और ईश्वर प्रेरक हैं, यह स्वरूपगत भेद अवश्य ही मानना पड़ेगा। श्रुति, स्मृति प्रभृति शास्त्र इसका समर्थन करते हैं। अभेदज्ञान से यह पारमार्थिक भेद उपेक्षित होता है, अतः यह मिथ्याज्ञान है।

ध्रुवानुस्मृतिरूप ध्यान (ज्ञान) अथवा उपासना का ही रामानुजीय गण भक्ति रूप से वर्णन करते हैं। इस भक्ति के अभाव में ब्रह्मप्राप्ति और संसार-बन्धन से छुटकारा पाने की आशा सुदूर पराहत है। भक्ति के विविध साधनों या उपायों में विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष—ये प्रधान रूप से परिगणित हैं। काम्य विषयों में अनासक्ति का नाम है विमोक। पुनः-पुनः किया जानेवाला प्रयत्न अभ्यास है। शक्ति के अनुसार पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान क्रिया है। सत्य, दया, सरलता आदि गुणों का नाम कल्याण है। चित्त की ऐकान्तिक प्रसन्नता का नाम अनवसाद है एवं अति सन्तोष के अभाव का नाम अनुद्धर्ष है। वर्ण और आश्रमोचित कर्म चित् शुद्धि के सहायक होने से ज्ञान के अनुकूल हैं। किन्तु पुण्य और पाप ज्ञानोत्पत्ति के विरोधी कर्म हैं; क्योंकि ये रजोगुण और तमोगुण को बढ़ाकर सत्त्वगुण की न्यूनता के सम्पादक हैं, इसलिए ये सर्वथा हेय हैं।

वर्णाश्रम-विहित कर्मों से ज्ञानोदय के प्रतिकूल सब प्राक्तन कर्म या पुण्य-पाप नष्ट हो जाते हैं। तब अबाधित रूप से ज्ञान का विकास हो सकता है। मृत्युकाल-पर्यन्त उनकी अनुवृत्ति होने पर ज्ञानोदय और देहान्त होने पर ब्रह्मप्राप्ति अवश्यम्भावी है।

भगवान् बोधायन, टंक, दमिड़, गुहदेव, कपर्दी, भारुचि, प्रभृति प्राचीन

आचार्यों ने जो भगवत्प्राप्ति का क्रम दिखलाया है, श्रीमान् यामुन, रामानुज आदि ने सिर्फ उसीका अनुसरण किया है।

१. शास्त्रों से परोक्षभाव से कर्मतत्त्व जानकर निरन्तर वर्णाश्रम-विहित कर्म या स्वकर्म का अनुष्ठान करना चाहिए एवं अपने को भगवदनुगृहीत समझकर भक्तियोग का अभ्यास करना चाहिए। उनमें भक्ति ही उपाय है। ज्ञान तथा कर्म का अनुष्ठान चित्तशुद्धि का द्वारमात्र है।

२. भक्तियोग के अभ्यस्त हो जाने पर क्रमशः पराभक्ति का उदय होता है। पराभक्ति वस्तुतः ज्ञान की ही परिपक्व अवस्था है। इस समय चित्त में आत्यन्तिक प्रीति का आविर्भाव होता है तथा अन्य किसी वस्तु में प्रयोजन-बोध नहीं रहता एवं अन्यान्य सभी विषयों में वैराग्य उत्पन्न होता है। ध्यान अथवा उपासना के गाढ होने पर स्मृतिरूप ज्ञान जब प्रीतिमय अथवा अनुकूल और अत्यन्त स्पष्ट प्रत्यक्ष आकार धारण करता है, उसी का नाम है—पराभक्ति।

३. यह पराभक्ति ही भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन है। पराभक्ति के बाद परज्ञान अथवा साक्षात्कार का उदय होता है।

४. ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद उस पराशक्ति से ही पराभक्ति का आविर्भाव होता है। यह पराभक्ति ही वास्तव में भगवत्प्राप्ति है।

लोकाचार्य ने पुरुषार्थ के लिए कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति और आचार्याभिमान इन पाँच प्रकार के योगों का उल्लेख किया है। कर्मयोग के दो अंश हैं—प्रथम अंश यज्ञ-दानादि कर्मों के अनुष्ठान से देह-शुद्धि होती है, तब इन्द्रिय-प्रणाली के द्वारा जो ज्ञान-धारा बाहर निकलकर विषयों का ग्रहण करती है, उसका निरोध हो जाता है तथा उसकी गति अन्तर्मुख हो जाती है। यमादि अष्टांगयोग का साधन ही कर्मयोग का द्वितीय अंश है। कर्मयोग ऐश्वर्य-प्रधान है, उससे अर्थ तथा काम की प्राप्ति होती है। ज्ञानयोग से कैवल्यमुक्ति तक की प्राप्ति की जा सकती है। कर्मयोग के अनुष्ठान से विकसित ज्ञान का भगवान् के श्रीविग्रह में प्रयोग कर अनुभव करना चाहिए। उसके प्रभाव से निरन्तर अखण्ड अनुभव की प्राप्ति होती है। उसका ही नाम ज्ञानयोग है। वह भक्तियोग का सहकारी है। इस प्रकार, के ज्ञानयुक्त भक्तियोग में जिसका सामर्थ्य नहीं है, उसके लिए प्रपत्ति-योग शीघ्र फलप्रद होता है। प्रपत्ति श्रेष्ठ भागवत-धर्म और यथार्थ संन्यास है। इसमें पुरुषार्थ की अपेक्षा न होने से वर्णाश्रम का विचार किये बिना सब लोगों को प्रपत्ति या भगवत्-शरणागति का अधिकार है। भगवान् आश्रितवत्सल हैं, शरणागतपालक हैं

एवं प्रपन्न का उद्धार करना ही उनका व्रत है। भगवत्प्रपत्ति स्वतन्त्र रूप से ही मोक्षसाधन है, यह बात रामानुज-सम्प्रदाय के आचार्यों ने विभिन्न शास्त्रों के आधार पर सिद्ध की है। ब्रह्मपुराण में कहा है : "ध्यानयोग से रहित होकर भी केवल प्रपत्ति के प्रभाव से मृत्यु-भय का अतिक्रम कर विष्णुपद प्राप्त किया जा सकता है।" अहिर्बुध्न्यसंहिता में लिखा है : "सांख्य अथवा योग यहाँतक कि भक्ति से भी जिस अनावर्त्तनीय परम धाम की प्राप्ति नहीं हो सकती, वह एकमात्र प्रपत्ति से ही प्राप्त होता है।" आर्त्त और दृप्त के भेद से प्रपत्ति दो प्रकार की है। जो भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त कर सद्गुरु का आश्रय और उपदेश-ग्रहणपूर्वक सत्शास्त्र के अभ्यास और श्रवणादि द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं और परमानन्द-रूप भगवदनुभव के विरोधी स्थूल देह-सम्बन्ध को असहनीय समझकर एकमात्र भगवदनुभव के अनुकूल रूप और देहादि की इच्छा से निरन्तर भगवान् के अनुसन्धान में तत्पर रहते हैं, उन्हें आर्त्त प्रपन्न कहते हैं और जो पुनः-पुनः जन्म-मरण, सुख-दुःख, गर्भवास और स्वर्ग-नरकादि से विरक्त होकर उन सबकी निवृत्ति और भगवत्प्राप्ति के लिए सद्गुरु के उपदेश से वर्णाश्रम-विहित धर्म का अनुष्ठान तथा कायिक, वाचिक और मानसिक भगवत्कैंकर्य का अवलम्बन करते हैं एवं भगवान् के साथ अपना अंगांगी, पिता-पुत्र, भर्त्ता-भार्या, नियन्ता-नियम्य, शरीरी-शरीर, धारक-धार्य, रक्ष्य-रक्षक, भोक्ता-भोग्य प्रभृति नित्य सम्बन्धों का अनुसन्धान कर उनका (भगवान् का) सर्वज्ञत्व और अपनी अकिंचनता का अनुभव करते हैं और अपना सारा भार उन्हीं पर अर्पित कर निश्चिन्त हो उनके आश्रित रहते हैं, उन्हें दृप्त प्रपन्न कहते हैं।

पुरुषार्थ-लाभ के लिए पंचम उपाय है—आचार्याभिमान। आचार्य अथवा गुरु ही भगवान् के प्रेरित प्रतिनिधि हैं। भगवान् दुर्बल, असहाय और अपने सामर्थ्य से ऊपर उठने में असमर्थ जीव का उद्धार करने के लिए किसी सेवक को गुरु के रूप से प्रेरित करते हैं। गुरु एक ओर जैसे शिष्य का भार स्वयं वहन कर शिष्य का उद्धार करते हैं, वैसे ही दूसरी ओर भगवान् के सामने उसे स्थापित करते हैं। शिष्य के उद्धार-हेतु गुरु को बहुत क्लेश सहने पड़ते हैं तथा बहुत त्याग करना पड़ता है। जीवों का उद्धार करना ही उनके शरीर धारण का एकमात्र उद्देश्य है। गुरु का आश्रय लेकर उनका आदेश पालन करने का ही नाम आचार्याभिमान है। यह स्वतन्त्र और सहकारी दोनों रूपों में पुरुषार्थ-लाभ में उपयोगी है।

कैवल्यावस्था या आत्मानुभव की मुक्तावस्था में प्रकृति अथवा प्राकृत भावों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, यद्यपि वह दुःख-हीन, जन्म-मरण-चक्र से अतीत,

विषय-सम्बन्ध-रहित आत्मा का विशुद्ध भावमात्र है, तथापि वह परम पुरुषार्थ नहीं है। भगवदनुभव ही यथार्थ मोक्ष या परम पुरुषार्थ है। कैवल्य में भगवत्स्फूर्त्ति के अभाव से आनन्द का विकास नहीं होता। स्थूल देह ही भोगायतन है। उसी का आश्रय कर सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों का उदय होता है और सुख-दुःख का भोग होता है, यही विपरीत ज्ञान है एवं संसार-भ्रमण का मूल कारण है। स्थूल देह के साथ सम्बन्ध होने से ही भगवत्स्वरूप तिरोहित हो जाता है। सांख्याचार्यों का कथन कुछ भी हो, भक्त कैवल्य चाहते नहीं। जिस वस्तु को भगवद्भक्त चाहते हैं वह भगवदनुभूति अथवा मोक्ष है। जीव और भगवान् दोनों ही नित्य पदार्थ हैं; इसलिए दोनों का सम्बन्ध भी नित्य ही है। जीव नित्य ही अणु है और भगवान् हैं विभु। जीव है अंग वा आश्रित एवं भगवान् हैं अंगी और आश्रय। इसलिए, जीव नित्य ही भगवदाश्रित है। यह आश्रितभाव ही दास्य अथवा कैंकर्य है। इसका पूर्ण विकास ही मोक्ष है। मुक्तों के ज्ञान, आनन्द आदि गुण अपरिच्छिन्न हैं। इस विषय में भगवान् के साथ मुक्त पुरुषों का किसी प्रकार का भेद नहीं है। रामानुजाचार्य ने स्पष्ट कहा है : "निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याजब्रह्मानुभवरूपं मुक्तस्यैश्वर्यम्।" (ब्र० सू० भाष्य, ४।४।१७) किन्तु, जीव ब्रह्मज्ञ होने पर भी ब्रह्म नहीं होता। अतएव, भोगमात्र में ब्रह्मसाम्य रहने पर भी जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार नियमन आदि व्यापारों में जीव को कभी किसी प्रकार का अधिकार नहीं है। यहाँ तक की निर्मलता, सत्यसंकल्पत्व आदि जो ऐहिक गुण मुक्त जीव में स्वभावतः आविर्भूत होते हैं, वे भी मूल में भगवदधीन हैं। अधीनता किसी के लिए सुखद न होने पर भगवदधीनता-रूप जीव के परम पुरुषार्थ में हेतु क्या है? रामानुजाचार्य ने कहा है : ऐसा प्रश्न देहाभिमान से उदित होता है। जिस वस्तु को पाने पर राम को सुख होता है, उससे श्याम को सुख नहीं होता। इसका एकमात्र कारण यही है कि देह-भेद के कारण आत्माभिमान का वैचित्र्य है, आत्मा परमात्मा का अंग अथवा विशेषण है तथा नित्य ही उनके आश्रित है। अतः, मुक्त पुरुष भगवत्-पारतन्त्र्य को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं, यही उसका कारण है। मुक्तात्मा को स्वातन्त्र्याभिमान नहीं होता; क्योंकि उस प्रकार का अभिमान देह-सम्बन्धमूलक है। वह कर्मजन्य विपरीत ज्ञान के सिवा और कुछ नहीं है। कर्म ही सुख-दुःख का असाधारण हेतु है, विषय स्वरूपतः सुखमय नहीं हैं। एकमात्र परब्रह्म ही स्वतः सुखमय अथवा नित्यानन्दस्वरूप है। विषयों का सुखमयत्व अथवा दुःखमयत्व कर्म-सापेक्ष है, स्वाभाविक नहीं है। कर्मक्षय होने पर जगत् ब्रह्म की ही विभूति प्रतीत होता है। भगवत्पारतन्त्र्य भगवदंगभूत आश्रित जीव के लिए स्वाभाविक अवस्था है—वह पूर्णानन्दमय मुक्तभाव है एवं साधनामात्र का चरम लक्ष्य है।

प्रकृति के सम्बन्ध से जीव में जितना कृत्रिम अभिमान का उदय होता है, ब्रह्मविद्या-प्राप्ति के अनन्तर वह सब तिरोहित हो जाता है। उस समय उसका स्वाभाविक दास्याभिमान अभिव्यक्त होता है। वह नित्य ही वर्त्तमान रहकर जीव-हृदय में परमानन्द का विधान करता है। भक्तों की दृष्टि में मुक्ति में भी 'अहं'-अभिमान (शुद्ध) का विनाश नहीं होता। हाँ, यह बात सत्य है कि निर्वाण आदि मुक्तियों में अहंभाव नहीं रहता, किन्तु भक्तों की दृष्टि के अनुसार यह अवस्था उपेक्षायोग्य है। भक्तप्रवर हनूमान् की उक्ति है : "भवबन्धच्छिदे तस्मै प्रार्थयामि न मुक्तये। भगवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते ॥" (जिस मुक्ति में जीव और भगवान् का परस्पर दास-प्रभु-सम्बन्ध विलुप्त हो जाता है, वह चाहे शुद्ध चिदेकरस ही क्यों न हो अथवा शून्यमय ही हो, भक्त उसे नहीं चाहते।)

बृहद्ब्रह्मसंहिताकार ने कहा है कि यह सेवक-भाव (दास-भाव) दो प्रकार का है। गन्ध, माला आदि का सम्पादन करना एक प्रकार की सेवा है, उसे कैंकर्य कहते हैं। और रूपसेवा—कोई-कोई भक्त स्वाभाविक रुचि के अनुसार सर्वदा रूप-सेवक होकर भगवान् की सन्निधि में रहना चाहते हैं। श्रीभगवान् सब प्रकार के सौन्दर्यों के आधार, अनुपमलावण्यशाली, अनन्त प्रेम-पारावार, नित्य किशोर-वयस्क, ऐश्वर्य, माधुर्य और अनन्त गुणों के एकमात्र आश्रय, सब रसों की खान, विज्ञानघन, सच्चिदानन्दविग्रह हैं और भक्त उन्हीं के श्रीचरणाश्रित, आत्मविस्मृत तथा प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं। श्रीप्रभु के मधुर वदन-कमल का निरन्तर निरीक्षण करने पर भी भक्त को तृप्ति नहीं होती। अनन्त सौन्दर्य के नव-नव उन्मेष अनन्त प्रकारों से नेत्र के सामने प्रस्फुटित होते हैं। परन्तु उससे तृष्णा की वृद्धि ही होती है, उपशम नहीं होता। उस समय चक्षु के पलक गिरने में भी कष्ट होता है; क्योंकि एक पलक के लिए भी रूप-दर्शन का विच्छेद उस समय दीर्घ युग के तुल्य असहनीय प्रतीत होता है। इसी का नाम है रूपसेवा।

विशिष्टाद्वैतवादियों की दृष्टि से जीवों का महाप्रयाण निम्नोक्त क्रमानुसार सम्पन्न होता है। पहले मुमूर्षु भक्त की आत्मा सुषुम्णा नाडी में प्रविष्ट होकर मस्तक पर उत्थान करती है। तब सिर के कपाल को भेद कर ब्रह्मरन्ध्र-मार्ग में उत्क्रमण करती हुई केवल सूक्ष्म शरीर का अवलम्बन कर अर्चिरादि-मार्ग में गमन करती है। उत्क्रमण-काल में किसी-किसी ज्ञानी के सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है, फिर भी देवयान-मार्ग में चलने के उपयोगी कर्मरचित सूक्ष्मशरीर ज्ञान के प्रभाव से विद्यमान रहता है। सूक्ष्म शरीर न रहने से एक ओर जैसे प्राकृतिक सुख-दुःख-साधन स्थूल शरीर का तथा सब प्रकार के कर्मों का निःशेष क्षय नहीं होता, दूसरी ओर वैसे ही

ज्ञाननिमित्तक ब्रह्मलोक-प्राप्ति के लिए देवयान-मार्ग में चलने का कोई उपाय नहीं रहता। भोग-समाप्ति होने पर जब कर्म क्षीण हो जाते हैं, तब आधिकारिक ज्ञानी भी भवचक्र से छुटकारा पा जाते हैं। अर्चिरादि-मार्ग से गमन ही देवयान-गति कही जाती है, इसमें बहुतेरी विश्राम-भूमियाँ हैं, उनका अतिक्रमण कर आगे बढ़ना पड़ता है। मार्ग में सूर्यमण्डल-भेद करने तथा प्रकृति पार करने पर विरजा-प्राप्ति होती है। विरजा में अवगाहन करने पर सूक्ष्मदेह और उसमें संलग्न 'वासनारेणु' धुल जाते हैं। अवगाहन से विशुद्ध सत्त्वावस्था-प्राप्त आत्मा रजोविहीन अथवा कुण्ठा-रहित होकर संकल्पमात्र से विरजा का अतिक्रमण करते हुए भगवद्धाम में प्रवेश करते हैं। उनके अनन्त जन्मों की सारी क्लान्ति, सब ताप और अवसाद वहाँ अमानव दिव्य पुरुष के कर-स्पर्श से एक निमेष में मिट जाते हैं। मुक्त आत्मा को उस समय ज्योतिर्मय, पंचोपनिषदात्मक, अर्थात् त्रिगुणातीत शुद्ध सत्त्वमय भागवती तनु प्राप्त होती है। यह अनन्त तेजोमय दिव्यतनु, मन्त्रवपु आदि नामों से प्रसिद्ध है। यह देह जरा, जन्म, मृत्यु आदि विकारों से रहित है। यह देह आवरण नहीं करती, अपितु भगवान् के स्वरूप, गुण, विभूति आदि को प्रकट करती है। उस समय आत्माओं को अपना दासभाव और भगवान् का प्रभुभाव ये दोनों स्वाभाविक हैं, यह प्रतीत होता है एवं उनके (भगवान् के) एकनिष्ठ परिचारक के रूप में परिगृहीत होने के लिए वे प्रार्थनापूर्वक उन्हें प्रणाम कर उनके श्रीचरणों में आत्मनिवेदन करते हैं। तब भगवान् स्वयं प्रेमपूर्ण नेत्रों से उनकी ओर दृष्टिपात करते हैं एवं उनका देश, काल और अवस्था के अनुरूप सेवक-भाव में ग्रहण करते हैं। भक्त संजीवित होकर विनयपूर्वक आदेशपालन-हेतु प्रतीक्षारत सदा प्रभु के निकट स्थित रहते हैं। इसके कारण आत्माभाव के आत्यन्तिक विकास से निरतिशय प्रीति प्राप्त कर अन्य के अनुष्ठान, दर्शन, यहाँतक कि स्मरण करने में भी असमर्थ होकर ,फिर सेवक-भाव की ही प्रार्थना करते हुए पहले की तरह निर्निमेष नेत्रों से अविच्छिन्न दृष्टि द्वारा भगवान् के मधुर रूप का ही दर्शन करते रहते हैं। तदनन्तर, भगवान् उनकी ओर निहार कर सहास्य श्रीमुख से उनका आह्वान करते हैं एवं समस्त क्लेशनाशक परमानन्दप्रद अपने दोनों श्रीचरण-कमल उनके मस्तक पर स्थापित करते हैं, तब भक्त अमृतसागर में पूर्णरूप से निमग्न होकर सदातन सुख में अवस्थान करते हैं।

किंवदन्ती है कि यह विशिष्टाद्वैत-मत अति प्राचीन है। सर्वप्रथम पराशर ने विष्णुपुराण में इसका प्रतिपादन किया। तदुपरान्त व्यासदेव ने शारीरकसूत्र तथा महाभारत में इसका वर्णन किया। बोधायन ने अपने वृत्तिग्रन्थ में इसी का विस्तार किया है। टंक (ब्रह्मनन्दी), द्रमिड आदि आचार्यों ने द्रमिड-भाष्य आदि में

इसके सारांश का संकलन किया। कलियुग में परांकुश मुनि ने अपने द्रविडोपनिषद् में इसका संग्रह तथा प्रवर्त्तन किया। तदनन्तर, नाथ मुनि ने न्यायतत्त्व, योगरहस्य आदि ग्रन्थों में एवं यामुनमुनि ने आगमप्रामाण्य, सिद्धित्रय आदि ग्रन्थों में इसका विवरण किया और रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य आदि में इसकी स्थापना की। अतएव, रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत-मत के प्रतिष्ठाता-मात्र हैं, आदिप्रवर्त्तक नहीं हैं। भर्त्तृहरि, भर्त्तृप्रपंच, भर्त्तृमित्र आदि के वेदान्तसूत्रभाष्य भी कुछ अंशों में इस मत के समर्थक प्रतीत होते हैं। गुहदेव, कपर्दी, भारुचि आदि प्राचीन आचार्यों के नाम भी इस प्रसंग में उपलब्ध होते हैं।

प्राचीन काल में दक्षिण देश में एक प्रकार के भक्तिसिद्ध महापुरुष प्रादुर्भूत हुए थे। उनको तमिल-भाषा में 'आलवार' कहते थे। ऐसे बारह आलवार-सन्तों का पता और परिचय वैष्णव-साहित्य के इतिहास में पाया जाता है। उनमें से, अति प्राचीन काल में, जो चार व्यक्ति जीवित थे, उनके नाम थे—सरयोगी, भूतयोगी, महद्योगी और भक्तिसार। मध्ययुग में पाँच सिद्धों का संवाद मिलता है; जैसे शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, विष्णुचित्त और गोदा (विष्णुचित्त की कन्या)। नूतन युग में भक्तांघ्रिरेणु, योगिवाह और परकाल—इन तीन जनों का उल्लेख हमें मिलता है। इन बारह भक्तों में शठकोप ने ही सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इनके पिता कारि थे, अतः ये कारिसूनु कहे जाते थे। परांकुश, वकुलाभरण, शठारि या शठद्वेषी आदि नामों से इनकी ख्याति थी। ऐसा प्रवाद है कि जन्म के प्रारम्भ से ही इन्होंने कभी भोजन अथवा रोदन नहीं किया। अल्पवय में ही पिता-माता ने इन्हें एक शून्य मन्दिर में छोड़ दिया था। वहाँ मन्दिर के निकट एक इमली के पेड़ के नीचे ये सोलह वर्ष तक अखण्ड योगनिद्रा में बैठे रहे, उसके बाद क्रमशः ईश्वरीय कृपा प्राप्त कर सिद्धि को प्राप्त हुए।

मधुर कवि नाम के एक सामवेदी ब्राह्मण तीर्थयात्रा-हेतु अयोध्या गये। कहा जाता है कि एक दिन सायंकाल वहाँ से अपने देश (तृनेवली जिला) की ओर निरीक्षण करते ही एक विराट् ज्योतिःस्तम्भ उनकी दृष्टि के सम्मुख पड़ा। उसका अनुसरण कर आते-आते उन्हें पूर्वोक्त इमली के वृक्ष के नीचे समासीन शठकोप के दर्शन हुए और यथासमय उन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। उन्होंने शठकोप के सब तत्त्वोपदेश लिपिबद्ध करके रखे। इन उपदेशों का नाम 'तिरुवायमौलि' अथवा मुखनिःसृत वाणी है। ये सब दक्षिण देश में द्रविडवेद या तमिलवेद के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कुलशेखर नामक सिद्ध भक्त त्रिवांकुर के राजा थे। उनके द्वारा रचित 'मुकुन्दमाला' नामक ग्रन्थ का पता चलता है। योगिवाह पारिया या चण्डाल जाति के थे। वैष्णव पद-संग्रह में उनके कई पद मिलते हैं। वे परकाल चोलराज्य के एक कर्मचारी थे। उन्होंने बहुत सारे ग्रन्थों की रचना की थी। शठकोप के उपदेशों की व्याख्या भी उन्होंने रची थी। प्रवाद है कि एक विवाह के बरातियों पर डाका डालते समय इन्हें भगवान् की कृपा प्राप्त हुई थी।

इन आलवारों के अनन्तर आचार्य पण्डितों ने वैष्णव-धर्म का प्रचार किया। नाथमुनि ही आचार्य-परम्परा में गौरव तथा प्राचीनता के सम्बन्ध में सर्वप्रथम गणनीय हैं। प्रसिद्धि है कि ये ५०० वर्ष जीवित रहे थे। इनका निवास ग्राम वीर-नारायणपुर था। नाथमुनि ने तीर्थयात्री वैष्णवों के मुख से शठकोप के दस पदों को सुनकर अत्यन्त प्रभावित हो उनके सभी लुप्त ग्रन्थों का उद्धार करने के लिए कमर कसी। किन्तु, कुम्भकोण, शठकोप के जन्मस्थल आदि बहुत स्थानों के अन्वेषण के बाद भी उन्हें सफलता नहीं मिली। नाथमुनि एक विशिष्ट पाण्डित्य-सम्पन्न महा-पुरुष थे—न्यायतत्त्व और योगरहस्य के प्रणेता। उनको मधुर कवि के शिष्य परांकुशपूर्ण से ज्ञात हुआ कि एकान्त भाव से शठकोप का ध्यान कर नियमपूर्वक एकासन से उनके प्रबन्धों का बारह हजार बार चिन्तन करने पर शठकोप प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। यह सुनकर नियमानुसार उपासना करने पर सचमुच उन्हें प्रत्यक्षमूर्त्ति में शठकोप के दर्शन प्राप्त हुए। तब उनके प्रति कृपापरवश होकर शठकोप ने उन्हें दिव्यचक्षु प्रदान किया; चित्, अचित् और ईश्वर-तत्त्व का रहस्य समझा दिया। सब दर्शनों का तात्पर्य बतलाकर अष्टांगयोग के गुह्यरहस्य की शिक्षा दी एवं स्वप्नयोग से उनके भावी गुरु की मूर्त्ति भी दिखला दी। एक हिसाब से, नाथमुनि से ही विशिष्टाद्वैत-दर्शन-प्रणाली का सूत्रपात माना जा सकता है। नाथमुनि के पुत्र ईश्वरमुनि तो उतने ख्यातिलब्ध न हो सके, किन्तु उनके पुत्र यामुन मुनि ने महापण्डित के रूप में सम्मान प्राप्त किया था। यामुन विवाहित और गृहस्थ थे। ईश्वरमुनि ने अपने पुत्र (यामुन) को उपनयन के तुरन्त बाद ही वेदशिक्षा प्रदान की थी। यामुनाचार्य ने सिद्धित्रय, आगमप्रामाण्य, स्तोत्ररत्न आदि विविध ग्रन्थों की रचना की थी। उन्हीं के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए रामानुजाचार्य ने अपने सिद्धान्त की स्थापना की। रामानुज यामुन की पौत्री के पुत्र थे। अलौकिक रूप से यामुन ने रामानुज को तीन आदेश दिये थे। वैष्णवमतानुसार ब्रह्मसूत्र की भाष्यरचना प्रथम आदेश, सहस्रनाम का भाष्य तथा शठकोप की सहस्रगीतिका के भाष्य की रचना द्वितीय और तृतीय आदेश थे। ब्रह्मसूत्र-भाष्य की रचना स्वयं

रामानुज ने श्रीभाष्य के रूप में की। उन्होंने पराशरभट्ट द्वारा सहस्रनाम भाष्य की रचना कराई, जो 'भगवद्गुरुदर्पण' कहलाता है। तृतीय भाष्य की रचना उन्होंने अपने मामा श्रीशैलपूर्ण के पुत्र कुरुकेश से कराई। श्रीभाष्य के सिवा रामानुज ने वेदान्तसार और वेदान्तदीप नामक ब्रह्मसूत्रवृत्ति, गीताभाष्य, वेदार्थसंग्रह, नित्याराधनविधि, गद्यत्रय आदि कई ग्रन्थों का निर्माण किया था। रामानुज के बाद उनके सम्प्रदाय में तत्त्वमुक्तावली के रचयिता गौडपूर्णानन्द कविचक्रवर्त्ती एवं पिल्लइ लोकाचार्य और वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक ने आविर्भूत होकर दार्शनिक साहित्य की विशेष पुष्टि की। लोकाचार्य का जन्म १२१३ ई० है एवं वे टेंगलई और वेंकटनाथ (सन् १२६८ ई०) बड़गलई-शाखा के अन्तर्गत थे। लोकाचार्य १८ रहस्यग्रन्थों की रचना कर, जिनमें तत्त्वत्रय, अर्थपंचक, तत्त्वशेखर, श्रीवचनभूषण और प्रमेयशेखर प्रमुख हैं, सुधी-समाज में असीम यश एवं गौरव से विभूषित हुए थे। तत्त्वांश में लोकाचार्य वेंकटनाथ की अपेक्षा उन्नत पद पर आसीन थे, किन्तु दार्शनिक विचारकौशल तथा वाग्मिता में वेंकटनाथ भारतवर्ष के एक अत्युज्ज्वल नक्षत्र-स्वरूप थे। वे असाधारण तीक्ष्णबुद्धिशक्तिसम्पन्न पुरुष थे। वे विद्यारण्यस्वामी तथा अक्षोभ्यमुनि के समकालीन थे। तमिल तथा संस्कृत में विभिन्न विषयों पर लिखे उनके अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। उन्होंने 'शत-दूषणी' में शांकर मत में एक सौ दोष निकालकर अपनी बुद्धिमत्ता का निदर्शन किया है। श्रीभाष्य पर 'तत्त्वटीका' नामक उनका बृहद् ग्रन्थ है। उनकी पांचरात्ररक्षा, सिद्धान्तरत्नावली, यामुनकृत स्तोत्ररत्न की टीका, स्वविरचित सर्वार्थसिद्धि नामक टीका-सहित तत्त्व-मुक्ताकलाप, न्यायसिद्धांजन, रामानुजकृत गीताभाष्य की टीका तात्पर्यचन्द्रिका, प्रपत्तिविषयक निक्षेपरक्षा और न्यायदशक, रहस्यत्रयसार, परमतभंग, अधिकरण-सारावली, वेदान्तकौस्तुभ, वादित्रयखण्डन आदि अत्यन्त उत्कृष्ट दार्शनिक ग्रन्थ हैं। उनका संकल्पसूर्योदय रूपक के बहाने वैष्णवसिद्धान्त का प्रतिपादक है। हंस-सन्देश, दयाशतक आदि कई उनके सुन्दर काव्य हैं। उनके ग्रन्थों का परिशीलन करने से प्रतीत होता है कि वे जो 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र', 'कवितार्किकसिंह' आदि उपाधिभूषणों से विभूषित थे, वह अमूलक नहीं है।

अब हम श्रीशैलेश के शिष्य श्रीवरवर मुनि अथवा रम्यजामातृमुनि या मनवलमहामुनि का नामोल्लेख कर सकते हैं। ये सन् १३७० ई० में जन्म ग्रहण कर ७३ वर्ष तक जीवित रहे। इनके विरचित ग्रन्थों में श्रीवचनभूषण तथा तत्त्वत्रय की टीकाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। इनके उपदेशरत्नमाला तथा अर्थि-प्रबन्ध—ये दो ग्रन्थ तमिल-भाषा में लिखित हैं। रामानुज के शिष्य वरदविष्णु

के पौत्र वरदाचार्य महापण्डित थे। इनका 'तत्त्वसार' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। रामानुज के द्वितीय शिष्य प्रणतार्त्तिहर के प्रपौत्र आत्रेय रामानुज वरदाचार्य के शिष्य थे। वरदाचार्य के गुरुदेव विष्णुचित् कुरुकेश के शिष्य थे, उनके द्वारा विरचित विष्णु-पुराण की टीका आज भी सुप्रसिद्ध है। वेदव्यास नामक सुदर्शनभट्ट ने श्रीभाष्य पर श्रुतप्रकाशिका नाम की टीका तथा वेदार्थसंग्रह की व्याख्या का संकलन किया। अप्पय-दीक्षित (सन् १५५२ से १६२४ ई०) ने बहुत-से वैष्णवग्रन्थों, विशेषकर वेंकटनाथ-विरचित ग्रन्थों की टीका-रचना की। अप्पयदीक्षित यद्यपि शैव थे, तथापि वैष्णव दर्शन में उनका पाण्डित्य असाधारण था। चण्डमारुताचार्य-रचित शतदूषणी टीका, चण्डमारुत (सन् १६०० ई०) तथा श्रीनिवास-रचित यतीन्द्रमतदीपिका (सन् १६५० ई०) को वर्त्तमान वैष्णव समाज में ख्याति प्राप्त हुई। रंगरामानुज ने (सन् १८०० ई०) विशिष्टाद्वैतमत से उपनिषदों पर व्याख्या प्रस्तुत की थी—इस समय भी उसका पठन-पाठन प्रचलित है।

दक्षिणदेश में श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय में दो शाखाएँ टेंगलई (दक्षिणपथ) तथा बड़गलई (उत्तरपथ) नाम से प्रसिद्ध हैं। किसी-किसी विषय में इनके बीच मतभेद दिखाई पड़ता है। बड़गलई-शाखा की अपेक्षा टेंगलई-शाखा में कृपा अथवा प्रपत्ति का प्राधान्य अधिक है। बड़गलइयों ने कर्म और ज्ञान को भक्ति के अंगरूप में मानते हुए कहा है कि भगवान् साक्षात् रूप से एकमात्र भक्तिलभ्य हैं। टेंगलई लोग भगवत्कृपा को अहैतुकी, अनिर्दिष्ट मानते हुए कर्म, ज्ञान, भक्ति किसी को भी मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते हैं। बड़गलई लोग कहते हैं, यदि अन्य उपाय के अवलम्बन में सामर्थ्य अथवा अधिकार न रहे तो, प्रपत्ति-ग्रहण करना उचित है। किन्तु, टेंगलई लोग मानते हैं कि जीवमात्र को ही पूर्णरूप से भगवान् के प्रति शरणापन्न होना ही पड़ेगा। इसमें सबलता और दुर्बलता का विचार नहीं है। विशुद्ध प्रपत्ति ही श्रेष्ठ उपाय है—इसके साथ अन्य उपायों का मिश्रण युक्तियुक्त नहीं है। बड़गलइयों के मत में कैवल्य-मुक्ति स्थायी नहीं है, किन्तु टेंगलइयों के मतानुसार कैवल्य नित्या-वस्था है। इस अवस्था से जैसे जड जगत् में पतन की सम्भावना नहीं रहती है, वैसे ही भगवद्धाम में जाने का भी कोई उपाय नहीं है। बड़गलई लोग मुक्त आत्मा की आनन्दोपलब्धि में वैचित्र्य को स्वीकार नहीं करते, किन्तु टेंगलई लोग कहते हैं, यद्यपि भगवदानन्द में न्यूनाधिक्य नहीं है, तथापि जीवमात्र की ही स्वभावगत वैचित्र्य के अनुरूप सेवाभेद अवश्यम्भावी है, इसलिए भगवदानन्द का आस्वादन सब जीवों के लिए एक-सा नहीं होता।

श्री अथवा शक्तितत्त्व के सम्बन्ध में भी दोनों में मतभेद है। बड़गलई लोग

कहते हैं कि नारायण के तुल्य श्री की मोक्षप्रदान में शक्ति है, परन्तु टेंगलई इसे स्वीकार नहीं करते। उन लोगों के मत में श्री केवल मध्यवर्तिनी होकर जीव को भगवान् का कृपापात्र बनने में सहायता पहुँचाती है। वेंकटाचार्य ने स्वरचित 'लक्ष्म्युपायत्वदीप' में श्री का कारणत्व, व्यापकत्व, नियन्तृत्व आदि प्रदर्शित किये हैं एवं जो लोग श्री की पुरुषकारता-मात्र स्वीकार करते हैं, उनके मत का खण्डन करते हुए श्री का उपायत्व श्रुति-स्मृति और शास्त्र-सम्प्रदाय के अनुसार सिद्ध किया गया है। इसलिए, उनके मत में भी 'लक्ष्मीविशिष्टां भगवच्चरणारविन्दशरणागति' ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। बड़गलई लोग श्री की स्वरूपव्याप्ति स्वीकार करते हैं, टेंगलई लोग केवल विग्रहव्याप्ति तथा गुणव्याप्ति मानते हैं। टेंगलइयों के मतानुसार जीव की केवलमात्र गुणव्याप्ति है, श्री की गुणव्याप्ति और विग्रहव्याप्ति दोनों ही हैं, भगवान् की गुण और विग्रहव्याप्ति के अलावा स्वरूपव्याप्ति भी है। भगवान् के वात्सल्य और दयालुता के सम्बन्ध में अवश्य भक्तमात्र ही एकमत हैं। पर, बड़गलई लोग कहते हैं, वात्सल्यवश भगवान् जीव का दोष देखते नहीं, किन्तु टेंगलई लोगों के मतानुसार भगवान् केवल जीव के दोष नहीं देखते, सो बात नहीं है, किन्तु दोषों के 'भोक्ता' भी हैं। उत्तर-सम्प्रदाय कहते हैं परदुःख-निराकरण की इच्छा ही दया है; किन्तु दक्षिण-सम्प्रदाय थोड़ा और भी अग्रसर होकर उस लक्षण में परिवर्त्तन करते हुए कहते हैं, परदुःख में दुःखानुभव ही दया है। इसी प्रकार और भी अनेक विषयों में भेद है। यह शाखा-भेद कब हुआ, यह ज्ञात नहीं है, पर लोकाचार्य तथा वेदान्तदेशिक के समय से ही साम्प्रदायिक कलह ने तीव्र आकार धारण किया, यह ऐतिहासिक सत्य है।

हंस-सम्प्रदाय

(निम्बार्कमत : द्वैताद्वैत)

निम्बार्काचार्य भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैतवादी थे। निम्बार्क के पहले भास्कराचार्य इस मत के समर्थक थे। उनके भाष्य में इसका समर्थन दीखता है। ब्रह्मसूत्र में औडुलोमि नामक आचार्य का उल्लेख है, वे भी भेदाभेदवादी थे। औडुलोमि जीव और ब्रह्म में, बद्धावस्था में भेद एवं मुक्तावस्था में अभेद अंगीकार करते हैं। निम्बार्क कहते हैं कि दोनों में भेदाभेद स्वाभाविक है। इसलिए, वह बद्धावस्था में जैसा है, मुक्तावस्था में भी वैसा ही वर्त्तमान रहता है।

कहा जाता है कि सनकादि महर्षियों को निगूढ ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देने के लिए भगवान् हंस रूप में अवतीर्ण हुए थे। नारद हंस-रूपी भगवान् के अनुचर हैं। निम्बार्क नारद के शिष्य और भगवान् के सुदर्शन-चक्र के अवतार थे। वे जयन्ती देवी के गर्भ से उत्पन्न अरुणि मुनि के औरस पुत्र थे। उनके शिष्य श्रीनिवास भगवान् के शंख के अवतार थे, ऐसी प्रसिद्धि है। उन्होंने निम्बार्क के 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामक ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर वेदान्तकौस्तुभ नाम से उत्कृष्ट टीका की रचना की थी। गुरुपरम्परा-क्रम में देवाचार्य श्रीनिवास से नीचे हैं। वे भगवान् के पद्म के अवतार एव सिद्धान्तजाह्नवी नामक ब्रह्मसूत्र-व्याख्या के रचयिता थे, जिसपर सुन्दर-भट्ट ने 'सेतु' नामक टीका लिखी। सुन्दरभट्ट के बाद प्रधान आचार्य का नाम काश्मीरी केशवभट्ट था। ये एक दिग्विजयी पण्डित थे। इनके गुरु का नाम मुकुन्द था। 'कौस्तुभप्रभा', 'तैत्तिरीयप्रकाशिका', 'तत्त्वप्रकाशिका' आदि विविध ग्रन्थों में उनकी विद्वत्ता और असाधारण प्रतिभा का निदर्शन विद्यमान है। ब्रह्मचारी वनमाली मिश्र का 'वेदान्तसिद्धान्तसंग्रह' अथवा 'श्रुतिसिद्धान्त' सात अध्यायों का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है।

इस सम्प्रदाय का मूल प्रामाणिक ग्रन्थ वेदान्तपारिजातसौरभ है। इसके रचयिता निम्बार्क की 'दसश्लोकी' में संक्षिप्त रूप से ज्ञेय पंचविध पदार्थों का निरूपण है। उपास्य और उपासक का स्वरूप, कृपा का फल, भक्तिरस तथा प्राप्ति के विरोधियों का स्वरूप—यह अर्थ-पंचक अति सुन्दर सहज रूप से दस श्लोकों में आलोचित है। 'सविशेषनिर्विशेष-श्रीकृष्णस्तवराज' भी स्वयं निम्बार्क-विरचित २५ श्लोकों का एक स्तोत्र है। 'श्रुति-सिद्धान्तमंजरी' नाम से इसकी टीका है।

निम्बार्क के मतानुसार चित्, अचित् और ब्रह्म भेद से तीन प्रकार के तत्त्व हैं। उनमें चित् तत्त्व ही जीवात्मा है। यह देहादि जडपदार्थ-समूह से पृथक् ज्ञानरूप होकर भी नित्यज्ञान का आश्रय, अर्थात् नित्य ज्ञाता, अणुपरिणाम, अहंप्रतीति का विषय एवं कर्त्तृत्वसम्पन्न है। जीव प्रति शरीर में विभिन्न तथा बन्धन-मुक्ति की योग्यता से सम्पन्न है। भगवान् श्रीपुरुषोत्तम जीवमात्र के ही अन्तरात्मा हैं, जीव-मात्र ही उनका व्याप्य (स्वांशरूप), उनका आधेय तथा सर्वदा स्थिति आदि सभी विषयों में स्वभावतः उनके अधीन है। ईश्वर प्रेरक हैं और जीव प्रेर्यमाण। नित्य, बद्ध और मुक्त—तीन प्रकार के जीव होते हैं। नित्य जीव सर्वदा ही संसार-दुःख से मुक्त, स्वभावतः भगवदनुभावित तथा भगवत्स्वरूप, गुण आदि के विषय में अनुभवानन्दसम्पन्न हैं। समाधिनिष्ठ योगियों को भी उस प्रकार का अनुभवानन्द

होता है, यह सत्य है; परन्तु वह नित्य जीवों के अनुभव के तुल्य सार्वकालिक नहीं होता और स्वाभाविक भी नहीं होता। प्रकृति के सम्बन्ध से ही दुःख आदि का उद्रेक होता है—देह आदि दुःख आदि के साधन हैं। इस सम्बन्ध का ही नाम बन्धन है, इसका कारण है अनादि कर्मरूपा अविद्या। जब जीव इस बन्धन को काटकर बाहर निकल जाता है, तभी वह मुक्त जीव कहा जाता है। मुक्ति के दो भेद से मुक्त भी दो प्रकार के हैं। यद्यपि वेदान्तकौस्तुभ आदि ग्रन्थों में कार्य-कारण-प्रवृत्ति-निवृत्तिपूर्वक भगवद्भावापत्ति ही मुक्ति कही गई है, तथापि परवर्त्ती किसी ग्रन्थ में प्रत्यगात्मा की स्वरूपप्राप्ति (कैवल्य का नामान्तर) भी मुक्ति मानी गई है। इस अवस्था, अर्थात् विश्वात्मक भगवद्भाव की प्राप्ति जबतक न हो, तबतक परमानन्द का विकास नहीं होता। जो लोग अनादि कर्मजन्य देवादि देह में और तत्सम्बद्ध वस्तु में आत्मरूप से अथवा आत्मीय रूप से अभिमान करते हैं, वे बद्ध जीव हैं। उनमें अवस्था का तारतम्य है, इसलिए कोई बुभुक्षु और कोई मुमुक्षु देखे जाते हैं। सद्गुरु का आश्रय लेकर उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग अनुसरण करने से भगवान् की अहैतुकी कृपा का विकास होता है, जिसके प्रभाव से जीव परामुक्ति लाभ करते हैं। तब जीव अर्चिरादिमार्ग में प्रवेश पाकर प्रकृति-मण्डल से ऊपर परमपद अथवा ब्रह्म-लोक को प्राप्त होते हैं।

अचित् तत्त्व तीन प्रकार का है—प्राकृत, अप्राकृत और काल। त्रिगुण का आश्रयभूत द्रव्य प्राकृत है। यह कारणरूप से नित्य और कार्यरूप से अनित्य है। प्रधान, माया, अव्यक्त आदि कारणावस्था के ही नामान्तर हैं और महत्तत्त्व से ब्रह्माण्ड-पर्यन्त जगत् कार्यावस्था के अन्तर्गत है। अचित् की सत्ता भगवत्सापेक्ष है, स्वतन्त्र नहीं। प्रकृति नित्य कालाधीन और परिणाम आदि विकारशील हैं। यह कर्मों का क्षेत्र है और परार्थक है। सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से प्रकृति क्षेत्रज्ञ आत्मा के देहेन्द्रिय, मनोबुद्धि आदि के रूप में परिणत होकर जीव का बन्धन करती है तथा मोक्ष में बाधक होती है। अचित् तत्त्व का अप्राकृत अंश विशुद्ध सत्त्व है। वह अचेतन होने पर भी प्रकृति और काल से अत्यन्त भिन्न है और सूर्य के प्रकृति-मण्डल के बाहर विराजमान रहता है। नित्यविभूति, विष्णुपद, परमव्योम, परमपद, ब्रह्मलोक आदि इसी के नामान्तर हैं। यह भगवान् के अनादि संकल्पवश उनके तथा उनके नित्य और मुक्त भक्तों के भोग्य, भोगोपकरण और स्थान के रूप में विविध रूप धारण करता है। यह कालातीत होने से परिणाम आदि विकारों से रहित है। काल नित्य और विभु है एवं भूत, भविष्यत् आदि व्यवहार का असाधारण कारण है। लौकिक ज्ञानमात्र में ही कालज्ञान अनुप्रविष्ट रहता है। यह सृष्टि आदि का सहकारी एवं प्राकृत वस्तुमात्र का नियामक है, किन्तु भगवान् के अधीन है।

निम्बार्क के मतानुसार ब्रह्म जगत्कर्त्तृत्व आदि गुणों का आश्रय है। श्रीकृष्ण अथवा वासुदेव ही अचिन्त्य और अनन्त शक्तिवाले परब्रह्म हैं। ये दोषहीन, कल्याणगुणों के आकर, सत्य और ज्ञानस्वरूप, अनन्त और सच्चिदानन्दविग्रह हैं। ये एक ओर जैसे ऐश्वर्य के आधार रमानाथ हैं, दूसरी ओर प्रेम या माधुर्य के आश्रय गोपीनाथ हैं। सत्यभामा ही रमा या भूशक्ति हैं। भगवान् मुक्तगम्य, योगिध्येय और भक्तवत्सल हैं। वे ब्रह्मादि देवों से अर्चित, कर्मफलप्रदाता और कृपालभ्य हैं एवं सत्त्वयुक्त, यज्ञादि के भोक्ता और मुमुक्षुओं के एकमात्र जिज्ञासु हैं। वे सर्वशक्तिमान् और एकरस हैं तथा उनकी देह अनन्त असंख्य कल्याणगुणों का आधार है। निरतिशय सौन्दर्य, मृदुलता, लावण्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य आदि सद्गुण नित्य उनकी देह को विभूषित किये रहते हैं एवं वह इन्द्रिय-विभाग की कल्पना से परे है। भगवत्साम्य-प्राप्त मुक्त पुरुषों और नित्यगणों का रूप भी उस प्रकार के गुणों से विभूषित है। इन देहों का संगठन भगवान् की अनादि और अनन्त इच्छा से सिद्ध है। आत्मा की भाँति देह भी नित्य है। ये देह निर्विकार हैं, अतः जन्य नहीं हैं। उत्सव के समय जैसे भृत्यवर्ग को राजा से पूर्वसिद्ध वस्त्रादि प्राप्त होते हैं, वैसे ही प्रकृति से बाहर निकलकर भगवद्राज्य में प्रवेश करते समय पूर्वसिद्ध, नित्य, निर्विकार भगवत्सेवा-करण-योग्य देह भगवान् जीव को प्रदान करते हैं।

ब्रह्म चित् और अचित् से नित्य विलक्षण है। अणु तथा अल्पज्ञ जीव बद्धावस्था में भी व्यापक अच्युतस्वभाव, सर्वज्ञ ब्रह्मपदार्थ से भिन्न होकर भी ब्रह्मांश (सदा ब्रह्मात्मक) होने के कारण उससे अभिन्न है। प्रदीप से प्रभा तथा प्राण से इन्द्रियाँ जैसे पृथक् रूप से रहने या कार्य करने में असमर्थ हैं, वैसे ही मुक्ति में भी पृथक् स्थिति आदि के प्रभाववश अभेद होने पर भी जीव में भेद रहता है। श्रुति ने भी 'स्वेन रूपेण सम्पद्यते' कहकर इसी बात को दरसाया है। परस्पर भेद न रहने पर दोनों की स्वरूपहानि होना अनिवार्य हो जाता है। यद्यपि स्वरूपतः ब्रह्म और जीव में स्वाभाविक विभाग है, तथापि दोनों में पूर्वोक्त प्रकार का विभागसहिष्णु स्वाभाविक अभिभाग भी वर्तमान है। अचेतन पदार्थ का भी ब्रह्म के साथ स्वरूपतः अविभाग है, ऐसा कई श्रुतियों का मत है। अतएव, विभागसहिष्णु अविभाग ही जीव और ब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध है, यही श्रुति का मत है।

ब्रह्म ही जगत् के उपादान और निमित्त हैं। वे स्वाभाविक सूक्ष्मावस्थापन्न शक्ति तथा तत्तद्गत सद्रूप कार्य को स्थूल रूप में प्रकाशित कर जैसे जगत् के उपादान कारण हैं, वैसे ही जीव के साथ उसके स्वकृत पूर्वकर्मों के फल और उसके

भोग-साधनों की योजना कर जगत् के निमित्तकारण भी हैं ही। जीव अनादि कर्मसंस्कार का वशीभूत है, उसका ज्ञान अत्यन्त संकुचित होने से वह भोग स्मरण करने में समर्थ नहीं है, इसलिए कर्मफलभोग के उपयोगी ज्ञान को प्रकट कर फल और उसके भोग-साधनों के साथ जीव को योजित करना ही ब्रह्म का निमित्तत्व है।

परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा अच्युतविभव हैं। वे 'स्वात्मक और स्वाधिष्ठित' निजशक्ति को विक्षिप्त कर जगत् के आकार में अपनी आत्मा को परिणत करते हैं। उनकी स्वभावसिद्ध अनन्त शक्तियों के विक्षेप से ही सृष्टि आदि व्यापार सम्पन्न होते हैं, यही परिणाम का स्वरूप है। केशव काश्मीरी कहते हैं कि परिणाम दो प्रकार का है। पहला है स्वरूप-परिणाम और दूसरा है शक्तिविक्षेपात्मक परिणाम। सांख्याचार्य ब्रह्मानधिष्ठित स्वतन्त्र प्रकृति का स्वरूप-परिणाम मानते हैं, इसलिए स्वरूप-परिणाम सांख्यसिद्धान्त है। किन्तु, उपनिषद् मतावलम्बी वेदान्ती का मत है कि परिणाम में स्वरूप की प्रच्युति न होकर भी कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। आकाश से शब्द की, ऊर्णनाभि (मकड़ी) से तन्तु (जाले) की, मन से कामादि की और समुद्र से लहरों की उत्पत्ति शक्तिविक्षेप-रूप परिणाम का स्थूल दृष्टान्त है। आकाशादि की शक्ति स्वाभाविक होने पर भी परिमित है, किन्तु स्वभावसिद्ध ब्रह्मशक्ति अचिन्त्य, अनन्त और अमेय है। शास्त्रों में वर्णित है कि भगवान् ने प्रधान और पुरुष में प्रविष्ट होकर स्वेच्छापूर्वक उन्हें क्षुब्ध (शक्ति का विक्षेप) किया। यदि परिणाम का ऐसा स्वरूप न माना जाय, तो ब्रह्म के सर्वज्ञत्व और शास्त्रों में निर्दिष्ट अन्यान्य स्वाभाविक धर्मों की संगति नहीं बैठ सकेगी। और विवर्त्तवाद में प्रतिज्ञा और दृष्टान्त दोनों ही असम्भव हो पड़ते हैं; क्योंकि कार्यमात्र ही यदि भ्रमकल्पित हो, तो किसी के ज्ञान की सम्भावना न रहेगी। तब श्रुतिवाक्य को भी भ्रान्त पुरुष की उक्ति के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। विवर्त्तवाद मानने पर एक विज्ञान से सर्वविज्ञान का दृष्टान्त पाने का भी कोई उपाय नहीं। रज्जु के ज्ञान से सर्प का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। यदि कार्यजगत् को ब्रह्म के विवर्त्तरूप से मिथ्या न मानकर सत्य रूप माना जाय, तो भी अद्वैतवाद शिथिल हो पड़ेगा। इसलिए, निम्बार्क के मतानुसार, विवर्त्तवाद सर्वथा असंगत है।

ब्रह्म-सम्प्रदाय

(माध्वमत : द्वैत)

शंकराचार्य ने जैसे अपने अद्वैतवाद से सब प्रकार के द्वैतभाव को हटाने का प्रयत्न किया था, वैसे ही मध्वाचार्य ने भी स्वप्रचारित द्वैत-सिद्धान्त को सब

प्रकार की अद्वैतगन्ध से मुक्त करने का प्रयास किया था। यह प्रयास कहाँतक सफल हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु, इसमें सन्देह नहीं है कि दर्शन के इतिहास में मध्वस्वामी का एक उच्च स्थान है।

मध्वाचार्य का पितृप्रदत्त नाम वासुदेव था, परन्तु विद्वत्समाज में वे आनन्द-तीर्थ और पूर्णप्रज्ञ इन दो नामों से परिचित थे। सन् ११९९ ई० में मध्यगेह नामक ब्राह्मण से वेदवती अथवा वेदविद्या नामक जननी के गर्भ में दक्षिण कनाडा देश-स्थित उदीपी जिले के अन्तर्गत विल्वग्राम में श्रीमान् मध्वाचार्य ने जन्म ग्रहण किया था। आचार्य बाल्यकाल से ही दैहिक व्यायाम में बड़े पटु थे। उन्होंने जिस लोकोत्तर अध्यात्मशक्ति को लेकर जन्म ग्रहण किया था, उसी का अनुशीलन और प्रचार करना उनके जीवन का व्रत रहा। माता-पिता के एकमात्र पुत्र होने के कारण अत्यल्प वय में ये उत्कण्ठित होते हुए भी संन्यास-ग्रहण नहीं कर सके। किन्तु, जब उनके कनिष्ठ भ्राता का जन्म हुआ, तब २५ वर्ष की अवस्था में वे उदीपी के अनन्तेश्वर मन्दिर में संन्यासी अच्युतप्रेक्ष के निकट संन्यास-दीक्षा में दीक्षित हुए। उसी समय उनका पूर्णप्रज्ञ नाम पड़ा। उसके पश्चात् उन्होंने आचार्याभिषेक प्राप्त कर आनन्दतीर्थ नाम ग्रहण किया। तब वे दिग्विजय हेतु निकल पड़े। पहले विष्णु-मंगल नामक नगर में उन्होंने कुछ योगविभूतियों का प्रदर्शन किया था; जैसे अमित भोजन करना, अत्यल्प खाद्य पदार्थों से बहुत लोगों को तृप्तिपूर्वक भोजन कराना इत्यादि। तदुपरान्त त्रिवेन्द्रम् में शृंगेरी-मठाध्यक्ष विद्याशंकर (सन् १२२८ ई० के बाद) से आचार्यजी का शास्त्रार्थ-विचार हुआ, जिसमें मध्वाचार्य के पराभूत और अपमानित होने की प्रसिद्धि है। तब वे रामेश्वर में शास्त्रार्थ कर श्रीरंगम् होते हुए उदीपी लौटे। उसके बाद उन्होंने उत्तर भारत का भ्रमण किया। उस समय देश वनाकीर्ण था, विभिन्न स्थानों में दस्युओं तथा वन्य जन्तुओं के उपद्रव व्याप्त थे। इन सभी विविध विघ्न-बाधाओं का अतिक्रमण करते हुए तथा म्लेच्छ एवं विरुद्ध मतावलम्बी राजाओं को प्रबोधित करते हुए आचार्य गंगाद्वार या हरिद्वार में उपस्थित हुए। वहाँ कुछ समय तक उपवास, मौनावलम्बन और ध्यान-अभ्यास करने के अनन्तर व्यासासन जाने के उद्देश्य से उत्तराखण्ड के किसी निभृत प्रदेश में अवस्थित हुए। बदरिकाश्रम अथवा उसके निकटवर्त्ती किसी रमणीय स्थान में कुछ दिन तपश्चर्या करने के बाद व्यासदेव उनके निकट प्रत्यक्षरूप में आविर्भूत हुए। उनके आदेश से वे हरिद्वार लौट आये और विष्णु भगवान् के माहात्म्य-ख्यापन तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य-रचना के कार्य में संलग्न हुए।

मध्वाचार्य का आसन उनके अनन्तर शोभनभट्ट ने पद्मनाभतीर्थ नाम ग्रहण कर शोभित किया। उनकी शिष्य-परम्परा इस प्रकार है—नरहरितीर्थ, माधवतीर्थ,

अक्षोभ्यतीर्थ, जयतीर्थ, विद्याधिराजतीर्थ, राजेन्द्रतीर्थ, विजयध्वजतीर्थ इत्यादि। प्रसिद्धि है कि मध्वाचार्य वायु के अवतार थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना कर मायावाद-खण्डन, विष्णु-प्राधान्य-प्रचार तथा द्वैत-सिद्धान्त की स्थापना का प्रयत्न किया था। उनके ब्रह्मसूत्रभाष्य और गद्यभाष्य की चर्चा पहले हो चुकी है। ब्रह्मसूत्र पर 'अणुव्याख्यान' और 'अणुभाष्य' दो उनके श्लोकनिबद्ध ग्रन्थ हैं। ऋग्भाष्य, महाभारत-तात्पर्यनिर्णय, गीता-तात्पर्यनिर्णय, गीताभाष्य, दशोपनिषद्-भाष्य, भागवत्तात्पर्य-निर्णय, तन्त्रसार, श्रीकृष्णामृतमहार्णव, कर्मनिर्णय, विष्णु-तत्त्वनिर्णय, प्रभालक्षण, कथालक्षण, उपाधिखण्डन, मायावादखण्डन, प्रपंचमिथ्यात्वा-नुमानखण्डन, तत्त्वसंख्यान, तत्त्वोद्योत आदि ग्रन्थों में उनकी अगाध विद्या और गम्भीर भगवद्भक्ति का निदर्शन प्रत्येक पंक्ति में देदीप्यमान है।

उनके शिष्य—त्रिविक्रम (गृहस्थ) ने ब्रह्मसूत्रभाष्य पर 'तत्त्वप्रदीपिका' और पद्मनाभतीर्थ ने अणुव्याख्यान पर 'सन्न्यायरत्नावली' नाम की टीका लिखी। त्रिविक्रम के पुत्र नारायण ने मणिमंजरी और मध्वविजय—इन दो ग्रन्थों द्वारा शंकराचार्य को महाभारतोक्त मणिमान् नामक दैत्य का अवतार और मध्वाचार्य को वायु का अवतार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ये दोनों ग्रन्थ साम्प्रदायिक विद्वेष-पूर्ण तथा ऐतिहासिक दृष्टि से उपेक्षणीय हैं। परन्तु, प्रत्नतत्त्व अनुपेक्ष्य है। एक अद्वितीय पण्डित जयतीर्थ द्वारा विरचित ग्रन्थावली द्वैतमतजिज्ञासु के लिए अमूल्य रत्नस्वरूप है। उनके न्यायसुधा, वेदान्तभाष्य की टीका, तत्त्व-प्रकाशिका, ऋग्भाष्य की टीका, वादावला, तत्त्वोद्योतटीका, गीता-तात्पर्यनिर्णय-व्याख्या, न्यायदीपिका आदि गम्भीर दार्शनिक विचारपूर्ण निबन्ध हैं। ब्रह्मण्यतीर्थ के शिष्य व्यासतीर्थ ने मध्व-प्रणीत छान्दोग्य, बृहदारण्यक, आथर्वण, माण्डूक्य, कठ, तलवकार आदि की विवृति की रचना की थी। उनकी सर्वप्रधान कृति 'तत्त्वप्रकाशिका' के ऊपर 'तात्पर्यचन्द्रिका' नामक टीका है। व्यासतीर्थ-रचित 'चन्द्रिका' के ऊपर सुधीन्द्रशिष्य राघवेन्द्रयति-विरचित 'प्रकाश' नामक टीका में चन्द्रिका के गूढार्थ को प्रकाशित कर मध्वसिद्धान्त का स्पष्टी-करण किया गया है। राघव ने न्यायसुधा-टीका परिमल, वादावली-टीका, तत्त्वो-द्योतटीका-विवृति तथा तत्त्वप्रकाशिका-टीका आदि ग्रन्थों का संकलन किया था। उनकी रचित तत्त्वमंजरी ब्रह्मसूत्रीय मध्वभाष्य का सारसंग्रह है एवं मन्त्रार्थमंजरी मध्वाचार्य के ऋग्भाष्योक्त अर्थ का संक्षिप्त वर्णनमात्र है। आचार्य के ईशावास्य और माण्डूक्य-उपनिषद्-भाष्यों के ऊपर भी उनका विवरण मिलता है।

रघूत्तमदास-विरचित परब्रह्मप्रकाशिका, वेदेशभिक्षु-रचित पदार्थकौमुदी

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। भेदोज्जीवन, न्यायामृत, तर्कताण्डव आदि ग्रन्थों के रचयिता व्यासराज स्वामी ईसवीय सोलहवीं शताब्दी में विद्यमान थे। श्रीमत्‌शंकराचार्य द्वारा प्रवर्त्तित निर्विशेषाद्वैतवाद एवं मायावाद में जितने प्रकार के दोष उद्भावित हो सकते हैं, उनमें प्रत्येक का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन कर व्यासराज ने द्वैतदर्शन को गौरवान्वित किया था। द्वैत तथा अद्वैत-वेदान्तजिज्ञासुओं में 'न्यायामृत' की एक समय इतनी अधिक प्रतिष्ठा हुई थी कि सुप्रसिद्ध दार्शनिक मधुसूदन सरस्वती को अद्वैतवाद की मर्यादा के संरक्षण के लिए इसके विरुद्ध लेखनी उठानी पड़ी थी। उनकी अद्वैतसिद्धि इसी का परिणत फलस्वरूप है। व्यासरामाचार्य की न्यायामृततरंगिणी, न्यायामृत की टीका एवं एक तरह से अद्वैतसिद्धि का खण्डन है। विट्ठलाचार्य के पुत्र निवास-विरचित न्यायामृत की टीका, आचार्य-कृत ऐतरेयादि उपनिषद्‌भाष्य की विवृति तथा गीतातात्पर्य-निर्णय-टीका और न्यायदीपिका की व्याख्या (किरणावली) प्रधान रचनाएँ हैं। श्रीमद्‌भागवत के ऊपर विजयध्वजतीर्थ-विरचित पदरत्नावली नाम की जो टीका है, वही मध्वसिद्धान्तानुगत प्रधान व्याख्या है। विजयध्वज का समय सन् १३५० ई० के लगभग माना जाता है।

मध्वाचार्य कट्टर द्वैतवादी थे। उनके मत में भेद नित्य और स्वाभाविक है। उन्होंने शांकर वेदान्तियों के उपाधि और माया-विषयक सिद्धान्त का शास्त्रीय प्रमाणों एवं युक्तियों के सहारे खण्डन का प्रयास किया है। उनके मतानुसार यह स्वाभाविक भेद पाँच प्रकार का है, जिसे 'प्रपंच' कहा गया है। यह अनादि और सत्य है—भ्रान्तिकल्पित नहीं। ईश्वर जीव और जड पदार्थों से भिन्न हैं, जीव जड पदार्थ और अन्य जीवों से भिन्न है एवं एक जड पदार्थ अन्य जड़ पदार्थ से भिन्न है। अभेदज्ञान से ही बन्धन हुआ है, अतएव इस प्रकार के ज्ञान की निवृत्ति हुए विना बन्धन से छुटकारा पाने की सम्भावना नहीं है। भगवान् के अन्य सभी गुणों की भाँति जीवेश्वर आदि का भेद भी सत्य है। जगत् सत्य है एवं पंचविध भेदयुक्त जगत् का प्रवाह भी सत्य है। नित्यवस्तुगत भेद नित्य और अनित्यवस्तुगत भेद अनित्य है।

मध्व-मत में पदार्थ दस प्रकार के हैं। जैसे : द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और प्रभाव। स्थूल दृष्टि से यह पदार्थ-विभाग कई अंशों में वैशेषिक और मीमांसकों के सम्मत पदार्थ-विभाग के अनुरूप प्रतीत होता है। किन्तु मध्व-सिद्धान्त अन्य दर्शनों का अनुगमन नहीं करता। उद्दिष्ट पदार्थराशि में से द्रव्य बीस विभागों में विभक्त है। जैसे : परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, त्रिगुण, महत्तत्त्व, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। गुण, रूप,

रस आदि तथा सौन्दर्य, धैर्य, शौर्य आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। कर्मविहित निषिद्ध और उदासीन भेद से तीन प्रकार के हैं। जो साक्षात् अथवा परम्परा से पुण्य या पाप का असाधारण कारण है, वही कर्म है। वैशेषिकों द्वारा उक्त उत्क्षेपण आदि कर्म भी परम्परा-क्रम से धर्म अथवा अधर्म उत्पन्न करते हैं। 'न कुर्यात् निष्फलं कर्म'; इस श्रुतिवाक्य से प्रतीत होता है कि निष्फल कर्म पापजनक हैं। विहित कर्म काम्य और अकाम्य भेद से दो प्रकार का है—जो फलेच्छापूर्वक किया जाता है, वह काम्य है, एवं ईश्वर की प्रसन्नता के लिए किया गया कर्म अकाम्य है। ब्रह्मा, वायु, सरस्वती और भारती को भगवद्ज्ञान और भक्ति के सिवा और कोई कामना नहीं हैं। ब्रह्मादि सभी जीवों का काम्य कर्म है, इसमें प्रमाण यह है कि ब्रह्मा का सत्यलोकाधिपत्य तथा वायु की वायुलोकप्राप्ति आदि प्रारब्ध कर्म के फल हैं। प्रारब्ध काम्य है, निवृत्त नहीं। निवृत्त कर्म की सार्थकता अपरोक्ष ज्ञान के उदय में है, लोकादि-ऐश्वर्य-लाभ में नहीं। पर, सत्यलोकादि के आधिपत्य द्वारा जगत् की सृष्टि आदि का सम्पादन करते हुए भगवान् को प्रसन्न करना ही उनकी कामना का स्वरूप है। ब्रह्मादि देवपद की प्राप्ति कर्मफल है, यह भागवत में भी प्रतिपादित है। भगवान् के आदेश से ही भीम ने काम्यास्त्र स्वीकार किया था। अधिकारिक देवताओं की स्वाधिकार-कामना का फल भगवत्प्रसन्नता ही है। एकमात्र भगवान् का काम्य कर्म नहीं है। पर कृष्ण (और रुक्मिणी) ने रुद्र की तपस्या की थी, वह लीलावश एवं दैत्यों के मोहन के लिए है। नारायणादि और ऋषभ अवतारों में जो तपश्चर्या आदि का वर्णन मिलता है, उसका भी एकमात्र उद्देश्य विपक्ष-मोहन और सज्जन-शिक्षा है। रुद्र आदि के कर्म निषिद्ध के अन्तर्गत हैं (माध्व-सम्प्रदाय घोरतर शिवद्वेषी प्रतीत होता है)। उदासीन कर्म परिस्पन्दात्मक है। यह चेतन और अचेतन दोनों का धर्म है। नित्य कर्म ईश्वरादि चेतनों का स्वरूपभूत है। सृष्टि, संहार आदि कर्म जैसे ईश्वर के स्वरूपभूत हैं, गमनादि कर्म भी वैसे ही जीव के स्वरूपभूत हैं। इसीलिए ये नित्य कर्म हैं। पर, जीव के स्वरूपभूत कर्म बन्धनावस्था में अभिव्यक्त नहीं होते। अनेक दार्शनिक तो कहते हैं कि क्रिया नित्य नहीं हो सकती। ईश्वरीय क्रिया यदि नित्य मानी जाय, तो सर्वदा सृष्टि, संहार आदि विरुद्ध क्रियाओं का एक साथ समावेश होने लगेगा। इसके उत्तर में मध्वगण कहते हैं : क्रियामात्र की दो अवस्थाएँ हैं—एक अव्यक्त या शक्ति-अवस्था, दूसरी व्यक्ति-अवस्था। जब ईश्वर सृष्टि नहीं करते, तब भी उनमें सृष्टि की क्रियाशक्ति विद्यमान रहती है। विशेषतः उपनिषदों में ज्ञान और क्रिया आत्मा के स्वभावसिद्ध रूप में वर्णित हुए हैं। मुक्तपुरुष की गमनादि क्रियाएँ भी ईश्वर-क्रिया के तुल्य नित्य हैं, उनके भी उत्पत्ति और विनाश नहीं हो सकते। देहादि अनित्य

वस्तुओं का आश्रयण कर जिस क्रिया की उत्पत्ति होती है, वह अनित्य क्रिया है। संसारी जीवों की चिन्तनादि क्रियाएँ भी अनित्य हैं, मुक्ति में वे नहीं रहतीं।

माध्व-मत में नित्य और अनित्य (जाति और उपाधि भी) दो प्रकार का सामान्य माना जाता है। इनके मत में सामान्य प्रत्येक व्यक्ति में अनुवृत्त नहीं रहता। जीवत्व, देवत्व आदि यावद्-वस्तुभावी हैं, अर्थात् जबतक वस्तु रहेगी, तबतक रहनेवाले और नित्य हैं। ब्राह्मणत्व आदि जाति को नित्य भी कहा जा सकता है और अनित्य भी; क्योंकि औपाधिक ब्राह्मणत्व, जो कि शरीरसापेक्ष है, अनित्य है। उसकी उत्पत्ति और विनाश दोनों होते हैं। स्वाभाविक ब्राह्मणत्व आदि की मुक्तावस्था में भी अनुवृत्ति होती है। गीतातात्पर्य में आचार्य ने कहा है : 'विप्रत्वाद्यास्तत्र पुण्याः स्वाभाव्या एव मुक्तिगाः।' मुक्ति होने पर भी मनुष्य का वर्ण और आश्रम का सम्बन्ध रहता है। मुक्ति में जीव की स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति होती है। संसार-अवस्था में जीवों की स्वाभाविक स्थिति में व्यतिक्रम होता रहता है, किन्तु संसार-निवृत्ति हो जाने पर जिस जीव का जो स्वरूप रहता है, उसी की उपलब्धि होती है। इसीलिए, मुक्तों में भी स्थावर, जंगम मनुष्य, विप्र आदि-आदि उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने जाते हैं। दो भेदों में सर्वज्ञत्वादि उपाधि नित्य है और प्रमेयत्वादि उपाधि अनित्य है।

भेद न रहने पर भी जो भेद-व्यवहार होता है, उसके निर्वाहक पदार्थ का नाम विशेष है। यह न केवल द्रव्य में ही, अपितु सभी पदार्थों में रहता है। इसकी संख्या अनन्त है। गुण और गुणी का सम्बन्ध अभेद, भेद अथवा भेदाभेद कुछ भी न माना जाय, सर्वत्र ही विशेष माने बिना संगति नहीं होती। यदि घटरूप गुणी से रूपात्मक गुण को अभिन्न माना जाय, तो 'घट' में रूप (गुण) है, इत्याकारक भेद ज्ञान के नाश से रूप का अविनाश, घट और रूप दोनों शब्दों की परस्पर आवश्यकता, 'लीन-घट' इस प्रकार सह-प्रयोग, घट और रूप इन दो शब्दों की अपर्यायता, घट का ज्ञान होने पर भी रूपविषयक सन्देह—यह सब अनुभवसिद्ध व्यवहार वैचित्र्य-भेद माने बिना उपपन्न नहीं होता। इसलिए, अभेदवादी को भी आत्माभेद-व्यवहार के निर्वाह के लिए 'विशेष' मानना पड़ता है। परमात्मा में भी 'विशेष' मानना आवश्यक है। श्रुति में वर्णित है—आनन्दादि ब्रह्म का धर्म है; आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म और ब्रह्मधर्म में भेद और भेदाभेद की निन्दा की गई है। अतएव, श्रुति के अनुसार ब्रह्म और ब्रह्मधर्म में अत्यन्ताभेद मानना ही पड़ेगा। स्मरण रखना चाहिए कि 'विशेष' भेद नहीं है, भेद का प्रतिनिधि-मात्र है। जिस वस्तु में जितने विशेष मानने की आवश्यकता हो, उतने विशेष मानने चाहिए। परमेश्वर में अनन्त विशेष विद्यमान है।

वैशेषिक आचार्यों ने नित्य द्रव्य में 'विशेष' माना है, अन्य पदार्थों में नहीं। प्रत्येक नित्यद्रव्य में केवल तद्द्रव्यनिष्ठ एक व्यावर्त्तक धर्म अथवा विशेष माना जाता है। माध्वगणों ने अत्यन्त अभिन्न पदार्थों में भी जो भेद-प्रतीति होती है, उसके निर्वाह के लिए भेद-प्रतिनिधि-विशेष पदार्थ माना है। भेद-प्रतीति जितने प्रकारों की होती है, उतने विशेष मानने में आपत्ति नहीं। चूँकि विशेष स्वनिर्वाहक है। नित्य द्रव्य का विशेष नित्य है एवं अनित्य द्रव्य का अनित्य।

विशेषण के सम्बन्धवश विशेष्य का जो आकार होता है, वही विशिष्ट नामक पदार्थ है। सर्वज्ञत्वादि गुणविशिष्ट परब्रह्म नित्य है एवं दण्डादि विशेषण-विशिष्ट दण्डी आदि अनित्य हैं। अंश से अतिरिक्त अंशी भी एक पृथक् पदार्थ है—यह अनुभवसिद्ध है। आकाश आदि नित्य अंशी हैं एवं घटादि अनित्य अंशी। नित्यांशी का अंश कार्यारम्भक है। यदि आकाश को अंशी न माना जाय, तो आकाश में पक्षी आदि के शरीर की सत्ता और उसके अभाव की उपपत्ति नहीं होगी। ये अंशी और अंश कार्य-कारण से पृथक् हैं।

शक्ति भी पृथक् पदार्थ है। यह चार प्रकार की—जैसे, अचिन्त्यशक्ति, आधेयशक्ति, सहजशक्ति तथा पदशक्ति। अचिन्त्यशक्ति एकमात्र परमेश्वर में ही पूर्णरूप से विराजमान रहती है, अन्यत्र वह आपेक्षिकमात्र है। यह अघटितघटना-पटीयसी है। इस शक्ति (नामान्तर ऐश्वर्य) से ही परमात्मा में युगपत् आसानत्व तथा दूरगामित्व, अणुत्व तथा महत्त्व आदि सभी विरुद्ध धर्मों का समावेश सम्भव होता है। कार्यमात्र की अनुकूल शक्ति ही सहज शक्ति है। इसका नामान्तर स्वभाव है। दण्डादि में घटादि कार्य की अनुकूल अतीन्द्रिय शक्ति माननी चाहिए। सहज-शक्ति पदार्थमात्रा में ही है। आधेयशक्ति स्वाभाविक नहीं है, वह आहित होती है। प्रतिष्ठा आदि के द्वारा प्रतिमा आदि में अविद्यमान देवता की सन्निधि उत्पन्न होती है—यही आधेयशक्ति का उदाहरण है। कामिनी के पदस्पर्श से अशोकवृक्ष में अकाल में पुष्प खिलते हैं, ओषधि के लेप से कांस्यपात्र का दौड़ना, धूम आदि की वासना से मालती लता में कुसुमोद्गम—ये सभी आधेयशक्ति के दृष्टान्त हैं। पद और पदार्थ के वाच्य-वाचक सम्बन्ध का नाम पदशक्ति है। यह स्वाभाविक सम्बन्ध है। यह केवल स्वर, ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य में रहती है। पदशक्ति मुख्य और परममुख्य भेद से दो प्रकार की है। सभी शब्दों की परम मुख्य वृत्ति परमात्मा में है, उससे अतिरिक्त नहीं। जिस अभाव का प्रतियोगी अप्रामाणिक है, वही अत्यन्ताभाव है।

वैशेषिकों के द्रव्य नौ प्रकार के हैं, किन्तु मध्व-दर्शन में द्रव्य बीस प्रकार

के हैं। दो विवादशील वस्तुओं में जो द्रवण से प्राप्य है, वही द्रव्य है। इसलिए, अव्याकृत आकाश,प्रकृति, काल और वर्ण व्यापक होने पर भी प्रदेशतः गमन प्राप्त होने से द्रव्य कहे जाते हैं। जिसके रूप में अथवा जिसका परिणाम होता है, उसे भी द्रव्य कहा जा सकता है। अपर जो बीस प्रकार के द्रव्यों के नाम बताये गये हैं, उनमें प्रकृति शब्द से केवल प्रकृति गृहीत है; ब्रह्माण्ड, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब केवल विकृति है, महद् आदि तत्त्व-समूह प्रकृति-विकृति हैं एवं परमात्मा, लक्ष्मी, जीव अव्याकृत आकाश और वर्ण अभिव्यंजकमात्र। परमात्मा न तो प्रकृति हैं, न विकृति ही। अभिव्यंजक द्रव्यों में परमात्मा अनन्त अवतारों के, लक्ष्मी भी उसी प्रकार सीता, रुक्मिणी आदि अवतार-श्रेणी की, सांश जीव अंश के और निरंश जीव पराधीन शरीरादि के व्यंजक हैं। आकाश पराधीन मूर्त्त सम्बन्ध रूप-विशेष से युक्त होकर अभिव्यक्त होता है और वर्ण-वर्णान्तर की व्यंजना करता है। प्रलयकाल में सभी वर्ण विभिन्न प्रदीपों के आलोक की भाँति परस्पर सटे रहते हैं। सृष्टि के समय परमात्मा उच्चारण द्वारा तत्ताव् वर्ण को विभक्त करते हैं। एक प्रदीप से जैसे दूसरा प्रदीप प्रज्वलित किया जाता है, यह प्रक्रिया भी ठीक उसी तरह की है। वर्ण और देवता नित्य होने के कारण क्रमविशिष्ट नहीं हैं। परन्तु, ब्रह्मबुद्धि से अभिव्यक्ति के क्रम की अपेक्षा से क्रमवत् कहा जाता है।

परमात्मा अनन्तगुणपूर्ण हैं। उसका प्रत्येक गुण असीम और निरतिशय होने से पूर्ण है। उसके स्वरूप का कोई निर्धारण नहीं। लक्ष्मी आदि के ज्ञान से परमात्मा के ज्ञान आनन्द आदि अनन्त गुण अधिक हैं। उनका सजातीय आनन्त्य है—प्रत्येक गुण का अनन्त होना। फिर ज्ञान, आनन्द, वल, शक्ति आदि अनन्त होने से उनमें श्रुत, अश्रुत, विरुद्ध सभी गुण नित्य विराजमान रहते हैं। लक्ष्मी का ज्ञान प्रचुर अत्यन्त विशद तथा स्पष्ट है, किन्तु परमात्मा का ज्ञान महाशुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। वह अशेष विशेष का स्पष्ट दर्शन रूप नित्य एक प्रकार का, सूर्य के प्रकाश के तुल्य निरन्तर अखिल वस्तुओं का प्रकाशक, निर्लेप, दोषशून्य और सर्वदा विकार-हीन है। वस्तुतः, ईश्वरीय ज्ञान के तुल्य पूर्णता और किसी के भी ज्ञान में नहीं है। ईश्वरीय आनन्द अपरिमित है। सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, अज्ञान या आवरण, बोधन, बन्ध और मोक्ष—सृष्टि के इन आठ कार्यों के निरन्तर कर्त्ता एकमात्र परमेश्वर के सिवा दूसरे किसी भी चेतन पुरुष का अधिकार इसमें नहीं है। प्रकृति आदि जड पदार्थ, ब्रह्म आदि जीव एवं स्वयं महालक्ष्मी से भी परमात्मा का वैलक्षण्य है। उनकी देह बद्ध जीव की जड देह के तुल्य अनित्य नहीं है। वह ज्ञानानन्दात्मक और प्राकृतिक है—इसीलिए नित्य है। उनके मस्तक, मुख, बाहु, अंगुलि आदि सभी अवयव चिदानन्दमय हैं। वे स्वतन्त्र हैं, जीव परतन्त्र है चेतन होकर भी, स्वातन्त्र्य

अथवा परमैश्वर्य-लाभ उसके लिए असम्भव है। अवतार-रूप चिदानन्दमय और पूर्ण हैं। उनके अवतार (मत्स्यादि), अवयव (कर-चरणादि), गुण (ज्ञानादि) एवं क्रिया (सृष्ट्यादि) का कोई भेद नहीं है। विद्या, अविद्या, त्रिगुण, देहोत्पत्ति, सुख-दुःख सभी उनके इच्छामूलक हैं। इसलिए, वे नित्यमुक्त हैं। वे अन्याभिमान-हीन प्राकृत शरीर में अवस्थिति ही नहीं करते। पर, ब्रह्मादि जीवमात्र के ही प्राकृत शरीर में जो उनका अधिष्ठान है, वह उन लोगों के नियामक अथवा अन्तर्यामी के रूप में है। प्राकृत देह में स्थिति जीव की ही होती है, इसलिए शास्त्र में बहुत स्थलों पर भगवान् देहविलीन कहे गये हैं। माध्वगण कहते हैं, उन सब स्थानों में देहविहीन शब्द से 'प्राकृत देह-रहित' यही अर्थ लगाना उचित है। इसीलिए सीता (लक्ष्मी) ने स्वसृष्ट आत्मप्रतिकृति में स्वयं प्रवेश नहीं किया।

लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न हैं एवं एकमात्र परमात्मा के ही अधीन हैं। ब्रह्मादि लक्ष्मी के पुत्र हैं, उनसे नीचे हैं और प्रलय में उन्हीं में लीन होते हैं। परमात्मा के कृपा-कटाक्ष से बलवती होकर लक्ष्मी पलक-लेशमात्र में विश्व की सृष्टि आदि आठ कार्यों का सम्पादन करती रहती हैं। भगवत्प्रियत्व, भगवद्भक्ति और भगवद्ज्ञान के विषय में मुक्तों से भी लक्ष्मी करोड़ोंगुना श्रेष्ठ हैं। माध्वलोग कहते हैं कि जगत् के प्रलयकाल में मनुष्य यम में लीन होते हैं; यम सुदर्शन रुद्र में, रुद्र ब्रह्मा में एवं ब्रह्मा दुर्गा में लय को प्राप्त होते हैं। तदुपरान्त दुर्गा चक्ररूपिणी होकर विद्यमान रहती हैं। भगवान् के तुल्य लक्ष्मी भी नित्यमुक्त और गुणपूर्ण हैं, फिर भी वे सदा ही भगवान् की उपासना करती हैं। भगवान् और लक्ष्मी अनादिनित्य और अनादिमुक्त हैं। सर्वगुणपूर्ण होने से लक्ष्मी भी सर्वशब्द की वाच्य हैं, पर मुख्य रूप से नहीं।

भगवत्प्रकृति जड और अजड भेद से दो प्रकार की है। उनमें जड प्रकृति अपरा है और अजड प्रकृति चित्स्वरूप तथा परा है। चित् प्रकृति (अव्यक्त नाम-वाली) के आठ प्रकार के भेद हैं। चित् प्रकृति अनादि, अनन्त, साक्षान्नारायण-महिषी है तथा ब्रह्मदेव की जननी भी है। परमात्मा आत्माराम होने पर भी लक्ष्मी के प्रति अनुग्रहपूर्वक उनमें स्त्रीरूप से प्रविष्ट होकर रूपान्तर से क्रीडा करते हैं। श्री, भू, ह्रीं, दुर्गा, दक्षिणा, सीता, जयन्ती, भृणी, सत्या, रुक्मिणी आदि सभी लक्ष्मी के रूप हैं। लक्ष्मी की मूर्त्तियाँ वस्तुतः अनन्त हैं, फिर भी उनमें दक्षिणामूर्त्ति ही श्रेष्ठ है। उससे सुखोदय होता है। अन्यान्य देवियाँ जिसप्रकार सर्ववेदाभिमानिनी हैं, उसी प्रकार लक्ष्मी भी वेदाभिमानिनी हैं; किन्तु ये सभी देवियों के ऊपर स्थित हैं। वे भगवान् के उरुस्थलस्था, यज्ञनामधारिणी तथा भगवान् के साथ नित्यरति-

सुख में निमग्न दक्षिणामूर्त्ति हैं। भगवान् की तरह इनकी देह भी अप्राकृत, चिन्मय नित्य तथा हानोपादान-रहित है, ये भी देशतः और कालतः व्यापक अथवा अनन्त हैं, पर इनमें गुणों की अनन्तता नहीं है।

जीव अज्ञान, दुःख, भय, मोह आदि दोषों से युक्त और संसारी है। यहाँतक कि ब्रह्मा और वायु अथवा प्राण भी इनके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकते। कहा जाता है कि अज्ञान ने चार बार, भय ने दो बार तथा शोक ने दो बार ब्रह्मा के ऊपर आक्रमण किया था। पर, रुद्र आदि में जैसे भय आदि स्थायी हैं, ब्रह्मा में वैसे स्थायी नहीं हैं, केवल इतना अन्तर है। ब्रह्मा का जो मोह है, वह मिथ्याज्ञान नहीं है, केवल नियत अपरोक्ष ज्ञान का अभावमात्र है।

तत्त्वनिर्णय में कहा गया है—अतीत और अनागत जितने क्षण हैं, अतीत और अनागत जितने परमाणु हैं, जीवराशि उनसे भी अनन्तगुनी है। प्रत्येक परमाणु में अनन्त प्राणी हैं। केवल व्यक्तिगत रूप से जीवसंख्या अनन्त हो, सो बात नहीं हैं, 'गण'-गत रूप (सामूहिक रूप) से भी जीवसंख्या अनन्त है। ये गण तीन प्रकार के हैं मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी और तमोयोग्य। मुक्त और अन्धतमस्-प्राप्त जीवों के सहित जीवों के पाँच प्रकार के गण गिने जाते हैं। मुक्तियोग्य जीव पाँच प्रकार के हैं—जैसे ब्रह्मा, वायु आदि देवता; नारद आदि ऋषि; विश्वामित्र आदि चिरपितृगण; रघु, अम्बरीष आदि चक्रवर्त्ती एवं उत्तम मनुष्य। उत्तम मनुष्यों में कोई एकगुणोपासक है और कोई चतुर्गुणोपासक है। केवल आत्मबोध से जो ईश्वरोपासना होती है, वह एकगुणोपासना कही जाती है जिसके सहारे अनेक लोग देह रहते ही मुक्ति प्राप्त करते हैं, उनका उत्क्रमण नहीं होता। तृणजीव (स्तम्ब) आदि एकगुणोपासक कोटि के अन्तर्गत हैं। ईश्वर की सत्, चित्, आनन्द तथा आत्मा के रूप में जो उपासना की जाती है, वही चतुर्गुणोपासना है। तृणजीवों के सिवा अन्यसभी चतुर्गुणोपासक हैं। मध्यम मनुष्य नित्य संसारी हैं। ये अनन्त संख्या में निरन्तर पृथ्वी, स्वर्ग और नरक में संचरण करते हुए सुख-दुःख का भोग कर रहे हैं। देवता, राक्षस, पिशाच तथा अधम मनुष्य—ये तमोयोग्य जीव हैं। जीवमात्र परस्पर भिन्न हैं एवं परमात्मा और लक्ष्मी से पृथक् हैं। संसारावस्था में, यहाँतक कि मुक्ति हो जाने पर भी जीवों में स्वभावसिद्ध तारतम्य रहता ही है। मोक्षयोग्य जीवों में स्थावर, पशु-पक्षी आदि जंगम जीव, मनुष्य, ब्राह्मण, तब चक्रवर्त्ती क्रमशः श्रेष्ठतर हैं। चक्रवर्त्ती मुक्त मनुष्य है तथा ब्रह्मानन्द के बिन्दुमात्र का भोग करता है, वह एकानन्दस्वरूप है। उसके बाद क्रमशः मनुष्य-गन्धर्व, देव-गन्धर्व, चिरपितृगण, आजानजदेव, आदि के स्थान हैं। देवगन्धर्वों पर देवगणों की साक्षात् आज्ञा चलती है। सिद्ध, कर्मज देव चारण, किन्नर, किम्पुरुष, विद्याधर, यक्ष, नाग, वेताल आदि देव-गन्धर्वों के

समकक्ष हैं। आजानज देवता देवगणों के भृत्यों के तुल्य हैं। कार्त्तवीर्य, पृथु,दुष्यन्तपुत्र भरत, शशबिन्दु, मान्धाता, ककुत्स्थ आदि कर्मज देवताओं की श्रेणी में हैं। ये सदा ही भगवदाविष्ट रहते हैं। पुराणादि में बलि, अद्भुत, शम्भु, विधृत, ऋतुधामा, बृहस्पति, शुचि इन सातकर्म देवताओं का उल्लेख पाया जाता है। सप्त पितर, नौ करोड़ देवता, सनकादि पावक, प्रह्लाद, तापस, स्वायम्भुव और वैवस्वत मनु के अतिरिक्त ग्यारह मनु, च्यवन और उतथ्य ऋषि, प्रियव्रत और गय राजा, तुम्बुरु, धृतराष्ट्र, चित्ररथ, हाहा, हूहू आदि आठ गन्धर्व; उर्वशी, मेना, रम्भा आदि बेरानब्बे अप्सराएँ—ये सब जीवकर्मज देवताओं की समानभूमि में स्थित हैं। जीवों में यह तारतम्य स्वाभाविक है, इसलिए मुक्ति में भी वह निवृत्त नहीं होता। निर्दोष होने पर भी मुक्तों के काम, संकल्प और आनन्द में तारतम्य है। तार्किक मत में मुक्त आत्मा सभी समान हैं; क्योंकि इक्कीस प्रकार के दुःखों का ध्वंस ही मुक्ति है। वह सभी की हुई है। लेकिन, परमात्मा सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता होने के कारण सर्वोत्तम हैं। रामानुज-मत में भी जीवों का तारतम्य केवल संसारावस्था में हैं, मुक्तावस्था में सब जीव परस्पर और परमात्मा के साथ अंशतः साम्यविशिष्ट हैं। श्री-सम्प्रदाय में भी तारतम्यवाद न हो, सो बात नहीं है, पर माध्व-सम्प्रदाय के तुल्य इतने व्यापक रूप से नहीं है।

वैशेषिक लोग जिसे दिक् कहते हैं, माध्वगणों का अव्याकृताकाश कई अंशों में वही है। न्यायसुधा में लिखा है : 'साक्षिसिद्धिमेव गगनम्, तद्भागा एव दिशो न द्रव्यान्तरम्।' यह साक्षिगोचर है और 'प्रदेश' नाम से अभिहित है। यह उत्पत्ति और विनाश-रहित नित्य है, सृष्टि अथवा प्रलय-काल में भी विकृत नहीं होता। यह एक, व्याप्त और स्वगत है। तामसाहंकार से जो आकाश उत्पन्न होता है, वह भूताकाश है, अव्याकृत आकाश नहीं है। इसके पूर्व, दक्षिण आदि स्वाभाविक अवयव हैं। पूर्वादि दिशाओं के उपाधि-निमित्तक होने पर अन्धकार में विशिष्ट दिशा की प्रतीति न होती, जिसके अभाव में अन्य मूर्त्ति से अवरुद्ध भाग का त्याग कर कोई दूसरे भाग में हाथ न फैलाता। पूर्वत्वादि औपाधिक नहीं है। साथ ही, जहाँ सूर्योदयादि उपाधि नहीं है, वहाँ भी बहुत स्थलों पर पूर्वादि व्यवहार दिखई देता है। वैकुण्ठ और अनन्तासन-स्थित परमात्मा के दोनों नगरों में पूर्वादि भाग में जयादि और प्राणादि द्वारापालों की स्थिति सुनाई देती है। पर, वहाँ सूर्योदय नहीं है; क्योंकि श्रुति कहती है—'सकृत् दिवा हास्य भवति।' वैकुण्ठधाम में स्थित मुक्त लोगों का नित्य ही दिन रहता हैं, उनके प्रकाश का आविर्भाव या तिरोभाव नहीं होता। भगवान् का प्रकाश अनन्त सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक है। चौदह भुवनों के उत्पन्न होने से पहले ही परमात्मा के नाभिकमल में स्थित ब्रह्मा ने चारों ओर निहारकर चार मुख प्राप्त किये, यह भागवत में कहा गया है :

"तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकायामवस्थितो लोकमपश्यमानः।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्रश्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ॥"

तब सूर्योदय की सम्भावना ही नहीं थी। अतएक वास्तविक सिद्धान्त यह है कि सूर्योदय देखने से कभी-कभी दिग्भ्रम निवृत्त होता है। पिता-पुत्र के तुल्य पूर्वादि भाग सापेक्ष हैं। इसीलिए, एक व्यक्ति के लिए जो पूर्व है, वह सभी के लिए पूर्व हो, यह सम्भव नहीं है। अव्याकृत आकाश न मानने पर जगत् 'मूर्त्तिनिविड' हो पड़ता। अव्याकृताकाश प्रदेश अथवा अवकाश (Space)-मात्र है। उसकी उत्पत्ति मानने पर उसके पहले प्रदेश का अभाव होने से मूर्त्त पदार्थों की निविडता हो पड़ती। भूताकाश की उत्पत्ति के पहले भी अव्याकृताकाश की सत्ता अवश्य माननी चाहिए। अव्याकृताकाश नीरूप, कूटस्थ, नित्य, साक्षिसिद्ध, विभु और निष्क्रिय हैं। किन्तु भूताकाश-रूपयुक्त, पंचभूतों से आविष्ट देहाकार से विकारशील, तामसाहंकार का कार्य, परिच्छिन्न और गतिशील है। इस अव्याकृताकाश के अभिमानी ब्रह्मा भी नहीं हैं, परमात्मा भी नहीं हैं, किन्तु लक्ष्मी हैं। ब्रह्मा इसलिए नहीं है कि प्रलय में ब्रह्मा नहीं रहते, पर आकाश रहता है। परमात्मा उसके इसलिए अभिमानी नहीं कि उनका किसी में अभिमान नहीं है। अभिमानी के बिना अभिमन्यमान पदार्थ रह नहीं सकता।

प्रकृति साक्षात् रूप से काल और सत्त्व आदि तीन गुणों का उपादान है एवं परम्परा से महत् आदि तत्त्वों का उपादान है। उपादान होने वह द्रव्य है। प्रकृति तीन गुणों से अतिरिक्त, जडरूप, परिणामिनी, नानारूप, महाप्रलय के बाद नूतन सृष्टि का उपादानभूत होने से नित्य है तथा क्षण आदि काल का उपादान होने से व्यापक है। इसकी अभिमानिनी रमा (लक्ष्मी) हैं। जीवमात्र का ही जो लिंग-शरीर है, उसकी समष्टि ही प्रकृति है, फिर प्रकृति लिंगशरीर से भिन्न भी है। लिंगशरीर से भिन्न प्रकृत्यंश से तीन गुणों की उत्पत्ति होती है। महाप्रलय में प्रकृति एकाकिनी रहती है। तब भगवान् सृष्टि करने के इच्छुक होकर प्रकृति से सत्त्वराशि, तेजोराशि और तमोराशि को महदादि की सृष्टि के लिए तीन भागों में विभक्त करते हैं। क्रमशः तम से रज और रज से सत्त्व परिमाण में द्विगुण है। तमोगुण का परिणाम महत्तत्त्व से दसगुना है। महत्तत्त्व के चारों ओर यह दसगुनी तमोराशि घेरा डालकर स्थित रहती है। इसे तीनों गुणों की साम्यावस्था भी कहा गया है। वस्तुतः यह, त्रिगुण नहीं है। गरुड और रुद्र इस तम से व्याप्त देश में स्थित विष्णुस्वरूप का प्रत्यक्ष करते हैं।

जब मूलप्रकृति से तीन गुणों की उत्पत्ति होती है, तब पहले-पहल रज और तम से अमिश्र-विशुद्ध-सत्त्वगुण की उत्पत्ति होती है। इन तीनों गुणों (सत्त्व, रज, तम) के मिश्रण का अनुपात यों है—रजोगुण में रज १, सत्त्व १०० और तम $\frac{१}{१००}$। तमोगुण में तम १, सत्त्व १० और रज $\frac{१}{१०}$। गुणों के इस वैषम्य को ही सृष्टि कहते हैं। इनकी साम्यावस्था प्रलय है। अतएव सत्त्व सर्वदा ही शुद्ध है। रज और तम अन्य दो गुणों से मिश्रित रहते हैं। मुक्त पुरुष लीलावश शुद्ध सत्त्वमय देह ग्रहण कर और उसके द्वारा यथेष्ट भोग का सम्पादन कर स्वेच्छापूर्वक उसका त्याग करते हैं। उस देह के रजोगुण और तमोगुण से गठित न होने के कारण उन लोगों का भोग से बन्धन नहीं होता। यह लीलाविग्रह भी प्राकृत देह है। कोई-कोई कहते हैं कि मुक्त पुरुष भी पांचभौतिक शरीर से भोग कर सकते हैं। उससे बन्धन नहीं होता, अथवा हमलोगों के तुल्य सुख-दुःख नहीं होते; क्योंकि वह देह कर्म-जन्य नही है। केवल स्वेच्छा से गृहीत है।

तीनों गुणों का समस्त भाग महत्तत्त्व के रूप में परिणत नहीं होता; क्योंकि मूलप्रकृति महत् से दसगुना अधिक है। प्रलय के समय महत् बारह भागों में विभक्त होता है। उसके १० भाग शुद्ध सत्त्व में, एक भाग रजोगुण में और एक तमोगुण में प्रवेश करता है। सृष्टि-काल में सत्त्व के दस भाग और रज का एक भाग तमोगुण के साथ मिलते हैं। इसका परिमाण तमोगुण की अपेक्षा दसगुना कम है। ब्रह्मा, वसु और उनकी भार्याएँ महत् में अभिमानशील हैं। इस तत्त्व के तमोंश से अहंकार उत्पन्न होता है। गरुड़, शेष, इन्द्र, काम, रुद्रादि और उनकी पत्नियाँ अहंकार-तत्त्व में अभिमान रखती हैं। वैकारिक, तैजस और तामस भेद से अहंकार तीन प्रकार का है। बुद्धितत्त्व महत्तत्त्व से उत्पन्न है और तैजस अहंकार से उपचित होता है। ब्रह्मा से उमा-पर्यन्त देवता उसके अभिमानी हैं। मनस्तत्त्व वैकारिक अहंकार से उत्पन्न होता है। इसके देव या अभिमानी रुद्र, गरूड़, शेष, काम, इन्द्र, अनिरुद्ध, ब्रह्मा, सरस्वती, वसु और चन्द्रमा हैं। जो मन इन्द्रियरूप से प्रसिद्ध है, वह तत्त्व नहीं है। दो भेदों (नित्य और अनित्य) में नित्य मन परमात्मा, लक्ष्मी तथा ब्रह्मादि सब जीवों का स्वरूपभूत है। इसी को साक्षी कहते हैं। यह आत्म-स्वरूप या चैतन्यस्वरूप है। बद्ध जीव का मन चेतन और अचेतन उभयरूप है। मुक्त लोगों का मन चेतन है। अनित्य मन बाह्य पदार्थ है—आत्मस्वरूप नहीं है। यह ब्रह्मादि सभी जीवों में है। मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त और चेतना भेद से यह पाँच प्रकार का है। संकल्प और विकल्प मन के कार्य हैं।

मन के तुल्य इन्द्रियाँ भी दो प्रकार की हैं। जो इन्द्रियाँ तत्त्वरूप हैं, वे अनित्य हैं

और तत्त्वभिन्न इन्द्रियाँ नित्य एवं 'साक्षी' कही जाती हैं। दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ ज्ञान और कर्म के भेद से दो प्रकार की हैं। अनित्य इन्द्रियाँ तैजस अहंकार से उत्पन्न होती हैं। नित्य इन्द्रियाँ परमात्मा, लक्ष्मी तथा जीवमात्र की स्वरूपभूत हैं। किन्तु, परमात्मा और लक्ष्मी की दसों में प्रत्येक इन्द्रिय, यहाँतक कि उनके केश, नख आदि भी रूप, रस आदि सब पदार्थों के ग्राहक हैं। मुक्त और बद्ध जीवों की इन्द्रियाँ अपने-अपने योग्य पदार्थ की उद्भासक हैं। इसलिये माध्व-मत में प्रत्येक जीव की स्वरूपभूत नित्य इन्द्रियाँ तथा अहंकार से उत्पन्न तत्त्वभूत अनित्य इन्द्रियाँ हैं। स्वरूपभूत इन्द्रिय को साक्षी कहते हैं—मुक्तावस्था में इसके द्वारा साक्षात् रूप से सभी पदार्थों का ज्ञान होता रहता है। किन्तु बद्धावस्था में भी इसकी उपयोगिता है। आत्मा, मन, मन के धर्म सुख-दुःख आदि, अविद्या, काल, अव्याकृताकाश ये साक्षि-गोचर हैं। रूप, रस आदि साक्षात् रूप से बाह्य इन्द्रियों के विषय होने पर भी परम्परा से साक्षिभाष्य हैं। अतीन्द्रिय पदार्थ-मात्र ही साक्षी द्वारा प्रतिभात होता है।

शब्द, स्पर्श आदि पाँच विषय 'तन्मात्रा' कहे जाते। ये तत्त्वों के अन्तर्गत हैं और तामसाहंकार-जन्य द्रव्य पदार्थ हैं। इन सब तन्मात्राओं द्वारा तामसाहंकार से ही आकाश आदि पंचभूतों की उत्पत्ति होती है। शब्द से आकाश उद्भूत है—इसका परिमाण अहंकार-तत्त्व से दसगुना कम है। वायुतत्त्व भी वैसे ही स्पर्शादि तन्मात्राओं से उत्पन्न होते हैं। पीछे-पीछे के तत्त्व पूर्वोत्पन्न तत्त्वों से दसगुना छोटे हैं। आकाश, वायु आदि तत्त्व से अतिरिक्त भी हैं। प्राणादि नित्य वायु ईश्वर, लक्ष्मी और मुक्त जीवों का स्वरूपभूत है, अनित्य प्राणादि संसारी जीव में रहते हैं। अग्नि आदि तत्त्व भी भिन्न वायु की तरह नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार के हैं। नित्य अग्नि आदि ईश्वर आदि के स्वरूपभूत हैं।

ब्रह्माण्ड के परिमाण के विषय में श्रीमद्भागवतादि के अनुसार निर्णयकार ने कहा है कि यह पचास करोड़ योजन विस्तीर्ण है। ब्रह्माण्ड के भीतर पृथ्वी आदि से लेकर अव्यक्त पर्यन्त तत्त्व-समुदाय की आवरणमाला वलय के रूप में अवस्थित है। ब्रह्माण्ड के निर्माण-कार्य में उपर्युक्त सभी तत्त्वों के अंशों की आवश्यकता होती है। यही सभी प्राणियों का निवासस्थान और चौदह भुवनरूप है।

पंचभूतों की सृष्टि हो जाने पर पंचपर्वा अविद्या की सृष्टि होती है। यह अविद्या जीवाच्छादिका, परमाच्छादिका, शैवला और माया इन चार प्रकारों की है। अविद्या जीवाश्रित है एवं प्रत्येक जीव के लिए पृथक्-पृथक् है। माध्वलोग सर्वजीवाश्रित

एकमात्र अज्ञान स्वीकार नहीं करते। श्री जैसे विद्या की अभिमानी देवता हैं, वैसे ही दुर्गा अविद्या की अभिमानिनी देवता हैं।

वर्ण के आकार आदि इक्यावन हैं। लौकिक और वैदिक सभी शब्द वर्णात्मक हैं। वर्ण-समूह, देवताओं के तुल्य नित्यक्रमरहित—और व्यापक द्रव्यविशेष हैं। ये ज्ञान द्वारा अभिव्यक्त होते हैं एवं विशेष-विशेष आनुपूर्वी को प्राप्त होकर पदार्थों के वाचक होते हैं। अन्धकार भी एक प्रकार का द्रव्य है। तेज का अभाव अन्धकार नहीं है। जड प्रकृति से उत्पन्न अत्यन्त निविड द्रव्य विशेष हुए बिना चक्र आदि के द्वारा अन्धकार का छेदन सम्भव नहीं है। कौरव और पाण्डवों के युद्ध-काल में सूर्य के रहते भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अन्धकार की सृष्टि की थी। श्रीमद्भागवत (तृतीय स्कन्ध) में लिखा है कि ब्रह्मा ने अन्धकार पी डाला था। इसके अतिरिक्त आवरकत्व और स्वतन्त्र रूप से उपलब्धि-योग्यता भी अन्धकार की प्रकाशाभावता में विरोधी प्रमाण है।

वासना या संस्कार भी एक प्रकार का द्रव्य है। यह पूर्व अनुभव से उत्पन्न होता एवं मन में रहता है। इसके प्रवाह के प्रारम्भ का पता नहीं मिल पाता। स्वप्नकाल में जो सब पदार्थ दिखाई देते हैं, वे सब वासना से निर्मित होते हैं। काल आयु का व्यवस्थापक द्रव्य है। वह ज्ञानादि बहुत रूपों से युक्त है—अखण्ड नहीं है। प्रकृति से उसकी उत्पत्ति होती है और विनाश भी होने से नित्य नहीं है। पर, यह व्यापक, स्वगत और सर्वाधार है। काल-प्रवाह नित्य है। कार्यमात्र की उत्पत्ति-काल के अधीन है। माध्व-मत में प्रतिबिम्ब भी एक पृथक् द्रव्य है। वह बिम्ब का अविनाभूत तथा बिम्बसदृश है, किन्तु मिथ्या नहीं है। परमात्मा के सिवा सभी चेतन पदार्थ परमात्मा के प्रतिबिम्ब और नित्य हैं। लक्ष्मी, ब्रह्मा और प्रकृति के भी प्रतिबिम्ब हैं। वे भी नित्य हैं। अधम श्रेणी के देवता उत्तम देवताओं के प्रतिबिम्ब रूप हैं।

माध्वगण के मतानुसार, प्रथमतः, रूप शुक्ल आदि के भेद से सात प्रकार के हैं। शुक्ल आदि प्रत्येक रूप की नित्य एवं अनित्य तथा उद्‌भूत और अनुद्‌भूत ये दो अवस्थाएँ हैं। नित्य सातों प्रकार के रूप परमात्मा और लक्ष्मी में उपलब्ध होते हैं। जीव के भी स्वरूपभूत नाना प्रकार के वर्ण हैं। मुक्त पुरुषों में सभी के वर्ण अलग-अलग हैं। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में वर्णित 'श्यामावदाताः शतपत्र-लोचनाः' आदि का आचार्य ने मुक्तात्माओं के वर्णन के रूप से अनुव्याख्यान, छान्दोग्य भाष्य आदि में दृष्टान्तरूप में ग्रहण किया है। प्रकृति के लोहित, शुक्ल और नील

रूप भी नित्य हैं। महत्तत्त्व का रूप सुवर्णतुल्य है। पृथ्वी, जल और तेज का रूप अनित्य तथा उद्भूत है, किन्तु आकाश का रूप अनुद्भूत है। पृथ्वी में सातों प्रकारों के रूप हैं। जल और तेज का रूप क्रमशः शुक्ल और शुक्लभास्वर है। आकाश और अन्धकार का रंग नीला है। वासना तथा प्रतिबिम्ब के भी नाना प्रकार के रूप हैं। रूप के तुल्य छह प्रकार के रस नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार के हैं। ईश्वर और लक्ष्मी का रस मधुर है। जल का रस भी वही है। पृथ्वी और वासना में छहों प्रकार के रसों का अस्तित्व पाया जाता है। गन्ध दो प्रकार की है—सुरभि और असुरभि। ईश्वर, लक्ष्मी और मुक्त पुरुषों में नित्य सुगन्ध है। पृथ्वी और वासना में दोनों प्रकार की गन्ध प्राप्त होती है। स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, द्रवत्व गुरुत्व मृदुत्व, काठिन्य, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म, संस्कार, आलोक, शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, गाम्भीर्य, सौन्दर्य आदि तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इत्यादि बहुत-से गुण माध्वगण स्वीकार करते हैं।

माध्व-मत में मोक्ष-प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है: परमेश्वर के अनुग्रह से अपरोक्ष-ज्ञान अथवा भगवद्दर्शन होता है। तब उसकी अनन्त कल्याण-गुणावली का ज्ञान होता है और उसके प्रति अखण्ड प्रेम-प्रवाह उत्पन्न होता है। उस अति गम्भीर प्रेम के उदय से अपनी आत्मा तथा आत्मीय-वर्ग की स्मृति हट जाती है। जगत् में जितने प्रकार के अन्तराय हैं, उनकी समवेत शक्ति से भी उसका प्रवाह रुकता नहीं है। इस प्रेम का पारिभाषिक नाम 'परमभक्ति' है। इसका फल भगवान् का आत्यन्तिक प्रसाद या परमानुग्रह है। इससे ही परमार्त्ति रूप संसार से जीव का छुटकारा होता है। स्वर्गप्राप्ति तथा जन-लोकादि ऊर्ध्वलोकों में गति भगवान् के अधम और मध्यम अनुग्रह का फल है। किन्तु, प्रकृति और अविद्या आदि आवरणों से छुटकारा मिलना भगवान् के परमानुग्रह के बिना सम्भव नहीं है। भगवद्दर्शन से आत्मसम्बद्ध प्रकृति, सत्त्वादि गुण, कर्म और सूक्ष्मदेह जल जाते हैं। किन्तु, प्रारब्ध कर्म रहने तक वे दग्ध ईन्धनवद् पुनः-पुनः आविर्भूत और तिरोहित होते हैं। अज्ञान का आश्रय जीव ही है, अन्तःकरण नहीं। यद्यपि जीव स्वप्रकाश है, तथापि ईश्वर की इच्छा से स्वप्रकाश वस्तु भी अविद्या द्वारा आवृत हो सकती है।

यह मुक्ति चार प्रकार की है जैसे कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अर्चिरादि मार्ग एवं भोग। उनमें अपरोक्ष ज्ञान से सभी संचित पापों तथा अनिष्ट पुण्यकर्मों का सम्यक् विनाश होता है, वही कर्मक्षय है। किसी-किसी कर्म का अवश्य ध्वंस होता है। परन्तु कोई-कोई विशिष्ट अनिष्ट पुण्य सुहृद्वर्ग में और कोई-कोई पाप शत्रु में संचारित होता है। प्रारब्ध कर्म अपरोक्ष ज्ञान से भी विनष्ट नहीं होता—एकमात्र

भोग से ही उसका क्षय होता है। यहाँतक कि ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र आदि देवता भी प्रारब्ध कर्म का फल भोग करने के लिए बाध्य होते हैं। ब्रह्मा सौ ब्रह्मकल्प, गरुड और शेष पचास ब्रह्मकल्प, इन्द्र और कामदेव बीस ब्रह्मकल्प तथा चन्द्रमा और सूर्य दस ब्रह्मकल्प तक अपने-अपने पुण्य-पापात्मक प्रारब्ध कर्म का फल-भोग करते हैं। श्रेष्ठ मनुष्यों के भोगकाल का परिमाण एक ब्रह्मकल्प होता। प्रारब्ध क्षय हो जाने के बाद ब्रह्मनाडी के सहारे जीव का उत्क्रमण होता है। यह ब्रह्मनाडी अथवा सुषुम्णा नाडी मूलाधार से मस्तक-पर्यन्त श्वेतवर्ण सरल रेखा के तुल्य दीपशलाकावत् देह के भीतर विराजमान है। इसके पाँच भेद हैं। देहादि प्रतीक का अवलम्बन किये बिना जिन सब जीवों का अन्यत्र अपरोक्ष, ज्ञान उदित होता है, उनमें से कोई-कोई सुषुम्णा के मार्ग से उत्क्रमण करते हैं। तब जीव को कुछ बोध नहीं रहता, विष्णु का अपने तेज से हृदय का अग्रभाग उज्ज्वल रूप से प्रकाशित होता है। इसी को ब्रह्मद्वार कहते हैं। उसी मार्ग से जीव को साथ लेकर हृदयस्थ भगवान् बाहर निकलते हैं। प्राण उनका अनुगमन करता है, अन्यान्य देवता, विद्या, कर्म और योग्यता उसी प्रकार प्राण का अनुसरण करते हैं। इस तरह क्रमशः वैकुण्ठलोक की प्राप्ति होती है और वहाँ भगवान् के तुरीय रूप का साक्षात्कार होता है। माण्डूक्यभाष्य में लिखा है कि भगवान् का यह तुरीय रूप व्यवहार-जगत् में दृष्टिगोचर नहीं होता—वह द्वादशान्त में स्थित है एवं मुक्तात्माओं को ही प्राप्त होता है। देहादि प्रतीकों के अवलम्बन से जो अपरोक्ष-ज्ञान प्राप्त करते हैं, उनके अन्तकाल में भगवत्स्मृति अवश्य जाग उठती है। अज्ञानियों के मृत्युकाल में भगवत्स्मृति नहीं जागती—यहाँतक कि जिन ज्ञानियों का प्रारब्ध-क्षय नहीं होता, उनके भी मृत्युकाल में भगवत्स्मृति नहीं जागती। कर्ममिश्रित ज्ञानियों का मन देह-त्याग के समय वैष्णवी माया के प्रभाव से बहिर्मुख हो पड़ता है। तब अर्चिरादि लोकों की प्राप्ति के बाद वायुलोक में जाने पर वायु द्वारा चालित होकर ब्रह्मलोक में गति होती है। ब्रह्मलोकवासी सभी ब्रह्मा के प्रारब्ध-भोग के अन्त में उनके साथ एक ही समय परम पद प्राप्त करते हैं; किन्तु जो अपरोक्ष ज्ञानी एकगुणोपासक हैं, वे ज्ञानलाभ कर देह से उत्क्रमण नहीं करते,—प्रारब्ध-भोग के अन्त में देहपात होने पर पृथ्वी आदि स्थानों में परमानन्द का भोग करते हैं। किन्तु, उपदेश-प्राप्ति सभी को सत्यलोक में ब्रह्मा से होती है। सभी को श्वेतद्वीप में वासुदेव के दर्शन तथा ध्रुवलोक में स्थित अनन्त जगतों के आधार-भूत शिशुमार के दर्शन करने पड़ते हैं। तम के योग्य जीव द्वेष का विपाक होने के बाद देह से उत्क्रान्त होते हैं और कलि को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मा के देहान्त के समय इन सब जीवों के लिंगशरीर वायु के गदा-प्रहारों से भग्न हो जाते हैं।

नित्य संसारी जीव संसारावस्था में जिस प्रकार के दुःखमिश्रित सुख का

अनुभव करते थे, लिंगदेह नष्ट होने पर भी वे वैसे ही सुखमिश्रित दुःख का भोग करते हैं। इनका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—मुक्तियोग्य जीवों के लिए वैकुण्ठ आदि लोक हैं। तापस जीवों का भी एक तपोमय स्थान है। किन्तु जो नित्य संसारी (नित्य बद्ध) हैं, वे स्वर्ग, नरक, भूलोक आदि सब स्थानों में सर्वदा संचरण करते रहते हैं। वास्तविक संसार में, अर्थात् लिंगदेह भग्न होने की पूर्व अवस्था में सुख और दुःख का भोग पारी-पारी से होता है। किन्तु, मुक्ति में एक ही समय में सुख और दुःख उभयमिश्रित स्वरूप का अनुभव होता है। ये नित्य संसारी जीव दो प्रकार के हैं। उनमें अनेक की केवल स्वर्ग में स्थिति होती है, अनेक स्वर्ग और नरक दोनों जगह गमनागमन करते रहते हैं। दोनों ही प्रकार के जीव लिंगदेह के हट जाने पर स्वस्वरूप का अनुभव कर सकते हैं।

माध्व कहते हैं कि भूलोक से स्वर्ग पर्यन्त तीन लोकों में पुनरावर्त्तन होता है, अर्थात् पुण्य के फल से स्वर्ग की प्राप्ति होने पर भी वह अवस्था स्थायी नहीं रहती : 'ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोके अश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्' (गीता) तथा पुण्य-क्षय होते ही स्वर्ग से पतन अवश्यमेव हो जाता है। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता)। इसलिए स्वर्ग-प्राप्ति की आकांक्षा करना ठीक नहीं है। स्वर्ग के ऊपर महर्लोक है। महर्लोकनिवासी जीवों का आयुष्काल एक कल्प है एवं स्वर्गवसियों की आयु का परिमाण एक मन्वन्तर है। ज्ञान के सिवा, केवल कर्म द्वारा, स्वर्ग के ऊपर स्तर में चढ़ा नहीं जा सकता। ज्ञान परिपक्व होने पर भगवद्धाम में अथवा कुछ कमी रहने पर वायुलोक में गति होती है, नहीं तो स्थानमात्र के आश्रित होकर काल की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। वास्तव में, जनलोक से ही पुनरावृत्ति की आशंका निवृत्त हो जाती है। जनलोक-निवासी जीवों का एक, ब्रह्म-कल्प तक भोग होता है। महामेरु पर स्थित ब्रह्म-सदन तथा जनलोक से लेकर सब लोक पुनरावर्त्तन-रहित हैं। फिर भी, अंशादि द्वारा जन्मादि हो सकते हैं, किन्तु उनसे मूलरूप की कुछ भी क्षति नहीं होती। जो ब्रह्मनाडी का अवलम्बन कर उत्क्रमण करते हैं और अर्चिरादि-मार्ग के सम्बन्ध से वैकुण्ठलोक को प्राप्त होते हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। परन्तु, अन्यों की पुनरावृत्ति अवश्य हो सकती है।

राजा रैवत सत्य लोक से मर्त्यलोक में अवतीर्ण हुए थे। राजा परीक्षित शुकदेव के उपदेश से अपरोक्ष-ज्ञान प्राप्त करके भी अर्चिरादि मार्ग से वैकुण्ठ को प्राप्त होकर वहाँ से व्यास के आदेश से भूलोक में अवतीर्ण हुए थे; और जनमेजय आदि को उन्होंने दर्शन दिये थे। भगवान् की अचिन्त्य शक्ति से सब कुछ सम्भव होता है।

देवताओं का उत्क्रमण नहीं होता, अचिरादि-मार्ग से गति भी उनकी नहीं होती। देवताओं की मुक्ति एकमात्र उत्तम देह में स्वदेह के लय द्वारा हो सकती है। यह लयमार्ग दो प्रकार का है—गरुडमार्ग और शेषमार्ग। प्रथम मार्ग यों हैं—अग्नि सूर्य में लीन होती है, सूर्य गुरु में, गुरु इन्द्र में, इन्द्र सौपर्णी में एवं सौपर्णी गरुड में लीन होती है। द्वितीय मार्ग है—वरुण सोम में लीन होता है, सोम अनिरुद्ध में,अनिरुद्ध काम में, काम वारुणी में एवं वारुणी शेष में लय को प्राप्त होती है। अन्यान्य देवताओं में भृगु आदि देवता दक्ष में तथा दक्ष इन्द्र में लीन होते हैं, वैसे ही आकाश के अधिष्ठाता गणेश और पृथ्वी की अधिष्ठात्री धरा गुरु में लीन होती है। कर्मज देवता प्रियव्रत और गय स्वायम्भुव मनु में और मनु इन्द्र में, मरुद् गण, गयादि सभी इन्द्र में लीन होते हैं। निऋ॑ति और पितर यम में तथा यम इन्द्र में लीन होते हैं। आजानज और अवशिष्ट देवता अग्नि में लीन होते हैं। यह सब गरुड-मार्ग है। गन्धर्वगण कुबेर में, कुबेर सोम में, सनकादि काम में तथा विष्वक्-सेन अनिरुद्ध में लीन होते हैं। यह शेषमार्ग है। गरुड और शेष सरस्वती में सरस्वती ब्रह्मा में एवं ब्रह्मा एवं लक्ष्मी द्वारा परमात्मा में लय को प्राप्त होते हैं। इधर उमा रुद्र में, रुद्र भारती में, भारती वायु में एवं वायु लक्ष्मी में लीन होता है। इन सबका परामात्मा में लय किंवा मुक्ति नहीं होती। ब्रह्मकल्प का अन्त हो जाने पर ये व्युत्थित होकर वायु ब्रह्मरूप में, भारती सरस्वती रूप में, रुद्र शेषरूप में एवं उमा वारुणी रूप में प्रकटित होती हैं। इसके अनन्तर अवश्य स्वाभाविक क्रम से उनकी मुक्ति होता है।

उपर्युक्त प्रकार से लय हो जाने के बाद जीव ब्रह्मा के साथ विरजा में स्नान करता है, जिससे उसके लिंगदेह का विनाश होता है एवं जीव भगवद्धाम में प्रवेश करता है। विरजा प्रधान और परमव्योम या अव्याकृत आकाश के मध्यवर्त्ती और लक्ष्मीस्वरूप है। इसको वैकुण्ठ की परिखा (खाई) भी कहा जा सकता है। दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन इन षोडश कलाओं से विशिष्ट सूक्ष्मदेह को लिंग-देह कहते हैं। वस्तुतः लिंग प्रकृत्यात्मक है, इसलिए उसके स्वरूप का विनाश नहीं होता, यद्यपि कोई-कोई उसका विनाश भी स्वीकार करते हैं। जो स्वरूपध्वंसवादी हैं, वे कहते हैं कि यद्यपि लिंग अनादि है, तथापि उसका ध्वंस हो सकता है। दृष्टान्त रूप में वे प्रागभाव, अविद्या आदि का उल्लेख करते हैं।

प्रलय-काल में सभी जीव भगवान् के उदर में प्रविष्ट होते हैं, तब केवल-मात्र स्वरूपानुभूति रहती है, विषय-भोग नहीं होता। सृष्टि अथवा प्रलय में मुक्त पुरुषों के ज्ञान, आनन्द आदि में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। मुक्त लोगों के लिए भीतर और बाहर एक समान हैं। पुनश्च, माध्व मुक्ति में सब जीवों का तुल्य आनन्द

यहीं मानते। वे कहते हैं कि जीव को अपनी योग्यता के अनुसार आनन्दभोग प्राप्त होता है। योग्यता का तारतम्य रहने पर मुक्ति में भी भोग का तारतम्य अवश्य-भावी है।

भोग सालोक्य, सामीप्य सारुप्य तथा सायुज्य भेद से चार प्रकार का है। समानैश्वर्य भोग का नाम सार्ष्टि है—यह सायुज्य का ही अवान्तर भेद है। भगवान् में प्रविष्ट होकर भगवद्देह के द्वारा जो भोग होता है, वही सायुज्य है। इसके अधिकारी देवगण हैं, जो अपने-अपने उत्तम देह में तथा परमात्मा-देह में प्रविष्ट होकर भोग कर सकते हैं। ब्रह्मा का भोग केवल परमात्मा के शरीर से ही निष्पन्न होता है, ऐसे मुक्त जीव स्वाधीन हैं—स्वरूप धारण करने में सालोक्य मुक्ति को प्राप्त मुक्त जीव भगवल्लोक के जिस किसी स्थान में रहकर इच्छानुरूप भोग-सम्पादन करते हैं। कोई-कोई उत्क्रमण न कर यहीं मुक्ति-लाभ करते हैं एवं रहते हैं। कोई अन्तरिक्ष में अथवा स्वर्ग, महर्लोक आदि स्थानों में या क्षीरसागर में रहते हैं। सामीप्य और सारूप्य का भोग भी उक्त रीति से समझ लेना चाहिए। मुक्त जीवों के भोगस्थानों का अन्त नहीं है। क्षीरसागर, अश्वत्थवन, सुधासमुद्र, मद्यसरोवर, बाह्य उपवन आदि विचित्र भोगस्थानों का वर्णन मिलता है। उन उपवनों में जो वृक्ष हैं, उनकी प्रत्येक शाखा से अपूप (पूए) आदि गिरते हैं। वहाँ का कर्दम (कीचड़) ही सुस्वादिष्ट पायस (खीर) रूप है।

मुक्त लोगों में से कोई स्त्रीभोगी हैं, कोई घोड़ों पर सवारी करने में मस्त हैं, कोई दिव्याभूषणों से विभूषित होकर स्त्रीगणों के साथ जलक्रीडा में निरत हैं एवं कोई स्फटिक एवं इन्द्रनील आदि बहुमूल्य पत्थरों से निर्मित महलों में विराजमान हैं। उनमें से कोई यज्ञादि कर्मों में व्यस्त हैं, कोई वेदध्वनिपूर्वक भगवान् की स्तुति में संलग्न हैं, कोई शुद्ध सत्त्वमय लीलाशरीर धारण कर क्रीडा कर रहे हैं, कोई अतीत जन्म और मरण की बातों का स्मरण कर हर्ष प्रकट कर रहे हैं, अथवा कोई इच्छामात्र से पितृलोक, मातृलोक आदि का दर्शन कर रहे हैं। भगवान् के गुण-गान, नृत्य, वाद्य आदि किसी-न-किसी एक भाव में सभी मग्न हैं। सबके आनन्दमग्न होने पर भी आनन्द का तारतम्य (कमी-बेशी) है। ईर्ष्यादि कुवृत्ति से सभी निर्मुक्त हैं। अपरोक्ष-ज्ञान के बाद जो कर्म, उपासना आदि किये जाते हैं, उनके वैचित्र्य से आनन्दाभिव्यक्ति में तारतम्य होता है। अपरोक्ष-ज्ञान के बाद भी रुद्र इन्द्र, सूर्य, धर्म आदि के धर्मानुष्ठान का वर्णन मिलता है।

जीव स्वरूपतः अणुपरिमाण है, मुक्ति में उसके लिए भोग-सम्पादन किस प्रकार हो सकता है ?इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यद्यपि जीव अणु है, तथापि

उसके इच्छानुसार भगवान् उसके लिए कल्याणतम महद्रूप का निर्माण कर देते हैं। पितृजीव, गन्धर्वजीव और देवता ब्रह्मादि नाना प्रकार के जीव हैं। भगवान् प्रत्येक मुक्त जीव को उसकी योग्यता के अनुसार स्वभावानुरूप नवीन आकार प्रदान करते हैं। सुवर्णकार की तरह भगवान् भी जीव, के अविद्या-काम-कर्म आदि मल को आत्माग्नि में जलाकर उसको योग्य कल्याण रूप प्रदान करते हैं। उनकी कृपा से मुक्तावस्था में जीव का अष्टैश्वर्य अभिव्यक्त होता है।

वैकुण्ठ आदि भगवद्धाम लक्ष्म्यात्मक हैं, इसलिए वे चिन्मय और नित्य हैं। धामों में स्थित लीला के उपकरणभूत सभी पदार्थ भी वैसे ही अप्राकृत और नित्य है। नियम्य-नियामकभाव मुक्ति के बाद भी विद्यमान रहता है। किन्तु, मुक्त की संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती। अवश्य वैकुण्ठनिवासी जय, विजय आदि सनकादि के शाप से पृथिवी पर अवतीर्ण हुए थे, यह बात पुराणों में प्रसिद्ध है। किन्तु, वे मुक्त नहीं थे, केवल अधिकारस्थ थे। मुक्त होने पर शाप नहीं लगता है।

परमात्मा स्वयं वैकुण्ठ में अवस्थान करते हैं,—मुक्त ब्रह्मादि करोड़ों जीव उनकी स्तुति करते हैं। वे अनन्त शक्तिशाली, अनन्त गुण-सम्पन्न और परिपूर्ण भोगी हैं। लक्ष्म्यात्मक विमिताख्य पर्यंक पर उनकी शय्या है। सुनन्द, नन्द आदि उनके पार्षद हैं; स्वयं महालक्ष्मी उनके प्रिय कर्मों के गान में और विविध सत्कार-कार्यों में निरत रहती हैं।

रुद्र-सम्प्रदाय

(वल्लभ-मत : शुद्धाद्वैत)

विष्णुस्वामी नामक प्राचीन आचार्य ने जिस मत को चलाया था, उसी का प्रचार वल्लभाचार्य कर गये हैं। विष्णुस्वामी का समय, सन् १२५० ई० माना जा सकता है। इनके मतानुयायियों में गर्भश्रीकान्त मिश्र का नाम सर्वदर्शनसंग्रह में उल्लिखित है। ये सभी नृसिंह-मूर्त्ति के उपासक थे, ऐसा प्रतीत होता है। दीर्घकाल तक यह सम्प्रदाय एक प्रकार से लुप्त रहा। बाद में वल्लभाचार्य ने इसको उज्जीवित किया। वल्लभाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे।

वल्लभाचार्य-कृत ब्रह्मसूत्र का अणुभाष्य ही शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय का उपजीव्य प्रधान दार्शनिक ग्रन्थ है। उन्होंने श्रीमद्भागवत टीका सुबोधिनी, गीता टीका, तत्त्व-दीपनिबन्ध अथवा तत्त्वार्थदीप, निबन्धप्रकाश, पुष्टिप्रवाह-मर्यादाभेद, कृष्णप्रेमा-

मृत, सिद्धान्तरहस्य, सेवाफलविवृत्ति, भक्तिवर्द्धिनी आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। उनके पुत्र विट्ठलनाथ अथवा विट्ठलेश्वर दीक्षित ने भी कई ग्रन्थों की रचना की थी। उनके कृष्णप्रेमामृत-टीका, रत्नविवरण, भक्तिहंस, वल्लभाष्टक, पुष्टिप्रवाह-मर्यादाभेद-टीका आदि ग्रन्थ वैष्णव-दर्शन के क्रम-विकास के इतिहास की आलोचना के प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। विट्ठल के पंचम पुत्र रघुनाथ ने 'भक्तिहंस' के ऊपर 'भक्तितरंगिणी' नाम की टीका तथा वल्लभाष्टक स्तोत्र की टीका रची थी। बालकृष्ण भट्ट (नामान्तर लालूभट्ट दीक्षित) ने प्रमेयरत्नार्णव, शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डप्रकाश, निर्णयार्णव, सेवाकौमुदी आदि पुस्तकों का प्रणयन किया था। कल्याणराय के पुत्र गोपेश्वर विट्ठल के शिष्य थे। उनके भक्तिमार्त्तण्ड, वादकथा आदि ग्रन्थ उल्लेख योग्य हैं। विट्ठल के दूसरे शिष्य पीताम्बर ने वल्लभ-कृत तत्त्वदीपनिबन्धप्रकाश की आवरणभंग नामक टीका, विद्वत्कवि भिन्दिमाल, प्रहस्त, पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरण आदि का प्रणयन किया। पीताम्बर के पुत्र पुरुषोत्तम ने अणुभाष्य की 'प्रकाश' नामक टीका, विद्वन्मण्डन-टीका, सुवर्णसूत्र, भक्तिहंसविवेक, भक्तितरंगिणी-टीका तीर्थ, वल्लभाष्टकविवृति-प्रकाश, अवतारवादावली आदि ख्यातिलब्ध ग्रन्थों की रचना की।

गिरिधर का शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड, हरिराय का ब्रह्मवाद, गोपालकृष्ण भट्ट का ब्रह्मवादविवरण, तापीश की पत्रावलम्बटीका, ब्रह्मवादार्थ तथा भट्टबलभद्र की सिद्धान्तसिद्धापगा शुद्धाद्वैतमत-जिज्ञासु के लिए अवश्य पाठ्यग्रन्थ हैं। प्रस्थान-रत्नाकर, सिद्धान्तमुक्तावली आदि ग्रन्थ भी इस प्रसंग में उल्लेख-योग्य हैं। रामानुजीय अथवा माध्व-सम्प्रदाय के तुल्य वल्लभ-सम्प्रदाय का साहित्य व्यापक अथवा पाण्डित्यपूर्ण नहीं है। शतदूषणी अथवा न्यायामृत के तुल्य ग्रन्थ शुद्धाद्वैत-दर्शन के साहित्य में नहीं हैं।

वल्लभाचार्य लक्ष्मणभट्ट नामक कृष्णयजुर्वेदीय तैलंग ब्राह्मण के पुत्र थे। लक्ष्मणभट्ट अपनी पत्नी एलमागार के साथ तीर्थयात्रा-हेतु श्रीकाशीधाम के लिए रवाना हुए थे। मार्ग में ही उनकी पत्नी ने एक सन्तान को जन्म दिया। जिसने बाद में वल्लभाचार्य के नाम से ख्याति प्राप्त की। वल्लभ का आविर्भाव-काल सन् १५३५ वि० अथवा सन् १४७८ ई० है। वल्लभ ने वृन्दावन और मथुरा में कुछ दिन व्यतीत किये थे। उस समय गोवर्द्धन पर्वत पर देवदमन या श्रीनाथ नामक गोपाल-कृष्ण ने उन्हें दर्शन दिये थे। कहा जाता है कि भगवान् ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर अपने मन्दिर के निर्माण और पुष्टिमार्ग के प्रचार के लिए आदेश दिया था।

वल्लभ-मत में जीवात्मा अणुपरिमाण, ब्रह्मांश और ब्रह्म से अभिन्न है।

कारणात्मक अक्षर ब्रह्म से सच्चिदानन्दात्मक अणु-अंश, बृहत् अग्निराशि से छोटी-छोटी चिनगारियों के निकलने के तुल्य, निःसृत होते हैं। मूल से अंश के निःसृत होने पर भगवान् की इच्छा से प्रत्येक अंश में सत्त्वांश प्रबल होता है एवं आनन्दांश तिरोहित होता है। यह चित्प्रधान, लुप्तानन्द निरुपाधिक ब्रह्माणु ही जीव कहलाता है। भगवान् का चिदंश ही जीव है। सृष्टिकाल में ही जीव से भगवान् का आनन्दांश तिरोहित हो जाता है। ऐश्वर्य आदि का तिरोभाव बाद में होता है। जीव अणु है सही, किन्तु भगवदाविष्ट अवस्था में, अर्थात् आनन्दांश की अभिव्यक्ति के समय व्यापकता आदि भगवद्धर्म उसमें प्रकटित होते हैं। किन्तु, उस समय भी जीव का व्यापकत्व सिद्ध नहीं होता। यशोदा की गोद में स्थित कृष्ण जिस प्रकार सर्व-जगत्-आधार रूप में प्रकाशित हुए थे, उसी प्रकार भगवदाविष्ट जीव में भी कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का प्रकाश दिखाई दे सकता है। लोहा अग्नि के सम्पर्क से दाहक होता है, किन्तु उसी कारण दाहकत्व लोहे का धर्म नहीं कहा जा सकता। व्यापकता भी वैसे ही आनन्दांश के सम्बन्धवश चिदंश में प्रकाशित भर होती है। वल्लभ-मत में जीव वस्तुतः नित्य है, पर जो जीव-सृष्टि या निःसृति की बात कही गई है, वह उद्गमबोधक है, उत्पत्तिवाचक नहीं है। ब्रह्म के व्यापक होने पर भी उससे अंश-निर्गम असम्भव नहीं है। वस्तुतः, उपादान, उपादेय, अधिकरण एवं व्यापार सभी ब्रह्ममय हैं।

शुद्ध, संसारी और मुक्त भेद से जीव तीन प्रकार के हैं। ब्रह्म से अणु के निकलने के बाद आनन्दांश के तिरोहित होने पर जिस अवस्था का विकास होता है, उसको शुद्ध जीवभाव कहते हैं। वह शुद्ध चिद्भावमात्र है। इसके उपरान्त अविद्या का सम्बन्ध होने पर जीव बद्ध या संसारी होता है। तब भगवदिच्छा से उसके ऐश्वर्य आदि गुण तिरोहित हो जाते हैं। शुद्ध जीव में भगवान् के ऐश्वर्यादि षड्गुणों का अंश रहता है। इन बद्ध जीवों में कोई देवभावापन्न और कोई असुरभावापन्न देखे जाते हैं। सूक्ष्म सद्वासनाविशिष्ट मुक्ति-अधिकार को देवत्व कहते हैं। भगवान् जिन लोगों के साथ लीला करने की इच्छा करते हैं, उन लोगों को मुक्ति की योग्यता का साधक देवत्व प्रदान करते हैं। भगवान् और देवजीव कोई भी परस्पर का त्याग नहीं करते। किन्तु, आसुर जीव भगवान् को नहीं पाता; क्योंकि उससे मायाजनित मोहवश ज्ञान और भक्ति-रूप दो भगवत्-शक्तियों के कार्य नहीं होते, इसलिए सायुज्य हो नहीं सकता। जिनके चित्त में नीच भाव स्थान पाता है, वे असद्वासनायुक्त होकर आसुर भाव को प्राप्त होते हैं। यह मुक्ति का प्रतिबन्धक है। दोनों ही क्षेत्रों में भगवदिच्छा ही मूल कारण है। आसुर जीव स्थूल देह प्राप्त कर नाना भाँति निन्दनीय कर्म करते हैं एवं तदनुसार नीच योनियों में भ्रमण करते हैं।

ये सदा ही संसारी हैं। जबतक भगवान् आत्मरमण के लिए इच्छा नहीं करेंगे, तबतक आसुर जीवों की अविद्या और अविद्या-कार्य के निवृत्त होने की सम्भावना नहीं है। किन्तु, उस प्रकार की इच्छा होते ही सर्वत्र विद्यमान अविद्या-कार्य-संसार को भगवान् स्वयं ही नष्ट कर देंगे। तब बिना साधना के आसुर जीव भी शुद्धा-वस्था को प्राप्त होंगे।

मुक्त जीव दो प्रकार के हैं—जीवन्मुक्त और परममुक्त। अविद्या की निवृत्ति होने पर ही जीवन्मुक्ति-अवस्था कहना बनता है। सनकादि मुनिगण जीवन्मुक्त हैं। भगवान् की विशिष्ट कृपा से मुक्तजीव के परमव्योम में प्रवेश होने पर परामुक्ति अथवा विशुद्ध ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। दैवजीवों में कोई-कोई सत्संग पर मार्गानुरागजन्य श्रवण आदि से समुद्भूत फलरूप स्वतन्त्र भक्ति द्वारा नित्य लीला में प्रवेश करते हैं।

वल्लभीयगण परब्रह्म (पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण) को नित्यानन्द स्वरूप और अप्राकृत धर्म का आश्रय मानते हैं। उनकी सभी लीलाएँ नित्य हैं। जब अक्षर-परब्रह्म में बहुत होने की इच्छा उदित होती है, तब दूसरे रूप का आविर्भाव होता है। इस अवस्था में सत्त्व के प्राधान्य से आनन्दांश प्रायः तिरोहित रहता है। अक्षर ब्रह्म भक्त और ज्ञानियों को विभिन्न रूपों से प्रतीत होते हैं। भक्त उन्हें व्यापी वैकुण्ठ आदि लोकों के रूप में आविर्भूत देखते हैं। आविर्भाव और तिरोभाव भगवान् की ही एक प्रकार की शक्ति है। गुणों का कार्य न रहने पर ही तिरोभाव को अप्रकटता कहते हैं, यह मायाकृत नहीं है। माया के प्रभाव से बद्धजीव के धर्मरूप में जो तिरोभाव का परिचय प्राप्त होता है, वह सद्विषयक ज्ञानाभावमात्र है। ज्ञानी के निकट अक्षर ब्रह्म सच्चिदानन्द, देश और काल के अतीत स्वप्रकाश तथा गुणातीत रूप में भासमान होते हैं। इस प्रकार, प्रकाशमान ब्रह्म में एकमात्र तिरोधान-शक्ति का प्राकट्य रहता है, अन्यान्य सभी धर्मों का तिरोभाव होता है। इसलिए, ज्ञानियों से ज्ञेय अक्षर ब्रह्म निर्धर्म कहे जाते हैं। वल्लभीय मत के अनुसार तिरोभाव के सिवा अभाव नाम का कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। दुःख आदि मायिक धर्म मिथ्या अथवा भ्रान्तिज्ञानसिद्ध हैं। इस कारण उनका अभाव भी मिथ्या है। अतएव, ज्ञानिज्ञेय ब्रह्मस्वरूप तिरोहितसर्वशक्ति तथा सर्वव्यवहारातीत है। पुरुषोत्तम का एक रूप सूर्यमण्डल आदि में है—यह अन्तर्यामी है। इन्हीं का नामान्तर पुरुष या नारायण है। पुरुष तीन प्रकार के हैं : १. महत्स्रष्टा, २. ब्रह्माण्डसंस्थित तथा ३. सर्वभूतस्थ। पुरुष से ही मत्स्यादि लीलावतार आविर्भूत होते हैं। वे आनन्दप्रधान, जीव के तुल्य प्रति शरीर में भिन्न तथा तत्-तत् जीव के नियामक-

मात्र हैं। कारण जड और जीव के अन्तर्यामी समूह में मुख्य अन्तर्यामी का एक-एक अंशमात्र प्रकट होता है।

वल्लभीयगण कहते हैं कि अप्राकृत सत्त्व स्वचिकीर्षित मत्स्यादि आकारों का विधानपूर्वक, लौहपिण्ड में अग्नि के तुल्य, उनमें आविर्भूत होकर तत्-तत् कार्य करता है। इस विशुद्ध सत्त्वात्मक विग्रह में जगत् का स्थिति-कार्य करने की इच्छा से भगवान् वह्निलोहगोलक-न्याय से आविष्ट होते हैं—इन्हीं का नाम विष्णु है। इसी प्रकार भगवान् अप्राकृत रजोविग्रह में आविष्ट होने पर ब्रह्मा एवं तमोविग्रह में आविष्ट होने पर शिव नाम को प्राप्त होते हैं। ये अप्राकृतविग्रह होने पर भी प्राकृत तीन गुणों के नियामक होने के कारण 'सगुण' हैं। पुराणों में इन्हें जो परब्रह्म कहा गया है, उसका कारण यह है कि अंशी कृष्ण के साथ इनका वास्तविक कोई भेद नहीं है। फिर भी, विष्णु में चतुर्भुज, वनमाला, पीताम्बरादि बहुसंख्य पुरुषोत्तम-धर्मों के प्राकट्य-वश विष्णु ही उत्कृष्ट हैं, यद्यपि ये तीनों ही गुणावतार हैं।

भगवान् के रूप अनन्त हैं। सभी रूप पूर्ण ब्रह्म हैं, इसीलिए ज्ञानमार्ग में विषय और फल में कोई विशेष नहीं है। भक्तिमार्ग में विशेष है, उन्होंने क्रीडा के लिए जैसे जगत् की रचना की है, वैसे ही अपनी प्राप्ति के लिए भक्तिमार्ग भी पृथक् बनाया है। विभूतिरूप से साधन और फल नियत हैं। पूर्ण फलदान स्वयंरूप या कृष्णरूप से ही होता है। सायुज्य ही पूर्ण या मुख्य फल है। सायुज्य शब्द से वल्लभीयमत में ब्रह्मैक्य की प्रतीति नहीं होती, योग की प्रतीति होती है। यह ज्ञानलभ्य नहीं है—एकमात्र कृष्णसेवा से लभ्य है। भगवान् के आविर्भूत होने पर ही भजन बनता है, इसीलिए यह बहिर्भजन है।

मुक्ति सगुणा और निर्गुणा भेद से दो प्रकार की है। यदि सगुण देवता की उपासना से उसके साथ सायुज्य हो, तो वह सायुज्य सगुणा मुक्ति है, अन्यत्र निर्गुणा मुक्ति है। भगवान् के अतिरिक्त सभी सगुण हैं। इसलिए कृष्ण-सायुज्य ही निर्गुणा मुक्ति हैं। ज्ञानमार्ग में निर्गुणा मुक्ति नहीं होती। अक्षर अथवा कूटस्थ गुणानुरोधी और निर्गुण हैं। श्रवण आदि के द्वारा उनका साक्षात्कार करना ही ज्ञानमार्ग है। ज्ञान-मार्ग की मुक्ति कैवल्य अथवा जीवन्मुक्ति है। कैवल्य 'सात्त्विक ज्ञान' है : 'कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं।' यह सात्त्विक मुक्ति के सिवा और कुछ नहीं है, ज्ञानी संसारातीत होकर विरक्त होता है और ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त होता है। ज्ञान प्राप्त होने पर जीवन्मुक्ति होती है—तब अध्यास या आसक्ति नहीं रहती। जीवन्मुक्ति सगुण है; क्योंकि तब जीवभाव विद्या और अविद्या का वशवर्त्ती रहता है। विद्या और अविद्या

विनाशी हैं—चरमवृत्तिपर्यन्त गुणों का अंगीकार करना पड़ता है। ब्रह्मभाव के बाद भक्ति का उदय होता है, तब गुणातीत में प्रवेश होता है। जीवन्मुक्ति तक सगुणभाव रहता है, बाद में भक्तिलाभ होने पर निर्गुणता प्राप्त होती है। प्रथम भाव केवल ज्ञान है, जिसके दृष्टान्त सनकादि हैं और द्वितीय ज्ञानभक्ति है, जिसके दृष्टान्त शुकादि हैं।

वल्लभाचार्य द्वारा प्रदर्शित मार्ग का नामान्तर पुष्टिमार्ग है। भगवान् के अनुग्रह अथवा कृपा को पुष्टि कहते हैं। यह भगवद्धर्म है और काल का बाधक है। लौकिक और अलौकिक नाना प्रकार के फल इससे उत्पन्न होते हैं, जिनसे ही पुष्टि अनुमित होती है। बलवान् प्रतिबन्धक की निवृत्तिपूर्वक स्वपद की प्राप्ति में साधकता ही महापुष्टि है। कर्म और स्वभावजनित बाधा ही बलवान् प्रतिबन्धक है। दृष्टान्त के लिए इन्द्र विश्वरूप, दधीचि और वृत्र के हत्यारे थे। विश्वरूप कर्मठ थे, दधीचि ज्ञान एवं वृत्र भक्त थे। यह हत्याकार्य अत्यन्त दुष्कर्म है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु, भगवत्कृपा से उन्हें अनिष्ट फल प्राप्त नहीं हुआ। भगवान् ने दया कर इन्द्र की रक्षा की। दिति के गर्भ पर इन्द्र द्वारा वज्र-प्रहार होने पर भी उसके प्राण गये नहीं। यह पुष्टि का निदर्शन है। इस जगह वज्राघात का प्राणनाशकत्वरूप स्वभाव बाधित हुआ, यह समझना चाहिए।

पुष्टि से चारों प्रकार के फल हो सकते हैं। भगवान् के अंशभूत कार्त्तवीर्य ने पुष्टि के कारण ही राजपद प्राप्त किया था। देवहूति ने मुक्ति प्राप्त की थी। योगादि उस स्थल में व्यापारमात्र हैं। अजामिल का नाम-ग्रहण भी व्यापार अथवा निमित्तमात्र है। जिस पुष्टि से चतुर्विध फल-प्राप्ति होती है, वह सामान्य पुष्टि है। विशिष्ट पुष्टि से भगवत्स्वरूप को प्राप्त करानेवाली भक्ति की प्राप्ति होती है। इस भक्ति का नाम पुष्टिभक्ति है। एकमात्र भगवान् का अनुग्रह ही पुष्टि-भक्ति की प्राप्ति का उपाय है। सामान्य अनुग्रह से जिस भक्ति का उदय होता है, वह मर्यादा-भक्ति है। विशिष्ट कृपा से जो भक्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम पुष्टि-भक्ति है। इसमें एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही आकांक्षा का विषय होती है, भगवद्भिन्न फल में आकांक्षा नहीं रहती। मोक्ष भी पुष्टि-भक्ति के लिए तुच्छ है। पुष्टिभक्ति चार प्रकार की है—१. प्रवाहपुष्टि-भक्ति। प्रवाह अहन्ता और ममता-रूप संसार-प्रधान है। तद्धर्मयुक्त पुष्टि-भक्ति में कर्मरुचि रहती है। उससे भगवदुपयोगी क्रियाप्रवृत्ति बनी रहती है। २. मर्यादापुष्टि-भक्ति। मर्यादा से जीव की रागमूलक विषयप्रवृत्ति हटती है और निवृत्तिमार्गीय धर्म में झुकाव होता है। इस प्रकार की भक्ति से मनुष्य की

विषयासक्ति नहीं रहती और भगवत्कथा-श्रवण आदि में प्रवृत्ति होती है। ३. पुष्टि-पुष्टि-भक्ति। इस प्रकार के भक्त पुष्टिभक्त होकर भजनोपयोगी ज्ञानजनक अनुग्रहान्तर को प्राप्त होते हैं एवं सर्वज्ञता उपलब्ध करते हैं। ये लोग भगवान्, उनके परिकर, लीला, प्रपंच आदि सबको जानते हैं। ४. शुद्धपुष्टि-भक्ति। इस प्रकार के भक्त प्रेमप्रधान हैं। ये परिचर्या और स्नेह वासनावश ही करते हैं। यह भक्ति अति दुर्लभ है। इस मार्ग में भगवत्प्राप्ति ही फल है, किन्तु उसके लिए साधन की अपेक्षा नहीं है, अर्थात् साधनाभाव ही साधन रूप में परिगणित होता है। अथवा फल (=भगवान्) स्वयं ही अपना साधन होता है। सिद्धिलाभ केवल अनुग्रहसापेक्ष्य है, यत्नसापेक्ष्य नहीं। यत्न करने पर विघ्न ही होता है। यहाँ भगवान् जीव की योग्यता का विचार कर जीव को स्वीकार नहीं करते। भक्त भी भगवान् के कार्य में गुण-दोष का विचार नहीं करते; केवल यह उत्तम है, ऐसा समझते हैं। भक्तों को रोदन, चौर्य आदि में हीनता तथा कालियदमन, दावाग्निमोक्षण आदि में माहात्म्य-बोध नहीं होता। स्वामी ही सब चेष्टाओं के एकमात्र तात्पर्य हैं—वेद और लोक की अपेक्षा नहीं। इस मार्ग में भगवान् जीव का स्वेच्छा से, बिना किसी कारण के वरण करते हैं। इसी लिए जो फल साधन-सम्पन्न को नहीं मिलता, उसे अत्यन्त अयोग्य व्यक्ति भी पा जाता है। वियेगावस्था में भी आनन्द रहता है; क्योंकि भक्ति स्वरूपानन्दात्मक फल देने में स्वतन्त्र है, स्वरूपाविर्भाव की अपेक्षा नहीं रखती। भगवान् काल, धर्म, स्वभाव आदि सबके बाधक हैं, अतः भगवद्भाव की अधिकता से लोक या परलोक का भय नहीं होता। इस मार्ग में भगवान् के साथ जीव का दैहिक अथवा भावज सम्बन्ध फल-साधन है। सब इन्द्रियों के साथ भगवान् का सम्बन्ध ही फलरूप है। भगवत्सम्बन्धी में भगवद्बुद्धि होती है, उससे भिन्न में विरोधज्ञान होता है एवं उदासीन साम्यबोध होता है। देह आदि का रक्षण स्वीयबोध से नहीं होता, भगवदीय बोध से होता है। विरह में मिलन की अपेक्षा अधिक सुख का आस्वादन होता है; क्योंकि तब प्रतिक्षण अन्तर में नवीन-नवीन लीलाएँ प्रकट होती हैं। साधन और फल विपरीत भावापन्न हैं। भाव निरुपाधि स्नेहात्मक है। अन्य निरपेक्ष दैन्य भगवान् के आविर्भाव का हेतु है। विरहजन्य दैन्य से सब प्रकार से विषय-त्याग और देहादि-समर्पण होता है। विषय-रूप से विषयों का त्याग होता है और भगवदीय रूप से उनका ग्रहण; क्योंकि ममता-मात्र ही संसार है। जीव इस तरह से सर्वदा भगवान् की स्मृति का विषय होता है।

शुद्धाद्वैत-मत में जीव ब्रह्मरूप माना गया है, किन्तु वह अंशात्मक रूप है।

इसलिए, स्वाभाविक अंश के पुनः पूर्वरूप-सम्पादन के लिए एवं अविद्या-दोष मिटाने के लिए भजन करना पड़ता है। ऐश्वर्यादि सम्पत्ति एवं अविद्या की निवृत्ति होने पर ही भगवद्रूपता प्राप्त होती है। मुख्य भक्त—देह, लिंग अथवा चिह्न एवं सौन्दर्यादि गुणों के सम्बन्ध से भगवान् की समता प्राप्त करता है, किन्तु वैचित्र्य के बिना सम्यक् प्रकार से रमण न होने के कारण तारतम्य रहता है। प्रश्न है कि जिस अवस्था में अविद्या नहीं रहती, उस प्रकार के विशुद्ध पुष्टिमार्ग में भजन की आवश्यकता क्या है? इसका उत्तर है—उस स्थल में भी लीला के लिए वियुक्त भगवदंशभूत जीव भजन द्वारा भगवान् के साथ सम्बद्ध होकर फलानुभव करता है। अतएव, दोनों ही स्थलों में भजन में साधनता दिखाई देती है। किन्तु, भजन भावात्मक होने से स्वयं फलरूप है, इसलिए उसमें साधनता रहने पर भी पुष्टिमार्ग की कोई हानि नहीं होती। क्योंकि, 'पुष्टिमार्गः स एव यत्र फलं स्वयमेव साधनम्।' (द्रष्टव्य : ब्रह्मवाद, पृ० २२-२३)

ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीन प्रकार के मार्गों की बात शास्त्र में पाई जाती है। अधिकार-भेद से प्रत्येक मार्ग फलोत्पादक होता है। लेकिन, उसमें निष्ठा रखनी पड़ती है, चूँकि निष्ठा के बिना फल की आशा रखना व्यर्थ है। निष्ठा की जड़ साधन है। ज्ञाननिष्ठा होने पर सर्वज्ञता प्राप्त होती है। कर्मनिष्ठा का फल चित्तशुद्धि है और भक्तिनिष्ठा का फल भगवान् की प्रसन्नता। पर, 'तत्त्वमसि' आदि के उपदेश से ही अपरोक्ष ज्ञान होता है, यह भ्रान्त धारणा है, चूँकि ऐसा होने पर शिष्य उस प्रकार का उपदेश प्राप्त करके ही सर्वज्ञ हो जाता। किन्तु, एक के विज्ञान से सबका विज्ञान अवश्य होता है। अतएव, साधारणतः जो ज्ञान के नाम से परिचित है, वह वास्तव में ज्ञान नहीं है। वैसे ही याग आदि कर्मों का अनुष्ठान करके भी उनका कर्त्ता लुब्ध हो पड़ता है—कर्म का मुख्य फल चित्तशुद्धि है। वह प्राप्त होती नहीं। भक्ति का विषय भी भावना से परिकल्पित है। इसीलिए, भगवान् के उद्देश्य से भगवत्सेवा, जो भक्ति शब्द का मुख्य तात्पर्य है, सिद्ध नहीं होती। अतएव, इस प्रकार ज्ञान की अंगस्वरूप भक्ति से भगवत्प्रीति नहीं होती।

कालधर्म से वर्त्तमान समय में सभी अधिकार एक प्रकार से लुप्त हो गये हैं। इस समय भक्तिपूर्वक (केवल विधिपूर्वक नहीं) भगवत्सेवा के बिना फलप्राप्ति की आशा नहीं है। जीव का अधिकार न रहने पर भी भक्ति-सम्पत्ति रहने पर भगवत्कृपा के बल से फलप्राप्ति अवश्यम्भावी है। कलियुग भक्तियोग की सिद्धि के लिए अनुकूल समय है।

वल्लभ-मत में प्रपंच मिथ्या नहीं है—यह भगवत्कृति-जन्य तथा भगवत्स्व-रूपात्मक है, इसलिए सत्य है। जिसे हम प्रपंच कहते हैं, वह भगवान् का ही अपना स्वरूप है, केवल मायाशक्ति के बल से वह प्रपंच के रूप से प्रतीत होता है। माया के तुल्य अविद्या भी उन्हीं की शक्ति है, जिसके वशीभूत होकर ही जीव संसार-दशा का भोग करता है। 'मैं' और 'मेरा' यही संसार का रूप है। अज्ञान, भ्रम आदि शब्द संसार के वाचक हैं, प्रपंच के वाचक नहीं हैं। प्रपंच ब्रह्मात्मक है, वह कभी अज्ञानकल्पित अथवा भ्रान्त नहीं हो सकता। श्रुति ने कहा है: 'स वै न रेमे', 'तस्मादेकाकी न रमते', 'स द्वितीयमैच्छत् ।' इससे ज्ञात होता है कि भगवान् रमण तथा आनन्द के आस्वादन के लिए प्रपंच के रूप से आविर्भूत होते हैं। प्रपंच के अन्तर्गत पुरुष, उनके द्वारा किये गये साधन और उनका फल ये सभी भगवान् के रूप हैं। ऐसी अवस्था में कोई यदि अपने को कर्त्ता या फल का भोक्ता माने, तो वह उसकी भ्रान्ति ही है। अविद्यावश इस भ्रम का उदय होता है। जब तत्त्व-ज्ञान का स्फुरण होता है, तब सभी भगवान् का रूप है, ऐसा ज्ञात होता है और वह भ्रम अथवा संसार निवृत्त हो जाता है। परन्तु, ब्रह्मात्मक प्रपंच की निवृत्ति नहीं है। प्रपंच सत्य है, उसकी आविर्भाव और तिरोभाव दो अवस्थाएँ हैं। उत्पादक और संहारक के भेद के कारणसंसार और प्रपंच का स्वरूप-भेद अवश्य है। हजारों जीवों के मुक्त होने पर भी प्रपंच का लोप नहीं होता। लेकिन, जब भगवान् आत्मरमण की इच्छा करते हैं, तब प्रपंच का रूप उनमें विलीन हो जाता है। मुक्ति में अध्यास नहीं रहता, संसार की निवृत्ति हो जाती है और इस अवस्था में अध्यास केवल अवदमित हो जाता है, पर प्रपंच का लय होता है। भगवान् की इच्छा ही प्रपंच की उत्पत्ति और विनाश का कारण है। अविद्या जीव के संसार-भ्रमण का कारण है, जिसकी निवृत्ति विद्या के उदय से होती है।

अविद्या का विनाश होने पर जीव की मुक्ति होती है। समवायी का विनाश होने से ही कार्य का सर्वथा विनाश होता है। विद्या सात्त्विक है, उसके द्वारा स्वजननी माया का विनाश नहीं होता। अविद्या से जो देह, इन्द्रिय और प्राण का अध्यास उदित होता है, विद्या के द्वारा केवल वही कुचला जाता है। इसलिए, जन्म और मरण से छुटकारा प्राप्त होता है। किन्तु अध्यास न रहने पर भी देहादि के प्रपंचान्तर्गत होने से उनके स्वरूप का लोप नहीं होता—यह भी एक मोक्ष है। इसका नामान्तर है—बन्ध-निवृत्ति। पीताम्बर कहते हैं: 'सहेतुकस्य सकार्यस्य बन्धस्योप-मर्दरूपोऽभावो विद्याकृतमोक्षः।' किन्तु, विश्वमाया-निवृत्ति ही यथार्थ मुक्ति है, वह विद्या द्वारा प्राप्त नहीं होती। माया ही, वल्लभमत में, देहारम्भक धातु की

कारणभूत है। माया में अविद्या के रहने के कारण उसके निकटवर्त्ती अन्तःकरण में कुछ अविद्या-मल रह जाता है। देहादि का अध्यास अवश्य नहीं रहता।

देहादि की अत्यन्त विस्मृति ही मृत्यु है। ऐसी अवस्था में देहादि में अध्यास न रहने पर देहादि की स्थिति किस प्रकार हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्र और लोकप्रसिद्धि के अनुसार जीवन्मुक्ति-अवस्था देहस्थिति रहने पर भी होती है, ऐसा ज्ञात होता है। अतएव, संसार हट जाने पर भी प्रपंच की सत्ता बाधित नहीं होती जीवत्व की निवृत्ति होने पर, अर्थात् जीव के ब्रह्मभूत होने पर अथवा अक्षर में लीन होने पर संघात मूलकारण में लीन हो जाता है, अतः फिर कोई चिन्ता (जीव की पुनः उत्पत्ति आदि की) नहीं रहती। ब्रह्म व्यापक वस्तु है। किन्तु, प्रलय के बाद जब सृष्टिकाल आता है, तब उनका पहला कार्य इच्छाशक्ति का, तदनन्तर त्रिगुणात्मिका सूक्ष्मरूपा मायाशक्ति का प्रकाश है। इस माया द्वारा वे परिच्छिन्न-से होते हैं, अर्थात् उनकी व्यापकता तिरोहितप्राय होती है। तब देश प्रकटित होता है, माया-बल से अंश-समूह परिच्छिन्न होते हैं और इन परिच्छिन्न अंशों द्वारा वे व्याप्त होकर स्थित होते हैं। माया ब्रह्म से अभिन्न शक्ति है। वल्लभाचार्य शांकर सम्प्रदाय के अभिमत सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय माया नहीं मानते। वल्लभ कहते हैं कि ब्रह्म अखण्ड और अविभक्त वस्तु होने पर भी इच्छावश अनन्त रूपों में प्रकट होते हैं, अतः उनमें विभाग है, ऐसी केवल प्रतीति होती है। यह ब्रह्मसृष्टि का उपादान है। ब्रह्म का बहुत होने का संकल्प अथवा भावना सृष्टि का निमित्त है। यह भावना सत्य और विषय की अव्यभिचारिणी है। पहली सृष्टि में आविर्भूत ये सब असंख्य चिदंश भगवद्रूप होने के कारण साकार होने पर भी उच्च-नीचभावेच्छा से निर्गत होने के कारण निराकार होकर ही जनमते हैं। इनका शास्त्र में 'जीव' नाम से वर्णन किया गया है। इन सब जीवों के स्वरूप और धर्म दोनों ही चैतन्य हैं। ब्रह्म के सदंश से जड सृष्टि और आनन्दांश रूप से सब अन्तर्यामियों का प्रादुर्भाव होता है। जीव जैसे असंख्य हैं, वैसे ही अन्तर्यामी भी असंख्य हैं। प्रत्येक हृदय में हंस रूप से जीव और अन्तर्यामी—दोनों की स्थिति है। अतएव, सच्चिदानन्द ब्रह्म का सदंश जड, चिदंश जीव और आनन्दांश अन्तर्यामी या अन्तरात्मा है। जड में चैतन्य और आनन्द तिरोहित रहता है, जीव में आनन्द तिरोहित रहता है। आनन्द ही भगवान् का आकार है, उसका लोप होने से जड और जीव दोनों ही निराकार हैं।

जीव में तिरोहित आनन्दांश के आविर्भूत होने पर ही पूर्ण सच्चिदानन्द प्रकटित होता है और व्यापकत्व आदि धर्मों का आविर्भाव होता है। यही ब्रह्म-साम्य या ब्रह्मभाव है। तब फिर देह की जडता और त्रिगुणात्मकता मिट जाती है

और ब्रह्मरूपता आविर्भूत होती है। देही जीव भी तब फिर भोक्ता नहीं रहता, ब्रह्मरूप से प्रकट होता है। भगवान् अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अव्यक्त आनन्दांश को जगाकर (प्रकाशित कर) किसी को ब्रह्मभाव प्रदान करते हैं अथवा किसी को अक्षरसायुज्य देते हैं। पुरुष, ब्रह्मा आदि के द्वारा सृष्टि पुराण तथा पांचरात्र-शास्त्र में प्रसिद्ध है। कभी-कभी भगवान् स्वयं ही प्रपंच का रूप धारण करते हैं, फिर कालान्तर में महान् ऐन्द्रजालिक के तुल्य मायिक सृष्टि भी करते हैं, तथा इसके अतिरिक्त अन्यान्य सृष्टियों में भगवान् स्वयं अनुप्रविष्ट होते हैं। भगवान् की शक्ति अचिन्त्य और अनन्त है। अनेक प्रकार के इस सृष्टि-वैचित्र्य के वर्णन द्वारा वेद आदि शास्त्रों ने भगवान् के माहात्म्य का ही यत्किंचित् वर्णन किया है, जिसका प्रधान उद्देश्य भक्ति का प्रतिपादन है।

वल्लभ-मत में माहात्म्य-ज्ञान न होने पर भक्ति का उदय नहीं होता। भक्ति दृढ तथा गाढ स्नेहविशेष है। भक्ति द्वारा भगवान् प्रसन्न होकर ही दर्शन देते हैं। अतएव, भक्ति ही मुक्ति का हेतु है। अविद्या जैसे पंचपर्वा है, वैसे विद्या भी वैराग्य, सांख्य, योग, तप और भगवद्भक्ति इन पाँच पर्वों से विशिष्ट है। पहले विषयों में वितृष्णा होती है। उसके अनन्तर नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वक सर्वत्यागहोने से एकान्त में अष्टांगयोग का अनुष्ठान और विचारपूर्वक आलोचन होता है। सबके अन्त में निरन्तर भावना के फलस्वरूप परमप्रेम उपस्थित होता है। यह प्रेम ही यथार्थ ज्ञान अथवा विद्या है; इसके प्रभाव से जीव भगवान् में प्रवेश अथवा मुक्तिलाभ करने का अधिकारी होता है। विद्या और अविद्या जब भगवत्-शक्ति है, तब भक्ति भी भगवत्-शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। यह मुक्ति की उपायरूपा भक्ति, प्रवाहिकी भक्ति या मर्यादा भक्ति है, स्वतन्त्र और अहैतुक भक्ति अथवा प्रेमरूपा भक्ति नहीं है। सब प्रकार की मुक्ति का मूल कारण भगवत्प्रसाद है। इसलिए, सबका त्याग कर दृढ विश्वास से भगवान् का ही भजन करना चाहिए, यही भक्तिवाद का आदर्श है।वल्लभानुयायी कहते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र प्रमेय वस्तु है। ब्रह्म का वर्णन आचार्यों ने तीन प्रकार से किया है—स्वरूप, कारण या तत्त्व और कार्य। उनमें स्वरूपात्मक ब्रह्म ज्ञानविशिष्ट, क्रियाविशिष्ट तथा ज्ञान और क्रिया दोनों से विशिष्ट यों तीन प्रकार का है। वेद के पूर्वकाण्ड की प्रतिपाद्य वस्तु यज्ञ है। यद्यपि यह तात्पर्यतः क्रियाविशिष्ट भगवदात्मक है, तथापि अनुष्ठान से ही प्रतीत फलानुभव तक की अवस्था में साधनात्मक किया के रूप से होता है। उसी प्रकार ज्ञानकाण्ड की प्रतिपाद्य वस्तु सच्चिदानन्द ब्रह्म है। इसके रूप, गुण और शक्ति सभी अनन्त हैं। यद्यपि यह ज्ञानविशिष्ट भगवत्स्वरूप है,

इसमें कुछ सन्देह नहीं, तथापि गुरु-प्रसाद से चरमवृत्ति का उदय होने तक यह ज्ञान-रूप से ही प्रतीत होता है। गीता, भागवतादि में प्रतिपादित स्वरूप भक्ति का विषय होने से ज्ञानक्रियाविशिष्ट, साकार तथा अनन्तगुणपूर्ण है। अक्षार तत्त्व, कर्म-तत्त्व, कालतत्त्व और स्वभाव—ये सब ब्रह्मस्वरूप के अन्तर्गत हैं। अन्तर्यामी कारण-ब्रह्म के अन्तर्गत है। वल्लभ-मत में इन कारणात्मक तत्त्वों की संख्या अट्ठाईस है—पच्चीस तत्त्व और सत्त्वादि तीन गुण। इस मत में प्रकृति और तीन गुणों में परस्पर धर्मि-धर्मिभाव माना गया है। वल्लभ-मत में पुरुष का निर्विषयक केवलानुभव माना गया है। स्वरूपतः उसमें अहन्ता नहीं रहती। पुरुष एक अभिन्न और चिद्रूप है। जीवत्व और ईश्वरत्व केवल अवस्थाभेदमूलक हैं, स्वाभाविक नहीं हैं। अवस्थाभेद का हेतु है विभिन्न प्रकृतियों के साथ सम्बन्ध। प्रकृति व्यामोहिका और मूला भेद से दो प्रकार की है। जब पुरुष भगवदिच्छा से मोहिनी प्रकृति को स्वीकार करते हैं, तब उसके व्यापारभूत मोहक गुणों के द्वारा बँधकर जीवावस्था को प्राप्त होते हैं और जब मूला प्रकृति को ग्रहण करते हैं, तब स्वरूपस्थ रहकर ही जगत् के कारण हो पड़ते हैं। कोई कहता है कि एक ही पुरुष के एक अंश में मूला प्रकृति और दूसरे अंश में मोहिनी प्रकृति स्थित है। जीव चिन्मय होने के कारण पुरुष का सजातीय होकर भी पुरुष से पृथक् है। जीव को पुरुष का अंश भी कह सकते हैं। जो हो, पुरुषांश ही हो अथवा अक्षरांश ही हो, जीव निःसन्देह भगवदंश है।

आचार्य कहते हैं कि रूप शब्द के अर्थ-व्यवहार का विषय अथवा व्यवहार का साधन दोनों ही हो सकते हैं। इसके किसी भी अर्थ से ब्रह्म की रूपवत्ता स्वीकार करने योग्य नहीं है। रूप और रूपवान् परस्पर भिन्न हैं। ब्रह्म कदापि रूपाभिमानी नहीं हो सकते। वस्तुतः, रूप भी ब्रह्मरूप है,—ब्रह्म से रूप का कोई भी भेद नहीं है। इसीलिए, 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदराक्षि' आदि शास्त्रवचनों से भगवान् और भगवद्देह की चिदानन्दमयता समान रूप से स्वीकृत की जाती है। यह चिदानन्द ही रस पदार्थ है। यही जीव के प्राण-धारणा का प्रयोजक और आनन्ददायक वस्तु है। हृदयाकाश में इसकी अभिव्यक्ति होती है। रसशास्त्र में प्राप्त रस का विवरण रसरूप भगवान् का ही कार्यभूत अंश है। रस की अभिव्यंजना की प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न हैं। वास्तव में, परब्रह्म ही प्रणाली-विशेष से हृदय में आविर्भूत होकर रस कहलाते हैं। अनन्य भक्ति के बिना इस प्रकार का आविर्भाव नहीं हो सकता। पर, बाह्यरूप से भगवान् का आविर्भाव भी रसात्मक है। विद्वन्मण्डन की टीका में पुरुषोत्तम ने कहा है : "बहिराविर्भूतस्यापि भगवतो रसत्वमबाधमेव।" भगवान् जैसे रस-स्वरूप हैं, वैसे ही सब रसों के भोक्ता और रसवान् हैं। रसों में

शृंगार रस (रतिभावमय) का स्थान ही प्रधान है। रति के जो आलम्बन विभाव हैं (जैसे व्रजगोपियाँ), उनके भावानुसार भगवान् शृंगार-रसरूप होते हैं। यह स्मरण रखना होगा कि भाव भी भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। भगवान् स्वयं ही रति और स्वयं ही उसके आस्वादन करनेवाले हैं। लीला का विरह भगवान् के पूर्णत्व का बाधक नहीं है और लीला केवल अनुकरण-मात्र है, यह मानना भी ठीक नहीं है। भगवान् शृंगार-रसस्वरूप हैं, यह बात यदि सत्य है, तो प्रियाविरह और मिलन तथा उनके कार्य आदि उनमें असम्भव हैं, यह कहकर उड़ा देने का कोई हेतु नहीं है। फिर, उनसे ब्रह्मत्व की हानि भी नहीं होती। क्योंकि, ब्रह्मवस्तु में सभी विरुद्ध धर्मों का समावेश है। भगवान् की अचिन्त्य महिमा को सभी वादी स्वीकार करते है।

वैष्णवाचार्यों ने लीला की भी नित्य और चिन्मयी रूप से व्याख्या की है। अनायास किये जा रहे कर्म लीला कहे जाते हैं। वह प्रतियोगिसापेक्ष और प्रतियोगि-निरपेक्ष रूप से दो प्रकार की है। जागतिक सभी क्रियाएँ प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत है। किन्तु, भगवल्लीला में प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं होती। पुरुषोत्तम महाराज ने लौकिक दृष्टि से लीला और उसके सम्बन्धी की नित्यता के सम्बन्ध में अट्ठाईस सम्भाव्यमान बाधकों का उल्लेख किया है एवं दिखलाया है कि भगवल्लीला की नित्यता के सम्बन्ध में उनमें से एक भी प्रयोज्य नहीं है। भगवान् के नाम भी लीला के तुल्य नित्य हैं। उनके जो नाम जिस कर्म से विशिष्ट रूप से सम्बन्धी हैं, उस कर्मविशिष्ट रूप का वह नाम नित्य ही है। विट्ठलनाथ कहते हैं: "लोके परं तेषां भक्तानां तत्तद्रसानुभवार्थं क्रमेणाविर्भावः कस्याप्यंशस्य, कस्यचिदाच्छादनमित्येवं मन्तव्यम्। तेन भगवान् गोवर्द्धनमुद्धरन् सदा वर्त्तत 'इति गोवर्द्धनोद्धरणधीर' इति क्रियानामभ्यां सहितो गोवर्द्धनोद्धरणरूपः सदा वर्त्तते। अतएवाद्यापि भक्तानां तदाऽनुभवः क्वचित्।" प्रतिकृति में भजन और स्मरण की व्यवस्था है। यदि रूप अनित्य हो, भगवदात्मक न हो तो, उसमें भगवद्भावना अपराध गिनी जायगी। भगवान् की प्रसन्नता का हेतु भजन नहीं होगा। किन्तु, उस प्रकार से भजन करके भगवत्प्रसन्नता का लाभ किया जाता है, यह सत्य बात है। रूप होने पर ही नाम की भी आवश्यकता होती है। नाम भी गुण और कर्म के अनुरूप तथा नित्य है। वस्तुतः, भगवान् के नाम, रूप, गुण, कर्म सभी नित्य और चिन्मय हैं।

श्रीमाँ आनन्दमयी का आश्रम
शिवालय, काशी

गोपीनाथ कविराज
(पद्मविभूषण, महामहोपाध्याय, एम०ए०, डी०लिट्)

श्री हरिः

पहला अध्याय

वैष्णव-साधना का मूल स्रोत और उसका क्रम-विकास

ईश्वर ने मनुष्य को अपनी आकृति में बनाया है। इसीलिए मनुष्य भी ईश्वर की भक्ति मनुष्याकृति में करना चाहता है। मनुष्य के चरम उत्कर्ष के लिए, अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, साधन-त्रय का विधान वेद-प्रतिष्ठ है। साधन-त्रय में ज्ञान, कर्म और उपासना की चर्चा होती है। साधना में सामर्थ्य का तार-तम्य नित्य अनुभव की बात है। ज्ञान की साधना परम सूक्ष्म बुद्धि के अधीन है। कर्म का विधिवत एवं निष्काम भाव से सम्पादन कठिन कर्मकांड की विधि-निषेधात्मक प्रक्रियाओं से युक्त है। दोनों की अपेक्षा उपासना की सुगमता सर्वमान्य है। उपासना का शाब्दिक अर्थ है ब्रह्म के समीप स्थित होना। वैदिक भक्ति का स्वरूप मूलतः उपासना का ही है।

भारतीय तत्ववेत्ताओं ने भक्ति के माहात्म्य को समझा। विविध देवोपासनाओं के फलस्वरूप भक्ति-सम्प्रदायों का जन्म हुआ। समन्वयवादी मनीषियों ने सबका सम्मान किया, परन्तु वैष्णव-भक्ति में कुछ ऐसे आवश्यक लोकोपयोगी तत्त्व हैं जिनके कारण इसका प्रचार सर्वाधिक हुआ। उन साधकों ने वैष्णव भक्ति में साधन-त्रय का समन्वय किया जिससे भक्ति पथ और भी प्रशस्त हुआ। अब भगवद्‌भक्ति ही परम पुरुषार्थ समझी जाने लगी। कहा जाय तो भक्ति का विकास साधना में सुगमता का क्रमिक विकास है। नवधा भक्ति मानों "शीर्ष" या गन्तव्य तक जाने के नव सोपान हैं। अपनी मधुरिमा तथा सुगमता के कारण ही भक्ति "फलस्वरूपत्वात्" [1] अर्थात् साधन और साध्य दोनों समझी जाने लगी।

भक्ति : परम पुरुषार्थ

---

१. नारद भक्ति-सूत्र।

"कृत युग सब योगी विज्ञानी" अर्थात् वैदिक युग में विशेष रूप से ज्ञान और कर्मकांड का ही प्राधान्य रहा। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मनुष्य-जीवन के सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व 'हृदय-पक्ष' को महत्व नहीं दिया जाता था। हृदय तो नित्य बुद्धि के साथ रहा है। इसीलिए वेद की ज्ञान परक ऋचाएँ भी काव्यात्मक ढंग से ही कही गई हैं।

उपासना परक ऋचाएँ

उपासना परक ऋचाओं में तो हृदय पक्ष ही प्रधान दिखाई पड़ता है। परन्तु, इस रहस्य से अपरिचित पाश्चात्य विद्वानों ने भक्ति के परवर्त्ती विकसित स्वरूप को देखकर इसे अभारतीय कहने का दुस्साहस किया है। उन्हें यह बोध नहीं हुआ कि "ब्रह्म[1] को सृष्टि रूपी काव्य का निर्माता कवि" कहनेवाले ऋषि कितने सहृदय थे। और सहृदय ही तो भक्ति करता है।

ऐसे विद्वानों में वेवर, कीथ और ग्रियर्सन प्रमुख हैं। वेवर कृष्ण-भक्ति को क्राइष्ट से और ग्रियर्सन मद्रास प्रान्त की ईसाइयों की एक बस्ती से परवर्त्ती भक्ति मार्ग का संबंध बताते हैं। इस तरह वे दक्षिण से भक्ति को सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रसारित होने का तर्क देते हैं। प्रो० विल्सन ने इसे विभिन्न सम्प्रदायों के गुरुओं द्वारा अपनी प्रतिष्ठा के परिणाम स्वरूप सृष्ट एवं प्रचारित बताया है।[2] श्रीराय चौधरी, बालगंगाधर तिलक तथा श्रीकृष्ण स्वामी आयंगर ने इसकी कड़ी आलोचना की है। इन विद्वानों ने अपने ग्रंथों में भक्ति का विकास वेदों से ही सिद्ध करने का प्रयास किया है। श्रीबाल-

वेवर, कीथ और ग्रियर्सन के विचार

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'।

1. Journal of the Royal Asiatic Society, 1907. P. 311-16. Encyclopaedia of Religions and Ethics, part II (Article on Bhakti Marg by Grierson) P. 539-551.

2. "Bhakti is an invention and apperently a modern one of the institutions of the existing sects intended like that of the mystical holiness of the Gurus, to extend their own authority".

—Pro. H. H. Wilson, Hindu Religions, P. 232.

गंगाधर तिलक का इस संबंध में विचार द्रष्टव्य है। गीता रहस्य (पृ० ५४६) में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "वेवर नामक पश्चिमी संस्कृत" पंडित ने इस कथा (नारायणीयाख्यान) का विपर्यास करके यह दीर्घ शंका की थी कि भागवत धर्म में वर्णित भक्ति तत्त्व, श्वेत द्वीप से अर्थात् हिन्दुस्तान के बाहर के किसी अन्य देश से लाया गया है और भक्ति का यह तत्त्व इस समय ईसाई धर्म के अतिरिक्त और कहीं भी प्रचलित नहीं था। अब पश्चिमी पण्डितों ने यह भी निश्चित किया है कि वेवर साहब की उपर्युक्त शंका निराधार है। उनका भ्रम वेद के मंत्रों को अच्छी तरह नहीं समझने तथा आर्य भारत में बाहर से आए इन्हीं दो कारणों से है। अब तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि आर्य भारत के आदिवासी हैं तथा भक्ति पूर्णतया भारतीय तत्त्व है तथा इसका मौलिक संबंध वेद से है।

श्रीराय चौधरी, श्रीतिलक तथा कृष्ण स्वामी के विचार

वैष्णव भक्ति के क्रमिक विकास को समझने के लिए हमें वेद में भक्ति का क्या रूप था इस पर ध्यान देना चाहिए। यह सच है कि भक्ति का जो स्वरूप आज दिखाई पड़ता है वैसा रूप वेदों में नहीं मिलता, परंतु बीज रूप में इसका संकेत यत्र-तत्र पर्याप्त रूप में मिलता है। श्रीमद्भागवत[1] में भक्ति के जिन नव प्रकारों का दर्शन होता है वेद भी उन्हें इसी की भूमिका में संकेत करते हैं।

वेदों में भक्ति का बीज

---

१. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
श्रीमद्भागवत म पु० ७।५।२३

श्रवण- "यो जातमस्य महतो तहि श्रवत्सेदु श्रुवोमिर्युज्य चिदभ्यसत्।"
ऋग्वेद म० १। अ० १५६। मंत्र २

कीर्तन- "विष्णोर्णुकं वीर्याणि प्रवोधं यः पार्थिवानि विममेरंजासि।"
ऋग्वेद-१।१५४।१

स्मरण-"प्रविष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।"
ऋ० १।१५४।३

स्मरण का और भी उदाहरण ऋग्वेद में मिलता है। वेद कहता है–

त्वामग्ने मनीषिणस्त्वां हिन्वन्ति चित्तिभिः।
त्वां वर्धन्तु नौ गिरः ॥

भक्ति के सभी अंगों में आत्मनिवेदन परक बहुत-सी ऋचाएँ हैं ।[1] आत्मनिवेदन ही भक्ति की वह शीर्ष विन्दु है जहाँ पहुँचकर भक्त पूर्ण निर्भयता प्राप्त करता है। आत्मनिवेदन को छह भागों में वैष्णवाचार्यों ने विभाजित किया है। अनुकूल का संकल्प, प्रतिकूल का त्याग, गोप्तृत्व का वरण, रक्षा का विश्वास, आत्म-निक्षेप और कार्पण्य। इन छहो अंगों की सार्थक ऋचाएँ भी वेदों में मिलती हैं ।

वेदों में आत्मनिवेदन का स्वरूप

अनुकूल का संकल्प : प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में जो साधन अनुकूल पड़ते हैं उन्हीं को अपनाने के लिए भक्त दृढ़ संकल्प करता है। भक्त संकल्प करता है कि आज मैं निष्पाप होकर ऐसी नाव पर पैर रखता हूँ, ऐसे साधनों का अवलम्बन लेता हूँ, जो निस्सन्देह मेरा कल्याण करनेवाले हैं। ये नावरूपी साधन भलीभाँति रक्षा-शक्तियों से युक्त हैं, विशाल हैं, प्रकाशमय हैं, अनिष्ट की आशंका से रहित हैं, सुखद हैं, सुन्दर पथ पर ले जाने वाले हैं, शत्रुओं से बचाने वाले हैं और दृढ़ हैं ।[2]

अर्थात्-प्रभो ! तुझे केवल तुझे, भक्तजन अपने मन लगाकर बढ़ाते हैं। अपने चित्त की समस्त शक्तियों को तेरे अन्दर केन्द्रित करके तेरा, केवल तेरा ही स्मरण करते हैं। नाथ ! हमारी वाणियाँ भी तुझे बढ़ावें । हम अपनी वाणी द्वारा तेरे नाम का जप, तेरे गुणों का स्मरण, गान और कीर्तन करते हुए तेरा प्रकाश करें, तेरा अनुभव करें। और भी

पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवः श्र व आपन् अमृक्तम् ।
नामानि चित् दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्त संदृष्टौ ।। ऋ०

विनय- "इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्याच मृडय ।
त्वामवस्युरा चक्रे । ऋग्वेद १।२५।१९
अभिलाष-"यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा धा स्या अहम् ।"
स्युष्टे सत्या इहाशिषः । ऋग्वेद ८।४४।२३

१. (क) य आपिनित्यौ वरुण प्रियः सन्त्वां अगाँसि कृणवत् सखा ते ।
या न एनस्वन्तो यक्षिन भुजेम यन्धिष्मा विप्रः स्तुवते वरुथम् ।।
ऋ० ७।८८।६

अर्थात् हे वरणीय देव ! तुम्हारा सदा का बन्धु और प्यारा सखा होकर भी मैं दिन-रात कितने पाप किया करता हूँ। इन पापों के करते हुए भी मुझे तुमने कितने भोग प्रदान किए हैं। हे पूज्य देव ! ये भोग मुझे नहीं चाहिए। मुझे तो अब अपनी शरण प्रदान करो ! इन पापों से हटाओ ।

(ख) अनुकूलस्य संकल्प प्रतिकूलस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा । २८ ।
आत्मभिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।। २९ ।।
अहिर्बुध्न्य संहिता ३७।२८२।९

२. सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माण अदितिः सप्रणीतिम् ।
दैवीं भावं स्वरित्रामनागसमश्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ।। ऋग्वेद-८।६३।१०

प्रतिकूल का त्याग : भगवत्प्राप्ति में बाधक साधनों का परित्याग किया जाता है। "अब मैं इस माया के मार्ग का अवलम्बन नहीं लूँगा। यह तो अत्यन्त दुर्गम है। संसार के ऊपर से लुभावने विषय परिणाम में तो भयंकर होते ही हैं, प्राप्ति के मध्य में भी अतीव भीषण हैं। संसार के इस टेढ़े-मेढ़े पथ का परित्याग करके अब मैं सीधे सामने के पार्श्व से निकल जाऊँगा। इस सीधे मार्ग पर चलकर ही मैं उन कार्यों को कर सकूँगा, जो अभी तक अकृत पड़े हैं। आज मैं विषय-वासनाओं की ओर ले जाने वाले साधनों से युद्ध करूँगा और प्रभु की प्राप्ति करानेवाले साधनों के आगे विनम्र होकर शिक्षा ग्रहण करूँगा।" इस मंत्र में प्रतिकूल का त्याग और अनुकूल का संकल्प दोनों ही समाबिष्ट हैं।

गौप्तृत्ववरण : प्रभु के रक्षक स्वरूप का वरण करना, उसे ही अपने त्राता के रूप में स्वीकार करना— प्रभु, आप पुरुहूत हैं, आपको अनेक भक्त अनेक बार पुकार चुके हैं। आपके समान शक्ति और सुख का दाता अन्य कोई भी नहीं हैं। नाथ ! हम आपके ही हैं। आप ही के सहारे हमारा सर्वस्व सुरक्षित हो सकता हैं।[१]

रक्षा का विश्वास : प्रभु सम्पूर्ण विपत्तियों से रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास। भगवान् की प्रणीतियाँ, रक्षा-प्रणालियाँ महान् हैं। उन्हें कोई भी नहीं जानता— इस संबंध में प्रभु की प्रशंसा भक्तजन बहुत पहले से करते आए हैं। प्रभु अनेक भक्तों का उद्धार कर चुके, बहुतों का कर रहे हैं, परन्तु उनकी रक्षा-शक्तियों में क्षीणता नहीं आई। वे न तो कम हुई हैं न भविष्य में कम होंगी। और पुकार सुनकर तो भगवान् अत्यन्त शीघ्र ही प्रकट होकर रक्षा करते हैं।[२]

आत्म निक्षेप : सब प्रकार से प्रभु की शरणागति। हे अमर, सर्व-ज्ञान-निधान प्रभु ! जिस धन को आप बल-प्राप्ति के लिए मेरे योग्य समझें, वही धन मुझे प्रदान करें। मेरी विवक्षा भी आप ही में केन्द्रित है।[३]

---

१. वयं घा ते, त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपिष्मसि ।
न हि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्मस्ति मर्डिता ॥
ऋ० ८।६६।१३

२. आ घा यमत् यदि श्रवत् सहस्रणीभिरुतिभिः ।
वाजेभिः उप नो हवम् ॥
ऋ० १।३०।८

३. यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन्नमर्त्य ।
तमा नो वाजसातये विवो मदे यज्ञेषु चित्र मा भरा विवक्षसे ॥
ऋ० १०।२१।४

कार्पण्य : भक्ति के सभी अंगों में कार्पण्य या दीनता परमावश्यक है। बच्चों की तरह भक्त रो-रोकर प्रभु को पुकारता है। हे परमबल संपन्न प्रभु! क्षमा करो। तुम्हारे वरद, सुखद क्रोड़ के संरक्षण से निकलकर आज मैं कितना दुःखी हूँ, कितना रोगाक्रान्त हूँ। नाथ! तुम्हारा वह सुखदायक हाथ आज कहाँ है? वही तो मेरे संतापों का शमन करने में अमोघ औषधि का कार्य करता है। देवताओं के संबंध में पाप करके आज मैं कितना दुखी हूँ। रुद्र! अपने रोग-विनाशक, आनन्द-प्रदायक हाथ को पुनः मेरे शिर पर रख दो।[1]

इनके अतिरिक्त भक्ति के परवर्त्ती पाँचों भावों (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर) से संबंधित ऋचाएँ भी मिलती हैं। दास्यासक्ति में भक्त भगवान् के ऐश्वर्य रूप से प्रभावित रहता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उसे अपने प्रभु की शक्ति का साम्राज्य ही दृष्टिगोचर होता है। ऋ० के १०।१२१।४ के अनुसार ऊँचे-ऊँचे पर्वत, सरिताएँ तथा अतिअगाध समुद्र उसी प्रभु की कीर्ति का गान करते हुए दिखाई पड़ते हैं। भक्त की दृष्टि में सम्पूर्ण दिशाएँ मानों उसी प्रभु की भक्त-रक्षार्थ फैली हुई भुजाएँ हैं।

वेदों में भक्ति के पाँच भाव

सख्यासक्ति : जीवात्मा जब प्रभु के सखा भाव को प्राप्त कर लेता है, तो पवमान प्रभु उसके पवित्र अन्तःकरण को अपनी आनन्द-धाराओं से आर्द्र कर देते हैं।[2]

कान्तासक्ति : सुख का ज्ञान रखनेवाली, एक ही मार्ग में बढ़नेवाली, प्रभु-प्राप्ति की कामना से संयुक्त मेरी समस्त बुद्धियाँ आज प्रभु की सेवा में लगी हुई हैं, और जैसे स्त्रियाँ अपने पति का आलिंगन करती हैं, वैसी ही मेरी बुद्धियाँ ऐश्वर्यशाली पवित्र प्रभु का स्वरक्षा के लिए आलिंगन कर रही हैं।[3]

---

१. ववस्य ते रुद्र भृलयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजोजलाषः ।
अपभर्ता रपसो देवस्याभीनु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥
ऋ० २।३३।७

आत्मनिवेदन के और भी सात भेद- दीनता, मानमर्षण, भयदर्शन, भर्त्सना, मनोराज्य, आश्वासन और विचारणा का वर्णन ऋग्वेद के मंत्रों में दिखाई पड़ता है।

२. पवमामस्य ते वयं पवित्र मम्युन्दतः । सखित्वयावृणीमहे ॥
ऋ० ६।६१।४

३. अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वाउषतीरनूषत ।
परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न, शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥ ऋ० १०।४३।१

प्रेमाभक्ति की सर्वश्रेष्ठता

वैष्णव भक्ति में प्रेमाभक्ति को शीर्ष स्थान प्राप्त है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है— प्रभो ये हैं तेरे उपासक, तेरे भक्त! ये प्रत्येक स्तवन में, तेरे कीर्तन-गान में ऐसे तन्मय होकर बैठते हैं, जैसे मधुमक्षिकाएँ मधु को चारों ओर से घेर कर बैठ जाती हैं। तेरे अन्दर बस जाने की कामना रखने वाले तेरे ये स्तोता अपनी समस्त कामनाओं को तुझे सौंपकर वैसे ही निश्चिन्त हो जाते हैं, जैसे कोई व्यक्ति रथ में निश्चिन्त होकर बैठ जाता है।[1] इतना ही नहीं, उस प्रभु को माता-पिता और त्राता शब्दों से भी संबोधन करके इसी भक्ति-भावना को और दृढ़ करते हैं। प्रभु! तुम्हीं हमारे पिता हो, तुम्हीं हमारी माता हो। हे अनन्त ज्ञानी! आपसे ही हम आनन्द-प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं।[2] इस तरह हम देखते हैं कि वैष्णव-भक्ति का आदि स्रोत वेद हैं। डॉ० वेनी प्रसाद गुप्त ने इसे स्वीकार किया है।[3] प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् कीथ भक्ति का आविर्भाव बाद में मानते हैं, परंतु इसके लिए उन्होंने कोई प्रामाणिक तर्क नहीं दिया है।[4]

नारायण तीर्थ, बलदेव उपाध्याय, डॉ० मुंशी राम शर्मा तथा डॉ० वेनी प्रसाद के अनुसार भक्ति का मूल स्रोत

ऋषिवर शाण्डिल्य ने तो "भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः"[5] अर्थात् भक्ति श्रुति से साक्षात् रूप से जानी जा सकती है— कहकर इसका उत्स वेदों को बताया है। संत शिरोमणि नारायण तीर्थ ने इसकी व्यख्या में वेदों से पर्याप्त उद्धरण दिया है।[6] श्रीबलदेव उपाध्याय ने यह कहकर कि वैदिक साहित्य के गाढ़ अनुशीलन से यही स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि वेद जैसे कर्म तथा ज्ञान का उदय-स्थल है वैसे ही वह भक्ति का भी उद्गम-स्थान है[7]—उपर्युक्त मतों का ही समर्थन किया है। डॉ० मुंशी राम शर्मा ने भी भक्ति का उदय वेदों से ही पुष्कल प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने

---

१. इमे हि ब्रह्मकृतः सुते सचा मधो न मक्ष आसते।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः॥ ऋ० ७।३२।२

२. त्वं हि नो पिता वसोत्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अद्या ते सुम्नमीमहे।
ऋ० ८।९८।११

३. हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृष्ठ ४२१

४. 'कल्याण कल्पतरू' कीथ का लेख, अगस्त १९३६, पृष्ठ ५५४

५. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र- १।२।९

६. भक्ति चन्द्रिका पृष्ठ ७७-८२ (सरस्वती भवन ग्रंथमाला संख्या ९, काशी १९२४)

७. भागवत सम्प्रदाय वेद में विष्णु-भक्ति- पृष्ठ. ६४- श्रीबलदेव उपाध्याय।

का सफल प्रयास किया है ।[१] इस तरह हम देखते हैं कि भक्ति मध्ययुग की खोज नहीं बल्कि यह वेदों से उत्पन्न हुई है ।

विष्णु शब्द का स्वरूप विकास : ऋग्वेद में अनेक अर्थों को अपने में अनुस्यूत करने के बावजूद 'विष्णु' शब्द का प्रयोग एक महान शक्ति के रूप में हुआ है। कहीं-कहीं उसे आदित्यवाचक अर्थों में प्रयोग किया गया है और वामनस्वरूप की तीन पग में अखिल ब्रह्माण्ड को मापनेवाली घटना का प्रतीकाधार बताया गया है।[२] प्रातः मध्य और संध्या ही उनके तीन पग हैं। परन्तु यह व्याख्या मान्य नहीं है तीसरे पग को विष्णु का परम पद कहा गया है। इसी पद-प्राप्ति के लिए साधक साधना करते हैं। यास्क ने रश्मियों के व्याप्त होने के कारण सूर्य को विष्णु कहा है।[३] शाकपूणि विष्णु के तीन पग माप्य स्थल पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश बताते हैं। अर्वाचीन संहिताओं और ब्राह्मण ग्रंथों को यही अर्थ मान्य है। इसी के समानार्थी शब्द '**त्रिविक्रम**' का भी प्रयोग यत्र-तत्र दिखाई पड़ता है। विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण का एक नाम गोपाल भी है। वेद में निर्भय गोपा शब्द का मी प्रयोग मिलता है।

यास्क, शाकपूणि तथा ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार आदित्य और विष्णु शब्द की एकता

गोपवेषधारी कृष्णाख्य विष्णु : जिस विष्णु के प्रताप से वृष्टि होती है और साथ ही गायों को दुग्ध होता है उसका कालान्तर में गोपवेषधारी कृष्णाख्य विष्णु होना कल्पना-गम्य माना जा सकता है, विष्णु ही यजमान तथा देवगणों के लिए ब्रज प्राप्त कराने वाला होने से ब्रजनन्दन, गोपीजनवल्लभ हो सकता है।[४]

विष्णु और श्रीकृष्ण नामों की एकता

---

१. वेद में तथा परवर्त्ती संस्कृत साहित्य के स्तोत्रों में प्रभु को प्रेम के इन सभी रूपों में प्रकट किया गया है और भक्ति-क्षेत्र में प्रेम-सम्बन्ध की यह प्रणाली मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में होती हुई आज तक चली आई है। भक्ति का विकास---भक्ति का स्वरूप-पृष्ठ १०५--डॉ० मुंशी राम शर्मा।

२. (क) इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम समूढ़ भस्य पांसुरे ।। ऋ० १।२२।१७

(ख) द्वे इन्द्रस्य क्रमणे स्वर्दृशो भिख्याय भर्त्यो भुरण्यति ।
तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः । ऋ० १।५५।५

(ग) तद्विष्णोः परम सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीण चक्षुराततम् । ऋ० १।२२।२०

३. अथ यद विषितो भक्ति तव विष्णुर्भबति । विष्णुर्विशतेर्वाव्यश्नोतेर्वाय यास्क निरुक्त१२।१६

४. हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक- भूमिका---रामनरेश शर्मा प्राक्कथन पृष्ठ ६—करूणापति त्रिपाठी ।
व्रजं च विष्णुः सखिर्वां अपोर्णुते-ऋक्० सं० १।१५६।४

क्षीर सागर वह आकाश गंगा ही है, जिसमें अन्तरिक्ष में व्याप्त विष्णु का निवास बताया जाता है। यही पुराणों में क्षीर सागरशायी लक्ष्मीपति विष्णु की कथाओं का आधार हो गया। विष्णु को कहीं इन्द्र, कहीं इन्द्र का सखा[1], कहीं अग्नि बताया गया है। इस तरह विविध रूपों एवं नामों में उपासना का आधार होने पर भी वैदिक ऋषियों को एक परम सत्ता की आराधना अभीष्ट थी जो परवर्त्ती वैष्णव भक्ति के रूप में दिखाई पड़ती है। गोपवेषधारी विष्णु और श्रीकृष्ण में ऐक्य का और भी स्पष्टीकरण पूर्वमेघदूत में मिलता है।[2] इस प्रकार देखते हैं कि स्वरूप विकास-क्रम में विविध नामों का वाच्य एक ही परमात्मा हैं। इसका पर्याप्त वर्णन जे गोंडा का शोध ग्रंथ (**Aspects of Early Vishunism**) में दिखाई पड़ता है।[3] शतपथ ब्राह्मण में विष्णु को सर्वशक्तिमान् बताया गया है। इसी से संबंधित कुछ कथाएँ भी मिलती हैं। इसके साथ ही सभी ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु की व्यापकता दिखाई पड़ती है। वेद की ऋचाओं में प्रधानता को प्राप्त इन्द्र का स्थान ब्राह्मणग्रंथों में विष्णु को प्राप्त हो गया था। शायद इसलिए कि विष्णु और इन्द्र में कोई अन्तर न माना जाता होगा। विष्णु और इन्द्र का सखा भाव जीव और ईश्वर के सखाभाव की तरह तात्त्विक भेद न रखता होगा। इन्द्र शब्द सम्पूर्ण लोकों के अधिपति के रूप में प्रयुक्त विष्णु के अर्थ में ही होता होगा। जैसे गीता का "वायुर्यमोग्नि र्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वम् प्रपितामहश्चः" आदि है।

विष्णु, इन्द्र, और अग्नि नामों का एक ही शक्ति के लिए प्रयोग

ब्राह्मण युग में विष्णु

---

1. Journal of the Royal Asiatic Society, New Haven, P.37. E·W Hopkins, The Religions of India, P.388. R.N. Wandekar, Vishnu in the Vedas (Volume of studies in Indology presented to Mr. Kane, P. 90)

२. रत्नच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्ताद्
वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥
मेघ- १।१५.

३. Vishnu and Indra, P.28.
Vishnu, Indra and vajra, P. 32.
Vishnu's relation with the Gods, P. 108.

बाद में यज्ञ की नित्य एकता विष्णु के साथ दिखाई पड़ती है। "यज्ञो वै विष्णु:" कहकर ऋत्विजों ने विष्णु को सभी देवताओं में श्रेष्ठ सिद्ध किया। ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु को अग्नि से श्रेष्ठ बताया गया है।[१]

ऐतरेय तथा सत्पथ ब्राह्मण में विष्णु की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादन

ऐतरेय तथा सत्पथ ब्राह्मण में विष्णु की तीन पगों में ही त्रैलोक्य माप की कथा का स्पष्ट स्वरूप दिखाई पड़ता है।[२] इस तरह विष्णु की सर्वव्यापकता ही परोक्ष रूप से सिद्ध होती है। विष्णु शब्द 'विष्लृ' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है व्याप्ति। इसीलिए कहा जाता है—"भूतानि विष्णु: भुवनानि विष्णु:।"[३]

उपनिषद् और भक्ति : उपनिषदें वेद का ज्ञान कांड हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में कर्मकांडों का प्राधान्य रहा। इसके लक्ष्यभूत स्वर्गादि की प्राप्ति से भी बढ़कर साधकों को सहज मोक्ष प्रदातृ भक्ति की प्रशंसा उपनिषदों में मिलती है। ब्रह्म की प्राप्ति भी केवल ज्ञान से संभव नहीं। उस परमात्मा की प्राप्ति तो स्वयं उसके अपनाने पर ही होती है।[४] भक्ति के लिए गुरु की नितान्त आवश्यकता है। भक्ति-सम्प्रदाय में गुरु और भगवान् को एक ही माना गया है।

उपनिषदों में भक्ति के लिए गुरु की अनिवार्यता

श्वेताश्वतरोपनिषद् में परमात्मा और गुरु की भक्ति का माहात्म्य बताया गया है।[५] उपनिषदों के ऋषियों ने ज्ञान की सरसता के लिए 'प्रेम' को आवश्यक माना। उन्होंने भक्ति की महिमा जानी। वृहदारण्यक का मधु-विज्ञान और छान्दोग्योपनिषद्

---

१. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णु: परम:, तदन्तरेण सर्वाअन्या देवता- ऐतरेय ब्राह्मण -१।१

२. इन्द्रश्च विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते। ता ह जित्वोचतु: कल्यामहा इति। ते ह तथेत्य सुरा ऊचु:। सो ब्रवीदिंद्रोयावदेवायां विष्णुस्त्रिविक्रमते तावदस्माकं त्युष्माकमितरद इति। स इमान् लोकान् विचक्रमे थी वेदान् अथो वाचन्।
ऐतरेय ब्राह्मण ६।३।१५

३- भक्ति का विकास - डॉ० मुंशी राम शर्मा - पृष्ठ १६६

४. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन॥
यमेवष वृणुते तेन लभ्य
स्तस्येव आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥ - कठ १।२।२३

५. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाश्यन्ते महात्मन:॥ श्वेता० ६।२३

में उपासना के अंगों में भक्त को स्थान प्राप्त होना उनकी सहृदयता के सूचक हैं।[१]

वृहदारण्यक, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर तथा गीता में भक्ति-महिमा

श्वेताश्वरोपनिषद में तो मोक्ष के लिए ज्ञान से भी बढ़कर शरणागति को ही सिद्ध किया गया है।[२] जो सर्वप्रथम गीता में जगह-जगह भगवान् कृष्ण ने भक्ति करने का उपदेश दिया है। गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित है। इसके अठारहवें अध्याय में भगवान् ने सब कुछ छोड़कर केवल शरण में आने के लिए अर्जुन को उपदेश दिया है।[३] छान्दोग्यादि प्राचीन उपनिषदों में यह कहा गया है कि परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए चित्त एकाग्र होना चाहिए। और यह चिन्तन, मनन और ध्यान करने के लिए ब्रह्म-चिन्तन अत्यन्त आवश्यक है, और चित्त को स्थिर रखने के लिए परब्रह्म का कोई

श्रीतिलक के अनुसार भक्ति का उपनिषदों से संबंध

न कोई सगुण प्रतीक पहले नेत्रों के सामने रखना पड़ता है। इस प्रकार ब्रह्मोपासना करते रहने से चित्त की जो एकाग्रता हो जाती है, उसी को आगे विशेष महत्व दिया जाने लगा और चित्त-निरोध रूपी योग एक स्वतंत्र मार्ग हो गया, और जब सगुण प्रतीक के बदले परमेश्वर के मानव रूपधारी व्यक्त प्रतीक की उपासना का आरम्भ धीरे-धीरे होने लगा तब अन्त में, भक्ति मार्ग प्रशस्त हुआ। यह भक्ति मार्ग औपनिषदिक ज्ञान से अलग, बीच ही में स्वतंत्र रीति से प्रादुर्भूत नहीं हुआ है, और न भक्ति की कल्पना हिन्दुस्तान में किसी अन्य देश से लाई गई है।[४] बाद के रचित उपनिषदों जैसे कृष्ण

---

१. स हो वाच भगवन्तं वा अहनेभिः सर्वैरार्त्विज्जैः पर्यैषिषं वा अहमविला-
न्यानवृषि। छान्दो० प्रथम अ० एकादश खण्ड—२१

२. यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। श्वेता० ६।१८

३. सर्व धर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्ष-
ष्यामि मा शुचः ॥ गीता १८।६६
श्रीबालगंगाधर तिलक का उनके ग्रंथ 'गीतारहस्य' में भक्ति संबंधी मंतव्य को देखें।

४. बालगंगाधर तिलक, गीतारहस्य, पृष्ठ—५४२

परवर्त्ती वैष्णव उपनिषदों में भक्ति

पूर्व तापनीयोपनिषद्, कृष्ण उत्तर तापनीयोपनिषद्, रामोपनिषद्, राधिकोपनिषद्, सीतोपनिषद् आदि उपनिषदों में तो पूर्णरूप से भक्ति की महिमा का वर्णन हुआ है ।[1] प्राचीनतम उपनिषदों में भी भगवत्प्रसाद को ही सर्वोपरि बताया गया है । वैष्णवधर्म में "अनुग्रह या प्रसाद" की बड़ी महिमा गाई गई है । श्रीमद्-भागवत महापुराण के "पोषणं तदनुग्रहः"[2] के आधार पर ही वल्लभाचार्य की पुष्टि मार्गीय भक्ति आधारित है । इसके अनुसार भक्ति की प्राप्ति केवल भगवत्कृपा से होती है । कठोपनिषद् में इसका स्पष्ट निर्देश है--निष्काम पुरुष जगत्कर्ता के 'प्रसाद' से अपने आत्मा की महिमा देखता है और शोकरहित हो जाता है ।[3] अर्थात् उपनिषदों ने भी भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है ।

तंत्र-शास्त्रों में विष्णु भक्ति : सात्वत मत भागवत मत कहा जाता है । आधुनिक ऐतिहासिकों के अनुसार शूरसेन मंडल में निवास करनेवाली क्षत्रिय जाति को ही सात्वत कहा जाता था । वैष्णव मत के प्रचार में इन क्षत्रियों ने पूर्ण योग दिया था । ये यादव वंशी क्षत्रिय थे । इसी वंश में कृष्णचन्द्र का जन्म हुआ था । पांचरात्र का भी प्रचार इन सात्वतों ने किया । यद्यपि पांचरात्र उत्तर भारत का भागवत सम्प्रदाय है तथापि सात्वतों ने ही अपने अथक परिश्रम से दक्षिण के सुदूर द्रविड़ प्रदेश में इसका प्रचार किया । इससे सिद्ध है कि भक्ति का जो दक्षिण में प्रसार हुआ वह ईसाइयों के कारण नहीं, बल्कि इन्हीं सात्वतों के द्वारा ही ऐसा हो सका था ।

सात्वतों द्वारा भक्ति का दक्षिण में प्रचार

पांचरात्र : यह भी वैष्णव सम्प्रदाय है । इस सम्प्रदाय में प्रमुख रूप से वासुदेव स्वरूप की उपासना होती है । भगवान् उसे कहते हैं जिसमें ज्ञान, शक्ति,

---

१. इसके अतिरिक्त अव्यक्तोपनिषद्, कलि सन्तरणोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, गरुडोपनिषद्, महानारायणोपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद्, नारायणोपनिषद्, नृसिंहतापिनी उपनिषद्, नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद्, रामोत्तर तापिनी उपनिषद्, उपनिषद्, त्रिपाद विभूति, रामरहस्य, वासुदेव उपनिषद् आदि उपनिषदों में वैष्णव भक्ति का सविशेष वर्णन मिलता है ।

२. श्रीमद्भागवत महापुराण - २।१०।४

३. तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ - कठ १।२।२०

बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज हो और जो हेय गुणों से रहित हो।[1] पांचरात्र धर्म में

पांचरात्रधर्म और शास्त्रीयता

शास्त्रीयता को अपेक्षाकृत अधिक आधार बनाया गया है। बौद्धों और जैनों की निरीश्वरवादी धारणाओं के प्रतिवाद स्वरूप इस धर्म का दर्शन होता है, जिसमें साधना में विधि-विधानों की प्रमुखता दी गई है। पांचरात्र का वर्णन महाभारत के नारायणोपाख्यान में मिलता है।[2] वहाँ इसे नारायण द्वारा उपदिष्ट बताया जाता है। इस नाम को व्युत्पत्ति संबंधी सिद्धांतों में मतैक्य नहीं है। नारद पांचरात्र के अनुसार परम तत्त्व, मुक्ति, योग तथा विषय (संसार) इन पांचों विषयों के निरूपण करने के कारण पांचरात्र कहते हैं। शाण्डिल्य, औपगायन, मोज्ज्यायन, कौशिक तथा भारद्वाज ऋषि को भगवान् विष्णु

पांचरात्र शब्द की उत्पत्ति के विविध कारण

ने पाँच रात्रियों में उपदेश दिया था, इसलिए दूसरा नाम पांचरात्र है।[3] महाभारत के अनुसार चारों वेदों और सांख्य-योग के समावेश के कारण इसे 'पांच-रात्र' कहते हैं। परवर्त्ती आचार्यों ने भक्ति सिद्धांतों में इसकी चर्चा की है। इस मत के अनुसार भगवान्

युगल उपासना के तत्त्व

और लक्ष्मी में शक्तिमान् और शक्ति का संबंध है। वैष्णव भक्ति के प्रचार में इसका प्रमुख स्थान रहा है।

महाभारत में विष्णु भक्ति : उपनिषद्काल के बाद महाभारतकाल आता है। आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल ने विष्णु और वासुदेव की एकता तथा वासुदेव भक्ति का प्रारम्भ महाभारतकाल से ही सिद्ध किया है।[4] महाभारत के शान्तिपर्व में विष्णु

---

१. ज्ञान शक्ति बलैश्वर्य वीर्य तेजांस्यशेषतः।
   भगवच्छब्द वाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

२. सांख्य योग कृतं तेज पंचरात्रानुशब्दितम्।
   नारायणमुखोद्गीतं नारदो श्रावयत् पुनः॥ १२॥
   महा० शान्तिपर्व, अ० ३३९

३. नारद पांचरात्र-१।४४

४. सूरदास (भक्ति का विकास) पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २६

को ही वासुदेव कहा है।[1] श्रीमद्भगवद्गीता भी महाभारत के भीष्मपर्व में आती है जिसमें स्पष्ट रूप से भगवान श्रीकृष्ण ने भक्ति को सभी साधनों में श्रेष्ठ एवं निरापद बताया है।[2] महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तिम अठारह अध्यायों में तथा भीष्म पर्व के नारायणीयोपाख्यान में भागवत्, सात्वत, नारायण या पांचरात्र धर्म का उल्लेख मिलता है जिसमें वासुदेवोपासना पर जोर दिया गया है।[3] विष्णुसहस्रनाम भी महाभारत में ही आता है जिसका भाष्य करके भगवान् शंकराचार्य ने उन नामों का माहात्म्य परम प्रामाणिक सिद्ध किया है।

विष्णु और वासुदेव नामों की एकता तथा महाभारत काल से उसकी भक्ति का प्रारम्भ

---

१. सर्वेषामाश्रेयो विष्णुरैश्वर्य विधिमास्थितः।
सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥--महाभारत, शान्ति० अ० ३४७ श्लोक-९४

२. अपि चेत्सुदुराचारो भजति मामनन्यभाक्।
साधुरेव सः मन्तव्यो मम्यगव्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥--गीता अ०

३. (क) यदा भागवतो त्यर्थमासीद्राजा महान वसु।
किमर्थं स परिभ्रष्टो विवेश विवरं भुवः॥

-महा०, शान्ति०, अ० ३३७, श्लोक-१

(ख) सात्वतंविधिमास्थय प्राक्सूर्य मुख निःसृतम्।
पूजयामास देवेशं तच्छेर्षण पितामहान्॥

-महा०, शान्ति०, अ० ३३५, श्लोक १६

(ग) नारायण परं सत्यमृतं नारायणात्मकम्।
नारायण परो धर्मः पुनरावृत्ति दुर्लभः॥
प्रवृत्ति लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः
नारायणात्मको गंधो भूमौ श्रेष्ठतमः स्मृतः।

-महा०, शान्ति०, अ० ३४८, श्लोक ८२-८३

पांचरात्र विदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः !
प्रायणं भवत्प्रोक्तं भज्ज्ते वाग्रभोजनम्॥

-महा०, शान्ति०, अ० ३३५, श्लोक २५

अनादि निधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।

लोकाध्वक्षं स्तुवं नित्यं सर्व दुःखातिगो भवेत् ॥६॥ का भाष्य करते हुए भगवान् शंकराचार्य कहते हैं, अनादि निधन अर्थात् (होना, जन्म लेना, बढ़ना, बदलना, क्षीण होना और नष्ट होना) इन छः भावविकारों से रहित, विष्णु अर्थात् व्यापक तथा सम्पूर्ण लोकों के महेश्वर जो दिखलाई दे उस दृश्य वर्ग का नाम लोक है, उसके नियन्ता ब्रह्मादि के भी स्वामी होने से जो सर्वलोक महेश्वर और सारे दृश्यवर्ग को अपने स्वाभाविक ज्ञान से साक्षात् देखने के कारण लोकाध्यक्ष हैं, उस देव की निरन्तर स्तुति करने से मनुष्य सब दुःखों से पार हो जाता है। इस प्रकार यहाँ साधन, अर्चन और जप इन तीनों का एक ही फल बतलाया गया है। आध्यात्मिक आदि तीनों दुःखों को पार कर जाता है।[1] महाभारत भागवत-धर्म को लोक-धर्म कहता है और उसका संबंध सांख्य, योग तथा वेदारण्यक के साथ जोड़ता है।[2] भारतीय ज्योतिष-गणना के अनुसार महाभारत काल पांच हजार वर्ष पूर्व बताया गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र ४, ३, ९८ का भाष्य करते हुए महर्षि पतंजलि ने वासुदेव को ईश्वर का नाम कहा है जिसकी पूजा की जाती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी की रचाना ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व हो गई थी। इससे भी महाभारत में आए हुए ही वासुदेव शब्द की चर्चा 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुभ' सूत्र से की है—प्रमाणित होता है। बल्कि महाभारत से भी पूर्व आरण्यक काल में ही इसका वर्णन मिलता है। तैत्तिरीय आरण्यक के दशम प्रपाठक की विष्णु गायत्री में नारायण और वासुदेव की एकता स्पष्ट है—

विष्णु सहस्रनाम : शांकर भाष्य के प्रकाश में

पाणिनि के अनुसार वासुदेव और विष्णु नाम की एकता

'नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि ।

तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ॥

---

१. श्रीविष्णु सहस्रनाम-शांकर भाष्य-श्लोक ६-पृष्ठ ११

२. आस्यैः सप्तभिरुद्गीर्णं लोकधर्ममनुत्तमम् ॥ शान्ति० ३३५, २९
लोकान् संचित्य मनसा ततः शास्त्रं प्रचक्रिरे ॥ शान्ति० ३३५, ३२
लोकतन्त्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद्धर्मः प्रवर्तते ॥ शान्ति०३३५, ३९

महाभारत इसी नारायण को वासुदेव तथा समस्त प्राणियों के हृदयदेश में निवास करने वाला बताता है।[१] गीता में तो 'सम्पूर्ण चराचर को वासुदेव स्वरूप मानने वाले भक्त की दुर्लभता बताई गई है।[२] श्रीकृष्ण विष्णु के ही अवतार हैं। विष्णु सहस्रनाम के 'मनोजवस्तीर्थकरो वसुरेता वसुप्रदः। वसुप्रदो वासुदेवो वसुर्वसुमना हविः' [३] का भाष्य करते हुए भगवान् शंकर ने "वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः" अर्थात् वसुदेवजी के पुत्र होने से वासुदेव हैं कहकर विष्णु, श्रीकृष्ण और वासुदेव नामों की एकता सिद्ध की है। 'भीष्म स्तवराज' भी इसी बात का समर्थन करता है।[५]

महाभारत में नारायण के परामर्श से ही समुद्र मंथन किया गया ऐसा भी वर्णन मिलता है।[४] युग, जाति और कर्म के वर्णन-क्रम में नारायण को क्षत्रिय तथा वैश्यों द्वारा समादृत देवता बताया गया है।

पुराण और वैष्णव भक्ति : वेदों, उपनिषदों तथा महाभारत में जो वैष्णव भक्ति का वर्णन अल्पाधिक मात्रा में दिखाई पड़ता है उसका पूर्ण विकास पुराणों में मिलता है। अष्टादश पुराणों में श्रीमद्भागवत महापुराण, विष्णु पुराण, वामन, नारद, वाराह, पद्म पुराण, कूर्म ब्रह्म, मत्स्य, ब्रह्मवैवर्त तथा ब्रह्माण्ड पुराण प्रमुख रूप से विष्णु के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए इन पुराणों में वैष्णव-भक्ति का ही माहात्म्य- वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवत महापुराण तो परमहंसो की संहिता कहा जाता है, फिर भी साधनात्रय में भक्ति को ही शीर्ष स्थानीय सिद्ध किया गया है। कर्म, ज्ञान और वैराग्य की महा-

---

१. यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रदृगे निर्गुणात्मकः।
ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः॥
महा० शान्ति० अ० ३३९।४०

२. बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् माम् प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति सः महात्मा सुदुर्लभः॥

३. श्रीविष्णु सहस्रनाम श्लोक० ८७ शांकर भाष्य ।

4. "It was Narayan, who in the great epic is often identified with the supreme Vishnu to whom tradition ascribes the merit of having the advice to churn the ocean in order to acquire the merit contained in it."

(Mahabharat, 1. 17. 1)—J. Gonda Aspects of Early Vishnuism, P. 15

5. "Narayan stated to be revered by Khatriyas and Vaishyas."

भारत में व्याख्या करके भी जब भगवान् वेदव्यास को शान्ति नहीं हुई तो उन्होंने श्रीमद्भागवत की रचना नारद जी के परामर्श से की। इसमें विष्णु के अन्य स्वरूपों एवं अवतारों का तो वर्णन किया ही गया है, भगवान् के श्रीकृष्णावतार की विविध लीलाओं का वर्णन पर्याप्त रूप में किया गया है। श्रीमद्भागवत के द्वारा ही सम्पूर्ण भारतवर्ष में वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ—ऐसा विद्वानों का अभिमत है। इसकी विविध टीकाएँ इसकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं। परवर्त्ती सभी वैष्णव सम्प्रदायों का भी आधारग्रंथ यही रहा है। एक ओर यदि यह पुराण अद्वैत का समर्थन करता है तो दूसरी ओर विशुद्ध भक्ति का भी। अतः परमहंसो से लेकर सामान्य व्यक्ति तक इससे समान रूप से लाभान्वित होते हैं। बल्कि परम वीतरागी भी भक्ति को ही ज्ञानादि से श्रेष्ठ बताते हैं। भक्ति की प्राप्ति भगवत्कृपा से ही होती है। "पोषणं तदनुग्रहः" का यही भाव है।

श्रीमद्भागवत द्वारा भक्ति की स्थापना

श्रीमद्भागवत में स्पष्ट कहा गया है कि सर्वव्याप्त चिन्मय सत्ता ही विष्णु रूप में प्रगट हुई थी—इसी बात का बहुत ही सुंदर वर्णन देवकी ने स्तुति के अवसर पर किया है।[1] भक्तों की अभिलाषा की पूर्ति के लिए विष्णु के पुरुषावतार तथा गुणावतार के अतिरिक्त कल्पावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार तथा स्वल्पावतार अन्य चार अवतार होते हैं जिनका विस्तृत वर्णन भागवत में मिलता है।[2] भगवान् का लीला-वैचित्र्य इतना दुरूह है कि सामान्य लोग मोहित हो जाते हैं। उनकी लीला-शक्ति अचिन्त्य है। इसी शक्ति के कारण वह एक होकर भी अनेक तथा अनेक भासित होकर भी वस्तुतः एक ही हैं। भगवान् में तो अनन्त गुणों का निवास रहता है, परंतु भगवान् के

श्रीमद्भागवत में विविध अवतारों का वर्णन

---

१. रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं सत्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः॥
-भाग० १०।३।२४

अर्थात् हे प्रभो, वेद में आपके जिस रूप को अव्यक्त तथा सबका कारण कहा गया है जो व्यापक ज्योतिः स्वरूप है, जो गुणहीन, विकारहीन, निर्विशेष तथा क्रियाहीन सत्तामात्र है, वही बुद्धि के प्रकाशक आप स्वयं विष्णु हैं।

२ भागवत सम्प्रदाय-श्रीबलदेव उपाध्याय. पृष्ठ-१६७
वही पृष्ठ-१७३

'स्वयंरूप' में चौसठ गुणों की सत्ता मानी जाती है जिनमें चार गुण तो विशिष्ट रूप से गोविन्द में ही रहते हैं। ये चार गुण हैं— (१) समस्त लोक को चमत्कृत करनेवाली लीला, (२) अतुलित प्रेम द्वारा सुशोभित प्रिय मंडल, (३) वंशीनिनाद तथा (४) चराचर को विस्मित करने वाली 'रुपमाधुरी'। श्रीकृष्ण के विलासरूप नारायण में केवल ६० गुण ही पाए जाते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण नारायण की पूर्ण कलाओं के अवतार हैं।

श्रीकृष्णनारायण की पूर्ण कला के अवतार

श्रीमद्भागवत पुराण में केवल ज्ञान साधना को भूसा कूटने के समान निष्फल परिश्रम कहा गया है।[१] भागवत महात्म्य में तो मुक्ति को भक्ति की दासी कहा गया है। इसीलिए भगवान का भक्त भक्ति के अतिरिक्त ब्रह्म-पद, स्वर्गराज्य या किसी प्रकार के ऐश्वर्य की इच्छा नहीं करता।[२] मुक्ति से बढ़कर भक्ति के इस आकर्षण में एक ज्ञातव्य रहस्य है। ज्ञान के द्वारा उपलब्ध ब्रह्मानन्द की अपेक्षा प्रेमाभक्ति की कक्षा कहीं ऊँची है। ब्रह्मानन्द रस नहीं होता, परंतु भक्ति रस है। ब्रह्मानन्द तथा रस में महान् अन्तर है। भक्त वासना के विनाश से जायमान मुक्ति की तनिक भी अपेक्षा नहीं रखता। वह तो वासना के विशोधन से उत्पन्न अलौकिक रसानन्द के लिए लालायित रहता है। इसीलिए मुक्ति की अपेक्षा भक्ति का स्थान कहीं ऊँचा, कहीं महत्त्वपूर्ण है। परंतु यह भक्ति साधनरूपा वैधी भक्ति नहीं है, अपितु साध्यरूपा रागानुगा प्रेमाभक्ति है जिसके विषय में भागवतप्रवर प्रह्लाद का अनुभूत कथन यह है[३]—

श्रीमद्भागवत महापुराण में रागानुगा भक्ति मुक्ति से श्रेष्ठ

---

१. श्रेयः स्तुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल बोध लब्धभे।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूल तुषावघातिनाम्॥ भाग० १०।१४।४

२. न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योग सिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनाऽन्यत्॥
भाग० ११।१४।१४

३. भागवत सम्प्रदाय- श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १७८

न दानं न तपो नैज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥
भाग० ७।७।५२

इसी के एकादश स्कन्ध में भगवान् अपनी प्राप्ति का सुलभ साधन भक्ति बताते हैं।[१] इसके पश्चात् श्लोक २४,२५ और २६ में लिखा है कि जो गद्गद् वाणी से द्रवित चित्त हो, कभी रोता हुआ, कभी हँसता हुआ, कभी लज्जा को छोड़ गाता हुआ और नाचता हुआ मेरी भक्ति में निरत होता है, वह इस निखिल विश्व को पवित्र कर देता है। जैसे अग्नि द्वारा स्वर्ण का मल दूर होकर, फूँकने पर स्वर्ण अपने रूप में मिल जाता है, उसी प्रकार मेरे भक्तियोग से कर्म-विपाक को दूर करता हुआ आत्मा मुझे ही प्राप्त कर लेता है। मेरे पवित्र चरित्रों का श्रवण एवं ध्यान करता हुआ आत्मा जैसे-जैसे शुद्ध होता जाता है, वैसे ही अंजनांजित आँखों की तरह वह सूक्ष्म वस्तु के दर्शन करने लगता है।[२]

श्रीमद्भागवत के ऊपर उद्धृत वर्णन से भक्ति के स्वरूप के संबंध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं —

१. भगवान् भक्ति द्वारा ही प्राप्त होते हैं।
२. योग, ज्ञान, स्वाध्याय, तप अर्थात् वानप्रस्थ, और त्याग अर्थात् संन्यास प्रभु-प्राप्ति के वैसे साधक नहीं हैं।
३. भक्ति में अनन्य निष्ठा होनी चाहिए।

---

१. न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोजिता ॥२०॥
भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥२१॥

2. "Bhakti in this work (Bhagawat Puran) is a surging emotion which chokes the speech, makes the tears flow and the hair thrill with pleasurable excitement, and often leads to hysterical longing and weeping by turns to sudden fainting fits and to long trances of unconciousness.... thus the whole theory and practice of Bhakti in this Puran is very different from the Bhakti of the Bhagawat Gita and of Ramayan."

J. N. Farquhar, 'An outline of the Religious Literature of India.' P. 230.

४. भक्ति से चित्त द्रवित हो जाता है और वाणी गद्गद् हो उठती है ।[१]
५. भक्त कभी प्रभु के वियोग में रोता है, कभी उनके संयोग मे हँसता है और कभी अतिमिलन-भावना में लज्जा छोड़कर गाता और नाचता है ।
६. भक्ति से भक्त में पवित्रता आती है, जो उसके संसर्ग में आनेवालों को पवित्र करने वाली है ।
७. भक्ति से कर्म-विपाक नष्ट होता है और उसके नष्ट होने पर भगवान् प्राप्त होते हैं ।
८. भक्ति में भगवान् के चरित्रों का श्रवण एवं ध्यान करना चहिए। इससे आत्मा शुद्ध होता है ।
९. शुद्ध हुआ आत्मा ईश्वर जैसी सूक्ष्म वस्तु के दर्शन करता है ।[२]

सर्वप्रथम नवधा भक्ति का सांगोपांग वर्णन भागवत पुराण में ही मिलता है। इस तरह हम देखते हैं कि भक्ति का पूर्ण विकास पुराण काल में ही दिखाई पड़ता है। इसके समर्थन में विजयेन्द्र स्नातक ने अपने ग्रंथ 'राधावल्लभ सम्प्रदायः सिद्धांत और साहित्य' में कहा है—'वैष्णव धर्म के विकास और प्रसार में पुराणों का सर्वाधिक योगदान रहा है। वैष्णव सम्प्रदायों के प्रवर्त्तन में जिन सिद्धांतों को स्वीकार किया गया उनमें से अधिकांश का आधार पुराण-साहित्य ही है। उदाहरणार्थ चतुः सम्प्रदाय के अतिरिक्त श्रीकृष्ण चैतन्य का 'गौड़ीय सम्प्रदाय' श्रीवल्लभाचार्य का 'वल्लभ सम्प्रदाय' या पुष्टिमार्ग और श्रीहितहरिवंश का 'राधावल्लभ-सम्प्रदाय' मुख्यतः श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण में प्रतिपादित भक्ति-पद्धति और राधाकृष्ण स्वरूप को लेकर आगे बढ़े हैं। अतः वैष्णव सम्प्रदायों के विभिन्न रूपों की सीमा-मर्यादा की परीक्षा के लिए भी पुराणों का अवगाहन नितान्त आवश्यक हो जाता है।'[३]

---

१ श्रीमधुसूदन सरस्वती ने भी 'भक्ति रसायन' में चित्तद्रुति की महत्ता दी है और भक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है---

द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतां गता ।
सर्वशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते ।। १-३ ।।

अथवा

द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा ।
सा भक्तिरित्यभिहिता ...... ।। २-१ ।।

द्रुतचित्त ज़ब आनन्दपूर्ण भगवान् को ग्रहण कर लेता है, तब वह तद्रूप हो जाता है । इससे बढ़कर और क्या उपलब्धि होगी ?

२. भक्ति का विकास - डॉ० मुंशी राम शर्मा , पृष्ठ-३०३-३०४

३. राधा वल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य--विजयेन्द्र स्नातक ।

संक्षेप में वैष्णव धर्म के स्वरूपाख्यान में पुराणों का अत्यधिक महत्त्व है, अतः, यह मानना असंगत न होगा कि वैष्णव धर्म का परवर्ती विधान पुराण साहित्य पर ही आधृत है और इसी कारण प्रस्थानत्रयी से भी अधिक पुराणों का सम्मान होता है। राधाकृष्ण की भक्ति को स्वीकार करनेवाले संप्रदायों में तो पुराणों में स्वीकृत लीलावतारी कृष्ण और ह्लादिनी शक्ति राधा की स्थापना है।[१]

भक्तिसूत्रों में वैष्णवभक्ति : भक्तिसूत्रों की रचना के पूर्व वैदिक वाङ्मय से लेकर पुराणकाल तक भक्ति की सांगोपांग व्याख्या हो चुकी थी। पुराणों में वर्णित भक्ति का स्वरूप इसका प्रमाण है। भक्तिसूत्रों की रचना करनेवालों में देवर्षि नारद और महर्षि शाण्डिल्य का स्थान प्रमुख है। इन्होंने अपने से पूर्व आचार्यों द्वारा प्रतिपादित भक्ति-सिद्धांतों को सूत्र-वाक्यों में समाविष्ट तो किया ही, साथ ही मौलिक प्रतिभा से नूतन सरस सिद्धांत भी स्थापित किए।

नारद भक्ति-सूत्रों में जो सरस भावोद्रेक हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी दृष्टि में भक्ति सबसे सुलभ साधन है। साध्य भी वे भक्ति से भिन्न दूसरी किसी वस्तु को नहीं मानते। भक्त की दृष्टि में भक्ति से बढ़कर परम प्राप्तव्य और कुछ भी नहीं है। 'फलरूपत्वात्' का यही सारगर्भित अर्थ है।

नारद भक्तिसूत्रों के अनुसार प्रेमाभक्ति की सर्वोच्चता

नारद ने प्रेमाभक्ति को सर्वश्रेष्ठ कहा है।[२] जिसे प्राप्त कर लेने पर भक्त न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न चिन्ता करता है, न किसी से द्वेष करता है, न आसक्त ही होता है और न विषय-भोगादि की प्राप्ति में उत्साही ही होता है।[३] इसके अनुसार भगवत्कृपा के होने पर ही भक्ति प्राप्त हो सकती है। भक्ति के लिए भगवान् का गुण-श्रवण और कीर्तन-गान परम अनिवार्य तत्त्व हैं।[४]

उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण समर्पण और विस्मरण में परम व्याकुलता होनी चाहिए।[५] इसमें गौणी, रागानुगा आदि भेदों का भी स्पष्ट निर्देश

---

१. वही।

२. सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा। नारद भक्ति सूत्र-२ (गीता प्रेस गोरखपुर)।

३. यत्प्राप्य न किंचिद्वांच्छति न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति। वही सूत्र-५

४. लोकेऽपि भगवद् गुण-श्रवण-कीर्तनात्।

५. नारदस्तु तदर्पिताऽखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति। नारदभक्ति सूत्र-१९

मिलता है ।[१] ऐसी भक्ति को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य सिद्ध हो जाता है तथा अमृतत्त्व को प्राप्त कर परम तृप्त हो जाता है ।[२] अनन्य भक्त को नारद ने सर्व-प्रमुख बताया है ।[३] श्रवण-कीर्तनादि के अन्तर्गत ही नारद ने ही भक्ति के एकादश रूप को एक ही भक्ति के स्वरूप-विस्तार कहा है ।[४] जिस प्रेमाभक्ति की नारद ने स्थापना की वही परवर्त्ती राधावल्लभ, गौड़ीय तथा निम्बार्क सम्प्रदायों का आधार रही है । इस प्रेमस्वरूपा भक्ति को प्राप्त कर भक्त भगवान् के अतिरिक्त चराचर में दूसरी किसी वस्तु को नहीं देखता ।[५]

शांडिल्य भक्तिसूत्रों में भक्ति के दो भेद तथा पराभक्ति की श्रेष्ठता

नारद भक्तिसूत्र के बाद शांडिल्य का भक्तिसूत्र आता है । इनके अनुसार भी 'ईश्वर में परानुरक्ति' ही भक्ति है ।[६] भक्ति ही निरापद रूप से संसृति के बंधन को काट सकती है, केवल ज्ञान या कर्म नहीं ।[७] ऐसी ही भक्ति के शरण में जाने पर महापातकी भी शुद्ध हो जाता है ।[८] मुनिवर शांडिल्य ने भक्ति के परा और अपरा दो भेद किए हैं । अपरा साधनावस्था की और परा परम प्रेम की ।

सगुण भक्ति की दो शाखाएँ–पुराणों में श्रीकृष्ण-लीला-वर्णन का आधिक्य

सगुण भक्ति सम्प्रदायों के विविध रूप परवर्त्ती काल में दिखाई पड़ते हैं । सगुण भक्ति की प्रमुख रूप से दो शाखाएँ हुई (१) रामाश्रयी शाखा तथा (२) कृष्णाश्रयी शाखा । संस्कृत साहित्य में सगुण ब्रह्म के दोनों स्वरूपों की भक्ति का पर्याप्त वर्णन मिलता है । रामकथा की चर्चा लगभग सभी वैष्णव पुराणों में की गई है, परंतु कृष्णकथा का विस्तार अधिक देखा जाता है । श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में तो सबसे अधिक कृष्ण-लीलाओं का वर्णन किया गया है । रामकथा के विस्तृत रूप रामायणों में मिलते हैं । वाल्मीकीय रामा-

१. गौणीत्रिधा गुण भेदार्तादिभेदाद्वा । वही सूत्र-५६
२. यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतोभवति, तृप्तो भवति । वही सूत्र-४
३. भक्ता एकान्तिनो मुख्या: । वही सूत्र-६७
४. गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, ;सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासत्यि, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति, परम विरहासक्ति-रूपा एकधाप्येकादशधा भवति । वही सूत्र--८२
५. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव . . . ।
६. सा परानुरक्तिरीश्वरे । शांडिल्य भक्तिसूत्र (गीता प्रेस, गोरखपुर) अ० १-२
७. संसृतेरेषाम् भक्ति : स्यान्नाज्ञानात् कारणसिद्धे: । अ० ३९८ वही
८. महापातकी नात्वातती । अ० २-८२ शांडिल्य भक्ति सूत्र ।

यण, अध्यात्मरामायण, सबसे प्राचीन रामायण हैं। अद्भुत और आनन्द रामायण की रचना बाद में हुई। 'हनुमन्नाटक' सबसे प्राचीनतम नाटक है। कहते हैं इसकी रचना हनुमानजी ने अपने नखों से प्रस्तर-शिलाओं पर की थी। विष्णु के अवतारों में लोक रक्षक तथा लोक रंजक दृष्टिकोण से राम और कृष्ण की भक्ति का सर्वाधिक विस्तार हुआ। कृष्ण विष्णु की पूर्ण कला के अवतार कहे जाते हैं। वसुदेव के पुत्र होने के कारण कृष्ण के साथ 'वासुदेव' शब्द लगा हुआ है। डॉ० भंडारकर आदि विद्वानों ने भ्रमवश दोनों शब्दों को एक दूसरे से पृथक् सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि प्रारम्भ में ये दो पृथक अस्तित्व वाले देवता थे, जो बाद में एक हो गए। लेकिन उनका यह अभिमत परवर्त्ती विद्वानों को कथमपि मान्य नहीं है। श्रीबालगंगाधर तिलक ने इन दोनों नामों को एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त सिद्ध किया है। गीता-रहस्य के पृष्ठ ५४८ पर उन्होंने कहा है कि—'हमारा मत यह है कि श्रीकृष्ण चार-पाँच नहीं हुए, वे केवल एक ही ऐतिहासिक पुरुष थे।' अपनी टिप्पणी में स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि डॉ० भंडारकर ने अपने वैष्णव शैव आदि पथ संबंधी अंग्रेजी ग्रंथ में इसी मत को स्वीकार किया है (कि कृष्ण कई हैं)। परन्तु हमारे मत में यह ठीक नहीं। यह बात नहीं कि गोपियों की कथा में जो श्रृंगार का वर्णन है वह बाद में न आया हो, परंतु केवल उतने ही के लिए यह मानने की आवश्यकता नहीं कि श्रीकृष्ण नाम के कई भिन्न-भिन्न पुरुष हो गए, इसके लिए कल्पना के सिवा कोई अन्य आधार नहीं है।[1]

डॉ० भंडारकर का मत

श्रीबालगंगाधर तिलक का मत

श्रीहेमचन्द्र राय चौधरी ने कीथ के लेखों का उद्धरण देते हुए अपने मत की पुष्टि की है जिसमें उन्होंने कृष्ण और वासुदेव दोनों नामों को एक ही व्यक्ति से संबंधित सिद्ध किया है।[2] अंग्रेज विद्वान बार्थ ने भी विष्णु और कृष्ण को एक ही व्यक्ति बताया है। उनका कहना है कि निस्सन्देह कृष्ण एक सर्वप्रिय देवता के

हेमचन्द्र राय का मत

---

१. श्रीबालगंगाधर तिलक –गीता रहस्य, पृ० ५४८ (पाद टिप्पणी सहित)।

2. "But it is impossible to accept the statement that Krishna whom epic tradition identifies with Vasudeo was originally and altogether different individual . On the contrary, all available evidence Hindu, Budhist and Greek point to the correctness of the identity,

रूप में पूज्य थे ।[१]

मैक्समूलर, मैकडोनल तथा होपकिंस के मत

पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर, मैकडोनल, होपकिंस आदि विद्वानों ने कृष्ण के उनके नामों के साथ भिन्नता बताई है। इस भ्रम के मुख्य कारण दो हो सकते हैं—प्रथम यह कि उनके धर्मसम्प्रदाय में ईसा के और नामों की चर्चा नहीं है साथ ही वे कृष्ण को महापुरुष के रूप में स्वीकार करते हैं। परंतु, भारतीय भक्ति-सम्प्रदायों में उपास्य के एक नहीं अनेक नामों का वर्णन मिलता है। दुर्गा अष्टोत्तर शत नाम, शिव अष्टोत्तर नाम, विष्णु सहस्रनाम आदि उदाहरण स्वरूप देखे जा सकते हैं। और अब तो सर्वमान्य है कि कृष्ण, वासुदेव, नारायण आदि शब्द एक ही 'उपास्य भगवान्' के लिए प्रयुक्त हुआ है। विष्णु सहस्रनाम के भाष्य में भगवान् शंकर ने इसे स्पष्ट कर दिया है। संभव है, इस भाष्य को पढ़ने का अवसर इन पश्चिमी विद्वानों को न हुआ होगा। अब कोई वासुदेव और कृष्ण में अन्तर नहीं मानता तथा सम्पूर्ण लीलाओं और उपासनाओं का संबंध उसी वासुदेव कृष्ण से समझा जाता है।

भक्ति द्राविड़ ऊपजी : इस संबंध में सभी विद्वानों का मतैक्य नहीं है। श्रीमद्भागवत महापुराण के माहात्म्य-वर्णन में भक्ति ने स्वयं नारदजी से कहा है कि मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में बढ़ी....आदि, आदि। परंतु इस कथन

---

and we agree with Keith when he says that "the separation of Vasudeva and Krishna as two entities it is impossible to justify".

H. Ray Chaudhuri, Early History of the Vaishnav sect., P. 36.

1. "In the epic poetry, on the contrary in the Mahabharat, Vishnu is in full possession of this honour. But at the same time, there comes into view a hero, a man-God Krishna, who is declared to be an incarnation of his divine essence; and this figure, which is absolutely unknown in the Veda is beyond all doubt a popular divinity. From this we think we must conclude that there is a connection between the attainment of supermacy by Vishnu and his identification with Krishna."

A. Barth, The Religions of India, P. 166.

भागवत के अनुसार भक्ति का द्रविड़ में उत्पन्न होना तथा फर्कुहर द्वारा समर्थन

का भावार्थ यह है कि जिस भक्ति का सूत्रपात वैदिक युग से होता हुआ चला आ रहा था उसी को विकसित होने का सुअवसर द्राविड़-प्रदेश में हुआ। आलवार भक्तों के कारण दक्षिण में वैष्णव भक्ति का पूर्ण प्रचार-प्रसार हुआ।[1] पश्चिमी विद्वान फर्कुहर ने भी इसे इसी रूप में स्वीकार किया है।[2]

कुछ लोग वैष्णव भक्ति के पूरे भारतवर्ष में प्रसार का कारण बौद्ध और जैन धर्म के अहिंसावाद का प्रचार सिद्ध करते हैं। श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य ऐसे ही समर्थकों में हैं। उन्होंने भक्ति को बंगाल से ही पूरे देश में प्रसारित होने को सिद्ध किया है।[3] इसमें विवाद की कोई अपेक्षा नहीं हो सकती। फिर भी श्रीमद्भागवत पुराण परम प्रामाणिक तथा प्राचीनतम पुराणों में आता है। महाभारत की रचना ईसा से चौदह सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी। भागवत की भूमिका में ही

श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार भक्ति का प्रचार बंगाल से

---

१. आचार्य श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी 'हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका' के निवेशन (भूमिका) में यही बात लिखी है – "तब यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका उत्स और भी पुराकल्प है। हाँ, उसमें अतिराग का समावेश (और साथ ही उसका प्रबल आंदोलनात्मक रूप) द्रविड़ देश में हुआ।"

2. Then in Bhagawat Puran's Mahatmya, a late appendix to the Bhagawat Puran, there is an episode which bears on this question, but which cannot be understood unless we distinguish carefully between ordinary Bhakti and the Bhakti of the Bhagawat Puran. In this episode Bhakti, incarnate as a young woman says, 'I was born in Dravida'. Now to say that the Bhakti of the Shwetashwaropanishad, the Gita and the early Purans was born in Dravida would be absurd, but if we realise that, in the appendix to the Bhagawat Bhakti necessarily means the passionate and many sided devotion of the great Puran there is no difficulty and it becomes clear that the work asserts that this Bhakti arose in Tamilnad."

—Farquhar, 'An outline of Religious literature of India', P. 232.

3. "This new Vaishnavism appeared in Bengal at this time

लिखा है कि महाभारत की रचना से जब संतोष नहीं हुआ तो भागवत पुराण की रचना वेदव्यास ने की। अतः इन दोनों ग्रंथों के प्रणेता एक ही व्यक्ति थे और यह भी ईसा से लगभग १३५० वर्ष पूर्व लिखा गया होगा। इसके माहात्म्य को बाद का भी लिखा हुआ मानें तब भी बंगाल में जब भक्ति-भावना का प्रचार भगवान् चैतन्य महाप्रभु द्वारा हुआ था, इसके पूर्व की ही रचना सिद्ध होगी। पुराणों में भागवत के प्रचार का स्पष्ट संकेत 'माहात्म्य वर्णन' में मिलता है।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी भक्ति का प्रचार दक्षिण के आलवार भक्तों से ही मानते हैं।[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत

दक्षिण के ये भक्त चैतन्य महाप्रभु के पहले हुए थे। अतः कथा रूप में भक्ति का द्रविड़ देश में ही उत्पन्न होना सिद्ध होता है। क्योंकि दक्षिण के परवर्ती आचार्यों ने भी आलवार भक्तों के सिद्धान्तों को अधिक महत्व दिया। वैष्णव भक्ति के प्रचार का मुख्य कारण उसकी प्रेम तथा अहिंसा भावना है। इसमें सभी आश्रमों तथा वर्णों के लोगों को प्रवेश का अधिकार मिला। दया, करुणा आदि इसके आदर्श हुए और भक्ति करनेवाला चांडाल भी भक्ति नहीं करनेवाले ब्राह्मण से श्रेष्ठ माना गया। नरसी मेहता ने तो स्पष्ट कहा है कि "वैष्णव जण तो तेणो कहिये जे पीर पराई जाणे रे।" इसी उदात्त भावना के कारण श्री शंकराचार्य के तर्क से सनातन धर्म की ओर सद्यः अभिमुख हुई जनता के हृदय में

अर्वाचीन विद्वानों का समर्थन

सगुणोपासना की सरस सरिता प्रवाहित होने लगी। और आज के सभी आलोचक भक्ति का विकास दक्षिण के इन्हीं आलवार भक्तों से मानते हैं। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि उत्तर भारत में इसका कम प्रचार था। इसका प्रचार तो श्रीकृष्ण की लीलाओं के साथ ही मथुरा तथा उसके समीप के लगभग सभी स्थानों में हो गया था। श्रीमद्भागवत

---

with the same intense regard for Ahimsa as was exhibited by Jainism and Buddhism. Buddha had been changed into an Avtar of Vishnu and Buddhism had generally turned into Vaishnavism......New Vaishnavism by taking up the doctrine of Ahimsa more regidly than before, disarmed the Jains and thus succeeded in appealing to the common people by returning to their old age Vishnu in this form of Shri Krishna and by stopping Vedic sacrifice with animal slaughter.

—C. V. Vaidya, History of Mediaeval India, vol. III, p. 413.

१. स्कन्द पुराण "श्रीमद्भागवत महापुराण का माहात्म्य"

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास।

का दशम् स्कन्ध इसका प्रमाण है ।

दार्शनिकवाद तथा वैष्णव भक्ति : बौद्ध धर्म के अनीश्वरवादी प्रचार के विरोध में भगवान् शंकर ने अपने परम प्रामाणिक तर्कों द्वारा वेद की प्रतिष्ठा स्थापित करते हुए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ब्रह्मस्वरूप सिद्ध किया। उनके मत से जीव ब्राह्म का स्वरूप है। यह प्रातिभासिक जगत्-प्रपंच मिथ्या है। 'ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या जीवो ब्रह्मेव नापरः।' तथा 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर स्वामी शंकराचार्य ने ज्ञानमार्ग या अद्वैतवाद का प्रचार किया। उन्होंने माया को अनिर्वचनीय कहा। परंतु, इस अद्वैतवाद की बातों को समझने तथा साधना करने का सामर्थ्य सब में नहीं था। अनधिकारियों द्वारा इसका गलत अर्थ लगाया जाने लगा और जगत् के मिथ्यात्व के बोध से जीवन की ओर अरुचि होने लगी। ऐसे ही समय में स्वामी रामानुजाचार्य का आविर्भाव हुआ।

स्वामी रामानुजाचार्य : स्वामी रामानुजाचार्य का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद कहा जाता है। इनके अनुसार ब्रह्म चित् और,अचित् विशिष्ट है। उन्होंने जीव और माया को सत्य कहा। इनका सम्प्रदाय 'श्रीसम्प्रदाय' कहा जाता है। श्री अर्थात् लक्ष्मी इसकी आदि आचार्य हैं। जीव "लक्ष्मी" की शरण में जाने से ही सगुण ब्रह्म अर्थात् विष्णु तक पहुँच सकता है।[1] भगवान् भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ही अवतार धारण करते हैं। इसके अनुसार ब्रह्म के पाँच स्वरूप पर, व्यूह, विभव तथा अर्यवतार हैं। भगवान् श्रीरामानुज ने जीव के कल्याण के लिए भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। मुक्ति के लिए ज्ञान से भी बढ़-कर भक्ति ही है।

श्रीरामानुज की प्रपत्ति

जिस श्रीमद्भगवद्गीता का भगवान् शंकराचार्य ने ज्ञानपरक अर्थ किया था उसका अर्थ इन्होंने भक्तिपरक किया है। ये "शेषावतार" कहे जाते हैं। इनके मत से जीव और ईश्वर का संबंध शेष शेषी भाव का है। जीव सेवक है तथा ईश्वर सेव्य हैं। 'प्रपत्ति' या शरणागति ही परम कल्याण का साधन है। गोस्वामीजी का सेवक-सेव्यभाव का सिद्धान्त भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

श्रीमध्वाचार्य : इनका सिद्धान्त द्वैतवाद से अभिहित होता है। इनके अनुसार जीव अणुपरिमाण तथा ईश्वर का दास है। जीवों के ऊँच एवं नीच भाव के कारण तारतम्य है। जीव और ईश्वर में भेद जो दिखाई पड़ता है वह तात्विक है। जीव की अपनी सुखानुभूति ही मुक्ति है और उसे प्राप्त करने का साधन अमला

---

१. आचार्यत्वेन प्राप्तकत्वेन।

भक्ति है। उन्होंने प्रमाण रूप में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को ग्रहण किया है।

श्रीमध्वाचार्य : वेद का समस्त तात्पर्य विष्णु

उनके अनुसार वेद का समस्त तात्पर्य विष्णु ही हैं।[1] जीव और जगत् परतंत्र है तथा ईश्वर स्वतंत्र हैं। यह भेद माया के कारण नहीं, बल्कि सत्य है। इन्होंने त्याग, संयम, तथा ध्यान आदि का भी आवश्यक बाताया है। जीव का परम मंगल, आत्यन्तिक सुखानुभूति भक्ति करने में ही है। इनके सम्प्रदाय के आचार्य ब्रह्मा हैं। अतः इसे ब्रह्म सम्प्रदाय भी कहते हैं। इन्होंने भगवान् की भक्ति के लिए तीन प्रकार की सेवा तथा दस प्रकार के भजन का विधान किया है।

श्रीविष्णु स्वामी आचार्य : इस सम्प्रदाय के आचार्य रुद्र हैं। इन्होंने ईश्वर को सच्चिदानन्द स्वरूप कहा है। वह सदैव अपनी संविद शक्ति से युक्त

सच्चिदानन्द रूप

रहता है और माया उसी के अधीन रहती है। इन्होंने नृसिंह रूप को ईश्वर का प्रधान अवतार बतलाया है। कुछ लोगों के अनुसार वे नृसिंह तथा गोपाल दोनों के उपासक थे। इनका दार्शनिक मत भी शुद्धाद्वैतवाद का ही है।

श्रीवल्लभाचार्य : भगवान् शंकराचार्य ने जिस माया को सत्य और असत्य न कहकर अनिर्वचनीय कहा था, उस माया को आचार्य वल्लभ ने सत्य कहकर अपने मत को शुद्धाद्वैत के नाम से पुष्ट किया। अर्थात् माया भी ब्रह्म के साथ सत्य है। ब्रह्म की तीन शक्तियाँ हैं—संधिनी, संवित तथा ह्लादिनी। वह इन्हीं शक्तियों द्वारा क्रमशः सत्, चित् और आनन्द का आविर्भाव करता है। इनके अनुसार भी जीव नित्य है। वह अणु है तथा ब्रह्म भूमा है। जीव भी शुद्ध, संसारी और मुक्त भेद से तीन प्रकार के हैं। जड़ जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश नहीं होता है। उसका केवल आविर्भाव और तिरोभाव ही होता है।

श्रीवल्लभाचार्य की पुष्टिभक्ति

इनके अनुसार भक्ति की प्राप्ति भगत्कृपा से होती है। श्रीमद्भागवत महापुराण का 'पोषणं तदनुग्रहः' इनके सिद्धान्त का आधार है। इनके भक्ति-सिद्धान्त को 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है। इसे ही रागानुगा-भक्ति या पुष्टिभक्ति कहते हैं। यह साधन भक्ति से श्रेष्ठ है। रागानुगा या प्रेमाभक्ति का अधिकार सबको नहीं है। इसके अधिकारी पहुँचे हुए संत

१. श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्वतो।
भेदो जीवगणा हरिरनुचरा नीचोच्च भावं गताः॥
मुक्तिनीजिसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनम्।
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायेक वेद्यो हरिः॥

ही हो सकते हैं। इस सम्प्रदाय में राधाकृष्ण की उपासना पर अधिक बल दिया जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण के बालरूप की उपासना इस सम्प्रदाय की मुख्य साधना है। और इसीलिए वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय पर आधृत होने के कारण सूरदासजी का भी प्रधान रस वात्सल्य रस ही है। जगत् की सृष्टि का उद्देश्य उन्होंने लीला मात्र कहा है।[1] इस सम्प्रदाय के भी प्रमुख आचार्य रुद्र हैं। परवर्त्ती मधुरोपासना प्रधान सम्प्रदायों पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा है।

श्रीनिम्बार्काचार्य : यह सम्प्रदाय जीव का ब्रह्म के साथ भेद तथा अभेद दोनों मानता है। अवस्था भेद ही इसका मूल कारण है। इन्होंने भी ब्रह्म को निर्गुण के साथ ही सगुण भी कहा है। जीव और ब्रह्म में अंश-अंशी संबंध है। जीव अल्पज्ञ है अतः मुक्तावस्था में भी अल्पज्ञता दूर नहीं होती। जीव ईश्वर के अंश होने से नित्य है। भक्ति ही मुक्ति का साधन है। इस सम्प्रदाय में भक्ति के

श्रीनिम्बार्काचार्य में युगलभाव

पाँचों भाव शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य दिखाई पड़ते हैं। इस सम्प्रदाय में श्रीराधा को स्वकीया के रूप में स्वीकार किया गया है। राधा-कृष्ण की उपासना में यह सम्प्रदाय सर्वप्रमुख है और युगल भाव से राधाकृष्ण के किशोर रूप का उपासक है। इस सम्प्रदाय के आचार्य हैं सनकादि।

श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु का गौड़ीय सम्प्रदाय : ये राधाकृष्ण के अवतार माने जाते हैं। इनके सम्प्रदाय का नाम गौड़ीय सम्प्रदाय है। इनके सिद्धान्तों का शास्त्रीय रूप वृन्दावन में षड्गोस्वामियों द्वारा तैयार हुआ। ये श्रीमद्भागवत पुराण को वेदान्त का भाष्य मानते थे। रूप, सनातन और जीव गोस्वामी

श्रीचैतन्यमहाप्रभु का पंचम पुरुषार्थ प्रेम

ने इस सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति की व्याख्या रस-शास्त्र की मर्यादा के भीतर करके इसे शास्त्र-सम्मत बना दिया। इनके सिद्धान्तों पर बलदेव विद्याभूषण ने भाष्य लिखा जिनका नाम "गोविन्द भाष्य" है। श्रीरूप गोस्वामी का 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा जीव गोस्वामी का 'हरिभक्ति-रसामृतसिंधु' का भक्ति सम्प्रदायों में विशेष आदर हुआ। आज गौड़ीय सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को समझने के लिए बलदेव विद्याभूषण के भाष्य में वर्णित विचार ही सिद्धान्त हैं। इसके अनुसार तत्त्व पाँच हैं—ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म। ज्ञान का विषय परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं। जीव, अणु और चैतन्य हैं। मुक्ति के लिए भक्ति आवश्यक है। मुक्ति होने पर भी जीव का पार्थक्य बना रहता

---

१. तत्र नहि किञ्चित् प्रयोजनमस्ति लीला एव प्रयोजनत्वात्। —सुबोधिनी।

है। भक्ति स्वतः ज्ञान स्वरूपा और आनन्द की खान है। 'प्रेम' भाव की घनीभूत स्थिति है। प्रेम प्राप्त करना ही जीव का चरम लक्ष्य है।

स्वामी हरिदासजी का सखी सम्प्रदाय : यह सम्प्रदाय निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत आता है फिर भी साधन-पद्धति में भिन्नता के कारण इसका कुछ स्वतंत्र सिद्धांत भी है। इसे ही 'टट्टी' सम्प्रदाय भी कहते हैं। परंतु, आज इस मत के अनुयायी अपने को निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही मानते हैं। इस सम्प्रदाय में भक्ति रस को ही सब कुछ समझा जाता है। इस सम्प्रदाय के साधक अपने को कृष्ण-लीला में सम्मिलित होने वाली सखियाँ मानते हैं। रसिक की कोटि में आने के लिए अपना अस्तित्व रसरूप राधाकृष्ण में विसर्जित करना पड़ता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि मध्ययुग के भक्त आचार्यों ने भक्ति का सर्वाधिक विकास किया। अद्वैतवादी शंकराचार्य ने भी भक्ति को परम कल्याणकारी कहा है। उन्होंने कर्म फल से मुक्ति एवं आत्यन्तिक सुख प्राप्ति के लिए 'सकृदपि यस्य मुरारि समर्चा' का संदेश दिया है। इस तरह दार्शनिक सम्प्रदायों के लगभग सभी आचार्य भक्ति का माहात्म्य स्वीकार करते हैं। इस संबंध में डॉ० दीनदयालु गुप्त के विचारों को उद्धृत करना अनावश्यक न होगा। 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' की भूमिका में पृष्ठ १९ पर वे कहते हैं-- वैष्णव धर्म के विभिन्न मतों में जहाँ दार्शनिकवाद का वैषम्य है वहाँ आचार क्रियाओं में भी पार्थक्य है। परन्तु समान रूप से सब वैष्णव मतों ने सगुण भक्ति को साधन रूप में अपनाया है। उनके सामान्य सिद्धान्तों को हम संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

१. ब्रह्म के सगुण रूप की ही विशेष मान्यता समान रूप से सभी वैष्णव-सम्प्रदायों में है तथा विष्णु के अनेक अवतारों को मानते हुए भी राम और कृष्ण तथा उनकी परम शक्तियों को सबने महत्व दिया है।

२. समान रूप से सबने जीव और जगत् की सत्यता स्थापित की है और शंकराचार्य के मायावाद का खंडन किया है, जीव और जगत् की सत्यता को उन्होंने प्रकार भेद से स्थापित किया है, इस दार्शनिक विभिन्नता के सूचक विभिन्न सम्प्रदायों के नाम भी प्रचलित हुए हैं। जैसे विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद, आदि।

३. समान रूप से समस्त वैष्णव-सम्प्रदायों में भक्ति को साधना का मार्ग अंगीकार किया गया है।

४. समन्वय की भावना वैष्णव धर्म की एक मुख्य विशेषता है। वेदसंहिताएँ, उपनिषद्, ब्राह्मण, ब्रह्मसूत्र, गीता और भागवतपुराण वैष्णवधर्म में प्रमुख प्रमाण माने जाते हैं। परंतु इतिहास पुराण और लोक-प्रचलित विश्वासों का भी समावेश वैष्णवों ने अपनी-अपनी पद्धति में कर लिया है। उक्त प्रमाणों के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, हरिवंश और ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मसूत्र और भागवत पर लिखे भाष्य, नारद भक्ति सूत्र, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र तथा महाभारत का नारायणीयोपाख्यान भक्ति आंदोलन के मुख्य आधार ग्रंथ है। वैष्णव भक्तिमार्ग ने शैव और शाक्त मतों के विभिन्न साम्प्रदायिक विश्वास और उपासना उपचारों को रूपान्तरित कर अपने-अपने ढंग से अपना लिया है। ज्ञात होता है कि भोग-सुख को महासुख का प्रतीक मानने की प्रवृति बौद्ध तांत्रिक मतों में पहले आई थी। कुछ समय बाद, उन्हीं मतों में लौकिक स्त्री-पुरुष की रति-क्रियाओं के ऐन्द्रिय सुखों में मन की आन्तरिक तटस्थता और उनमें चित्त की चंचल वृत्ति का निरोध ढूँढ़ा जाने लगा। धीरे-धीरे रतिभोग को ही परम सुख का पूर्वरूप और उसका माध्यम बना लिया गया और इस प्रकार काम-वासना आध्यात्मिक आनन्द का प्रतीक न रहकर परमानन्द साधन की एक सीढ़ी बना ली गई। तांत्रिक बौद्ध मतों से यह प्रवृत्ति शैव और शाक्तों में आई और वहाँ भी धर्म की आड़ में काम-क्रीड़ा का रस प्रसार खूब हुआ। वैष्णव-भक्तों ने भी इस व्यापक भाव को अपनाया परतु उसका परिष्कार कर उन्होंने इसको ग्रहण किया। रतिभाव की भक्ति जो मधुर भक्ति कही गई है वैष्णवभक्ति-साधन का एक मुख्य अंग बन गई। भगवान् आनन्दस्वरूप हैं और सब प्रकार के भावों से वे भजनीय हैं, इस दृढ़ विश्वास को लेकर भक्ति-साधन के अनेक रूप प्रवर्तित हो गए।

वैष्णव साधना : समन्वय की भावना

५. भक्ति-साधन में मन के लोक-लिप्त भाव और संबंध ही लोक से हटाकर ईश्वर में लगाने का विधान है। इस साधन में ऐहिक संबंधों को छोड़ना नहीं होता, उन्हें केवल ईश्वर की ओर मोड़ना होता है। इसी से भक्ति का साधन सरल और सहज कहा गया है।

६. एक विशिष्टता वैष्णव धर्म की यह भी कही गई है कि भक्ति के साधन में भक्त की जाति-पाँति और कुल का कोई भेदभाव नहीं है। अनेक भक्त समाज के निम्न श्रेणी के हुए हैं और अपनी साधना और सिद्धि से परम

पूजनीय हो गए हैं। भक्ति साधन का द्वार सब के लिए समान रूप से खुला है।

७. विश्वास, श्रद्धा, दैन्य, अकिंचनता और उपास्य ईश्वर की महत्ता तथा उसकी भक्तवत्सलता भक्ति के ये आलम्बन तत्त्व सभी सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य रहे हैं।

भक्ति की इसी मधुरिमा तथा साधन-सुगमता के कारण जनता इस ओर सर्वाधिक आकृष्ट हुई।

दूसरा अध्याय

वैष्णव साधना में रागमयी भक्ति

एक अनिर्वचनीय सच्चिदानन्द स्वरूप शाश्वत सत्ता विभु रूप में व्याप्त है। उसके दो रूप हैं—एक निर्गुण, निराकार, निर्विकार स्वरूप और दूसरा निखिल ऐश्वर्य, माधुर्य, आनन्द, सौन्दर्य, अचिन्त्य अनन्त सद्गुणों का परम धाम स्वरूप। एक के ही ये सगुण स्वरूप अनेक हैं। उनके नित्य चिन्मय दिव्य धाम अनेक हैं, उनकी नित्य चिन्मय अगजगमोहिनी दिव्य लीला अनन्त है। उन दिव्य धामों में वही व्यापक निर्गुण ब्रह्म सगुण होकर नाना रूपों में नित्य क्रीड़ा किया करता है। जैसे निर्गुण स्वरूप विभु है वैसे ही सगुण स्वरूप भी सर्वगत है। सभी सगुण स्वरूप, उनकी सभी लीलाएँ सदा सर्वत्र व्याप्त हैं। देशकाल की कल्पना वहाँ नहीं जाती।

वह पूर्ण वस्तु अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्यमय है। कारण कि उपास्य में दो मुख्य गुण होते हैं—(१) परत्व, (२) सौलम्य। परत्व है ऐश्वर्य और माधुर्य है सौलम्य। कहीं-कहीं ऐश्वर्य के तेज का विशेष प्रकाश है, कहीं-कहीं माधुर्य के सौन्दर्य की कमनीय कान्ति का। ऐश्वर्य में वे अपनी महामहिमा में विराजमान् हैं और जीव अपनी लघुता में घिरा हुआ। वे विभु हैं, जीव अणु। परंतु दोनों में संबंध है—स्वामी सेवक का। जीव का नित्य कैंकर्य, नित्य प्रपत्ति और अखंड शरणागति ही है इस संबंध का मूलाधार। इसमें वैधी भक्ति ही चलती है और वेदशास्त्रादि के निर्देश के आधार पर श्रवण कीर्तनादि से लेकर आत्मनिवेदन तक उसका क्रम-विकास होता है। भाव के उदय होने तक यह विधि भक्ति चलती है।

परंतु भगवान् का माधुर्य जहाँ प्रधान है वहाँ रुचि भक्ति अथवा रागमयी भक्ति का आविर्भाव होता है। रागमूला प्रवृत्ति के साधकों के लिए रागमयी भक्ति है और विधिमूला प्रवृत्ति के साधकों के लिए वैधी भक्ति है। वैधी में विधि-निषेध का विशेष ध्यान और षोडशोपचार पूजा की बड़ी महिमा है। वैधी भक्ति का आचरण शास्त्र-निर्देश के अनुसार होता है। इसमें वैदिक क्रियाकलाप, वर्णाश्रमधर्म के नियमादि का पालन करते हुए प्रभु के प्रति कुछ भय, श्रद्धा, आदर तथा संभ्रम का भाव विशेष रहता है। यह ऐश्वर्य प्रधान भक्ति है। इसमें

कर्म, धर्म पर विशेष आग्रह रखते हुए भजन की ओर भी मन रहता है। रागमयी भक्ति में विधि या विधान का सर्वथा परित्याग हो जाता है। रागभक्ति में विधि-निषेध का परित्याग किया नहीं जाता, अपितु स्वतः सहज ही हो जाता है। यहाँ भक्त अपने आन्तरिक भाव से ही प्रेरित होकर भगवान् के साथ अपने संबंध के अनुसार अपने प्राणसखा परम प्रियतम को लाड़ लड़ाता है— कभी उसका सखा होकर, कभी प्राणप्रिया प्रियतमा होकर। वस्तुतः यह रागमयी भक्ति हृदय की साधना है। यहाँ हृदय में ही हृदय के द्वारा हृदयेश्वर की रागमयी उपासना होती है। स्पष्ट शब्दों में कह सकते हैं कि भक्त के हृदय में भगवान् के लिए और भगवान् के हृदय में भक्त के लिए जो स्वाभाविक गाढ़ तृष्णा होती है वही है रागमयी भक्ति ।

समस्त वैष्णव साहित्य में इस रागमयी भक्ति का सविशेष महत्व वर्णित है, कहीं प्रच्छन्न गुह्य रूप में, कहीं प्रकट व्यक्त रूप में। इस रागमयी भक्ति को परम गोपनीय रहस्य कहा गया है।[१] यह गोपनीय क्यों है इसे यहाँ थोड़े में समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

वह शाश्वत तत्त्व शक्ति एवं शक्तिमान् परस्पर अभिन्न होकर भिन्न और भिन्न होकर भी अभिन्न है। वस्तुतः वे अभिन्न ही हैं। क्रीड़ा के लिए उनका भेद है। इसी भेद से व्यापक निर्गुण तत्त्व में सत् चित् आनन्द का भाव है और सगुण के साथ वही शक्ति संधिनी, संवित् और ह्लादिनी के त्रिविध रूप में उपस्थित होती है। सगुण रूप की भाँति ही ये शक्तियाँ भी नित्य, परस्पर अभिन्न तथा शक्तिमान् से अभिन्न हैं। नित्य अभेद और नित्य भेद तथा अभेद में भेद और भेद में अभेद का यह शास्त्रीयज्ञान ईश्वरीय वरदान है अपौरुषेय रूप में ही यह मनुष्य को प्राप्त हुआ है।[२]

सैकड़ों जन्मों के दान, पूजनादि शुभ कर्मों का जब पुण्य उदय होता है तब विशुद्धान्तःकरणवाले मनुष्य के हृदय में कृपापरवश प्रभु अपनी असीम करुणा से

---

१. गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं च सर्वदा

श्रीहनुमत्संहिता ७।५

२. राजविद्याराजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तमव्ययम् । गीता ।

भक्ति का दान देते हैं। ध्यान रहे कि भक्ति में अपने पुरुषार्थ की अपेक्षा उनकी करुणा ही मुख्य कारण है। इसमें वैधी भक्ति तो ज्ञान का साधन है परन्तु रागानुगा भक्ति का उदय ज्ञान तथा विज्ञान के अनन्तर होता है। रागानुगा भक्ति साधन नहीं अपितु साध्य है। इस महा आनन्दप्रदायिनी स्वरूपा भक्ति का विषयालम्बन हैं स्वयं आत्मास्वरूप भगवान्।

आत्यन्तिक स्नेह ही रागानुगा का स्वरूप है। निर्मल चित्त में पूर्ण वैराग्य का उदय होने पर तथा शुद्ध विज्ञान के अनन्तर रागानुगा भक्ति का आविर्भाव होता है। पाप रहित शुद्ध अन्तःकरण में भागवत कर्म के अनुष्ठान से भगवत्कृपा द्वारा सांसारिक सभी वस्तुओं के प्रति तीव्र वैराग्य, सत् असत् पदार्थों का एवं निज स्वरूप पर स्वरूपादिक "अर्थ पंचक" का यथार्थ ज्ञान प्रकट होता है, तत्पश्चात् भगवच्चरणारविन्दों में अनन्य अविचल अनुरागपूर्वक परम स्नेह स्वरूपा भक्ति का स्वतः अन्तःकरण में जो उदय होता है वही भक्ति रागानुगा या प्रेमाभक्ति के नाम से पुकारी जाती है। यह सर्वश्रेष्ठ अथच परम दुर्लभ है।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और श्रृंगार भेद से रागानुगा के पाँच प्रकार हैं। भाव का जैसे-जैसे विकास एवं प्रगाढ़ता होती जाती है वैसे-वैसे शान्त दास्य में, दास्य सख्य में, सख्य वात्सल्य में और वात्सल्य माधुर्य में परिणत होता जाता है। परंतु यह ध्यान रहे कि पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पंच तत्त्वों के क्रम विकास में हम जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं पिछले वाला तत्त्व भी उसमें सन्निहित रहता है; उसी प्रकार भावों के विकास में जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं पिछले वाले भाव या भावों का अंश भी सार रूप में बना रहता है— जैसे दास्य में दास्य है शान्त भी, वात्सल्य में वात्सल्य की मुख्यता है परंतु है उसमें दास्य भाव भी। इसी प्रकार श्रृंगार में दास्य, सख्य भाव भी है, प्रधानता है माधुर्य की। रस के विशेषज्ञों ने रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए बतलाया है कि शान्त और दास्य की परस्पर मैत्री है और सख्य वात्सल्य की इनसे तटस्थता है तथा उज्ज्वल रस से शत्रुता है। सख्य और उज्ज्वल की परस्पर मैत्री है। उज्ज्वल का शांत और वात्सल्य से शत्रुता है सख्य से तटस्थता है। वात्सल्य का उज्ज्वल तथा दास्य रस से शत्रुता है।

रागानुगा भक्ति के और भी तीन अवान्तर भेद हैं—प्रेमा, परा, प्रौढ़ा।

प्रेमा : श्रवण कीर्तनादि नवधा भक्ति का सम्यक् प्रकारेण, विधिपूर्वक, सन्त भक्त तथा सद्गुरु के शुभ सान्निध्य में रहकर सेवन करने से प्रभु के प्रति स्नेह-

वृत्ति का उदय होता है जिसे 'प्रेमाभक्ति' कहते हैं। इसका इतना प्रभाव है कि भक्त के समस्त दोष-विकार और पाप-ताप दग्ध हो जाते हैं। वर्षा ऋतु में उमड़ी हुई नदी की तरह जो समुद्र की ओर प्रखर वेग में भागी जा रही है, जब हृदय में प्रभु के प्रति ऐसा भाव का प्रवाह उमड़े तो उसे 'प्रेमा' कहते हैं।

परा : भगवान् के साथ किसी संबंध विशेष में दृढ़तापूर्वक बँध जाने पर जब भाव में पूर्ण परिपक्वता आ जाती है, भावना में स्थिरता आ जाती है और साधक उसी भावना में सर्वथैव तल्लीन हो जाता है और अन्य समस्त भावों एवं व्यापारों का विस्मरण हो जाता है तो इस अनुभवात्मिका भक्ति को 'परा' कहते हैं। इसमें रति स्थिर हो जाती है।

प्रौढ़ा : प्रौढ़ा भक्ति परमात्मा की साक्षात्कारात्मक होती है। सबसे पहले रसराज का महामधुर रसास्वादन करने पर जब अपने दिव्य स्वरूप का क्रमशः पूर्ण आवेश आ जाता है उसके पश्चात् तीव्र विरहानल का उदय होता है। अन्त में सब वृत्तियों का एकान्त निरोध हो जाता है। निरोध के अनन्तर जो परमात्मा का साक्षात्कार होता है वही "प्रौढ़ा भक्ति" है। प्रेमा और पराभक्ति का दर्शन तो दास्य, सख्य, वात्सल्यादि रसों में होता है; परन्तु प्रौढ़ा भक्ति विशेषतः एकमात्र श्रृंगार रस में ही दृष्टिगोचर होती है। यह प्रौढ़ा भक्ति ही वस्तुतः परम पुरुषार्थ स्वरूपा साध्या भक्ति है। "रस" शब्द का व्यवहार यद्यपि सब रसों में होता है परंतु वास्तव में श्रृंगार ही मुख्य रस है। और रसों में रसत्व गौण है। एकमात्र श्रृंगार ही रसस्वरूप रसराज है।

दिव्य धाम में युगल प्रभु के श्री अंगों से कोटि-कोटि सखियों का आविर्भाव होता है। इन सखियों की कृपादृष्टि से ही प्रीतिरूपा भक्ति का उदय होता है तथा रसराज की उपासना में अधिकार-लाभ होता है। साधना अथवा सुकृत तो उनकी शुभ दृष्टि को आकर्षित करने के लिए होता है। यथार्थ लाभ उनकी कृपा से ही होता है। वास्तविक लाभ का अर्थ है रसराज में प्रवेश का अधिकार, प्रिया प्रियतम का चिद्विलास तथा पुण्य विहार का परात्परतम दर्शन। इसे ही पाकर जीव कृत-कृत्य हो जाता है, पूर्णकाम हो जाता है। यही वह स्थिति है जिसे उपनिषदें आत्मरति, आत्मक्रीड़ा, आत्ममिथुन, आत्मरमण, आत्माराम की स्थिति कहती हैं।

परंतु यहाँ प्रश्न उठता है कि जब उस परम प्रियतम के रूपरस या लीला-रस या सेवारस का आस्वादन नारी-भाव या सखी-भाव से ही हो सकता है तो बिचारा पुरुष क्या करे ? जीव न तो स्त्री है, न पुरुष, न नपुंसक। जो-जो शरीर

धारण करता है वह शरीर धर्मानुसार उसका अभिमानी होता है।[1] और इसी प्रकार परमात्मा भी न स्त्री है न पुरुष, न कुमार, न कुमारी। विश्व का सब कुछ वही है।[2] अतएव भक्त और भगवान् के बीच कोई भी और सभी प्रकार का संबंध संभव है—स्वामी-सेवक का, सखा-सखा का, पिता-पुत्र या पुत्र-माता का, पति-पत्नी या पत्नी-पति का। जीवमात्र भगवान् का भोग्य है, भोक्ता हैं एकमात्र प्रभु ही। जीव भोक्ता हो नहीं सकता, भोक्ता होने की उसमें सामर्थ्य नहीं है वह प्रभु के कृपा-प्रसाद से ही प्रभु का दिव्य भोग्य है। भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता का सम्यक् ज्ञान ही परम ज्ञान है।[3]

रागमयी भक्ति के क्रम-विकास के अध्ययन में हम दक्षिण भारत के सबसे प्राचीन आलवार वैष्णव भक्तों के साहित्य में स्पष्ट देखते हैं कि रागमयी भक्ति का स्वर ही मुख्य है। "आलवार" शब्द का अर्थ है आत्मज्ञानी भक्त जो भगवान् के प्रेम में सदा डूबा रहता है। आलवारों में १२ मुख्य हैं, उनमें गोरा अन्दाल ठीक मीरा की तरह प्रेम पुजारिन हुई। ईसवी सन् की सातवीं से नवीं शती में ये आलवार भक्त हुए। "आत्मनिवेदन" भक्ति के ये साकार विग्रह थे। वे भागवत के इस वचन को मानते थे कि प्रेम स्वरूप हरि भक्ति से ही प्रसन्न होता है, शेष सब विडम्बना है।[4] आलवारों की भक्ति प्रभु में उतनी ही दृढ़ है जितनी विषयी पुरुषों की विषयों में होती है और यह इतनी प्रगाढ़ है कि उसकी समता का कोई उदाहरण नहीं।[5] श्री जे० एस० एम० हूपर ने आलवारों के पदों का तमिल से अंग्रेजी में अनुवाद किया है। आलवारों की भक्ति सर्वथा रागमयी, प्रीतिमयी भक्ति है और उसमें प्रेम की ही प्रधानता है। प्रीतिपूर्वक आत्मदान, प्रणय का आत्मसमर्पण

---

१. नैव स्त्री न पुमानेषु न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमाधत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ।। —श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।१०

२ त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वंचयसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः।

३. भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्।
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१२

४. प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्।

५. या प्रीतिरस्ति विषयेष्वविवेकभाजां सेवाऽच्युते भवति भक्तिपदाभिऽधेया।
भक्तिस्तु काम इह तत्कमनीय रूपे, तस्मान् मुनेरजनिकामुकवाक्यभंगी ।।
—द्रमिडोपनिषद सगतिः

ही उनके गीतों का मुख्य स्वर है। गोरा अन्दाल आलवारों में प्रसिद्ध भक्तिन हुई। उसने कहा है कि मैं अब पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गई हूँ और अपना संपूर्ण यौवन मैं श्री हरि के चरणों में समर्पित कर दूँगी, उनके सिवा इसका उपभोग करने का अधिकारी और है भी कौन ? इन्हीं आलवारों की परंपरा में श्री स्वामी रामानुजाचार्य आते हैं। इनके प्रपत्तिवाद में सर्वथा आत्मसमर्पण का स्वर मुख्य है। शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, आत्मा से या स्वभाव का अनुसरण करते हुए जो कुछ भी कार्य होता है सब कुछ नारायण को समर्पित है।[१] न तो मुझमें धर्म की निष्ठा है, न आत्मविद् हूँ, न तुम्हारे चरणारविन्द में भक्ति ही है ; हे नाथ, मैं सब प्रकार अकिंचन हूँ, तुम्हारे चरणों की शरण में हूँ।[२] सहस्र-सहस्र अपराधों से भरा हुआ मैं तुम्हारे चरणों में प्रपन्न हूँ, नाथ ! मुझे स्वीकार करो।[३] रामानुज के श्रीसम्प्रदाय में आत्मनिवेदन की पूर्ण विवृत्ति है और शरणागति या "प्रपत्ति" ही उसमें एकान्ततः विकसित हुई है। रागमयी भक्ति का विशेष विकास क्रमशः मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य, राधावल्लभीय और हितहरिवंश में ही हुआ, जिसका अनुशीलन हम बहुत संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

अब हम रागमयी भक्ति की जो विवृत्ति विविध भक्ति-संप्रदायों में हुई है, उसका एक सामान्य परिचय प्रस्तुत करेंगे।

इष्टे स्वारसिकोरागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ।।
विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ।।

हरिभक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व, द्वि० लहरी ६०, ६२

---

१. कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्धात्मना वानुसृतः स्वभावात्।
करोमि यत् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पये तत् ।।

२. न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमान्स्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनः नान्यगतिः शरण्य ! त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ।।
स्तोत्र रत्न २२

३. अपराधसहस्रभाजने पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे ! कृपया केवल आत्मसात्कुरु ।। -आलवन्दार० ५१

इष्ट वस्तु में गाढ़ तृष्णा—बलवती लालसा। यही है राग का स्वरूप, लक्षण और इष्ट में परम आविष्टता यह है तटस्थ लक्षण।

भक्ति के लक्षण-गौड़ीय मत

श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं—"तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषयसंसर्गेच्छामयः प्रेमा रागः यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यादौ तादृश एवात्र भक्तस्य श्रीभगवत्यपि राग इत्युच्यते।"

अर्थात् जैसे विषयी पुरुषों का स्वभावतः ही विषयों के प्रति विषय-संसर्ग की इच्छा से युक्त आकर्षण होता है—जैसे आँखों का सौन्दर्य के प्रति एवं कानों का मधुर स्वर के प्रति, उसी प्रकार भक्त का जब श्रीभगवान् के प्रति आकर्षण या तृष्णा उत्पन्न हो जाती है, तब उसे 'राग' कहते हैं।

श्रीकृष्णदास कविराज ने "श्रीचैतन्यचरितामृत" में इसी विषय की व्याख्या की है, जो श्रीरूपगोस्वामी कृत 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' की व्यख्या से बहुत मिलती-जुलती है—

इष्टे गाढ़ तृष्णा राग एइ स्वरूप-लक्षण।
इष्ट आविष्टता एइ तटस्थ लक्षण॥—मध्य २२।८६

राग का जो स्वरूप ऊपर बताया गया है, उससे युक्त भक्ति को "रागात्मिका भक्ति" कहते हैं और उसी का अनुसरण करती हुई भक्ति की जो धारा प्रसरित होती है, उसे 'रागानुगा' कहते हैं।

'रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम'॥ मध्य० २२।८६

मूल कारण

ब्रज के भक्तों की प्रेम-सेवा की चर्चा सुनकर किसी भाग्यवान् के चित्त में जो तदनुरूप सेवा पाने का लोभ उत्पन्न होता है और जिससे प्रेरित होकर व्रजवासियों के भावों का आनुगत्य स्वीकार करके भजन की प्रवृत्ति होती है, वह लोभ ही इस रागानुगा का मूल कारण है। श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं—

"यस्य पूर्वोक्तरागविशेषे रुचिरेव जातास्ति न तु रागविशेष एव स्वयं तस्य तादृश रागसुधाकरकराभासमुल्लसितहृदयस्फटिकमणेः शास्त्रादिषु तासु तादृश्या रागात्मिकाया भक्तेः परिपाटीष्वपि रुचिर्जायते।"

श्रीगोविन्द भाष्य में श्रीबलदेव विद्याभूषण इसी को 'रुचि भक्ति' कहते हैं—

"रुचिभक्तिर्माधुर्यज्ञानप्रवृत्ता, विधिभक्तिरेश्वर्यज्ञानप्रवृत्ता। रुचिरत्र रागः तदनुगता भक्तिः रुचिभक्तिः। अथवा रुचिपूर्णा भक्तिः रुचिभक्तिः इयमेव 'रागानुगा' इति गदिता।"

रागानुगा पुष्टि-मार्ग में : इसी रागानुगा भक्ति को पुष्टिमार्ग में पुष्टि-भक्ति या 'अविहिता भक्ति' कहते हैं—'माहात्म्यज्ञानयुते वरत्वेन प्रभोभक्तिर्विहिता, अन्यतः प्राप्तवात् कामाद्युपाधिजातवविहिता।'

—अणुभाष्य।

श्रीनिम्बार्क मत में

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय में श्रीहरिव्यास जी ने अपनी 'सिद्धान्त-रत्नांजलि' टीका में अविहिता भक्ति का उल्लेख किया है। 'महावाणी' में उन्होंने सखीभाव से नित्य वृन्दावन में श्रीराधा-गोविन्द की युगल सेवा-प्राप्ति की साधना बताई है। उक्त साधना में दास्य, सख्य अथवा वात्सल्य के लिए स्थान नहीं है। इस प्रकार गौड़ीय वैष्णवों की रागानुगा भक्ति के साथ श्रीहरिव्यासजी की साधना का भेद सुस्पष्ट है। क्योंकि महाप्रभु के सम्प्रदाय में सभी भावों का समावेश हो जाता है—"कुत्रापि तद्रहिता न कल्पनीया।" श्री हरिव्यासजी में श्रीकृष्ण की देवलीला-परायणता है, परंतु गौड़ीय वैष्णव केवल भगवान् की नरलीला में माधुर्योपासना का पथ अपनाते हैं।

स्मरण की मुख्यता

रागानुगा भक्ति में स्मरण की प्रधानता है।[1] श्री सनातन गोस्वामी ने "बृहद्-भागवतामृत" में इसका विस्तार से वर्णन किया है। इस साधन में मानसिक सेवा और तदनुकूल संकल्प ही मुख्य हैं। रघुनाथदास गोस्वामी के "विलाप-कुसुमांजलि" और श्री जीव गोस्वामी के 'संकल्प-कल्पद्रुम' में रागानुगा भक्ति अनुकूल संकल्प और मानसी सेवा के क्रम का बहुत सुंदर वर्णन मिलता है।[2]

---

१. रागानुगायां स्मरणस्य मुख्यता।

२. गौडीय आचार्य श्रीजीव गोस्वामी "अविहिता" का निर्णय यों करते हैं "अविहिता रुचिमात्रप्रवृत्या विधिप्रयुक्तत्वेनाप्रवृत्तत्वात्" रुचिमात्र से प्रवृत्ति होने के कारण ही इस प्रकार की भक्ति को "अविहिता" कहते हैं।

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः।।

साधना का क्रम

अर्थात् व्रजवासी जनों के भाव से लुब्ध हुए व्यक्ति को इस रागानुगामार्ग में साधक रूप से अर्थात् यथावस्थित देह के द्वारा तथा सिद्ध रूप से—अन्तर्चिन्तित सिद्ध देह से व्रजवासियों के आनुगत्य स्वीकार करते हुए सेवा करनी चाहिए।

माता-पिता से उत्पन्न हुआ मात्र—भौतिक शरीर ही साधक-देह है और अन्तर में अभीष्ट श्रीराधा-गोविन्द की साक्षात् सेवा के उपयुक्त अपने जिस देह की भावना की जाती है, वह सिद्ध देह है। सिद्ध देह से ही व्रज भाव प्राप्त होता है। माधुर्योपासना के अन्तर्गत सिद्ध देह की भावना के संबंध में 'सनत्कुमार-तंत्र' में कहा गया है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोहराम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्।।

अर्थात् गोपी भाव में अपने को रूप यौवन-सम्पन्न परम मनोहर किशोरी के रूप में सिद्ध देह से भावना करनी चाहिए।

सखी की आज्ञा के अनुसार सदा सेवा के लिए उत्सुक रहते हुए श्रीराधाजी के निर्माल्य स्वरूप अलंकारों से विभूषित, साधनों की सिद्धि रूप इस मंजरी देह की भावना निरन्तर की जाती है। मंजरी स्वरूप में तनिक भी संभोग के लिए अवकाश नहीं। इसमें केवल सेवा-वासना है। पद्म पुराण, पाताल खंड में इसी प्रसंग पर कहा गया है—

आत्मानं चिन्तयेत् तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्।।
नानाशिल्पकलाभिज्ञां कृष्णभोगानुरूपिणीम्।
प्रार्थितामपि कृष्णेन तत्र भोगपराङ्मुखीम्।।
राधिकानुचरीं नित्यं तत्सेवनपरायणाम्।
कृष्णादप्यधिकं प्रेम राधिकायां प्रकुर्वतीम्।।
प्रीत्यानुदिवसं यत्नसेत् तयोः संगमकारिणीम्।
तत्सेवनमुखाह्लादभावेनातिमुनिर्वृताम्।।

इत्यात्मानं विचिन्त्यैव तत्र सेवां समाचरेत् ।

ब्राह्मी मुहूर्तमारभ्य यावत् स्यात् तु महानिशा ।। ५२।७-११

गोपीभाव की उपासना करनेवाले को चाहिए कि वह अपने-आपकी भी प्रिया -प्रियतम की सेवा में लगी हुई उन सखियों से ही एक अत्यन्त मनोरम, रूप-यौवन-संपन्न किशोर अवस्था की रमणी के रूप में भावना करे; जो विविध शिल्पों एवं कलाओं में प्रवीण तथा श्रीकृष्ण के द्वारा उपभोग के योग्य हो, किन्तु श्रीकृष्ण के द्वारा प्रार्थना किए जाने पर भी जो उनके साथ दिव्य संभोग के प्रति सर्वथा पराङ्मुख हो, जो श्री राधाकिशोरी की सेवा में सदा परायण रहनेवाली उनकी अनुचरी हो, जो श्रीकृष्ण की अपेक्षा राधाकिशोरी से ही अधिक प्रेम करती हो और प्रति दिन बड़े ही प्रेम एवं तत्परता से उन दोनों का मिलन कराना ही अपना एकमात्र कर्त्तव्य समझती हो और उन्हीं के सेवा-सुख को परम आह्लाद का कारण मानकर अत्यन्त सुखी रहती हो । अपने विषय में इस प्रकार की भावना करके ब्राह्म मुहूर्त से लेकर रात्रि के शेष भाग तक दोनों की मानसी सेवा में रत रहना चाहिए ।

रागानुगा-साधन में जो 'अज्ञात रति' साधक हैं—अर्थात् जिन्हें रति की प्राप्ति नहीं हुई है, उनको अपने लिए गुरुदेव के उपदेशानुसार किसी सखी की संगिनी के भाव से मनोहर वेशभूषा से युक्त किशोरी रमणी के रूप में भावना करनी चाहिए ।

जात रति

जो जात-रति है, अर्थात् जिनको रति प्राप्त हो गई है, उनमें इस सिद्ध स्वरूप की स्फूर्ति अपने-आप हो जाती है । प्राचीन आलवार भक्त शठारि मुनि के साधक देह में ही सिद्ध देह का भाव उतर आया था । उन्होंने अनुभव किया कि श्रीभगवान् ही पुरुषोत्तम हैं और अखिल जगत् स्त्री-स्वभाव है । इस विषय में उनका 'तिरुविरुत्तम' नामक ग्रंथ देखना चाहिए । कहते हैं, शठारि में सचमुच कामिनी भाव का आविर्भाव हो गया था—

पुंस्त्वं नियम्य पुरुषोत्तमताविशिष्टे

स्त्रीप्रायभावकथनाज्जगतोऽखिलस्य ।

पुंसां च रंजकवपुर्गुणवन्तयापि

शौरेः शठारियमिनो जनि कामिनीत्वम् ।।

—"वैष्णव धर्म"

गौड़ीय वैष्णव साधकगण "गोविन्दलीलामृत" और 'कृष्णभावनामृत" आदि ग्रंथों के क्रमानुसार गुरु गौरांगदेव के अनुगत भाव से श्रीराधागोविन्द की अष्टकालीन

लीला का स्मरण करते हैं। इस लीला के ध्यान में ही षोडशोपचार से इच्छित सेवा होती रहती है। श्रीवल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में भी अष्टयाम की लीलाओं का स्मरण मुख्य साधना है।

"कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।"

—आचार्य कृत "सिद्धांत-मुक्तावली।"

श्रीहरिरायजी की "सहस्रश्लोकी सेवा-भावना" इस विषय का देखने योग्य ग्रंथ है। इसमें गोपांगनाओं की सेवा भावनाओं का विस्तार से वर्णन है। इसके अतिरिक्त प्रातःकाल की मंगला-आरती से लेकर रात के शयन तक भिन्न-भिन्न समयों की भिन्न-भिन्न लीलाओं के लिए भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में उसी सम्प्रदाय के महानुभावों द्वारा रचित अनेकानेक पद उपलब्ध हैं एवं भक्तों के द्वारा गाए जाते हैं। जिनसे सहज ही भगवान् की विविध लीलाओं का स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान होता हैं और भक्त शरीर से चाहे जहाँ हो, भाव-देह से निरंतर भगवान् की सन्निधि में रहते हुए अमृतोपम सुख लूटता है।

साधक-देह में ही सिद्ध देह की स्फूर्ति किस प्रकार होती है—इसका ज्वलन्त उदाहरण हमें बंगाल के वैष्णव-इतिहास में इस प्रकार मिलता है। बंगाल के साधक श्रीनिवास आचार्य किसी समय मंजरी-देह से श्रीराधाकृष्ण का ध्यान कर रहे थे। उन्होंने देखा श्रीगोपीजनों के साथ श्रीकृष्ण यमुना में जलक्रीड़ा कर रहे हैं। श्रीराधा-जी के कान का एक कुण्डल जल में गिर गया। सखियाँ खोजने लगीं। भावना-देह से इस कुण्डल की खोज करने में श्रीनिवासजी को बाह्य दृष्टि से एक सप्ताह का समय लग गया। साधक देह निस्पन्द आसन पर विराजमान था। रामचन्द्र कविराज आए तो वे भी सिद्ध-देह से श्रीनिवासजी की संगिनी के रूप में उनके साथ हो लिए और रामचन्द्र को एक कमलपत्र के नीचे राधाजी का कुण्डल दिखलाई पड़ा। उसी क्षण उन्होंने उसे श्रीनिवासजी के उस भावना-देह के हाथ में दे दिया। सखी-मंजरियों में आनंद की तरंगें उछलने लगीं। श्री राधारानी ने प्रसन्न होकर अपना चबाया हुआ पान इन्हें पुरस्कार रूप में दिया। रामचन्द्र और श्रीनिवास दोनों ही सोकर उठनेवालों की तरह साधक देह में लौट आए। देखा गया कि सचमुच श्रीराधाजी का दिया हुआ पान-पुरस्कार उनके मुख में था।

भाव-देह

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर की तरह एक भावशरीर या सिद्ध-देह भी होता है-साधक इसी भाव-देह से भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन करता है। भगवान् के अनुग्रह को ही "पुष्टि" कहते हैं—पोषणं तदनुग्रहः। उस अनुग्रह से जो

उपर्युक्त पुष्टि भक्ति की कुछ ज्ञातव्य बातें

भक्ति या भगवत्प्रेम होता है, उसे 'पुष्टि भक्ति' कहते हैं। यह भक्ति स्वरूप से रागमयी है। शाण्डिल्य ने इसकी परिभाषा "सा परानुरक्तिरीश्वरे" इस प्रकार की है। नारद इसी को "सा त्वस्मिन्परमप्रेमरूपा" कहते; हैं तथा पांचरात्र में उसकी परिभाषा इस प्रकार है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥

अर्थात् माहात्म्यज्ञानपूर्वक जो भगवान् के प्रति गाढ़ एवं सर्वोपरि स्नेह होता है, उसी को भक्ति कहा गया है और उसी से मुक्ति होती है, अन्य किसी प्रकार नहीं।

यह स्नेहमयी रागात्मिका भक्ति भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त होती है।

यहाँ असाधना ही साधन है

भगवान् का अनुग्रह साधन-साध्य नहीं, वह साधन से प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है, वह किसी साधन के परतंत्र नहीं है। भगवान् भक्त-परतंत्र हैं, भक्त-पराधीन हैं। अतः यहां असाधना ही साधन है। जैसे सर्ग, विसर्ग आदि श्रीपुरुषोत्तम की लीलाएँ हैं, यह भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान् की लीला ही है।

भक्ति भी भगवान् की एक लीला ही है

वह 'लीला' क्या है, 'सुबोधिनी' भा० ३, में वर्णित हैं—लीला नाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्य जन्यते। जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किन्त्वन्तःकरणे पूर्ण आनन्दे तदुल्लासेन कार्य जननसदृशी क्रिया क्वाचिदुत्पद्यते।

अर्थात् लीला नाम है विलास की इच्छा का। किसी प्रयोजन से रहित क्रिया को ही 'लीला' कहते हैं। उस क्रिया से बाहर किसी कार्य की सृष्टि नहीं होती। और उत्पन्न हुआ कार्य भी अभीष्ट नहीं होता और न वह क्रिया कर्ता में रंचमात्र भी प्रयास की सृष्टि करती है। अपितु अन्तःकरण में पूर्ण आनन्द भर जाने से उस आनन्द के उल्लास में कार्योत्पादन के समान एक क्रिया उत्पन्न होती है, उसी का नाम "लीला" है।

भगवान् स्वतः परिपूर्ण हैं, तृप्त हैं, अतएव बिना प्रयोजन के ही, एकमात्र लीला-रस का आस्वादन करते और कराने के लिए ही 'तत्र नहि किंचित् प्रयोजनमस्ति लीला एव प्रयोजनत्वात' (अणुभाष्य) लीला करते रहते हैं। भगवान् स्वतः

तृप्त होते हुए भी चिर अतृप्त हैं, निष्काम होते हुए भी विलासेच्छु हैं। अद्वितीय होते हुए भी भक्त के प्रेम-पराधीन हैं। रसस्वरूप होते हुए भी रस के पिपासु हैं।

लीला ही प्रयोजन

गुरु शिष्य के हृदय में भगवान् की प्रीति का दान देकर उसका भगवान् से संबंध करा देता है, जिसे पुष्टि मार्ग में "ब्रह्म संबंध" कहते हैं। और इसी ब्रह्मसंबंध के बाद शिष्य के हृदय में मिलन की लालसा होती है, जिसे "ताप" कहते हैं। यह 'ताप' ही पुष्टि मार्ग की साधना का प्राण है। पंचतापाः सदा यत्र।[1]

ब्रह्म संबंध तथा ताप

रागानुगा के मूलस्वरूप उत्तमा या शुद्ध भक्ति का लक्षण श्री रूपगोस्वामी ने अपने "हरिभक्तिरसामृतसिन्धु" नामक ग्रंथ में इस प्रकार किया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ।। पूर्व० प्रथम० ११

अर्थात् अन्य अभिलाषा से शून्य, एकमात्र भक्ति की अभिलाषा से युक्त, ज्ञान-कर्म आदि से सर्वथा रहित, भगवान् की प्रीति-सम्पादन के उद्देश्य से की जानेवाली भगवद्‌विषयक सम्पूर्ण चेष्टा का नाम ही उत्तमा भक्ति है।

'नारद पांचरात्र' में यह बात इस रूप में कही गई है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ।।

इन्द्रियों के द्वारा सब प्रकार की उपाधियों से शून्य, एकमात्र सेवा के उद्देश्य से किया जाने वाला जो निर्मल भगवत्सेवन है, उसे भक्ति कहते हैं।

श्रीमद्‌भागवत में उत्तमा भक्ति का वर्णन इस प्रकार है—

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोम्बुधो
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।।
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युतः।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।।
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्‌भावायोपपद्यते ।।

---

१. इस संबंध में श्रीहरिदासजी कृत "पुष्टिमार्गलक्षणानि" द्रष्टव्य है।

जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर बहता रहता है, उसी प्रकार भगवान् के गुणों के श्रवणमात्र से मन की गति का तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से भगवान् के प्रति हो जाना तथा उस पुरुषोत्तम में निष्काम और अनन्य प्रेम हो जाना यह निर्गुण भक्तियोग का लक्षण कहा गया है। ऐसे निष्काम भक्त, दिए जाने पर भी, भगवान् की सेवा को छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तक नहीं लेते। भगवत्सेवा के लिए मुक्ति का तिरस्कार करने वाला यह भक्ति योग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है। इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणों को लाँघ कर भगवद्भाव को भगवान् के प्रेम रूप अप्राकृत स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

रागानुगा का मूलस्वरूप : उत्तमा भक्ति

इस भक्ति में दो उपाधियाँ हैं— (१) अन्याभिलाषिता, (२) ज्ञान, कर्म, योगादि का मिश्रण। अन्याभिलाषिता में भोग-कामना और मोक्ष कामना दोनों ही सम्मिलित हैं। सच्चा भक्त भुक्ति और मुक्ति दोनों को हेय समझ कर छोड़ देता है। ज्ञान, कर्म एवं योग आदि भी उपाधियाँ हैं, यहाँ ज्ञान का अर्थ है— अभेद ज्ञान, भगवान् ही भजनीय हैं— इस अनुसंधान से तात्पर्य नहीं है। कर्म का अर्थ है—स्मृति-प्रतिपादित नित्य-नैमित्तिक आदि कर्म, भगवान् की परिचर्या रूप कर्म अभिप्रेत नहीं है। जिस ज्ञान के द्वारा भगवान् के स्वरूप और भजन का रहस्य जाना जाता है, जिस कर्म के द्वारा भगवान् की सेवा बनती है तथा जिस ध्यानादि योग से चित्त भगवान् के गुण, लीला आदि में लगता है, वे ज्ञान, कर्म, योग बाधक न बनकर भक्ति के साधक ही होते हैं। उत्तमा भक्ति अथवा

उत्तमा भक्ति

शुद्धभक्ति के तीन भेद हैं—साधन भक्ति, भाव भक्ति, प्रेमाभक्ति/उत्तमा भक्ति में निम्नलिखित गुण होते हैं[१]—(१) क्लेशघ्नी, (२) शुभदायिनी, (३) मोक्ष-लघुताकृत्, (४) सुदुर्लभा, (५) सान्द्रानन्द विशेषात्मा और (६) भगवदार्कर्षिणी।

क्लेशघ्नी—क्लेश तीन प्रकार के हैं—पाप,[२] वासना, अविद्या। पाप का बीज है वासना, वासना का कारण है अविद्या। इन सब क्लेशों का मूल कारण है भगवद्-विमुखता।[३] भक्तों की संगति में भगवान् की सम्मुखता प्राप्त होती है।[४] फिर

---

१. भक्तिरसामृतसिंधु पूर्व० १- लहरी १३

२. पाप भी दो प्रकार के होते हैं-- अप्रारब्धसंचित और प्रारब्ध

३. श्रीमद्भागवत - ११।२।३७

४. श्रीमद्भागवत- १०।५१।५४

उपर्युक्त क्लेशों के सारे कारण अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। इसी से उत्तमा भक्ति में "सर्वदुःखनाशकत्व" गुण आ जाता है।

शुभदायिनी— 'शुभ' शब्द का अर्थ है साधक के द्वारा समस्त जगत् के प्रति प्रीतिविधान और सारे जगत् का साधक के प्रति अनुराग, समस्त सद्‌गुणों का विकास तथा त्रिविध सुख। सुख के तीन भेद हैं— विषय-सुख, ऐश्वर्य-सुख, (विविध सिद्धियाँ) एवं ब्राह्म सुख (मोक्ष)। ये सभी 'शुभ' उत्तमा भक्ति से प्राप्त होते हैं।

"मोक्ष लघुताकृत"— यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य इन पाँचों प्रकार की मुक्ति) इन सब में तुच्छ बुद्धि पैदाकर के सबसे चित्त को हटा देती है।

सुदुर्लभा— अनासक्त पुरुषों के द्वारा अनेकानेक साधनों का चिरकाल तक अनुष्ठान होने पर भी यह भक्ति प्राप्त नहीं होती, स्वयं भगवान् भी साम्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान आदि तो सहज ही दे देते हैं, पर अपनी उत्तमा भक्ति नहीं देते।

सान्द्रानन्दविशेषात्मा— ब्रह्मानन्द को परार्द्ध की संख्या से गुणित करने पर भी वह इस भक्ति सुखसागर के एक परमाणु की भी तुलना में नहीं आ सकता।

भगवदाकर्षिणी— यह उत्तमा भक्ति भगवान् को भक्त के वश में कर देती है।

साधन भक्ति के भेद— इस उत्तमा भक्ति के जो तीन भेद ऊपर बताए गए हैं, उनमें प्रथम साधन-भक्ति के दो भेद हैं —वैधी और रागानुगा। जहाँ राग तो हो नहीं, केवल शास्त्राज्ञा से भजन में प्रवृत्ति हो, उसे वैधी भक्ति कहते हैं। रागानुगा की परिभाषा ऊपर की जा चुकी है।

रागात्मिका की तरह ही रागानुगा के भी दो भेद बन जाते हैं — कामानुगा और संबंधानुगा। रागात्मिका के दो भेद हैं—कामरूपा और संबंधरूपा।

संबंधरूपा भक्ति का स्वरूप

मैं भगवान् का पिता हूँ, माता हूँ, दास हूँ, आदि-आदि भावनाओं से भावित होकर जो यथोचित रूप से रागमयी सेवा करते हैं, उनकी उस रागमयी भक्ति को संबंधरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। तथा रागात्मिका कामरूपा भक्ति वह है, जिसमें उपर्युक्त प्रकार का कोई संबंध नहीं रहता। केवल मात्र भगवान् की सेवा करके उन्हें सुखी बनाने की वासना ही समस्त चेष्टाओं को प्रेरित करती है और उस वासना से भावित होकर रागमयी सेवा निरन्तर अनुष्ठित होती रहती है। कामरूपा एवं संबंधरूपा दोनों में ही

राग तो अवश्य है, किंतु संबंधरूपा भक्ति में संबंध विशेष का अभिमान ही भगवत्सेवा का प्रयोजक है और कामरूपा में ऐसा कोई अभिमान हेतु नहीं है, केवल काम प्रेममयी सेवा के द्वारा भगवान् को सुखी करने की वासना ही प्रवर्तक है। ब्रजलीला में संबंधरूपा रागात्मिका के पात्र हैं— श्रीनन्द यशोदादि पितृ मातृवर्ग, सुबल मधुमंगलादि सखावर्ग एवं रक्तक एवं पत्रक आदि दासवर्ग, तथा कामरूपा रागात्मिका के पात्र हैं— मधुर भावभावित श्रीब्रजसुन्दरियाँ। उपर्युक्त ब्रज सुन्दरियों में ऐसा कोई संबंध नहीं है, जो उन्हें भगवत्सेवा के लिए प्रेरित करे— जिसके कारण वे सेवा के लिए लालायित हों। भगवान् को अपनी सेवा समर्पित कर उन्हें सुखी बनाने की ऐकान्तिक वासना—प्रेम ही उनकी भक्ति का प्रवर्तक है। इस वासना को ही भक्तिशास्त्र में "काम" कहा गया है—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्' (गौतमीय तन्त्र) (ठीक इसी के अनुगामी रागानुगा के भी दो ऐसे ही उपर्युक्त भेद बन जाते हैं— कामानुगा एवं संबंधानुगा)।

कामानुगा के दो भेद हैं—संभोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छामयी। केलि-संबंधी अभिलाषा से युक्त भक्ति का नाम संभोगेच्छामयी और यूथेश्वरी ब्रज देवियों के भाव और माधुर्य प्राप्ति विषयक वासनामयी भक्ति का नाम तत्तद्-भावावेच्छामयी है।

'भावभक्ति'— भाव शुद्ध, सत्य विशेष स्वरूप हैं— यह भाव का स्वरूप-लक्षण है।

भगवान् की सर्व प्रकाशिका स्वरूपशक्ति के वृत्तिविशेष को "शुद्ध सत्व" कहते हैं। भगवत्प्राप्ति की अभिलाषा, भगवद्नुकूलता की अभिलाषा और उनके प्रति सौहार्द आदि की अभिलाषा— इनके द्वारा चित्त की जो स्निग्धता सम्पादित होती है, वह है 'भाव' का तटस्थ लक्षण। भाव का ही दूसरा नाम रति या प्रेमांकुर या प्रीत्यंकुर है। प्रेम की पहली अवस्था को ही 'भाव' कहते हैं। प्रेम के परिणत हो जाने के अनन्तर बृद्धि-क्रम से यही स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महा-भाव के रूप में व्यक्त होता है। साथ ही यही प्रेम की पहली अवस्था 'रति' भक्तों की भावना के भेद से पाँच प्रकार की बन जाती है— शान्तरति दास्यरति, सख्यरति, वात्सल्यरति और मधुर रति। रति-भेद से भगवद्भक्ति-रस भी पाँच प्रकार का बन जाता है— शान्तरस, दास्य-रस, सख्यरस वात्सल्य-रस और मधुर-रस।

भाव अथवा रति

१- क्षान्ति—धन, पुत्र, मान आदि का नाश, असफलता, निन्दा, व्याधि आदि क्षोभ के कारण उपस्थित होने पर भी चित्त का जरा भी चंचल न होना।

जात रति भक्त के लक्षण

२. अव्यर्थकालत्व— क्षणमात्र का भी समय सांसारिक कार्यों में वृथा न बिताकर मन, वाणी, शरीर से निरन्तर भगवत्सेवा-संबंधी कार्यों में जीवन भर लगे रहना।

३. विरक्ति— इस लोक और परलोक के समस्त भोगों से स्वाभाविक अरुचि।

४. मानशून्यता— स्वयं उत्तम आचरण विचार और स्थिति से सम्पन्न होने पर भी मान सम्मान से सर्वथा दूर रहकर अधम का भी सम्मान करना।

५. आशाबन्ध— भगवान् के और भगवत्प्रेम के प्राप्त होने की चित्त में दृढ़ आशा।

६. समुत्कंठा— अपने अभीष्ट भगवान् की प्राप्ति के लिए अत्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा।

७. नाम-गान में सदा रुचि—भगवान् के मधुर और पवित्र नाम का गान करने की ऐसी स्वाभाविक कामना, जिसके कारण नाम-गान कभी रुकता ही नहीं और एक-एक नाम में अपार आनन्द का बोध होता है।

८. भगवान् के गुण कथन में आसक्ति—दिन-रात भगवान् के गुणगान- भगवान् की प्रेममयी लीलाओं का कथन करते रहना और कदाचित् किसी अनिवार्य कारण से ऐसा न होने पर बेचैन हो जाना।

९. भगवान् के निवास स्थान में प्रीति— भगवान् ने जहाँ-जहाँ मनोहर लीलाएँ की हैं, जो भूमि भगवान् के चरण-स्पर्श से पवित्र हो चुकी है— मिथिला,

प्रेम

अवध, वृन्दावनादि— उन्हीं स्थानों में रहने की उत्कट इच्छा। भाव की गाढ़ता का नाम 'प्रेम' है। यह प्रेम-नाश का हेतु उपस्थित हो जाने पर भी सर्वदा और सर्वथा अक्षुण्ण बना रहता है— 'सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे' (उज्ज्वल-नीलमणिः स्थायि० ५७)। यह प्रेम दो प्रकार का होता है—

प्रेम का प्रकार भेद

महिमा-ज्ञान युक्त विधिमार्ग से चलनेवाले भक्त का प्रेम महिमा ज्ञान-युक्त है और रागमार्ग से चलनेवाले भक्त का प्रेम प्रायः केवल अर्थात् ऐश्वर्य ज्ञानशून्य होता है। यही प्रेम क्रमशः अपने माधुर्य का प्रकाश करते हुए, सूर्य की भाँति चितरूपी नवनीत को अपने प्रभाव से द्रवित करते हुए स्नेह के रूप में परिणत होता है। प्रेम की परिणति का नाम ही है स्नेह। यह स्नेह प्रेम विषयक अनुभूति को उसी प्रकार

उद्दीप्त कर देता है, जैसे तेल दीपक की ऊष्मा एवं प्रकाश को बढ़ा देता है। इस मनोद्रव को कनिष्ठ, मध्यम और श्रेष्ठ—इस तरह तीन प्रकार का माना जाता है। स्नेह को भी स्वरूपतः घृतस्नेह एवं मधुस्नेह— दो प्रकार का रसशास्त्रियों ने माना है। स्नेह की उत्कृष्ट परिणति का नाम है मान, जिसमें अपने स्वरूप को ढँकने के लिए वाक्य का विकास हो जाता है। इस मान को भी रसमर्मज्ञों ने उदात्त एवं ललित—दो रूपों में वर्णन किया है। इसी मान में जब विश्रम्भ की—अपने प्राण, मन, देह आदि से प्रेमास्पद के साथ अभेद की भावना जाग्रत हो जाती है, तब उसे 'प्रणय' कहते हैं। यह विश्रम्भ भी मैत्र और सख्य—दो प्रकार का माना गया है। किसी-किसी स्थल-विशेष में स्नेह से प्रणय का उद्भव होकर उस प्रणय के रूप में परिणत होता है। प्रणय की उत्कृष्टता के कारण जहाँ बड़े दुःख का हेतु भी भगवत्प्राप्ति की सम्भावना से सुख के कारण जैसा प्रतीत होने लगता है, वहाँ प्रणय का नाम 'राग' हो जाता है। इस राग के भी दो विभाग माने गए हैं-(१) नीलिमा और (२) रक्तिमा। इनके भी अवान्तर भेद हैं, अपने इष्ट में अनुभव किए हुए सौन्दर्य, गुण, माधुर्य को जो नित्य नवीन रूप में आस्वादनीय बनाने लग जाए, और स्वयं भी नित्य नवीन बनता चला जाए, वह राग 'अनुराग' के नाम से कहा जाता है। इसके आगे 'भाव' की अवस्था आती है। अनुराग प्रतिक्षण बढ़ता चला जाता है। जब इसकी सम्पूर्ण पराकाष्ठा की दशा आ जाती है और इस प्रकार यह स्वयमेव रूप में परिणत हो जाता है, तब इसे 'भाव' कहते हैं। जिस प्रकार समुद्र का जल क्रमशः तरंगों में बढ़ता हुआ ज्वार के समय तट को प्लावित कर देता है, साथ ही तट पर जितनी वस्तुएं होती हैं, वे सभी निमग्न हो जाती हैं, अब आगे बढ़ने के लिए मानो उसे स्थल नहीं रह जाता, उसी प्रकार अनुराग भी क्रमशः हृदय में बढ़ता हुआ सम्पूर्ण हृदय को परिपूर्ण कर देता है तथा उसके विकास के समय सिद्ध भक्त या साधक भक्त, जो कोई भी पास में हो, उन्हें प्रभावित कर देता है और अन्त में अपने-आप में ही उसकी बाढ़ केन्द्रित हो जाती है। कई रसशास्त्रकार भाव एवं महाभाव को एक ही वस्तु समझते हैं और कई इनमें कुछ भेद की कल्पना करते हैं। जो भेद करने वाले हैं, उनकी दृष्टि में भाव एवं महाभाव में उतना ही अन्तर है, जितना अन्तर मिश्री और कन्द (उज्ज्वल) मिश्री में होता है। महाभाव की अवस्था व्यक्त होने पर जिसमें यह भाव व्यक्त होता है उसके मन में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

रति के प्रकार

भगवद्रति विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भाव के साथ मिलकर चमत्कृतिजनक आस्वादन के योग्य बनती है और उस समय उसका नाम भक्ति-रस होता है। यों तो यह रस बारह प्रकार का है, उनमें सात गौण और पाँच मुख्य हैं। वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, रौद्र और वीभत्स—

ये सात गौण हैं, तथा शान्त, दास्य,सख्य, वात्सल्य और मधुर--ये पाँच मुख्य हैं। जिसमें, जिसके द्वारा रति आदि का आस्वादन किया जाता है, उसको 'विभाव' कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं—इनमें से जिसमें रति विभावित होती है, उसका नाम है 'आलम्बन-विभाव,' जिसके द्वारा रति उद्दीपित होती है, उसका नाम है 'उद्दीपन-विभाव'। आलम्बन-विभाव भी दो प्रकार का होता है—विषयालम्बन, आश्रयालम्बन। इस भगवद्रति के विषयालम्बन हैं भगवान् और आश्रयालम्बन हैं उनके भक्तगण। जिनके द्वारा रति का उद्दीपन होता है, वे क्रिया, मुद्रा, रूप, वस्त्रालंकारादि एवं देश-कालादि वस्तुएं हैं 'उद्दीपन विभाव'। जिन लक्षणों के द्वारा चित्त के भाव बाहर प्रकाशित होते हैं, उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं। जैसे, नाचना, भूमि पर लोटना, गाना, जोर से पुकारना, अंग मोड़ना, हुंकार करना, जंभाई लेना, लंबे श्वास छोड़ना, लोकानपेक्षता, लालास्रव, अट्टहास, घूर्णा, हिक्का आदि।

अनुभाव

अनुभाव भी दो प्रकार के होते हैं—शीत और क्षेपण। गाना, जंभाई लेना आदि को शीत और नृत्यादि को क्षेपण कहते हैं।

भगवान् से साक्षात् अथवा व्यवहित संबंध रखनेवाले भावों से जो आक्रान्त हो जाता है, उस चित् को 'सत्त्व' कहते हैं तथा उस 'सत्त्व' से उत्पन्न हुए को 'सात्विक' कहते हैं। सात्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प,

सात्विक भाव के प्रकार-भेद

वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्च्छा)। ये सात्विक भाव 'स्निग्ध,' 'दिग्ध,' और 'रूक्ष'—भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इसमें स्निग्ध सात्विक के दो भेद होते हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् श्रीकृष्ण के संबंध से उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्विक भाव मुख्य है और किंचित् व्यवधान-पूर्वक श्रीकृष्ण के संबंध से उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्विक भाव गौण है।

दिग्ध, रुक्ष

जात-रति भक्तों के सात्विक भाव को 'दिग्ध' भाव कहते हैं और रतिशून्य किन्तु भक्त से प्रतीत होनेवाले मनुष्य में कहीं-कहीं भगवच्चरित्र के श्रवणादिजन्य आनन्द-विस्मयादि के द्वारा उत्पन्न होनेवाले भाव को 'रुक्ष' भाव कहते हैं।

ये सब सात्विक भाव पुनः चार प्रकार के होते हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त। कहीं-कहीं इनके अतिरिक्त सूद्दीप्त नाम का एक पाँचवाँ भेद भी

सात्विक भावों के पुनः चार भेद गोपन

माना जाता है। जो सात्विक भाव अकेले या अन्य सात्विक भावों के साथ किंचित् व्यक्त हो तथा जिनका गोपन संभव हो, वे 'धूमायित' कहलाते हैं। एक ही साथ भलीभांति गोपन-योग्य दो तीन भावों का नाम 'ज्वलित' है। बढ़े हुए और एक व्यक्त हुए और कठिनता से

ही साथ व्यक्त होनेवाले तीन, चार या पांच सात्विक भावों को 'दीप्त' कहते हैं। इन 'दीप्त' भावों को छिपाकर नहीं रखा जा सकता। परमोत्कर्ष को प्राप्त एवं एक ही साथ उदय होनेवाले पाँच, छह या सभी सात्विक भावों का नाम 'उद्दीप्त' है। ये उद्दीप्त भाव ही महाभाव में सूद्दीप्त हो जाते हैं। उस समय इन सबकी पराकाष्ठा हो जाती है।

सात्विकाभास

इसके अतिरिक्त सात्विकाभास भी होते हैं। उनके चार प्रकार हैं—रत्याभासज, सत्वाभासज, निःसत्व और प्रतीप। मुमुक्षु आदि में उत्पन्न सात्विकाभास का नाम 'रत्याभासज' है। स्वभाव से ही शिथिल हृदय में आनन्द, विस्मय आदि का आभास जब बढ़ जाता है, तब उसे सत्वाभास कहते हैं। और उससे उत्पन्न सात्विकाभास का नाम 'सत्वाभासज' है। जो स्वभावतः ऊपर से शिथिल और भीतर से कठिन है, ऐसे चित्त में तथा भगवद्भजन में परायण अन्तःकरण में सत्वाभास के बिना भी कहीं-कहीं जो अश्रु-पुलकादि होते हैं, उन्हें 'निःसत्व' कहते हैं। भगवान् से विद्वेष रखनेवाले जीवों में क्रोध, भय आदि से उत्पन्न सात्विकभाव को 'प्रतीप' कहते हैं। यहाँ स्मरण रखने की बात है कि ये सात्विकाभास ऐसे लोगों में ही प्रकट होते हैं, जिनका मन स्वभाव से शिथिल, अथवा ऊपर से शिथिल, किन्तु भीतर से कठिन होता है।

व्यभिचारी या संचारी भाव

जो भाव विशेषरूप से अभिमुख होकर स्थायी भाव के प्रति संचरित होते हैं, उन्हें 'व्यभिचारी' कहते हैं। इनका ज्ञान वाणी, भ्रू-नेत्र आदि अंगों तथा सत्व से उत्पन्न अनुभवों के द्वारा होता है। ये व्यभिचारी भाव तैंतीस हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था (भाव-गोपन), स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्ति और बोध। इन तैंतीस व्यभिचारी भावों को 'संचारी' भी कहते हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा भाव की गति का संचालन होता है।

स्थायी भाव

हासादि अविरुद्ध एवं क्रोधादि विरुद्ध भावों को दबाकर जो महाराजा की भाँति प्रतिष्ठित होता है, उसे 'स्थायी भाव' कहते हैं। इस भक्तिशास्त्र में भगवद्विषयिणी रति ही 'स्थायी भाव' कहलाती है। इस रति के 'मुख्या' और 'गौणी' दो भेद माने गए हैं। 'मुख्या' को स्वार्था और परार्था—दो प्रकार का माना गया है। पुनः यह स्वार्था और परार्था— रूप मुख्या रति पंचविध मानी

गई हैं— 'शुद्धा,' 'प्रीति,' 'सख्य,' वात्सल्य,' और 'प्रियता'। 'शुद्धा' के तीन भेद माने गए हैं-'सामान्य', 'स्वेच्छा' और 'शान्त'। साधारण पुरुषों की जो रति उन-उन प्रीति आदि विशेष अवस्थाओं को नहीं प्राप्त होती, उसे 'सामान्या' कहते हैं। साधकों की जो रति नानाविध भक्तों के संग से उन-उन साधनों के कारण विविध रूप धारण कर लेती है, वह 'स्वेच्छा' कहलाती है। जब जिस प्रकार के भक्त का संग होता है, स्फटिक मणि की भाँति उस समय वैसा ही रूप धारण कर लेने के कारण इसे 'स्वेच्छा' कहते हैं। प्रायः जिनमें 'शम' (मन की निर्विकल्पता) का बाहुल्य हो, वैसे व्यक्तियों की भगवान् में ममता-गन्ध-शून्य तथा परमात्म-बुद्धि से उत्पन्न जो रति होती है, वह 'शान्त' रति कहलाती है।

अपने से जो न्यूनजन हैं, वे भगवान् के लिए अनुग्रह के पात्र हैं—इस भावना से भगवान् के प्रति आराध्य-बुद्धि लेकर जिनकी रति प्रसरित होती है, उनकी उस रति को 'प्रीति' कहते हैं। भगवान् के प्रति यह आसक्ति भगवान् के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं में लगी हुई प्रीति को नष्ट कर देने वाली होती है।

भगवान् के प्रति तुल्यत्व (समकक्षता) का अभिमान पोषण करनेवाले जो व्यक्ति हैं, वे भगवान् के सखा कहे जाते हैं। इस तुल्यता के कारण इन लोगों की विश्रम्भ-रूप जो रति होती है, उसे 'सख्य' कहते हैं। यह विश्रम्भ परिहास, प्रहास आदि का कारण होता है, फिर भी इस रति में खेद के लिए अवसर नहीं होता।

भगवान् के जो गुरुजन हैं, वे पूज्य कहे जाते हैं। उनकी जो भगवान् के प्रति अनुग्रहमयी रति होती है, उसे 'वात्सल्य' कहते हैं। यह वात्सल्य लालन, शुभ-कामना, चिबुकस्पर्श कपोल-चुंबन आदि का प्रयोजक होता है।

भगवान् एवं उनकी प्रियतमाओं का परस्पर मिलन आदि करानेवाली जो रति है, उसे 'प्रियता' कहते हैं। इसी का दूसरा नाम 'मधुरा' है। इसमें कटाक्ष भ्रूक्षेप, प्रियवाणी, स्मित आदि को स्थान मिलता है। इसके अतिरिक्त गौणी रति के भी सात प्रकार माने गए हैं—हास्य, विस्मय, उत्साह, शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा। इस साधना के आरम्भ में भी भक्ति है और अंत में भी भक्ति है। भक्ति ही साधना का प्राप्य है।

मधुर रस का स्वरूप और उसकी व्यापकता : मधुर रस के संबंध में उपनिषदों में यत्र-तत्र संकेत रूप में उल्लेख मिलता है।[1] पुराणों में श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त में इसका बड़ा ही भव्य एवं दिव्य वर्णन है। श्रीमद्भागवत और

---

१. तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्रज्ञानेनात्मना संपरिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेद नान्तरम्। तद्वा अस्य एतदा पृकामं अकामं रूपम्। --वृहदारण्यक ४।३।१६

ब्रह्मवैवर्त्त ही मधुर रस के आकर-ग्रंथों में मुख्य एवं शिरोमणि हैं । बृहद् गौतमीय तंत्र, ब्रह्म संहिता, संमोहन तंत्र आदि ग्रंथों में भी इस तत्त्व की विशद् व्याख्या है । कतिपय अन्य संहिताओं में भी मधुर रस की विवृति है, नारद और शांडिल्य भक्तिसूत्रों में प्रेम की परक वैज्ञानिक परिभाषा है । परंतु भक्ति का जैसा सांगोपांग मार्मिक, वैज्ञानिक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । गौड़ीय वैष्णवों ने इसका पुंखानुपुंख विचार किया है । अस्तु, यहाँ श्रीरूप गोस्वामी के 'भक्ति-रसामृत-सिंधु' तथा 'उज्ज्वल-नीलमणि' के आधार पर मधुर रस के तात्विक स्वरूप एवं रहस्य का आकलन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

जड़ जगत् चिज्जगत् का प्रतिफलन

यह जड़ जगत् चिज्जगत् का प्रतिफलन है । इसमें गूढ़ तत्त्व यह है कि प्रतिफलित प्रतीति स्वभावतः विपर्यय धर्म को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् आदर्श जहाँ सर्वोत्तम होता है, प्रतिफलन सर्वाधम; आदर्श जहाँ अत्यन्त निम्न कोटि का होता है प्रतिफलन अत्यन्त उच्च कोटि का । दर्पण में का परम दिव्य अपूर्व प्रतिबिम्ब जैसे उलटा पड़ता है वही दशा यहाँ भी है । चिज्जगत् जगत् में विपर्यस्त होकर जड़ जगत् में स्थूल रूप धारण कर लेता है । वस्तुतः परम वस्तु रस-रूप-तत्त्व है । उसकी अद्भुत विचित्रता है । इस जगत् में उसकी जो परछाईं पड़ती है उसी का अवलम्बन करके आगे बढ़ा जाए तो उस अतीन्द्रिय रस का अनुभव हो सकता है ।[1]

चिज्जगत् के रस और जड़ जगत् के व्यापार

चिज्जगत् के अत्यन्त निम्न भाग में है शान्त रस, उसके ऊपर दास्य रस, उसके ऊपर सख्य रस, उसके ऊपर वात्सल्य रस और सबसे ऊपर मधुर रस । इस जड़ जगत् में विपर्यस्त प्रतिफलन के द्वारा मधुर रस सब से नीचे हैं । उसके ऊपर है वात्सल्य रस, उसके ऊपर सख्य रस, उसके ऊपर दास्य रस और सबसे ऊपर शान्त रस । दिव्य मधुर रस की जो स्थिति और क्रिया है, वह इस जड़ जगत् में नितांत तुच्छ और लज्जास्पद है । चिज्जगत् में पुरुष और प्रकृति का सम्मिलन अत्यन्त पवित्र एवं तत्त्वमूलक है । चिज्जगत् में एकमात्र भगवान् ही भोक्ता है, शेष समस्त चित्सत्त्वगण प्रकृति रूप में उसकी भोग्या हैं । इस जड़ जगत् में कोई जीव भोक्ता है और कोई भोग्या—इस प्रकार मूलतत्त्व के विरोध में यह सारा व्यापार लज्जाजनक एवं घृणास्पद हो जाता है । तत्त्वतः जीव जीव का भोक्ता हो नहीं सकता । सकल जीव भोग्या है, एकमात्र श्रीकृष्ण ही भोक्ता

१. द्रष्टव्य-जैव धर्म, अध्याय- ३१ ।

हैं। कहाँ जीव जीव का उपभोग और कहाँ कृष्ण और जीव का उपभोग। परंतु इस हेय के भीतर से भी एक अत्यन्त उपादेय तत्त्व उपलब्ध हो जाता है।

कृष्ण ही मधुर रस के विषय हैं और उनकी वल्लभाएँ इस रस का आश्रय हैं। दोनों मिलकर रस के आलम्बन हैं। मधुर रस के विषय श्रीकृष्ण हैं परम सुन्दर, परम मधुर, नवजलधर वर्ण, सर्व सुलक्षणयुक्त, बलिष्ठ, नवयौवनशाली, प्रियभाषी, विदग्ध, कृतज्ञ, प्रेमवश्य, रमणीजनमनोहारी, नित्य नूतन, अतुल्यकेलि, सौन्दर्यशाली, प्रियतम, वंशी-वादनशील। उनके चरणों की नखद्युति कोटि-कोटि कंदर्पों का दर्प चूर्ण कर देती है और उनके कटाक्ष से सबका चित्त विमोहित हो जाता है।

मधुर रस के आश्रय और विषय

नायकचूड़ामणि श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ जो लीला-विलास है वही है मधुर रस की आत्मा। इसका स्थायी भाव है दोनों की प्रियता या मधुरा रति[1] जो दोनों को दोनों से संयोग की प्रेरणा देती रहती है। युक्त विभावों अनुभावों के द्वारा जब यह रति भक्तों के हृदय में रसास्वादन की स्थिति तक पहुँचती है, तब इसे भक्ति-रसराज 'मधुर रस' कहते हैं।[2] कृष्ण का कान्तत्वेन स्फुरण ही मुख्यतः इस रस का आधार है पर कान्त को दोनों ही भाव में लिया जा सकता है पतिरूप में, उपपति रूप में। श्रृंगार रस का तो उपपति रूप में ही परमोत्कर्ष माना जाता है। श्रृंगार का चिद् व्यापार एक रहस्यमणि की माला की तरह है। उनमें परकीय दास्य से सख्य में, सख्य से वात्सल्य में और वात्सल्य से मधुर में इसका अधिकाधिक उत्कर्ष होता चला जाता है, उसी प्रकार स्वकीय की अपेक्षा परकीय में रस अपने चरमोत्कर्ष पर आ जाता है।[3]

---

१. मिथो हरेर्मृगाक्ष्यश्च संभोगस्यादिकारणम्।
मधुरापरंपर्यां प्रियताख्योदिता रतिः ।। —उज्ज्वल नीलमणि
श्रीकृष्ण की द्विविध लीलाओं में ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य की लीला श्रेष्ठ है। दे० जीवगोस्वामी का प्रीति-संदर्भ :
पृष्ठ- ७०४-७१५

२. स्वाद्यतां हृदि भक्तानां अनीता। उ० नी० म०

३. अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः। उ० नी० म०
परकीया भाव के संबंध में विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं कि 'यतः गोकुले स्वीयाऽपि मित्रादिशंकया परकीया इव।' जीव गोस्वामी ने अपने 'प्रीति संदर्भ' (पृ० ६७६-६८६) में विस्तार से इस विषय पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ विहार 'प्राकृत काम' नहीं हैं, प्रत्युत 'शुद्ध प्रेमन' है और प्रकट लीला में ही स्वकीय परकीय का प्रश्न उठता है। 'वस्तुतः परमस्वकीयाऽपि प्रकटलीलायां परकीयासमानाः श्रीव्रजदेव्यः।'

श्रीकृष्ण का अवतार ही रसास्वादन के लिए हुआ।[१] परकीया या तो कल्पका हो सकती है या प्रौढ़ा। लोकदृष्ट्या, यह भाव गर्हित हो सकता है, पर यह परकीया-भाव ही वैष्णवों का परमादर्श हुआ और इसी का आधार लेकर आत्माएँ अपने-आपको सर्वभावेन श्रीकृष्ण को समर्पित करती रही हैं।[२] श्रीकृष्ण के इसी भाव को लेकर वैष्णव शास्त्रों ने द्वारका में उन्हें पूर्ण, मथुरा में पूर्णतर तथा ब्रज में पूर्णतम माना है। नायक नायिका परस्पर अत्यन्त 'पर' होकर जब राग की तीव्रता द्वारा मिलते हैं, तब एक अद्भुत आनन्द-रस का संचार होता है। यही है परकीय रस। गोपियों और श्रीकृष्ण का प्रेम अपनी सघनता, प्रच्छन्न कामना तथा विवाह के अव्यक्तत्व के कारण ही परकीया-भाव की उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हुआ।

परकीया-भाव की रसात्मक उत्कृष्टता

यह लक्ष्य करने की बात है कि श्रीकृष्ण की चिन्मयी लीला नित्य है। उस नित्य गोलोक की नित्य चिन्मयी लीला में कृष्ण-कृपा से दिव्य देह से प्रवेश होता है। यहाँ इतना निवेदन करना अपेक्षित है कि श्रीकृष्ण-त्रिपाद विभूति चिज्जगत् में है और जड़ जगत् में एक पाद विभूति है। एक पाद विभूति चौदहों लोकात्मक मायिक विश्व है। मायिक विश्व एवं चिज्जगत् के बीच 'विरजा' नदी है और विरजा के पार है चिज्जगत्। इस चिज्जगत् को वेष्टन-प्राकार की तरह घेरे हुए है ज्योतिर्मय ब्रह्मधाम। उसे भेद करने पर परव्योम रूप वैकुण्ठ दिखता है। वैकुण्ठ प्रबल है। यहाँ के राजराजेश्वर हैं अनंत

नित्य गोलोक और नित्य चिन्मयी लीला

---

१. रसनिर्यासस्वर्थ अवताराणि। उ० नी० म० (पृ० ५४७)

श्रीकृष्ण संदर्भ में जीव गोस्वामी ने ब्रजलीला की रहस्यपरक दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि मथुरा और द्वारका की गोपियाँ श्रीकृष्ण की 'स्वरूपा शक्ति' हैं। गोपियां का परकीया भाव वस्तुतः है नहीं, वह प्रकट वृन्दावन लीला में आभास मात्र है। इतना ही नहीं, उनका कहना है कि ब्रजसुंदरियों का कभी अपने पतियों के साथ संगम हुआ ही नहीं—

'न जातु ब्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः।'

२. एस० के० डे० वैष्णव फेथ्स ऐन्ड मुवमेन्ट, पृ० ५४

चिद्विभूतिपरिसेवि नारायण। वैकुण्ठ है भगवान् का स्वकीय रस। श्री, भू आदि शक्तिगण स्वकीय स्त्री रूप में उनकी सेवा उस लोक में करती रहती है। वैकुण्ठ के ऊपर है गोलोक। वैकुण्ठ में स्वकीया पुरवनितागण यथास्थान सेवा में तत्पर रहती हैं और गोलोक में व्रजवनितागण निज रस में कृष्ण-सेवा करती रहती हैं।

ब्रज सुंदरियों के प्रकार-भेद

इन व्रजवनिताओं के कई भेद हैं और इनका प्रकार-भेद काव्यशास्त्र के अनुसार किया गया है— स्वकीया और परकीया। इनके तीन भेद— मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। इसमें 'मान' के आधार पर मध्या और प्रगल्भा के भेद हैं— धीरा, अधीरा, धीराधीरा। नायक के साथ इनके संबंध के आधार पर पुनः इनके आठ भेद हैं— (१) अभिसारिका, (२) वासकसज्जा, (३) उत्कंठिता, (४) विप्रलब्धा, (५) खंडिता, (६) कलहान्तरिता, (७) प्रोषितभर्तृका, (८) स्वाधीन-भर्तृका। नायक के प्रेम के आधार पर पुनः उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा ये तीन भेद हैं।

सखी भेद

यह तो हुआ सामान्य शास्त्र के आधार पर किया हुआ विभाजन, परंतु धर्मशास्त्र के आधार पर किया हुआ विभाजन सर्वथैव नूतन है और भक्ति रसराज मधुर रस में वही गृहीत है—
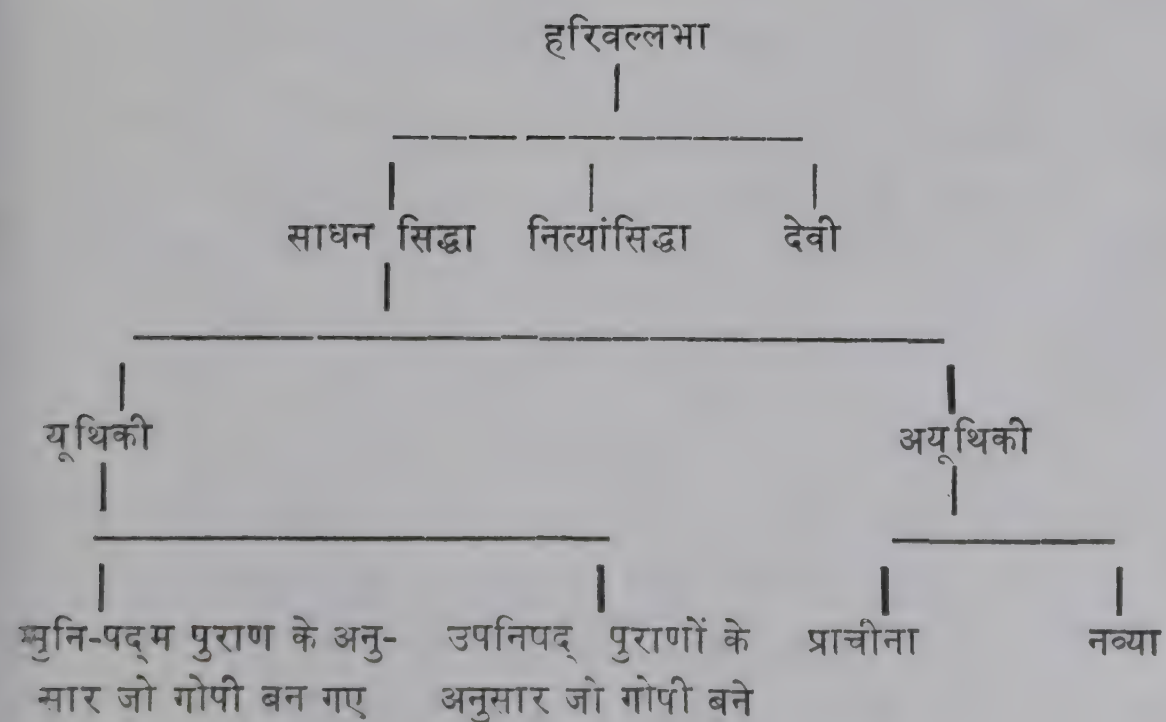
इनमें राधा वृन्दावनेश्वरी, कृष्ण की नित्य सहचरी, परम प्रियतमा ह्लादिनी महाशक्ति है। राधा की सखियाँ पाँच प्रकार की हैं— सखी, नित्य सखी, प्राण सखी, प्रिया सखी और परम प्रेष्ठा सखी।

यहाँ एक बात ध्यान में रहे कि कोटि-कोटि मुक्त पुरुषों में एक भगवद्-भक्त दुर्लभ हैं। जो लोग अष्टांग योग या ब्रह्मज्ञान के द्वारा मुक्ति पा जाते हैं, वे ब्रह्मधाम में ही आत्मविस्मृति का आनंद लेते रहते हैं। जो भगवान् के ऐश्वर्यपरायण भक्त हैं वे लोग भी गोलोक में नहीं जाते वे वैकुण्ठ में अपने भावानुसार भगवान् की ऐश्वर्य-मूर्ति की सेवा करते रहते हैं। जो लोग व्रजरस से भगवान् का भजन करते हैं वे ही गोलोक देख पाते हैं। गोलोक में शुद्ध चित्प्रतीति है। गोलोक स्व-प्रकाश वस्तु है। भक्तों के हृदय में गोलोक प्रकाशित होता है।

व्रजरस

कृष्ण भक्ति के आलंबन विभाव

- कृष्ण : विषय :
  - स्वरुप
    - आवृत
    - प्राकृत
  - अन्यरुप
- कृष्णभक्ति : आधार :
  - साधक
  - सिद्ध
    - संप्राप्त सिद्ध
      - साधना से
      - कृपा से
    - नित्यसिद्ध
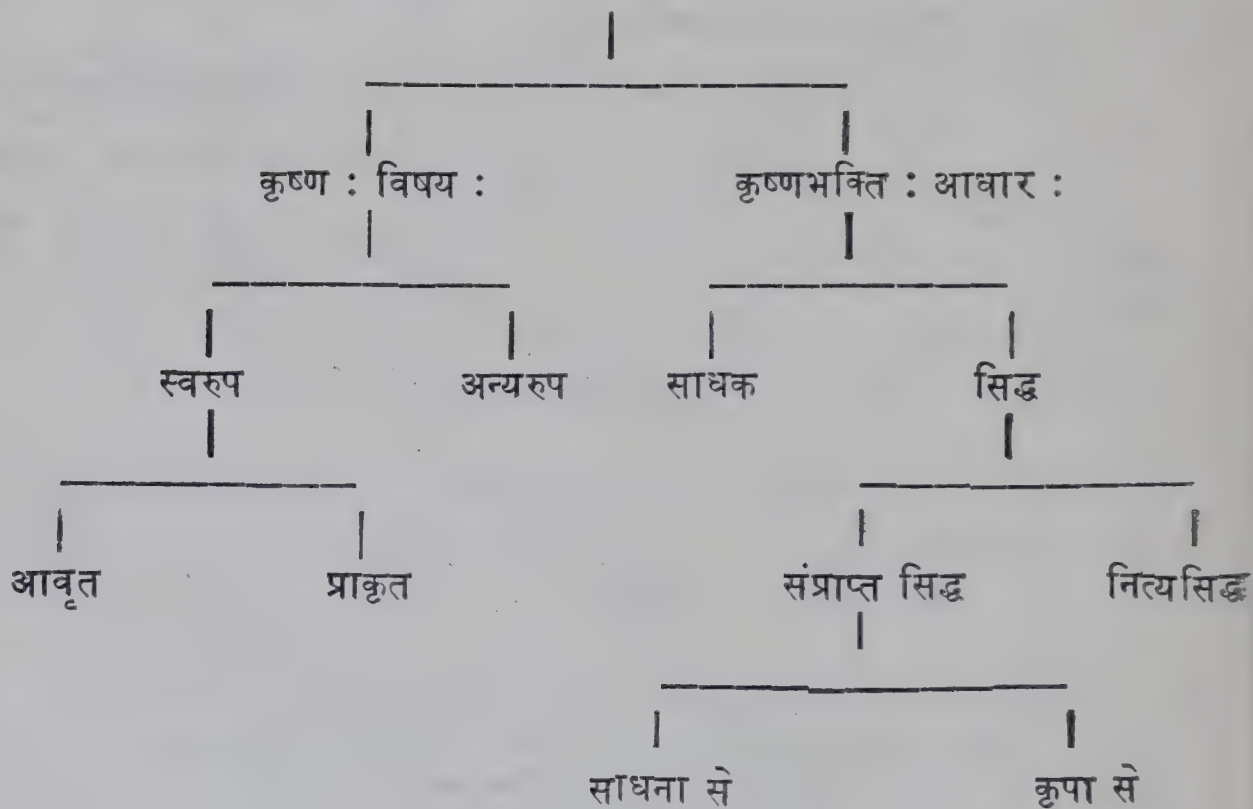
नायक के चार भेद— (१) अनुकूल, (२) दक्षिण, (३) शठ और (४) धृष्ट। इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद— धीरोदात्त, धीर ललित, धीरोद्धत और धीरशांत।

नायक-भेद

नायक के सहायकों के पाँच भेद हैं— चेट, विट, विदूषक, पीठमर्दक और प्रियनर्मसखा। दूती के दो प्रकार— स्वयं और आप्त। विभिन्न चेष्टाओं और संकेतों से, जैसे भ्रू-विलास, अधरदंशन आदि द्वारा जो नायक को नायिका की ओर आकृष्ट करती है वही स्वयं दूती है। आप्त दूती वह है जो नायक का पत्र आदि ले जाती है। उनके तीन भेद हैं—अमितार्था, विसृष्टार्था और पत्र- हारिका। इनमें शिल्पकारी, दैवज्ञ, लिंगिनी, परिचारिका, धात्रेयी, सखी, वनदेवी आदि कई भेद हैं। संकेत वाच्य भी हो सकता है, व्यंग्य भी। साक्षात् भी हो सकता है अथवा व्यपदेशन भी।

सहायक भेद

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण द्वारकापुरी में पति भाव से और ब्रजपुरी में उपपति भाव से लीला करते हैं। सकल ब्रजवासिनी ललना ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की परकीया हैं। कारण कि परकीया के अतिरिक्त मधुर रस का अत्यन्त उत्कृष्ट विकास हो नहीं सकता। थोड़ा इसे विस्तार से समझना आवश्यक प्रतीत होता है। स्त्रियों में जो वामता, दुर्लभता, निबंधन-निवारणादि प्रतिबंधकता है, वही है कंदर्प का परम आयुध। जहाँ निषेध विशेष है और ललना दुर्लभ है, वहीं नागर का हृदय अतिशय आसक्त होता है। नंदनंदन श्रीकृष्ण गोप हैं। गोपी के अतिरिक्त किसी से वे रमण करते नहीं। गोपियाँ जिस भाव से श्रीकृष्ण की भजनसेवा करती थीं, श्रृंगार रसाधिकारी साधक भी उसी भाव से कृष्ण का भजन करते हैं। भावनामार्ग से अपने को ब्रजवासी मानकर किसी सौभाग्यवती ब्रजवासिनी के परिचारिका-भाव से उसके निर्देश पर राधाकृष्ण की सेवा करे। अपने को प्रौढ़ा जाने बिना रसोदय होगा नहीं। यह प्रौढ़ाभिमान ही ब्रजगोपीत्व कर्म है।[1]

परकीया में रस की उत्कृष्टता क्यों ?

---

१ श्रीरूपगोस्वामी लिखते हैं—

मायाकल्पिततादृक् स्त्री शीलनेनानसुयिभिः।

न जातु ब्रजदैवीनां पतिभिः सह सगमः॥
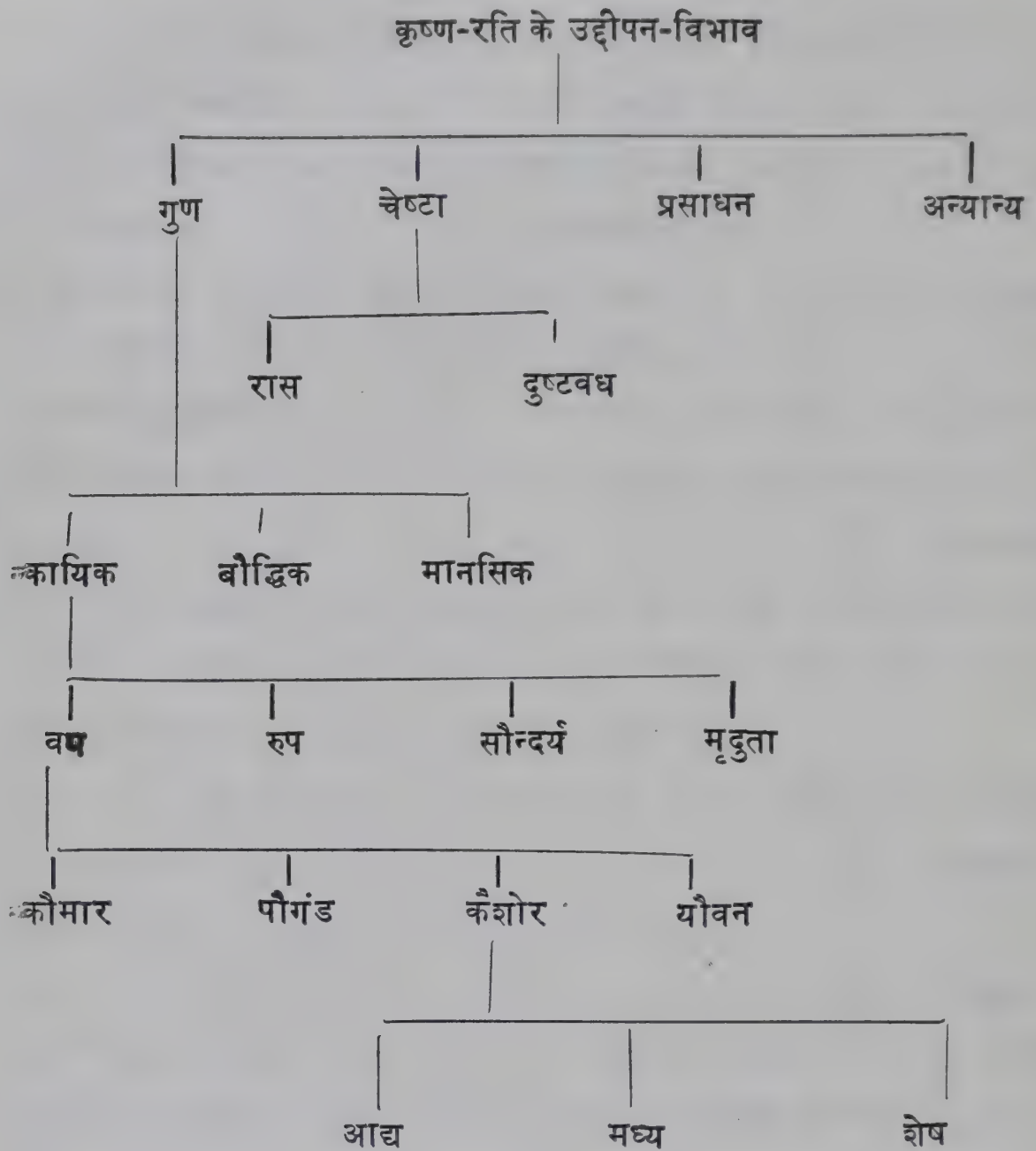
ब्रजवासी भाव

परन्तु यह प्रश्न उठता है कि पुरुष साधक अपने को 'प्रौढ़ा' किस प्रकार माने ? पुरुष इस 'प्रौढ़ाभिमान' को सिद्ध कर सकेगा ? उत्तर यह है कि पुरुष मायिक स्वभाववश ही संसार में अपने को पुरुष समझता है। शुद्ध सत्व भाव में कृष्ण के अतिरिक्त यावत्जीव-मात्र ही स्त्री है। चिद्गठन में वस्तुतः स्त्री पुरुष चिन्ह हैं नहीं, इसलिए कोई भी ब्रजवासिनी होने का अधिकार लाभ कर सकते हैं। जिन्हें मधुर रस की स्पृहा है उन्हें तो ब्रजवासिनी होना ही पड़ेगा। स्पृहा के अनुरुप साधना करते-करते सिद्धि का उदय होता है।

प्रसाधन
वसन
आकल्प
यमुन
युग
चतुष्क
भूमिस्ठ
कंचुक
उष्णीश
तुड्वंध
आन्तरायिक
केशर्वधन
आलेप
माला
चित्र
विशेषक (तिलक)
तांबुल
कैलिपव्म
चूड़ा
कबरी
जूट
वेणी
पांडुर
पीत
कर्बुर
वैजयंती
रत्नमाल
वनस्रज
श्वेत
पीत
अरुण
किरीट
कुण्डल
हार
चतुष्की
वलय
अंगुरीय
केयूर
नूपुर
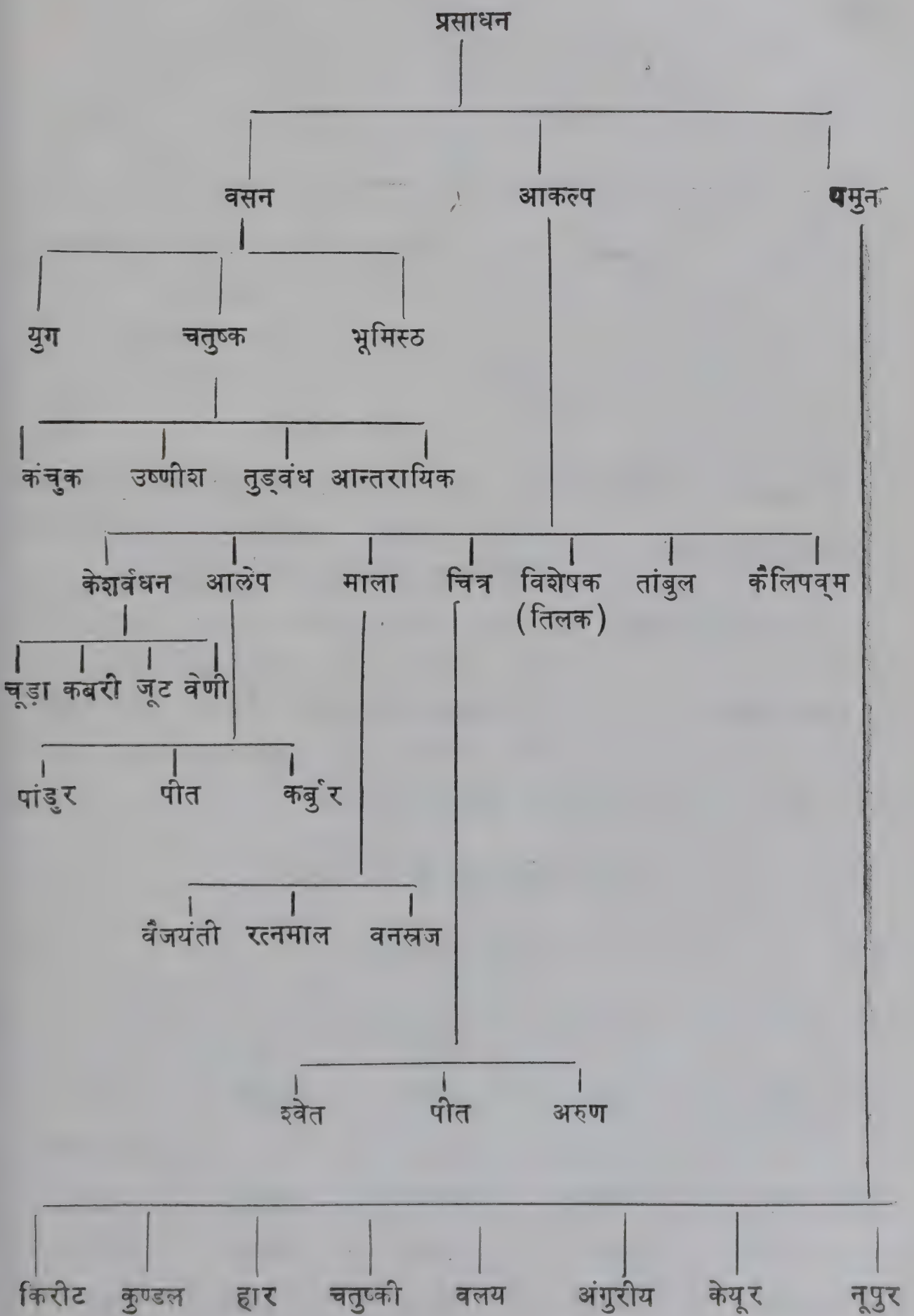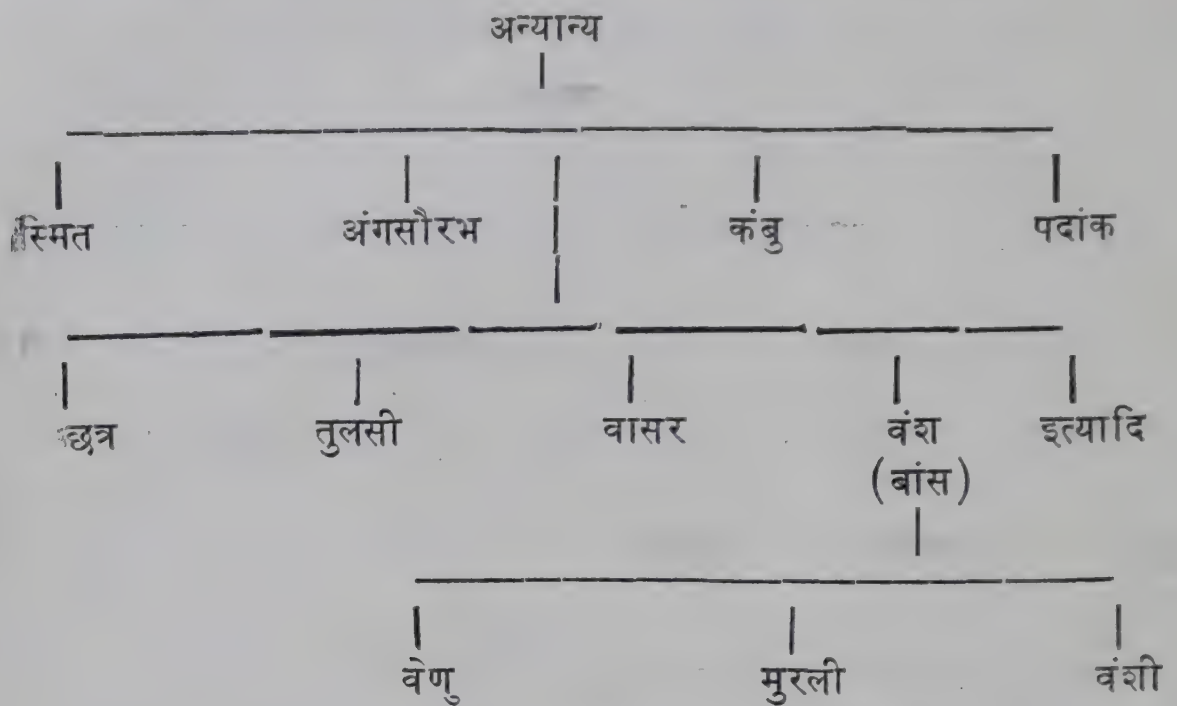
रति के अनुभाव कृष्ण-रति के अनुभाव हैं— नृत्य, विलुठित, गीत, क्रोशन, तनुमोटन, हुंकार, जंभन, श्वासभूयन, लोकानपेक्षिता, लालास्रव, अट्‌ठहास, घूर्णा, हिक्का।

अष्ट सात्विक भाव : स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय।

स्थायी भाव काव्यशास्त्र के अनुसार रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद, परंतु भक्तिशास्त्र के अनुसार श्रृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत और शांत।

मुख्य भक्ति-रस के रंग आदि

मुख्य भक्ति-रस

रस—शान्त	प्रीत	प्रेयस्	वात्सल्य	मधुर प्रिया प्रीतम्
भाव—शांत	विश्वस्त	मित्रता	स्नेह	श्याम
रंग—स्वेत	चित्र	अरुण	शोण	उज्ज्वल
देवता—कपिल	माधव	उपेन्द्र	नृसिंह	कृष्ण

गौण भक्ति रस

रस—हास्य	अद्भुत	वीर	करुण	रौद्र	भयानक	वीभत्स
रंग—पाण्डुर	पिंगल	गौर	धूसर	रक्त	काला	नील
देवता—बलराम	कूर्म	कल्कि	राघव	भार्गव	वाराह	मत्स्य

ऊपर हम उद्दीपन-विभाव का विवरण प्रस्तुत कर चुके हैं। उद्दीपन में तटस्थ वस्तुओं में वसन्तागमन, कोकिल-कूजन, मेघमाला का घिर आना, चन्द्रदर्शन आदि मुख्य हैं। यौवन की तीन अवस्थाएँ हैं—नव्य, व्यक्त और पूर्ण। श्रीकृष्ण का नाम, चरित, लीला, उदाहरणार्थ वंशीवादन, गोदोहन, गोवर्धन-धारण आदि विशेष रूप से उद्दीपन विभाव में आते हैं। वृन्दावन, इसकी नदियाँ, कुंज, वृक्ष-गुल्मलता, पुष्प, पक्षी, पशु आदि भी प्रेम को उद्दीप्त करते हैं।

उद्दीपन-विभाव की विशेषता

अनुभावों का विवरण भी ऊपर की तालिकाओं में आ गया है। उसमें बाईस अलंकार, सात उद्भास्वर और तीन अंगज हैं। अंगज अनुभवों में भाव, हाव, हेला और स्वभावज में लीला, विलास, विच्छित्ति, मोट्टायित आदि मुख्य हैं। 'लीला' का अर्थ है प्रियतम के चरित्र का क्रीड़ामय अनुकरण; 'विलास' का अर्थ है क्रीड़ा के संकेत; विच्छित्ति का अर्थ है अलंकरण और 'मोट्टायित' का अर्थ है इच्छा का स्पष्ट उल्लेख। ये सब तो काव्यशास्त्र की परम्परा में भी हैं, पर सात उद्भास्वर सर्वथा नए हैं—वे हैं नीवीविस्रंसन, उत्तरीय-स्खलन, जृंभा-जंभाई लेना, केश-संस्रन इत्यादि। ये वस्तुतः विलास और मोट्टायित के अन्तर्गत आ जाते हैं। द्वादश वाचिक अनुभावों में हैं आलाप, विलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, संदेश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निदेश और व्योपदेश।

अनुभावों की विशेषता

अष्ट सात्विक भाव तो काव्यशास्त्र की तरह ज्यों-के-त्यों यहाँ भी हैं। परंतु उनकी चार अवस्थाएँ हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त, और उद्दीप्त।

नायिका की दृष्टि से मधुरा रति के तीन भेद हैं—(१) साधारणी, आत्म-तर्पणैकतात्पर्या--जिसमें अपनी ही तृप्ति मुख्य है—जैसे कुब्जा। यह प्रेमावस्था तक जाती है। (२) समंजसा—उभय-निष्ठारति— जिसमें अपना सुख और कृष्ण का सुख समान रूप से अपेक्षित है— जैसे रुक्मिणी। यह अनुराग अवस्था तक जाती है। (३) समर्था केवल कृष्णार्थ—जैसे—गोपियाँ।

मधुरा रति के भेद (नायिका की दृष्टि से)

यह महाभाव अवस्था तक जाती है। रामभक्ति-साहित्य में इसी को (१) स्वमुखी (२) चित्सुखी और (३) तत्सुखी नाम से अभिहित किया गया है जो वस्तुतः और भावतः सर्वथा इससे अभिन्न हैं।

१. प्रेम—प्रेम का अर्थ है भावबंधन। यही है रति का अमर बीज और उत्कृष्टता की दृष्टि से इसके तीन भेद हैं—प्रौढ़, मध्य, और मंद।

मधुरा रति के भेद (भावों के अनुसार)

२. स्नेह—यह प्रेम की विकसित एवं उन्मद अवस्था है। शब्द सुनकर, रूप देखकर या स्मृति में हृदय द्रवित होता है, क्योंकि हृदय—द्रावण इसका मुख्य लक्षण है। इसमें भी उत्कृष्टता की दृष्टि से तीन भेद हैं—श्रेष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ। इस स्नेह के दो मुख्य भेद हैं—

घृत-स्नेह और मधु-स्नेह

(क) घृत-स्नेह— अखण्ड घृतधारावत्, उत्कण्ठा घृत की तरह तरल भी, घनी भी। रति का उदय।

(ख) मधु-स्नेह—अखण्ड और मधुर। रति स्थिर हो जाती है।

३. मान—अर्थात् प्रेमातिरेक की अवस्था में उपेक्षा का अभिनय। इसके दो भेद—उदात्त (घृतस्नेहवत्) और ललित (मधुस्नेहवत्)।

४. प्रणय—विश्रम्भ-इसके मुख्य दो भेद (१) मैत्र और (२) सख्य उदात्त और ललित के सम्पर्क में इन दोनों प्रकार के प्रणय के फिर दो भेद होते हैं— सुमैत्र और सुसख्य। विकास-क्रम में इसकी गति होती है—

प्रणय के भेद तथा विकास-क्रम

स्नेह   प्रणय   मान

अथवा—

स्नेह   मान   प्रणय

राग और उसका भेद

५. राग—श्रृंगार में दुःख का सुख में बदलना। इसके दो रंग माने गए हैं (१) नीलिमा या (२) रक्तिमा। नीलिमा के फिर दो भेद— (१) नीलि राग- जिसका रंग न बदले और जो अव्यक्त हो या श्यामा राग— धीरे-धीरे पूर्णता को प्राप्त होनेवाला और जरा-जरा प्रकाशित। रक्तिमा राग के भी दो भेद—

कुसुंभ राग-हलके रंग का—जो जल्दी दूसरे राग में धुल जाए और दूसरे रागों को अभिव्यक्त करे या मंजिष्ठ राग—स्थायी और स्वतन्त्र।

६. अनुराग—नित नूतन प्रेम। इसके कई स्वर हैं—(१) परवशी भाव-आत्मसमर्पण, (२) प्रेमवैचित्य— विरह की स्नेहमयी आशंका, (३) अप्राणि-जन्म—प्यारे के स्पर्श पाने के लिए निर्जीव वस्तुओं के रूप में जन्म लेने की आकांक्षा और (४) विप्रलम्भ विस्फूर्ति —विरह में प्रिय की झलक।

७. भाव या महाभाव—(१) रूढ़—जहाँ सात्विकों की परम उद्दीप्त स्थिति हो गई है। संभोग या विप्रलम्भ दोनों ही अवस्थाओं में (क) निमिष मात्र का भी विरह असह्य हो जाता है, (ख) आसन्न जनता के हृदय को विलोड़ित करने की शक्ति होती है, (ग) एक क्षण कल्प की तरह और एक कल्प क्षण की भाँति हो जाता है, (घ) प्रियतम की सुखमय अवस्था में भी आर्त्ति-शंका के कारण खिन्नता और (ड) मोह, मूर्च्छा आदि के अभाव में भी पूर्ण आत्मविस्मरण।[1]

(२) अधिरुढ़—उपर्युक्त रूढ़ भाव की विशेष उत्कर्ष दशा। इसके दो प्रकार—(क) मोदन-सात्विकों का अत्यन्त उद्दीप्त सौष्ठव—जो केवल राधा-वर्ग में मिलता है। इसी का और विकसित रूप है (ख) मादन सात्विकों का सूद्दीप्त सौष्ठव—प्रिया के आलिंगन में होते हुए भी प्रिय का मूर्च्छित होना[2]—तथा स्वयं असह्य दुःख स्वीकार करके भी प्रिय की सेवा-कामना[3]—मृत्यु का वरण करके भी प्रियतम के साथ अंग-संग की अभिलाषा[4]—और अन्त में है दिव्योन्माद। दिव्योन्माद की अवस्था में नाना प्रकार की अवष क्रियाएँ तथा चेष्टाएँ हो सकती हैं जिसे 'उद्‌घूर्ग' कहते हैं। प्रियतम के किसी मित्र से मिलने पर नाना प्रकार की बातचीत हो सकती है जिसे 'चित्रजल्प' कहते हैं। इस चित्रजल्प की दस अवस्थाएँ होती हैं—प्रजल्प, परिजल्प, विजल्प, उज्जल्प, संजल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प, और सुजल्प।

---

१. पंचत्वं तनुरेतु भूतनिवहा स्वांशे विशंतु स्फुटम्।
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्॥
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयांगने।
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवन्तेऽनिलाः॥
-श्रीजीवगोस्वामी।

२. "कान्ताश्लिष्टेऽपि मूर्छना"।

३. "असह्यदुःखस्वीकारादपि तत्सुखामिता।"

४. "ब्रह्माण्डक्षोभकारित्वम्।"

मादन का अर्थ है समस्त भावों का अंकुरित हो जाना। यह केवल राधा में मिलता हैं। इसका लक्षण यह है— मान के कारण न होने पर भी मान

पुनः मादन —— करना और प्रियतम के साथ संभोग की अवस्था में भी विरह की शंका या नायक के संबंध की विविध बातों का चिंतन स्मरण। मधुरा रति का स्थायी भाव ही

मधुर रस या शृंगार रस हो जाता है। इसके दो भेद हैं— संभोग और विप्रलम्भ। विप्रलम्भ के अनेक अवान्तर भेद हैं ।[१]

१. **पूर्वराग** : प्रसुप्त प्रेम, मिलन के पूर्व का प्रेम। प्रियतम के प्रथम दर्शन, श्रवण, स्वप्नदर्शन, चित्रदर्शन से उद्भूत प्रणय-पिपासा। यह प्रौढ़, समंजस या साधारण भेद से तीन प्रकार का होता है। प्रौढ़ पूर्वराग की दस दशाएँ हैं—

लालसा, उद्वेग, जागरण, तानव (दुर्बलता), जडिमा (शरीर का सुन्न पड़ जना), वैवग्रय (व्यग्रता), व्याधि (पीला पड़ जाना), उल्लास, मोह (मूर्च्छा) और मृत्यु।

समंजस पूर्वराग की दस दशाएँ— समंजस पूर्वराग की दस दशाएँ हैं— अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मति।

साधारण पूर्वराग की छह दशाएँ—साधारण पूर्वराग की छह दशाएँ हैं, जो समंजस पूर्वराग की प्रथम छह के समान ज्यों-की-त्यों अभिलाष से आरम्भ होकर विलाप पर समाप्त हो जाती हैं।

२. **मान**[२] : प्रेम की परिणति में बाधा डालने वाला तथा प्रणयोल्लास को उभारने वाला क्रोधाभास। प्रेमास्पद की कोई चेष्टा या 'हरकत' देखकर, सुनकर या अनुमान कर जो मान होता है वह 'सहेतुक' है। मान का दूसरा भेद है निर्हेतुक या कारणाभाससहित। मधुर शब्द से, उपहार आदि में, आत्म-प्रशंसा से अथवा उपेक्षा से मान का उपशमन हो जाता है।

३. **प्रेमवैचित्य** : अर्थात् प्रेमास्पद की उपस्थिति में भी विरह की आशंका।

---

१. "रसार्णव-सुधाकर" में विप्रलंभ के चार प्रकार हैं-- पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण।

२. "मान" शब्द भी "रस" की भाँति बड़ा ही व्यापक और गंभीर अर्थवाला है। हर्ष, विषाद, भय, आशा, अहंकार और क्रोध, प्रेम और वितृष्णा के साथ-साथ मिलन और रसोपभोग की उत्कट कामना आदि का सम्मिलित रूप "मान" अपने-आप में कितना रहस्यमय शब्द है, बाहर-बाहर से उदासीनता और भीतर-भीतर से प्रबल आसक्ति। इसके व्यक्त रूप की कल्पना ही की जा सकती है, चित्रण नहीं।

४. **प्रवास** : प्रिय के वियोग में मानसिक क्षोभ। प्रवासजन्य क्लेश की दस दशाएँ हैं—चिंता, जागरण, उद्वेग, तनाव, मलिनांगता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु।

नित्य लीला में नित्य संयोग

नित्य लीला में कृष्ण का ब्रजदेवियों से कथमपि वियोग नहीं होता, क्योंकि इनका मिलन नित्य है। प्रकट लीला में ही श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर गोपियों को प्रवासजन्य क्लेश होता है। अर्थात् प्रकट लीला में बाहर-बाहर से देखने भर को ही श्रीकृष्ण का मथुरागमन होता है, वास्तव में तो सत्य यह है कि, "वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।"

संयोग श्रृंगार के दो भेद—(१) मुख्य और (२) गौण। मुख्य संयोग है साक्षात् प्रकट मिलन और गौण है स्वप्नादि में मिलन। इन दोनों के पुनः चार भेद हैं[1]—(१) संक्षिप्त, (२) संकीर्ण, (३) सम्पन्न और (४) समृद्धिमत्। इसके

संयोग-श्रृंगार के भेद उपभेद

अनेक प्रकार हैं-- दर्शन, स्पर्श, मंद-मंद वार्तालाप, राह रोकना, रास, जलक्रीड़ा, वृंदावन-क्रीड़ा, यमुना जल-केलि, नौका-विहार, चीर-हरण, वंशी चोरी, पुष्पचोरी, दान-लीला, कुंजों में आँखमिचौनी, मधुपान, कृष्ण का स्त्रीवेश धारण, कपट-निद्रा, द्यूत-क्रीड़ा, वस्त्राकर्षण, नखार्पण, बिम्बाधरसुधापान, निम्नुत्नरमगादि; संप्रयोग, चुम्बन, आलिंगन आदि-आदि और अन्त में संभोग। सम्प्रयोग की अपेक्षा लीला-विलास में अधिक सुख है।

लीला के दो भेद—प्रकट लीला और अप्रकट लीला। वन-वृंदावन में प्रकट लीला, मन-वृंदावन में अप्रकट लीला और नित्य-वृंदावन

लीला के भेद
वन वृंदावन
मन वृंदावन
नित्य वृंदावन

में नित्य लीला। परंतु प्रकट ब्रज-लीला के भी दो भेद हैं- नित्य और नैमित्तिक। ब्रज में जो अष्टकालीन लीला है वही नित्य है और पूतना-वधादि दूरप्रवासादि नैमित्तिक लीला है। निशांत, प्रातः, पूर्वाह्न, मध्याह्न, सायं, प्रदोष और रात्रि भेद से अष्टकालीन लीला।[2]

मधुर रस का द्विविध रूप है—सामान्य रूप में वह सर्वगत व्यापक है परंतु

---

१. "रसार्णव-सुधाकर" ने भी संयोग के चार उपर्युक्त भेद माने हैं। जीव गोस्वामी ने पूर्वराग के बाद संभोग के चार भेद माने हैं और उनके नाम हैं-- संदर्शन, संस्पर्श, संजल्प संप्रयोग।

२. निशान्तः प्रातः पूर्वाह्णो मध्याह्नश्चापराह्णकः। सायं प्रदोषरात्रिश्च कालाष्टौच यथाक्रमम्॥

विशेष रूप में वह परिच्छिन्न है। सामान्य रूप में वह उपनिषदादि में विद्यमान है। मूल में एक अद्वय वस्तु, परंतु आनंद के लिए दो, स्त्री-पुरुष अथवा प्रकृति-पुरुष। ये दोनों परस्पर पूरक हैं और एक दूसरे को पाकर पूर्ण होना चाहते हैं।[1] इसी प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय की एकता त्रिपुटीभंग द्वारा होती है। मिलन की पूर्णता के आधार पर ही भाव का विकास होता है। पूर्ण मिलन निस्संकोच और निरावरण मिलन मधुर में ही होता है।

मधुर रस की उपासना संसार की प्रायः सभी साधनाओं में प्रकट या गुप्त रूप में विद्यमान हैं। ईसाई संतों और सूफी फकीरों की अनुभूतियों में मधुर रस की ही धारा है। समस्त सगुण उपासना में मधुर भाव की स्वतः स्फूर्त्ति है, क्योंकि जीव अपने-आप को पूर्णतः देकर अपने प्राणाराम को पूर्णतः पा लेना चाहता है। जीव-जीवन की यह एक परम सामान्य, परंतु साथ ही परम विलक्षण विशेषता है कि वह अपने प्यारे का प्रियतम बनना चाहता है, जिसे प्यार करता है उसके प्यार पर अपना एकाधिकार या इजारा चाहता है।[2] सगुण साधना में यह चाह सहज रूप में बलवती एवं फलवती होती है।

---

१. इसी को प्रो० रायस

'One longs for another for perfection.
(Royee) 'Mans' homing instinct' कहते हैं।

२. इश्क अल्लाह महजुब अल्लाह —अल बस्तामी।

The lover of God is the beloved of God.
He who chooses the Divine has been choosen by the Divine. —Sri Aurobindo.

★

तीसरा अध्याय

युगल उपासना का रहस्य

पूर्ण ब्रह्म परमात्मा अपनी अचिन्त्य, अप्रतक्ष्य, अनिर्वचनीय शक्ति से नित्य अभिन्न हैं। यह अभिन्नता मधु और उसका माधुर्य, चंद्रमा और उसकी चाँदनी, पुष्प और उसकी सुगंध तथा अग्नि और उसकी दाहकत्व-शक्ति की तरह है। सर्व-व्यापी परातपर ब्रह्म अपनी माया-शक्ति की सहायता से सगुण साकार रूप में प्रकट होता है, जैसे यह अखिल ब्रह्माण्ड लीला हेत्वर्थ उसके चिद्विलास का परिणाम है, वह स्वयं जगत् रूप में प्रकट हैं, वैसे ही सम्पूर्ण सौंदर्य, माधुर्य, सौगन्ध्य, कारूण्य वात्सल्य आदि का स्रोत प्रभु केवल निज भक्तजन प्रीत्यर्थ उनके भावानुरूप विग्रह को धारण करता है। गोस्वामीजी महाराज ने 'सो केवल भगतन हित लागी' कहकर इसका समर्थन किया है। विश्व के विभिन्न स्थानों एवं कालों में, देश-काल अपरिच्छिन्न परमात्मा के अवतार में स्वरूप भेद के कारण भक्तों की इच्छाएँ ही हैं। उनमें कलाओं के न्यूनाधिक्य के कारण भक्ति के भावों में तारतम्य है। शीर्ष स्थानीय मधुर भक्ति का आलम्बन भगवान् का व्रजेन्द्र नंदन स्वरूप ही है। यह विष्णु के पूर्ण कलाओं का अवतार माना जाता है।

कुछ अवतारों में तो परमात्मा अपनी शक्ति को अपने में छिपाए प्रकट होते हैं, जैसे, मत्स्य, कूर्म, वाराह, कच्छ, नृसिंहादि में तथा कुछ अवतारों में अपनी नित्य अपृथक् शक्ति को अपृथकवत् कर लीला के विशेष हेतु से प्रकट करते हैं। राम, कृष्ण, शिवादि का अवतार शक्ति सविशेष है।

भाव में अमोघ शक्ति है। यदि ज्ञान का संबंध मस्तिष्क से है तो भाव का संबंध हृदय से। प्रेम का भी उत्पत्ति-स्थान हृदय ही है। अतः भाव और प्रेम

सहोदर भाई हैं। भगवान् को प्रेम प्रिय है, और रहते हैं भाव के वश में। "भाव वस्य भगवान् सुख निधान करुणा भवन"—अर्थात् वे भावानुकूल प्रेम के अनुरूप ही भक्त के अधीन होकर लीला करते हैं। शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य, माधुर्यादि भावों का यही रहस्य है। भक्त के सप्रेम सम्पूर्ण भाव उन्हें स्वीकृत है। भाव की अतुलित शक्ति की कल्पना कीजिए जो अनंत कोटि ब्रह्माण्डों के स्रष्टा को भी पुत्र बना देती है, यही नहीं रथ-चालक भी। लेकिन गोपी-भाव में जो मिठास है वह किसी में भी नहीं। यहाँ परमात्मा ने अपने सम्पूर्ण आनंद-सुधा से ब्रज-वीथि को आप्लावित कर दिया है। ब्रज-वृंदावन का प्रत्येक कण उस आनंद से सिक्त हो गया है।

शक्ति रहित सगुण-स्वरूप की उपासना से शक्तियुक्त उपासना में अनंत गुणा अधिक आनंद है। माता के माध्यम से उपासना करने में कृपा की प्राप्ति शीघ्र और निश्चय ही होता है। क्योंकि परमात्मा में करुणा, दयादि

शक्ति और शक्तिमान् की नित्य एकता

तत्त्व इन्हीं शक्तियों के आश्रय से रहते हैं। गौरीशंकर, सीता-राम, राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप में नितांत एकता है— शब्द और अर्थ की तरह, जल और उसकी लहर की तरह-कालिदास ने तो केवल 'पितरौ' कहकर ही पार्वती और शंकर की वन्दना की है।[१] गोस्वामीजी ने भी सीता-राम जी की वंदना परस्पर अभिन्न मानकर ही की है।[२] सीतोपनिषद् में तो स्पष्ट कहा गया है कि श्रीसीताजी श्रीराम की नित्य सन्निधि के कारण जगदानन्दकारिणी हैं। समस्त शरीर-धारियों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाली हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी राधाजी से कहा है : जो तुम हो, वही मैं हूँ, हम दोनों में कदापि किंचित भी भेद नहीं है। जैसे दूध में सफेदी, अग्नि में दाहिका शक्ति और पृथ्वी में गंध है, वैसे ही मैं

---

१. "जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।"

२. गिरा अर्थ जल वीचि सम, गनियत भिन्न न भिन्न।
वन्दौ सीताराम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

रामचरितमानस।

विविध शास्त्रों में एकता का प्रतिपादन

निरन्तर तुम में हूँ।[1] देव्युपनिषद् में देवी ने स्वयं कहा है कि— 'मैं ब्रह्म-स्वरूपा हूँ। मुझसे प्रकृति-पुरुषात्मक कारण रूप और कार्य रूप जगत् उत्पन्न हुआ है। मैं आनंद और आनंद रूपा हूं आदि-आदि।"[2] श्रीराधिकातापनीयोपनिषद् में लिखा है—'जिनका इस उपनिषद् में वर्णन हुआ है, वे श्रीराधिकाजी और आनंदसिन्धु श्रीकृष्णचन्द्र वस्तुतः एक ही शरीर एवं परस्पर नित्य अभिन्न हैं। केवल लीला के लिए वे दो स्वरूपों में व्यक्त हुए हैं।[3] देवी भागवत पुराण में श्रीसूतजी ने भी ऋषियों से कहा है— 'विद्वान पुरुष भी ऐसा कहते हैं और पुराणों ने भी घोषणा की है कि ब्रह्मा में जो सृजन-शक्ति है, विष्णु में जो पालन-शक्ति है तथा शिव में जो संहार-शक्ति है एवं सूर्य में जो प्रकाशन-शक्ति है तथा शेष और कच्छप में जो पृथ्वी को धारण करने की शक्ति है, अग्नि में जलाने की और वायु में जो हिलाने डुलाने की शक्ति है—यों सबमें जो शक्ति विद्यमान है, वही आद्याशक्ति है। इस प्रकार सबमें व्यापक रहनेवाली उस आद्या-शक्ति का ही 'ब्रह्म' इस नाम से निरूपण किया गया है।[4] स्वयं भगवती देवी ने

---

१. यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नापगोध्र्ुगम् ।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति ।
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहंत्वयि संतमम् ।।

ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्णजन्म खण्ड-- ६।२१४

२. देव्युपनषिद्, उपनिषद् अंक, पृष्ठ- ६४६

३. श्रीराधिकातापनीयोपनिषद, श्लोक-- १२

४. विद्वांसो पि वदन्त्येवं पुराणैः परिगीयते ।
द्रुहिणे सृष्टि शक्तिश्च हरौ पालनशक्तिता ।
हरे संहार शक्तिश्च शेषं कूर्मे तथैव च ।।
साद्याशक्तिः परिणता सर्वस्मिन् या प्रतिष्ठिता ।
दाह शक्तिस्तथा वह्नौ समीरे प्रेरणात्मिका ।।
एवं सर्वगता शक्तिः सा ब्रह्मेति विविच्यते ।।

(देवी भागवत १।८।२८-३०,३४,४६)

ब्रह्माजी से इसी तत्त्व का वर्णन किया है--"मैं और ब्रह्म एक ही हैं। मुझमें और ब्रह्म में कभी किंचित्मात्र भी भेद नहीं है। जो वे हैं, वही मैं हूँ, जो मैं हूँ, वही वे हैं। बुद्धि के भ्रम से भेद प्रतीत हो रहा है। जो बुद्धिमान् पुरुष हमलोगों के सूक्ष्म भेद को जानता है, वही मुक्त है। उसके इस संसार-सागर से मुक्त होने में कुछ भी संदेह नहीं है।"[१] इससे आगे वे कहती हैं—"सम्पूर्ण देवताओं में मैं विभिन्न नामों से विख्यात हूँ—यह निश्चित बात है। मैं शक्तिरूप धारण करके पराक्रम करती हूँ। गौरी, ब्राह्मी, रौद्री, वाराही, वैष्णवी, शिवा, वारूणी, कौबेरी, नारसिंही और वासवी—सभी मेरे ही रूप हैं। जल में शीतलता, अग्नि में उष्णता, सूर्य में ज्योति एवं चन्द्रमा में शीतलता का विस्तार करने की योग्यता जिस प्रकार बनी रहे, वैसी व्यवस्था करके मैं ही स्वेच्छानुसार उनके भीतर प्रविष्ट होती हूँ।"[२]

शिव पुराण में तो विस्तारपूर्वक दोनों की एकता का प्रतिपादन किया गया है। शक्तिमान् के स्वरूप की अभिव्यक्ति उनकी शक्ति से ही होती है। अतएव शक्ति का स्वरूप भी वही है, जो शक्तिमान् का है। भगवती पराशक्ति उमा देवी-

---

१. सदेकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदेव ममास्य च।
यौऽसौ साहमहं यासो भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात् ॥
आवयोरन्तरं सूक्ष्मं यो वेद मतिमान् हि सः।
विमुक्तः स तु संसारान्मुच्यते नात्र संशयः॥
(दे० भा० ३।६-२-३)

२. सर्वमेवाह मित्येवं निश्चतं विद्ध पद्मज ॥
नूनं सर्वेषु देवेषु नाना नामधरा ह्यहम्।

— — —

भवामि शक्तिरूपेण करोमि च पराक्रमम ॥
गौरी ब्राह्मी तथा रौद्री वाराही वैष्णवी शिवा।
वारूणी चापि कौबेरी नारसिंही च वासवी॥
जले शीतं तथा बह्नावौष्ण्यं ज्योतिर्दिवाकरे।
निशानाथे हि मां कामं प्रभवामि यथा तथा ॥
—दे० भा० ३।६ ११,१३,१४-१६।

इन्द्रादि देवों से कहती हैं—"मैं ही पर ब्रह्म, परम ज्योति, प्रणव रूपिणी तथा युगल रूप धारिणी हूँ। मैं ही सब कुछ हूँ। मुझसे भिन्न कुछ भी पदार्थ नहीं हैं। मैं निराकार होकर भी साकार हूँ। सर्वतत्त्व स्वरूपा हूँ, मेरे गुण अतर्क्य हैं। मैं नित्य स्वरूपा तथा कार्य कारणरूपिणी हूँ। मैं ही प्राणवल्लभा नारी का आकार धारण करती हूँ और कभी प्राणवल्लभ पुरुष का। कभी एक साथ स्त्री और पुरुष दोनों रूपों में (अर्धनारीश्वररूप में) प्रकट होती हूँ। मैं सर्वरूपिणी ईश्वरी हूँ, मैं ही जगत् पालक अच्युत विष्णु हूँ और मैं ही संहारकर्ता रुद्र हूँ। संपूर्ण विश्व को मोह में डालनेवाली महामाया भी मैं ही हूँ। काली, लक्ष्मी, और सरस्वती आदि सम्पूर्ण शक्तियाँ तथा ये सभी कलाएँ भी मेरे ही अंश से प्रकट हुई हैं।"[१] यह सम्पूर्ण जगत् शिवशक्ति की ही लीला है। अतः जितने पुरुष हैं, सब शिव हैं और उनकी जो सहधर्मिणी जितनी स्त्रियाँ हैं, वे सब शक्तिरूपा हैं। इसी तत्त्व को दिख-लाते हुए शिवपुराण में कहा गया है—"शक्ति और शक्तिमान् से प्रकट होने के कारण यह जगत् 'शाक्त' और 'शैव' कहा गया है। जैसे माता-पिता के बिना पुत्र का जन्म नहीं होता, उसी प्रकार भव और भवानी के बिना इस चराचर जगत् की उत्पत्ति नहीं होती। स्त्री और पुरुष से प्रकट हुआ जगत् स्त्री और पुरुष रूप ही है, यह स्त्री और पुरुष की विभूति है, अतः स्त्री और पुरुष से अधिष्ठित है। इनमें शक्तिमान् पुरुष रूप शिव तो 'परमात्मा' कहे गए हैं और स्त्री रूपिणी शिवा उनकी 'पराशक्ति'। शिव सदाशिव कहे गए हैं और शिवा मनोन्मनी। शिव को महेश्वर जानना चाहिए और शिवा माया कहलाती हैं। परमेश्वर शिव पुरुष हैं और परमेश्वरी शिवा प्रकृति। महेश्वर शिव रुद्र हैं और उनकी वल्लभा शिवा रुद्राणी। विश्वेश्वर तो विष्णु हैं और उनकी प्रिया लक्ष्मी। जब सृष्टिकर्ता शिव-ब्रह्मा कहलाते हैं, तब उनकी प्रिया को ब्रह्माणी कहते हैं। भगवान् त्रिपुरनाशक महादेव सम्पूर्ण पुंलिंग रूप को स्वयं धारण करते हैं और महादेवी मनोरमा देवी

---

१. परं ब्रह्म परं ज्योतिः प्रणवद्वन्द्वरूपणी।
अहमेवास्मि सकलं मदन्यो नास्ति कंचन॥
निराकारापि साकारा सर्वतत्वस्वरूपणी।
अप्रतर्क्यगुणा नित्या कार्यकारणरूपिणी॥
कदाचिद्दयिताकारा कदाचिद् पुरुषाकृतिः
मदशादेव संजातास्तथेमाः सकलाः कलाः॥

शि०पु० उ० स० ४८।२७-३१।

शिवा सारा स्त्रीलिंग रूप धारण करती हैं। शिव-वल्लभा शिवा समस्त शब्द-जाल का रूप धारण करती हैं और बालेन्दु शेखर शिव सम्पूर्ण अर्थ का। जिस-जिस पदार्थ की जो-जो शक्ति कही गई है, वह-वह शक्ति तो विश्वेश्वरी देवी शिवा हैं और वह-वह सारा पदार्थ साक्षात् महेश्वर हैं। जो सबसे परे हैं, जो पवित्र है जो पुण्यमय है तथा जो मंगलरूप है, उस-उस वस्तु को महाभाग महात्माओं ने उन्हीं दोनों शिव-पार्वती के तेज से विस्तार को प्राप्त हुई बताया है।[1] इसी बात का समर्थन कृष्ण यजुर्वेदीय 'रुद्रहृदयोपनिषद्' में मिलता है—'जो भगवती उमा हैं, वही विष्णु भगवान् हैं, जो भक्तिपूर्वक विष्णु भगवान् की अर्चना करते हैं, वे वृषभध्वज शिवजी की ही पूजा करते हैं। जितने पुंलिंग प्राणी हैं, सब महेश्वर हैं, जितने स्त्रीलिंग प्राणी हैं, सब भगवती उमा हैं। समस्त व्यक्त जगत् उमा का स्वरूप है और अव्यक्त जगत् महेश्वर का स्वरूप है। उमा और शंकर का योग ही विष्णु कहलाता है।[2] इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् को सदा एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। न तो शिव के बिना शक्ति रह सकती है और न शक्ति के बिना शिव ही रह सकते हैं।[3] शिववक्षोपरि नृत्यशीला काली की उपासना में शक्ति और शक्तिमान् के परस्पर आधाराधेय भाव में रहस्यार्थ-गर्भत्व है। अनादि अनंतकाल से महिमामयी का वह मधुर नृत्य नित्य परम अमृतत्व की ओर अग्रसर है। इस अपरिमित कालावधि में अनेकशः परिवर्तन होते रहते हैं, परंतु शिववक्षःस्थल से शक्ति के श्रीचरणों की विच्युति नहीं होती। अपनी सृष्टि स्थिति प्रलयलीला के भीतर भी उसी परमाधार शिव की इच्छा को ही द्योदित करती हैं वह महाशक्ति। नित्य गति के भीतर शिव की अविचल मंगल शान्ति, सम्पूर्ण द्वन्द्वों के होने पर भी द्वन्द्वातीत की सत्ता तथा नियत परिणाम में अपरिणामशील,,

---

१. (शिव पुराण, वाणवीय सं० उ० स० अध्याय- ४)

२. 'या उमा सा स्वयं विष्णुः'
'येऽर्चयन्ति हरिं भक्त्या तेऽर्चयन्ति बृषभवजम्।'
'पुंल्लिंगं सर्वमीशानं स्त्रीलिंगं भगवत्युमा।'
'व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं महेश्वरः।'
'उमाशंकरयोर्योगः स योगो विष्णु रुच्यते।'
(कृष्ण यजुर्वेदीय रुद्रहृदयोपनिषद)।

३. एवं परस्परापेक्षा शक्तिशक्तिमतोः स्थिता।
न शिवेन विना शक्तिर्नशक्त्या विना शिवः॥
(शिव० वाय० सं० उत्तर० ४)

जड़ का चेतनाधार एवं अखिल आनंद के स्रोत उस जगदाधार की सर्वव्यापी चिन्मयता के दर्शन होते हैं, इस रहस्यात्मक उपासना में। जब विश्व के कण-कण में शिव के बक्ष:स्थल पर काली का नृत्य दिखाई पड़ता है, तभी शिव शक्ति की युगल उपासना सार्थक होती है।

युगल उपासना का उत्स

उपनिषदें : परम तत्त्वदर्शी ऋषियों ने ब्रह्म के दो स्वरूपों का अपने विमल चित्त में अनुभव किया था। एक सर्वातीत और दूसरा सर्वकारणात्मक भाव। उन्होंने सर्वातीत भाव में जगत् की देश, काल और अवस्था से परिच्छिन्न वस्तुओं एवं भावों से 'नेति-नेति' कहकर ब्रह्म को अनिर्वचनीय बताया।

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राच्य मनसा सह' ऐसा कहने में उसकी महनीयता एवं अतिशय कष्ट-साध्य ज्ञेयता का बोध होता है। उपनिषद् के ऋषि ने कहा, 'जो कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ वह निश्चित रूप से ब्रह्म को नहीं जानता, परंतु जो कहता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ वह ब्रह्म को जानता है। 'अविज्ञातं विजानीयात् विज्ञातमवजानीत' अर्थात् वह इतना तो अवश्य जानता है कि ब्रह्म जानने में अति दुर्ज्ञेय है।' लेकिन सर्वकारणात्मक भाव में उन्होंने सर्वातीत ब्रह्म को ही सर्व भूतयोनि कहा।[1] यहाँ तक कि उपनिषदों के ऋषियों ने जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण भी उसे ही कहा। जगत् के अणु-अणु में उसे ही विहँसते देखा। सम्पूर्ण परिवर्तनों में भी उसी 'एक' के दर्शन हुए।

ब्रह्म का सृष्टि संकल्प

उस परम सत्ता ने लीला-विलास के लिए इच्छा की 'मैं एक बहुत हो जाऊँ।'[2] और जगत् का रंगमंच नाच उठा। उसमें नित्य युक्त शक्तियाँ विषम भाव को प्राप्त हुईं और बन गईं उसकी क्रीड़ा की नित्य संगिनी। फिर भी उसमें किसी प्रकार के देश-कालादिगत परिवर्तन नहीं हुए—यही अद्वैत का लीला-रहस्य है। भेदों में नित्य अभेद और अभेद में नित्य भेद—उसकी अपनी विशेषता है। फिर भी उसकी नित्य प्रतिष्ठा है अभेद भूमि में ही।[3] जिस शक्ति की सहायता से प्रभु अपनी लीला प्रकट करता है उसी की सहायता से सर्वव्यापी होकर

---

१. 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीराः।'
(मुण्डक० १।१।६)

२. 'तदैक्षत एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय इति।' (छान्दोग्य० ६।२।१)

३. 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्य बाह्यतः।'
(ईशावास्योपनिषद्-५)

भी अनधिकारियों के अदर्शन और शुद्ध-बुद्धिसम्पन्न साधक के लिए प्राण होने के हेतु अपने को छिपाए हुए हैं।[१] फिर भी वे विशेष लीला हेत्वर्थ शक्तियों सहित सगुण-साकार हो जाते हैं।[२] संपूर्ण परिवर्तनों में उसी का चिद्विलास प्रस्फुरित होता है। इसका बहुत सुंदर उदाहरण केनोपनिषद् के देवासुर संग्राम में देवताओं की विजय के बाद यक्ष--इन्द्रादि संवाद में मिलता है। ब्रह्म की नित्य शक्ति भगवती उमा ने उस रहस्य का उद्‌घाटन किया कि वह यक्ष ब्रह्म ही था और उसी की कृपा से विजय हुई।[३] अर्थात् उपनिषदों में जिस ब्रह्म को निर्गुण रूप से प्रतिपादन किया गया था वही आवश्यकता होने पर 'यक्ष' रूप में सगुण-साकार हुआ। उसकी अनिर्वचनीय शक्ति ने भी 'उमा' रूप में प्रकट होकर उसका रहस्य-निर्देश किया। इस प्रकार ब्रह्म सदैव अपनी शक्ति के द्वारा ही ज्ञेय होता है।

आगे चलकर पुराणों में उसी निर्गुण-निराकार ब्रह्म का जिसकी विश्वा-

---

१. तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।। १२ ।।
(कठोपनिषद्)

२. य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।। १ ।।
अर्थात् जो परब्रह्म परमात्मा अपने निराकार स्वरूप में रूप-रंग आदि से रहित होकर भी सृष्टि के आदि में किसी अज्ञात प्रयोजन से अपनी स्वरूप भूत नाना प्रकार की शक्तियों के संबंध से अनेक रूप-रंग आदि धारण करते हैं तथा अन्त में यह सम्पूर्ण जगत् जिसमें विलीन भी हो जाता है-अर्थात् जो बिना किसी अपने प्रयोजन के जीवों का कल्याण करने के लिए ही उनके कर्मानुसार इस नाना रंग-रूपवाले जगत् की रचना, पालन और संहार करते हैं, वे परमदेव परमेश्वर वास्तव में एक अद्वितीय हैं, उनके अतिरिक्त कुछ नहीं है। वे हमें शुभ बुद्धि से युक्त करें।
(श्वेताश्वरोपनिषद्, चतुर्थ अध्याय-१)

३. (क) स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां 'होवाच किमेतद् यक्ष मिति।'
(केनोपनिषद्, तृतीय अध्याय- १२)

(ख) सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीमध्वमिति, ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति।
(केनोपनिषद्, चतुर्थ अध्याय-१)

भिव्यक्ति के अतिरिक्त यक्षादि रूपों में सगुण दर्शन उपनिषदों के ऋषियों ने किया था, विशेष रूप से सगुण-साकार रूप में विविध लोक रक्षक एवं लोक रंजक लीलाओं का वर्णन किया गया। लेकिन शक्ति और शक्तिमान् का युगल रूप में दर्शन मुख्य रूप से श्रीमद्‌भागवत, पद्म, ब्रह्माण्ड, शिवपुराण, स्कन्द पुराण तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणों में मिलता है। उनमें स्पष्ट रूप से शक्ति और शक्तिमान् में अविना भाव संबंध की स्थापना की गई है। श्री-अक्षयकुमार वन्दोपाध्याय ने भी इसका समर्थन किया है—'उपनिषद् के अद्वय ब्रह्म-तत्त्व में अभिन्नरूप से नित्य विद्यमान् जो युगलरूप है, उसका जो एक सर्वातीत रूप और एक सर्वकारण रूप है, एक स्थितिशील रूप और एक गतिशील रूप, एक निष्क्रिय रूप और एक सक्रिय रूप, एक सच्चिदानन्द घन रूप और एक विश्वजननी रूप है, वही पौराणिक और साम्प्रदायिक उपासना के क्षेत्र में युगल मूर्ति में प्रकाश को प्राप्त होता है। वस्तुतः यदि ब्रह्म के स्वरूप को मूर्ति की सहायता से इन्द्रिय-गोचर आकार में हमारे भजन की सुविधा के लिए प्रकाशित ही करना हो, तो युगलमूर्ति में ही उसका प्रकाश कथंचित् पूर्णतर होता है।'[1] षड्दर्शन के आचार्यों में जो माया को ब्रह्म से नित्य युक्त तथा जो नित्य सत्य-स्वतंत्र (रामानुजादि) मानते हैं वे भी किसी-न-किसी रूप से युगलमूर्ति की उपासना का समर्थन करते हैं। इसमें उनकी तार्किक बुद्धि का औपनिषद् अनुभूति के साथ समन्वय दिखाई पड़ता है। सांख्यदर्शनकार भगवान् कपिल ने प्रकृति-पुरुष को स्वतंत्र मानकर भी सृष्टि लीला में अंधे और लँगड़े के संबंध की स्थापना कर युगल स्वरूप के नित्य परस्पर सहयोग का रहस्य स्पष्ट किया है। तंत्रशास्त्रों तथा परवर्त्ती वैष्णवाचार्यों ने तो पूर्णरूप से युगल उपासना पर ही जोर दिया। विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों ने भी उस मन बुद्धि अगोचर की उपासना शक्तियों के साथ विधान कर भक्ति मार्ग को सुगम बना दिया। साथ ही विश्व के प्रत्येक कण में उन युगल मूर्तियों के ही दर्शन किए। संपूर्ण ब्रह्माण्ड के सभी स्त्री और पुरुष तत्त्व उसी युगल सत्ता की अभि-व्यक्ति हैं और तब इस प्रश्न का 'कि नित्य आनंद स्वरूप को सृष्टि की आवश्यकता क्यों' का समाधान 'स एकाकी न रमते' की सहृदयता से हो गया। शिवा-शिव, सीता-राम, राधा-कृष्ण के युगल रूप का यही रहस्य है केन्द्र में ये ही हैं—सारा विश्व ब्रह्माण्ड इन्हीं की प्रतिच्छबि है।

पुराणों में युगल उपासना का स्वरूप

सामरस्य या महामिलन : "सामरस्य" का भाव ही है समभाव की प्रतीति। श्वास-प्रश्वास की गति के अन्त में जैसे भीतर और बाहर एक श्वासहीन

---

1. सीमा के भीतर असीम का प्रकाश, पृष्ठ—२४५

निस्तब्ध भाव रहता है, जिसकी आकाश से उपमा होती है एवं जिसे पाने के लिए योगी लोग कुंभक का आश्रय लेते हैं। उसी प्रकार सृष्टि और संहार की प्रान्त भूमि में जो स्थित विन्दु है उसे पकड़ने के लिए साधक चेष्टा करता है। इन दो विन्दुओं के मध्य में एक गहरा आकर्षण का खेल है जिसके प्रभाव से एक दूसरे को खींच रहा है। इस आकर्षण के रहते भी दोनों में परस्पर मिलन नहीं होता -- आकर्षण का खेल निरन्तर चलता रहता है।

शक्ति और शक्तिमान का परस्पर आर्कषण

इस समरस अवस्था को अद्वय अवस्था भी कहा जाता है। यह चिदानन्द-मयी परावस्था है जो बुद्धि के अतीत, विचार के अतीत, ध्यान के अतीत, अव्यक्त और स्वयं प्रकाश है। वह सर्वातीत और सर्वात्मक है। सब देशों और सब कालों में महापुरुषों ने उसके संबंध में डर-डर कर चर्चा की है, यहाँ तक कि उसका वर्णन करने में वेद भी चकित होते हैं—

ब्रह्म की परावस्था

"अतद्व्यावृत्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि"

परब्रह्म, पर शिव आदि शब्दों द्वारा उसे लक्ष्य किया जाता है। सर्वत्र ही वह है, गुप्त रूप से सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर में भी है। पिण्ड में स्थित परब्रह्म का पिण्ड से अलग कर वर्णन नहीं किया जा सकता। निष्कल और सकल सभी तत्त्व उसमें हैं। सभी वही हैं। इन सब को नित्य लीला के रूप में जब वह प्रकट करना चाहते हैं तब उनमें इच्छा का अविर्भाव होता है। यह इच्छाहीन की इच्छा होने से वास्तव में स्वातन्त्र्य का ही विलास मात्र है।

ब्रह्म की सर्वव्यापकता तथा उसका स्वातन्त्र्य

शिव और जीव का मिलन तथा दोनों शक्तियों का मिलन ऊर्ध्वभाग में चलते-चलते प्रत्येक स्तर में होता है। अन्त में सामरस्य का भाव उदय होता है। तब जीव की भक्तिरुपा शक्ति शिव की चित्त शक्ति के साथ समान रूप से मिल जाती है---इस भक्ति का नाम समरसा भक्ति है— श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव और आनंद के बाद यह समरसभाव उदित होता है। जीव तब जीव रहकर भी शिव के समान होता है। यही महायोग या सामरस्य है। ईसाइयों के धर्मशास्त्र में जिस अवस्था को "कम्युनियन" कहते हैं, मिस्टिक गण जिसे 'युनिटिव लाइफ' आदि नामों से पुकारते हैं वह सामरस्य का ही आभास है। इस अवस्था में बंधन नहीं रहता, मुक्ति भी

सामरस्य का उदय

नहीं रहती, रहती है एकमात्र सामरस्य रूपा भक्ति-- स्वयं प्रकाश अद्वय रस-तत्त्व। यह एक ही सत्ता का प्रकाश है इसलिए यह ज्ञान है। पर इसमें पृथक भाव का आस्वादन रहता है इसलिए यह भक्तिरस है। यह अद्वैत भक्ति-अवस्था है।

सन्त 'टेरेसा' (Teresa) को श्रीभगवान् के विशेष अनुग्रह से यह उपलब्धि हुई थी, उन्होंने स्वयं इसका वर्णन करने की चेष्टा की है— 'An elimination which shines like a most dazzling cloud of light.' मिस्टर एरवार्ट के शिष्य प्रसिद्ध रहस्यवेत्ता हेनरी सुसो (Suso) ने आत्मा परमात्मा के मिलन अथवा सामरस्य की बात कही है। परमात्मा मानो कह रहे हैं—'I will kiss them (the suffering saints) affectionately and embrace them so lovingly that I shall be they and they shall be I, and we two shall be united forever.'

काम-कला-विज्ञान में सामरस्य

यह सामरस्य तत्त्व काम-कला-विज्ञान में खूब स्पष्ट हुआ है। अग्नि और सोम परस्पर विरुद्ध हैं। अग्नि शोधन करती है, संहार करती है, किन्तु सोम आप्यायन करता है, सृष्टि करता है। अग्नि और सोम का संघर्ष स्वभाव-सिद्ध हैं। अग्निकाल रूपी संहारशक्ति है, यह जब सोम पर आघात करती है तब सोम विन्दु विगलित होकर चूता है। वैसे भी जब सोम अग्नि पर आघात करता है तब अग्नि ईंधन पाकर प्रज्वलित हो उठती है और इसका शोषण करती है। काम-कला का काम यह रुचि है एवं कला अग्नि और सोम हैं। कामकला के श्वेत विन्दु और रक्त विन्दु दोनों में परस्पर बिहार करने वाले शिव और शक्ति का निरन्तर कर्म चल रहा है। ये दो विन्दु ही काम कामेश्वरी रूप दिव्य मिथुन है। विमर्श रक्त विन्दु रूप है और प्रकाश शुक्ल विन्दु रूप है। दोनों के मिलन से मिश्र रूप उत्पन्न होता है। वह सर्वतेजोमय परमात्मा है, यही रयि है, कमनीय होने से काम है। यह रयि ही शुक्ल और रक्त विन्दुओं का समरसीभूत मिश्र विन्दु है। यही सब की आत्मा है—

> शुक्लः शिवा रक्तशक्त्यां परा शाम्भव वेधतः।
> रक्त शाम्भव रूपेण परातत्वेन शक्तितः॥
> रक्तः शिवः शुक्लशक्तयां परशम्भैवय भावतः।
> रक्त शिवः शुक्लशक्तयां सच्चिदानन्दलक्षण॥

यह सामरस्य वास्तविक अद्वयतत्त्व है। वस्तुतः यह द्वैत और अद्वैत की एकतामात्र है। अवधूत गीता में कहा है—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं ना जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥

अर्थात् समरसता ही अमरत्व है।

श्रीराधाकृष्ण तत्त्व

श्रीराधा तत्त्व : श्रीराधिकाजी परास्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण चन्द्र की ह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने "श्रीगौरांगलीलास्मारक मंगलस्तोत्रम्" नामक लघु ग्रंथ में इस तत्त्व का संक्षेप में वर्णन किया है-- "स्वरुप शक्ति के तीन प्रभाव हैं- ह्लादिनी, संवित और सन्धिनी।

ब्रह्म की तीन शक्तियाँ

ह्लादिनी के प्रणय-विकार में श्रीकृष्ण सर्वदा अनुरक्त हैं और संवित् शक्ति के द्वारा प्रकटित अंतरंग भाव के द्वारा सर्वदा रसिक-स्वभाव हैं। सन्धिनी शक्ति के द्वारा प्रकटित निर्मलवृंदावन आदि धाम में वे स्वेच्छामय व्रजरस-विलासी श्रीकृष्ण नित्य रस सागर में निमग्न रहते हैं।[1] वे स्वयं श्रीकृष्ण को अतिशय आनंद प्रदान करती हैं। अपने कायव्यूह रूप में आठ प्रकार के भावों को आठ प्रमुख सखियों के रूप में प्रकट करती हैं। ये चिद् जगद्रूप व्रज की नित्य सिद्धा सखियाँ हैं। स्वरूप शक्ति की 'संवित' व्रज के समस्त भावों को अभिव्यक्त करती है। स्वरूप शक्ति की संधिनी व्रज के भू-जलादि विशिष्ठ ग्राम, वन तथा गिरिगोवर्द्धनादि विलासपीठ तथा श्रीकृष्ण के और श्रीराधिका तथा उनके सखी-सखा, गोधन, दास आदि चिन्मय कलेवर और विलास के उपकरण के रूप में प्रकाशित हैं। श्रीकृष्ण ह्लादिनी के प्रणय-विकार में सर्वदा परमानन्दरत हैं तथा संवित् के आविर्भूत रहस्यजनित भावों के साथ क्रियावान् हैं। वंशीवादन के द्वारा गोपी

---

१. स वै ह्लादिन्या यः प्रणयविकृते ह्लादनरत -
स्तथा संविच्छक्तिप्रकटितरहोभावरसितः।
तथा श्रीसन्धिन्या कृत विशदतद्धामनिचये
रसाम्भोधौ मग्नो व्रजरसविलासी विजयते ॥
गौरांगलीलास्मरणमंगलस्तोत्रम।
(श्लोक- ७९)

जन का आकर्षण तथा गोचारण, रासलीला आदि समस्त श्रीकृष्ण-क्रियाएँ संविद्-आश्रित हैं। सन्धिनीकृत धाम में ब्रजविलासी श्रीकृष्ण सर्वदा रसमग्न रहते हैं।

श्रीराधिकाजी ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति

श्रीमत्परमहंस स्वामी हरिहरानन्दजी (श्रीकरपात्रीजी महाराज) ने यही बात कही है— "किन्तु सभी गोपांगनाएँ एक-सी अधिकारिणी नहीं थीं। उनमें जो भगवान् की आह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी और उनकी सहचरी ललिता, विशाखा आदि हैं, वे तो नित्य सिद्धा हैं। वे तो भगवान् की नित्य सहचरी हैं। जिस प्रकार अमृतमय समुद्र में माधुर्य होता है, उसी प्रकार भगवान् के साथ उनका अभेद ही है।[1] श्रीराधोपनिषद् में लिखा है-- भगवान् हरि श्रीकृष्ण ही परम देव हैं। वे छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण भगवान्, गोप और गोपियों के सेव्य, श्रीवृन्दा (तुलसी) देवी से आराधित और श्रीवृन्दावन के अधीश्वर हैं। वे ही एकमात्र सर्वेश्वर हैं। उन्हीं

श्रीराधोपनिषद् में श्रीराधिका का स्वरूप

श्रीहरि के एक रूप नारायण भी हैं, जो कि अखिल ब्रह्माण्डों के अधीश्वर हैं। वे श्रीकृष्ण प्रकृति से भी पुरातन और नित्य हैं। उनकी आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि बहुत-सी शक्तियाँ हैं। उनमें आह्लादिनी सर्वप्रधान हैं। ये ही परम अन्तरंगभूता राधा हैं। श्रीकृष्ण इनकी आराधना करते हैं, इसलिए ये राधा हैं। अथवा ये सर्वदा श्रीकृष्ण की आराधना करती हैं, इसलिए 'राधिका' कहलाती हैं। श्रीराधा को 'गान्धर्वा' भी कहते हैं। व्रज की गोपांगनाएँ, द्वारका की समस्त श्रीकृष्ण-महिषियाँ और श्रीलक्ष्मीजी इन्हीं श्रीराधिकाजी की कायव्यूह (अंशरूपा) हैं। ये राधा और श्रीकृष्ण रस-सागर एक होते हुए ही शरीर से क्रीड़ा के लिए दो हो गए हैं। ये श्रीराधिकाजी भगवान् हरि की सर्वेश्वरी, सम्पूर्ण सनातनी विद्या हैं और श्रीकृष्ण के प्राणों की अधिष्ठात्री देवी हैं। वेद एकान्त में इनकी ऐसी ही स्तुति किया करते हैं।[2]

मधुर भक्ति रस के पाँच भाव मुख्यतया माने गए हैं— शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें सर्वात्मनिवेदन पूर्ण होने के

---

1. भक्तिसुधा, तृतीय खण्ड, रासपंचाध्यायी, स्वामी करपात्रीजी, पृ० ५४।
2. 'श्रीराधोपनिषद्'।

कारण मधुर भाव ही परिपूर्णतया सर्वश्रेष्ठ है। अन्य भाव इसकी भूमिका हैं।

श्रीराधिकाजी महाभावरूपा

यह मधुर भाव जहाँ पूर्ण रूप से लीलायमान तथा आत्यन्तिक रूप से अभिव्यक्त होता है, वही 'महाभाव' है और वही श्रीराधाजी का स्वरूप है। रस-साम्राज्य में प्रेम का विकास होते-होते 'महाभाव' तक पहुँचना होता है। उसके आठ स्तर माने गए हैं— प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव। जिसके भीतर यह भाव परिपूर्ण रूप में वर्त्तमान रहता है, वैष्णव परिभाषा में उसी का नाम है—राधा। श्रीराधा महाभाव-स्वरूपा हैं, सुतरां श्रीराधा भक्त की नित्य परिपूर्ण आदर्शस्वरूपा हैं। श्रीराधा के परम प्रेममय भजन और आस्वादन-क्षेत्र में ही सर्वाराध्य भगवान् का नित्य परिपूर्ण प्रकाश होता है।[1]

श्रीराधाजी में मादन भाव

इस महाभाव के परमोज्ज्वल, नितान्त पवित्र, निर्मल, दिव्य, स्वर्गसदृश, मोदन और मादन दो सर्वोच्च स्तर हैं, जो प्रेम के पूर्ण प्राकट्य का परिचय देते हैं। इनमें 'मादन' नामक 'महाभाव' परम दुर्लभ तथा स्वाभाविक ही स्वतन्त्र है। इसका प्रकाश केवल श्रीराधाजी में ही है। इसके अतिरिक्त स्नेह से मोदन तक सभी स्तर श्रीकृष्ण में तथा समस्त ब्रजांगनाओं में मधुरभावमयी रागात्मिका प्रीति से संयुक्त गोप-रमणियों में हैं। ब्रजसुन्दरियाँ इन्हीं विभिन्न स्तरों के प्रेम से श्रीकृष्ण-सुखार्थ श्रीकृष्ण की नित्य-नवोत्साहपूर्वक सेवा उपासना करती हैं। श्रीराधाजी उनमें मुख्य तथा सर्वप्रधान श्रीकृष्ण-सेविका तथा श्रीकृष्ण-राधिका हैं। अतएव, श्रीकृष्ण इस प्रेम के विषय हैं। साथ ही इस प्रेम के समस्त स्तर श्रीकृष्ण में भी हैं। अतएव इस प्रेम के आश्रय भी हैं, अर्थात् वे भी ब्रजसुन्दरियों को सुख पहुँचाना चाहते हैं। गोप-रमणियों में श्रीराधा मादनाख्य महाभाव-रूपा हैं। इसलिए वे परम आश्रयरूपा हैं और वे श्रीकृष्ण को सुखी देखकर उससे अनन्तगुना सुखलाभ करती हैं। श्रीराधाजी के इस सुख की स्थिति पर विचार करके श्रीकृष्ण इस प्रेम के आश्रय बनते हैं और वे नित्य श्रीराधा को आराध्य मानकर उनकी सेवा-उपासना करके उन्हें सुख पहुँचाना चाहते हैं। यह उनका परस्पर आश्रय विषय सम्बन्ध नित्य है। यही प्रेम का वह सर्वोच्च स्तर है, जहाँतक मानव-बुद्धि अनुमान लगा सकती है। यों तो वास्तविक प्रेम उत्तरोत्तर

---

१. श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय : सीमा के भीतर असीम का प्रकाश, पृ० २३९।

प्रतिक्षण वर्द्धनशील है और वह सर्वथा अनिर्वचनीय ही नहीं, अचिन्त्य भी है। इस प्रेम के मूर्त्तिमान् दिव्य चिन्मय विग्रह श्रीराधा-कृष्ण युगल हैं। यही इनका युगल-स्वरूप हैं। प्रेमी साधक इन्हीं श्रीराधामाधव युगल की उपासना किया करते हैं।

श्रीराधा नाम का विकास

भारतीय चिन्तकों की यही परम्परा रही है कि साधनात्मक क्षेत्र में उन्होंने साधकों की जन्मतिथि, स्थान, जाति आदि से उदासीन होकर उनकी साधना-पद्धति का ही वर्णन किया है। पुराणों का रचना-काल शक-संवत्, विक्रम-संवत् या ईसवी-सन् की तरह नहीं थी, थी भी तो उसकी अवधि इतनी सुदीर्घकालीन थी और आज भी है, जिसमें निश्चित रूप से किसी व्यक्ति के काल-क्रम का पता लगाना अत्यन्त कठिन है। मन्वन्तर इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। अवश्यही ज्योतिष की गणितीय परिगणना इस सम्बन्ध में कुछ सफलप्रयास रही है। इसलिए, पुराणादिकों के रचना-काल के सम्बन्ध में भी सबका मतैक्य नहीं हैं। पुराणों में श्रीमद्भागवतपुराण सबसे प्राचीनतम तथा प्रामाणिक पुराण है। यह महाभारत-काल की ही रचना मानी जाती है, जो कृष्ण के समकालीन थे। श्रीमद्भागवत के रासपंचाध्यायी में एक प्रिय गोपी का वर्णन मिलता है। रासलीला में अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण को खोजती हुई गोपियाँ उनके चरण-चिह्नों को देखकर कहती हैं—

श्रीमद्भागवत में 'राधा' नाम का स्वरूप

ओह! जैसे हथिनी अपने प्रियतम गजराज के साथ जाती हो और गजराज उस हथिनी के कन्धे पर अपनी सूँड़ रख दे और दोनों मिलकर चलें, वैसे ही अपने कन्धे पर श्रीश्यामसुन्दर की भुजा को धारण किए हुए उनके साथ-साथ चलनेवाली किस सौभाग्यवती ब्रज-सुन्दरी के ये दूसरे चरण-चिह्न हैं।[1] निश्चय ही यह हमलोगों का मन हरण करनेवाले सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण की आराधना करनेवाली उनसे प्रेम करनेवाली आराधिका होगी। उस परम प्रेम के फलस्वरूप ही इसपर रीझकर गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्र इस बड़भागिनी

---

१. कस्याः पदानि चैतानि यातायाः नन्दसूनुना।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा॥ (श्रीमद्भागवत पु०, १०.३०.२७)

को एकान्त में ले गए हैं और हमलोगों को वन में छोड़ दिया है।[१] इसी 'आराधितो' पद से राधा शब्द की व्युत्पत्ति बताई गई है। क्योंकि, परवर्त्ती राधोपनिषद् इसकी व्याख्या इसी तरह करती है—'कृष्ण इनकी आराधना करते हैं, अथवा वे सर्वदा कृष्ण की आराधना करती हैं, इसलिए ये राधा कहलाती हैं।'[२]श्रीराधिका गोपियों में सर्वश्रेष्ठ तथा महाभावरूपा हैं। प्रेम की अतिशयता गोप्य होती है। शायद इसीलिए वेदव्यास ने इनका नाम भी संकेत से ही कहा है। परवर्त्ती विद्वान् विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने इसकी व्याख्या में---'नूनं हरिरयं राधिताह राधां इत्येह प्रपिताहं' लिखकर राधा से इसका सबन्ध जोड़ा है। कृष्णदास कविराज भी इसका समर्थन करते है।[३] अंग्रेज विद्वान् जे० एन० फर्कुहार ने भी राधा का उद्भव और राधा-भक्ति का प्रारम्भ भागवतपुराण से ही माना है।[४]

---

१. अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥
(श्रीमद्भागवतपु०, १०.३०.२८)

२. राधोपनिषद्।

३. कृष्ण वांछापूर्ति रूप करे आराधने।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने॥ आदि।

४. श्रीधरस्वामी ने इस श्लोक की टीका में कुछ भी नहीं लिखा है, लेकिन श्रीसनातन गोस्वामी ने अपनी वैष्णवतोषिणी टीका में कहा है—

(क) 'अनयैव आराधितः आराध्यवशीकृतः न त्वस्माभिः। राधापति आराधया राधेति नामकरण च दर्शितं।'

इस विषय में विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने अपनी टीका में कहा है कि गोपियों ने पग-चिह्न से ही इस कृष्ण-प्रियाविशेष गोपी को वृषभानुनन्दिनी के रूप में पहचान लिया, लेकिन पहचान कर भी जैसे नहीं पहचाना है, इसके अभिनय के बहाने मानों राधा के सुहृद्-गण ने उनका नाम छिपा लिया था। और, नाम-निरुक्ति के द्वारा राधा के सौभाग्य को ही व्यंजित करके उन्होंने 'अनयाराधितः' आदि कहा है।

पदचिह्नैरेव तां वृषभानुनन्दिनीं परिचित्यान्तराः स्वगता बहुविधगोपीजनसघटे तत्र बहिरपरिचयमिवाभिनयन्त्यस्तस्या सुहृदस्तन्नामनिरुक्तिद्वारा तस्याः सौभाग्यं सहर्षमाहुरनयः।

(ख) "We have seen above in the Bhagawat Puran, there is a Gopi Whom Krishna favours so much as to wonder with her alone, and that the rest of the Gopies surmise that she must have

परवर्त्ती पुराणों में राधा नाम

परवर्त्ती पुराणों में विष्णुपुराण, पद्मपुराण, वाराहपुराण, देवीभागवत-पुराण तथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराणों में राधा शब्द दिखाई पड़ता है। परन्तु, सबमें एक समान वर्णन नहीं है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में 'राधा' नाम तथा उनकी लीलाओं का वर्णन विस्तारपूर्वक हुआ है। हरिवंशपुराण महाभारत का अंग माना जाता है। इसमें श्रीकृष्ण की शृंगारपूर्ण वृन्दावन की लीलाओं का वर्णन तो है, परन्तु युगल भाव का वर्णन दिखाई नहीं पड़ता।

विष्णुपुराण के अट्ठाइसवें अध्याय के रासलीला-प्रसंग में राधा का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। लेकिन, यहाँ भी 'राधा' के सम्बन्ध में संकेत से ही बात—विष्णुपुराण में राधा नाम—कही गई है—

अत्रोपविश्य सा तेन कापि पुष्पैरलङ्कृता ।
अन्यजन्मनि सर्वात्मा विष्णुरभ्यर्चितो यया ।।

अर्थात्, यहाँ बैठकर कोई रमणी उस कृष्ण द्वारा पुष्पों से अलंकृता हुई है, जिस रमणी के द्वारा दूसरे जन्म में सर्वात्मा विष्णु अभ्यर्चित हुए हैं। यहाँ 'राधित' या 'आराधित' शब्द की जगह 'अभ्यर्चित' शब्द का प्रयोग हुआ है।

पद्मपुराण में राधानाम

पद्मपुराण में एक-दो स्थलों पर 'राधा' नाम की चर्चा की गई है। श्रीरूपगोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ में और कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्यचरितामृत' में पद्मपुराण से राधा नाम का उल्लेख उद्धृत किया है।[1] इसी पुराण में 'राधिका' की जयन्ती 'राधाष्टमी' का वर्णन माहात्म्य-

---

worshipped Krishna with peculiar devotion in a previous life to have thus won his special favour. This seems to be the source whence Radha arose and it is probable that the name Radha comes from the root in the sense of conciliating, pleasing. She is thus the pleasing one, in what book she first appears is not yet known."

—J. N. Farquhar : 'An outline of the Religious literature of India'. p. 237.

१. यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा ।
सर्वगोपीषु सेवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा ।। (पद्मपुराण)

सहित मिलता है, जिस व्रत के करने से विविध पातकों से मुक्ति की चर्चा की गई है। इसके बादवाले अध्याय में देखते हैं कि एक दिन वृन्दावन में बालकृष्ण को देखकर नारद ने उन्हें साक्षात् भगवान् का अवतार समझ लिया और सोचा कि लक्ष्मी देवी अवश्य ही किसी गोप के घर अवतीर्ण हैं। ढूँढ़ते हुए भानु नामक गोपवर्ण के घर में सुलक्षणा गौरी कन्या को देखकर वे समझ गए कि ये ही कृष्ण-वल्लभा लक्ष्मी की अवतार हैं, ये माहेश्वरी, रमा, आद्याशक्ति, मूलप्रकृति, इच्छा-ज्ञान-क्रिया-शक्ति हैं।[१] इस सम्बन्ध में श्रीशशिभूषणदास गुप्त ने क्षेपक कहकर शंका व्यक्त की है। परन्तु, इनका अनुमान स्वयं निर्दोष नहीं है।

मत्स्यपुराण में भी इसका बहुत ही अल्प वर्णन हुआ है। इसमें कहा गया है कि रुक्मिणी द्वारावती में हैं, और राधा हैं वृन्दावन के वन में।[२]

इस तरह उपर्युक्त पुराणों में विशेषतः वायुपुराण, वाराहपुराण, मत्स्य-पुराण, नारदीयपुराण आदि पुराणों में राधा-वर्णन की स्वल्पता का प्रमुख कारण है उनका विष्णु के अन्य रूपों का प्रतिपादन करना। इन पुराणों के नामों से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

वैष्णवपुराणों में ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्णलीला-वर्णन में श्रीमद्भागवत के बाद आता है। इसमें राधाकृष्ण की लीलाओं का विशद वर्णन दिखाई पड़ता है। इसके ब्रह्मखण्ड के पंचम अध्याय में राधा की उत्पत्ति गोलोक में रासपरायण श्रीकृष्ण के वाम पार्श्व से हुई है—'वहाँ श्रीकृष्ण के वाम पार्श्व से एक कन्या प्रकट हुई, जिसने दौड़कर फूल ले आकर उन भगवान् के चरणों में अर्घ्य प्रदान किया। उसके अंग अत्यन्त कोमल थे। वह मनोहारिणी और सुन्दरियों में सुन्दर थी। उसके सुन्दर एवं अरुण ओष्ठ और अधर अपनी लालिमा से बन्धुजीव पुष्प (दुपहरिये के फूल) की शोभा को पराजित कर रहे थे।[३] इसी क्रम में श्रीराधा से अनेक गोपांगनाओं के प्राकट्य का वर्णन मिलता है। पुनः श्रीकृष्ण के रोमकूपों से भी अनेक गोप तथा गौएँ प्रकट हुईं। गोलोक में प्रकट श्रीराधा का व्रज में उत्पन्न होने का कारण श्रीदामा का शाप

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में राधा का स्वरूप

---

१. राधा का क्रम-विकास : श्रीशशिभूषणदास गुप्त, पृ० १०७।

२. रुक्मिणी द्वारवत्यां तु राधा वृन्दावने वने। (मत्स्यपुराण, १३।३८)

३. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण (ब्रह्मखण्ड, अध्याय पाँच)।

बताया गया है। श्रीमद्भागवतपुराण में राधा-कृष्ण के विवाह की चर्चा नहीं हुई है, लेकिन ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में राधा और कृष्ण के विवाह का बहुत ही सुन्दर वर्णन हुआ है और बताया गया है कि राधा की छाया के साथ रायाण गोप का विवाह हुआ था, जो लौकिक महत्त्व रखता है।

ज्योतिषीय राधा शब्द का पौराणिक राधा से सम्बन्ध

इस तरह हम देखते हैं कि ज्योतिष में अनुराधा, विशाखा आदि नामों के द्वारा राधा शब्द का साम्य दिखाकर सौर मण्डल से सम्बद्ध रूपक स्थापित किया गया है, वह केवल बुद्धि का विलास-मात्र है। अनुराधा और विशाखा आदि शब्दों से कथमपि पौराणिक राधा का सम्बन्ध नहीं हो सकता। पुराणकारों को ज्योतिष के अनुराधा का वर्णन कभी अभीष्ट न होगा। उनका तो सम्बन्ध 'अनयाराधितो नूनं' से ही हो सकता है।

अतः, ब्रह्म की जिस आदिशक्ति का वर्णन वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, पांचरात्रों, तन्त्रों तथा विविध आर्ष ग्रन्थों में पाते हैं, उसी का लीला-हेत्वर्थ प्रकट रूप-वर्णन वैष्णवपुराणों में दिखाई पड़ता है। पाश्चात्य विद्वानों ने कुतर्क का आश्रय लेकर 'राधा' का सम्बन्ध बाहर से आए आभीरों के साथ जोड़ने का दुष्प्रयास किया है। परन्तु, श्रीमुंशीराम शर्मा ने इसका सप्रमाण खण्डन अपने ग्रन्थ 'भारतीय साधना और सूर साहित्य' में किया है। कृष्ण-भक्ति का प्रचार पुराणों द्वारा ही उत्तर भारत से दक्षिण भारत में हुआ था। अतः, दक्षिण के सुप्रसिद्ध आलवार भक्तों की कृष्ण-भक्ति का आधार श्रीमद्भागवतपुराण ही है। अवश्य वे भक्तशिरोमणि रासलीला के रहस्य से परिचित होंगे। तमिल का 'कुरवैंकुट्ट नृत्य' रासलीला से समता रखता है। ये भक्त मधुर भावना के उपासक थे। इन भक्तों के चार हजार पद श्रीकृष्ण-लीला से सम्बद्ध पाए जाते हैं। इनमें श्रीकृष्ण तथा एक प्रमुख गोपी का वर्णन है। यद्यपि उस गोपी का नाम 'नोप्पिनाई' है, फिर भी अनुमान किया जाता है कि वह प्रमुख गोपी राधा ही होगी।

शिलालेखों पर राधा

ईसवी-सन् के पूर्व के किसी भी शिलालेख पर राधाकृष्ण की लीलाओं से सम्बद्ध किसी प्रकार के चित्र नहीं मिलते। ईसा की चौथी शताब्दी के शिलालेखों पर श्रीकृष्ण-लीला से सम्बद्ध चित्र मिलते हैं, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुराणों द्वारा इन लीलाओं का पूर्ण प्रचार हो गया था। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने बंगाल के पहाड़पुर की खुदाई से प्राप्त मूर्त्ति में

जो गोपी का चित्र है, उसे निश्चित रूप से राधा ही माना है। इससे भी स्पष्ट होता है कि पाँचवीं शताब्दी में राधा-कृष्ण की लीलाओं का व्यापक प्रचार हो हो गया था।

संस्कृत-साहित्य में राधा

संस्कृत-साहित्य में भी राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन पर्याप्त रूप में मिलता है। संस्कृत की साहित्यिक रचनाओं के पूर्व ही श्रीमद्भागवत को मानना उचित होगा; क्योंकि राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार साहित्य द्वारा नहीं, बल्कि पुराणों द्वारा हुआ था। और, सभी पुराणों को प्राचीनतम न भी माना जाए, तो भी श्रीमद्भागवत और पद्मपुराण को तो प्राचीनतम मानना ही होगा। अतः, पुराणों से पूर्व साहित्यिक ग्रन्थों में राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन मिलता है, कहना युक्ति-संगत नहीं होगा। अवश्य ही, परवर्त्ती संस्कृत-साहित्य में राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन पर्याप्त रूप में दिखाई पड़ता है। बाद में हिन्दी के भक्त कवियों ने भी इसका वर्णन अपनी रचनाओं में किया है, इसका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

चीर-हरण और रास-रहस्य

चीर-हरण की लीला श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित है। एक बार गोपियों ने कात्यायनी देवी का व्रत किया। उसी व्रतकाल में वे सब वस्त्र उतार कर स्नान कर रही थीं। इसी बीच में योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ब्रजांगनाओं के व्रत का अभिप्राय जानकर, उस कर्म की सिद्धि के लिए ही अपने दाम, सुदाम, वसुदाम, किंकिणी, गन्धपुष्पकादि परम अन्तरंग सखाओं से परिवृत होकर वहाँ गए। ये सखा श्रीकृष्ण के साक्षात् अन्तःकरण ही हैं।[१] गोपियों के नग्न स्नान पर उन्हें कुतूहल हुआ। वे उनके वस्त्रों को लेकर कदम्ब के ऊपर चढ़ गए और गोपियाँ जब अपना वस्त्र माँगने लगी तब वे कहने लगे—

'भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ।
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः ॥'

---

१. "भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णयोगेश्वरेश्वरः।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये ॥" (श्रीमद्भागवत, १०)

हे सुहासिनियो ! यदि तुम मेरी दासी हो और मेरी आज्ञा मानने को तैयार हो तो, यहाँ आकर अपने वस्त्र माँगो। परन्तु, संकोच की मारी गोपियाँ आगे बढ़ नहीं पातीं। अपना नग्न रूप वे अपने प्राणवल्लभ के भी सम्मुख खोलने में हिचकती हैं। इसके बाद का श्लोक है—

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदुदेवहेलनम् ।
बद्धाञ्जली मूर्ध्न्यपनत्तयेह सः
कृत्वा नमोऽधोवसनं प्रगृह्यताम् ॥[1]

तुमने व्रत धारण करके भी वस्त्रहीन होकर जल में स्नान किया। इसमें तुम्हारे द्वारा वरुण देव का अपराध हुआ है। अतः, उस दोष की शान्ति के लिए तुम मस्तक पर हाथ जोड़कर उन्हें झुककर प्रणाम करो और फिर अपने वस्त्र ले जाओ। भगवान् के इस प्रकार कहने से उन ब्रजबालाओं ने समझा कि वस्त्रहीन होकर स्नान करने से हमारा व्रत खण्डित हो गया, अतः उसकी निर्विघ्न पूर्त्ति के लिए उन्होंने समस्त कर्मों के साक्षी भगवान् कृष्ण को प्रणाम किया। कृष्ण ने गोपियों से छल की बातें की, उनकी लज्जा छुड़ाई, उनसे हँसी की, उन्हें कठ-पुतलियों के समान नचाया और उनके वस्त्र हर लिए, तो भी वे उनसे रुष्ट नहीं हुईं, वलिक अपने प्रियतम के संग से परम प्रसन्न हुईं। उन्होंने अपने वस्त्र पहन तो लिए, किन्तु प्रियतम के समागम में आसक्त होकर उनका चित्त ऐसा विवश हो गया कि वे वहाँ से चल न सकीं, वरन् लजीली दृष्टि से उन्हीं की ओर निहारती रहीं। सामीप्य और साहचर्य के रहते हुए भी हम अपने प्राणनाथ और अपने बीच पर्दा बनाए रखना चाहते हैं। हम पूर्णतः अपना नग्न हृदय सर्वस्व के सम्मुख रखने में संकोच करते हैं। हमें अपना आवरण ही प्रिय है। जो हमारे हृदय का स्वामी है, उससे लाज किस बात की ?

निरावरण हो जाना ही साधन है। मन की गति विचित्र है। भगवान् को पाए बिना भी नहीं रहा जाता, पर्दा भी हटाते नहीं बनता। भगवान् भी मिलें और आवरण भी रहे, यही जीव की इच्छा है। दुनिया के हँसने और अनावृत हो जाने का भय ही हमें भगवान् से मिलने नहीं देता। परन्तु, वह तो हमारे अनावृत हृदय को ही देखना चाहता है। गोपियाँ नग्न होकर, प्रेमविभोर होकर

---

१. श्रीमद्भागवत, १०।

सब कुछ छोड़कर, सर्वशून्य होकर, लोकलाज को तिलांजलि देकर परम प्रियतम को प्राप्त करने के लिए उन चरणों में दौड़ी आई हैं। इसी को 'Lifting of the veil' कहते हैं।

श्रीकृष्णोपनिषद् में वर्णन आया है कि रामावतार में भगवान् के सुन्दर रूप को देखकर दण्डकारण्य के मुनिजन मुग्ध हो गए। भगवान् के रूप-रस का पान तो उन्होंने किया ही, पर वे भगवान् का अग-संग चाहते थे, भगवान् का आलिंगन करना चाहते थे और उनके अधरामृत से अपने प्राणों को तृप्त करना चाहते थे। उनकी इस आन्तरिक लालसा को देखकर भगवान् राम ने उन्हें वर दिया और वे ही गोपियों के रूप में प्रकट हुए।[1] कुछ गोपियाँ चित् शक्ति की और कुछ साक्षात् श्रुति की ऋचाओं के अवतार हैं। उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, संकोच और व्यक्तित्व भगवान् के चरणों में सर्वथा समर्पित कर दिया था। वे यही जपती रहती थीं कि 'नन्दगोप सुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः'—हे महामाये, हे महायोगिनि, हे कात्यायिनि! आप नन्दगोप के पुत्र कृष्ण को हमारा पति बनाइए! हे देवि! हम आपको नमस्कार करती हैं। नन्दनन्दन हमारे पति हों—यही उनके हृदय की निगूढतम लालसा है। फिर भी, निरावरण रूप से वे श्रीकृष्ण के पास नहीं हैं। थोड़ी-सी झिझक थी। यही झिझक दूर कर देने के लिए, उनकी साधना, उनके समपर्ण को पूर्ण कर देने के लिए भगवान् ने उनका आवरण-भंग कर दिया, उनका आवरण-रूप चीर हर लिया।

भगवान् श्रीराम द्वारा मुनियों को गोपी होने का वरदान

प्रेमी और प्रियतम के बीच एक हार का व्यवधान भी खलता है। इसी-लिए श्रीकृष्ण ने कहा—'मुझसे अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियो! एक बार, बस एक बार अपने सर्वस्व को और अपने को भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही, गोपियों ने कहा—'श्रीकृष्ण! हम अपने को कैसे भूलें? हमारे जन्म-जन्म की धारणाएँ भूलने दें तब न? हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है। हम तुम्हारी दासी हैं। परन्तु, हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ।'

परन्तु, श्रीकृष्ण इस पर्दे को कैसे रहने देते? उन्होंने प्रणय का जादू डालकर इस आवरण को हटा ही दिया। आत्मा के आत्मा श्रीकृष्ण का निरावरण

---

१. श्रीकृष्णोपनिषद्।

मिलन का मधुर आमन्त्रण पाकर गोपियाँ प्रेम में निमग्न होकर प्रियतम के चरणों में दौड़ आईं। फिर, न उन्हें वस्त्रों की सुध रही, न लोगों का ध्यान रहा—उन्होंने न जगत् की ओर देखा, न अपनी ओर !

चीरहरण-लीला के सम्बन्ध में स्वामी श्रीकरपात्रीजी के अभिमत

चीरहरण-लीला का रहस्योद्घाटन करते हुए स्वामी श्रीमत्परमहंस हरिहरानन्दजी सरस्वती (करपात्रीजी) ने कहा है—"यह लीला अलौकिक एवं अप्राकृत है, यही बात प्रदर्शित करने के लिए इस श्लोक में में श्रीकृष्ण के लिए भगवान् और योगेश्वरेश्वर इत्यादि विशेषण आए हैं। अर्थात्, भगवान् व्रजकुमारियों की शुद्ध भावना से की गई आराधना से सन्तुष्ट होकर उनकी कर्मसिद्धि के लिए पधारे हैं, गोपियों के नग्न अंग देखने के लिए नहीं। योगसिद्ध प्राणी भी प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, फिर योगेश्वर तो सर्वज्ञता, सत्यसंकल्पता आदि के स्वामी होते हैं, उनके मन में ऐसी वासनाओं का जाग्रत होना नितान्त असम्भव है। फिर, महामहायोगेश्वर, जिनके पाद-पंकज का सेवन करते हैं, वे योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अज्ञातयौवना उन कुमारिकाओं का नग्न अंग देखने की ही रुचि से वहाँ गए, ऐसी दुर्भावना जिनके मन में उठे, उनसे अधिक हतभाग्य कौन हो सकता है?— नन्ददासजी ने श्रीकृष्ण और ब्रजांगनाओं के सम्बन्ध को इसी रूप में दिखलाया है— 'तरंगन वारि ज्यों।' जैसे तरंग के प्रत्यंश में बारि भरपूर है, वैसे ही ब्रजांगनाओं की अन्तरात्मा, अन्तःकरण किं बहुना रोम-रोम में श्रीकृष्ण-रस भरपूर है।[१] पुनः समग्र ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, श्री एवं सम्पूर्ण ज्ञान, वैराग्य जहाँ विद्यमान हों, उन्हें भगवान् कहा जाता है। भिन्न-भिन्न साधकों में भगवान् की कृपा से भगवान् का ही कुछ (असमग्र या-सम्पूर्ण) ऐश्वर्य एवं धर्म प्राप्त होता है। यही स्थिति ज्ञान-वैराग्य की भी है। साधारण धर्मात्मा पुरुष भी नग्न कुमारी को या परस्त्री को देखने के लिए उत्सुक नहीं होते। सम्पूर्ण रूप से धर्म जिसमें विराजमान हैं, उसकी ऐसी उत्सुकता क्यों होगी? कोई भी वैराग्यवान् एवं ज्ञानवान्, मायामय विषयों के प्रलोभन में नहीं फँसता, फिर सम्पूर्ण वैराग्य, ज्ञानसम्पन्न भगवान् ब्रजकुमारियों के सुन्दर निरावरण अंगमात्र देखने के लिए ऐसा कैसे कर सकते थे।[२] लज्जा-त्याग की उदात्त

---

१. भक्तिसुधा, द्वितीय खण्ड, पृ० ३३२।

२. वही, पृ० ३३३ (स्वामी करपात्रीजी)।

आवश्यकता पर कहते हैं - "जो ब्रह्मनिष्ठा औरों को दुष्प्राप्य है, वही इनके लिए दुस्त्याज्य है। अन्यान्य दुस्त्यजों का भी त्याग हो सकता है, परन्तु यह अन्तिम दुस्त्यज है। श्रीभगवान् से अधिक माधुर्य कहाँ सम्भव है कि जिससे उसका त्याग सम्भव होगा ? जैसे लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा विनिर्मुक्तब्रह्मनिष्ठ सर्व-कर्मसंन्यासी का कर्मत्याग भूषण है, दूषण नहीं है। वैसे ही श्रीकृष्ण प्रेमोन्माद में लोकवेदातीत श्रीब्रजांगनाओं की लज्जा एवं आर्यधर्म-त्याग भूषण ही है, दूषण नहीं। जैसे मुख्य पति की प्रतिमा के पूजन का त्याग, किंवा मुख्य विष्णु की प्राप्ति में विष्णु-प्रतिमा का पूजन-त्याग दोष नहीं है, वैसे ही परमाराध्य परम पति भग-वान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति में ब्रजांगनाओं का भी आर्यधर्म-त्याग भूषण ही है।

परमानन्द रसामृतसिन्धु भगवान् की तरंगस्थानीया उनकी चिदानन्दमयी शक्तियाँ ही जीव हैं। वही भगवान् की अन्तरंगा एवं परा प्रकृति या शक्ति पद से कही जाती है : "प्रकृतिं विद्धि मे परां, जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।" जब तरंग के भीतर, बाहर और मध्य में या अंश-अंश में जल भरपूर रहता है, तब समुद्र से तरंग का क्या व्यवधान (पर्दा) ? वैसे ही जब चिदानन्दमयी जीव शक्तियों के अन्तर्बाह्य सर्वत्र परमानन्द रसामृत-मूर्त्ति श्रीभगवान् व्याप्त हैं, तब उन भगवान् से जीव का क्या छिपाव ? विश्व के स्थूल, सूक्ष्म और कारण त्रिविध शरीरों की समस्त हलचलों का जो कारण एवं भासक साक्षी है, उससे क्या छिप सकता है ? प्राणियों के मन, बुद्धि और अहंकार की सभी सद्भावनाओं और दुर्भावनाओं का जो साक्षी है, पिपीलिकाओं की भी समस्त मनोवृत्तियों का जो सर्वथा ज्ञाता है, उनसे क्या छिपाव; फिर भी अनादि अनिर्वचनीय मोहिनी शक्ति के प्रभाव से वे मोहिनी शक्तियाँ भगवान् से अपने अंगों को आवृत रखना चाहती हैं और उनसे लज्जा करती हैं। वे ही ब्रजांगना हैं, और सर्वान्तरात्मा सर्वसाक्षी ही श्रीकृष्ण हैं। चैतन्याभासी प्रेम-बुद्धि वृत्तियाँ भी ब्रजांगना कही जा सकती हैं। उनके प्रकाश साक्षी श्रीकृष्ण हैं। यद्यपि साक्षी की अन्तरंगता न समझने से उनसे छिपने की चेष्टा होती है। साभास मनोमयी वृत्ति रूपा श्रुतियाँ भी ब्रजांगना है। उनका तात्पर्य या हृदय जिस परम तत्त्व में निहित है, उन परमानन्द रसामृत-मूर्त्ति भगवान् से उनका क्या अन्तर ?[२] और भी, जैसे सब मनों के अभिमानी होने से चन्द्र

---

१. भक्तिसुधा, द्वितीय खण्ड, पृ० ३३९।

२. भक्तिसुधा, द्वितीय खण्ड, पृ० ३४२ (स्वामी करपात्रीजी)

के संस्पर्श से किसी भी साध्वी का पातिव्रत्य नहीं बिगड़ता, वैसे ही सर्वान्तरात्मा श्रीकृष्ण का संस्पर्श किसी के भी पातिव्रत्य का व्यापादक नहीं है—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडने नेह दोषभाक् ।।

जो गोपियों और उनके पतियों एवं सभी का अन्तरात्मा है वह सर्वाध्यक्ष, एवं सर्वथा निर्लेप एवं निर्दोष ही रहता है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि चीरहरण-लीला अविद्या-संवरणपूर्वक जीव और ब्रह्म के मिलन का रहस्य है।

रास-रहस्य

वैष्णव-सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त कवियों में 'परम भाव' के उपासकों को यमुनातट, वंशीवट, वृन्दावन की गलियाँ तथा उनमें होनेवाली रास की क्रीड़ा ने बहुत आकृष्ट किया है। परम भाव की सम्यक् उद्‌भावना में रास का बहुत हाथ है।

शरद की शोभनीया यामिनी में यमुनातट पर दूर तक फैली हुई, लहराती हुई, कुंज-कुटीर में चन्द्र-ज्योत्स्ना छिटकी-बिखरी है। यमुना के नीले-नीले जल-प्रवाह पर भगवान् चन्द्रदेव अमृत-वर्षा कर रहे हैं। वृन्दावन की समस्त वन-भूमि मधुमयी हो गई है। निर्मल ज्योत्स्ना में स्नान कर कुसुमों से लदी हुई तरुलताएँ ज्योत्स्नाप्लावित यमुना का पुलिन आज किसी अपूर्व आनन्द में 'किसी' के साथ क्रीडा करने की तैयारी में हैं।

सैंकड़ों कुंज-कुटीर हैं। श्रीभगवान् की विहार-वासना ने आज इसे पागल बना दिया है। इसी समय वंशी में कामबीज 'क्लीं'[2] की ध्वनि गूँज उठती है।

---

१. भक्तिसुधा, द्वितीयखण्ड, पृ० ३४३ (स्वामी करपात्रीजी)

२. (क) यह कामबीज 'क्लीं' ही 'ॐ' है। यही आदिनाद है। सृष्टि के संकल्प करने के बाद इसी से आकाशादि पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है; क्योंकि आकाश महाभूत की 'तन्मात्रा' शब्द है। और वह आदि शब्द 'ओम्' है। स्फोट-दर्शन का शब्द-सृष्टिरहस्य इसका प्रमाण है। गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद् में लिखा है---'इसलिए सम्पूर्ण विश्व के आधारभूत भगवान् गोपाल ही ओंकार रूप में प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्मचारी जन 'क्लीम्' तथा 'ओंकार' का एक ही अर्थ में पाठ

वंशी की ऐसी परमाकर्षक सुमधुर ध्वनि को सुनकर गोपियाँ जिस किसी भी अवस्था में रास में सम्मिलित होने के लिए घर से दौड़ पड़ती हैं—

वंशी धुनि सुनि गोप-कुमारी ।
अति आतुर ह्वै चली श्याम पै,
तन मन की सब सुरति बिसारी ।।
गल को हार पहिर निज कटि महँ,
कटि की किंकिणि गल महँ डारी ।।

करते हैं । अतः, कृष्ण के बीजभूत 'क्लीम्' तथा 'ॐ' में अर्थतः कोई अन्तर नहीं है ।[१] गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद् में 'क्लीं' की व्याख्या इस प्रकार मिलती है-- जलवाचक 'क्', भूमिका बीज, 'ल' 'ई' तथा चन्द्रमा के समान आकार धारण करनेवाला 'अनुस्वार' इन सबका समुदाय है-- 'क्लीं' यही कामबीज है। इसको आदि में रखकर 'कृष्णाय' पद का उच्चारण करें ।

१. गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद्, मन्त्र ५९ ।

२. गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद्, मन्त्र १४ ।

भगवान श्रीकृष्ण आप्तकाम हैं । उन्होंने 'लीला' के लिए ही रास रचा है । अतः, कामबीज 'क्लीं' शुद्ध प्रेमबीज है ।

(ख) इस सम्बन्ध में महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज की उक्ति द्रष्टव्य है—'वस्तुतः प्रेम और काम में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है । एक ही रस दो रूपों से कहा जाता है । प्राचीन काल में दोनों नाम एक ही वस्तु के वाचक रूप से प्रसिद्ध थे ।

'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् ।'

श्रीकृष्ण का बीजमन्त्र कामबीज है और गायत्री कामगायत्री है । 'कामदजाप्यः' यह बात बहुत प्रसिद्ध है । जगत् के आदि दम्पती कामेश्वर-कामेश्वरी हैं, यह आगमशास्त्र में प्रसिद्ध है । आदिरस शृंगार कामात्मक है । इन सब स्थलों में काम शब्द से प्रेम ही समझना चाहिए ।

साधारणतः, व्यवहार में काम और प्रेम का जो भेद दीख पड़ता है, जिसका अवलम्बन कर चैतन्यचरितामृत में काम लोह और प्रेम सुवर्ण कहा गया है, उस भेद का कारण रस की शुद्धता या मलिनता है । बाहरी विषयों के उपराग से रस में मलिनता आती है । कविराज गोस्वामी ने कहा है कि आत्मेन्द्रिय प्रीति की इच्छा काम है और कृष्णेन्द्रिय प्रीति की इच्छा प्रेम है । इसमें भी यही तत्त्व प्रकटित हुआ है । सारांश यह कि इस भेद को प्राचीन आचार्यगण भी जानते थे । गौड़ीय

पग पायलने धारण कर में,
कर की पहुँचिया पगन मंझारी ।।
कान बुलाक, कपोलन बेंदी,
नाक में पहिरि कान की बारी ।
एक नैन अंजन बिनु सोहै,
एक नैन में काजर सारी ।।
कोउ भोजन पति परसत दौरी,
कोउ भोजन तजि दीन्ही थारी ।
नारायण जो जैसी हुती घर,
सो तैसेहि उठि विपिन सिधारी ।।

वैष्णवों ने स्पष्ट अक्षरों से कहा है– श्रीकृष्ण अप्राकृत मदन हैं और कामदेव प्राकृत मदन हैं । किन्तु मदन एक ही हैं । प्रकृति के ऊर्ध्व में, अर्थात् रज और तम के सम्बन्ध से शून्य होने पर मदन श्रीकृष्ण हैं । ये कोटि कन्दर्पलावण्य साक्षान्मन्मथमन्मथ हैं-- ये ही आगमा की ललिता अथवा सुन्दरी है महायोगी अथवा महाज्ञानी भी इस विश्वविमोहिनी महाशक्ति के कटाक्षपात से विचलित हो उठते हैं । कामदेव ने इन्हीं का कणमात्र सौन्दर्य पाकर त्रिभुवन को पागल बना रखा है । सौन्दर्यलहरीकार ने कहा है—

"हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीं
पुरा नारी भूत्वा पुररिपुमपि क्षोभमनयत् ।
स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयनलेह्येन वपुषा
मुनीनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम् ।।"

सौन्दर्य एक ही है, वह अप्राकृत भाव से श्रीकृष्ण में और प्राकृत भाव से कामदेव में है । अप्राकृत सौन्दर्य और अप्राकृत काम की रसावस्था शुद्ध शृंगार है, प्राकृत सौन्दर्य और प्राकृत काम की साम्यावस्था मलिन शृंगार है । अतएव, काम और सौन्दर्य रसस्फूर्ति-काल में नित्यमिलित रूप से ही प्रकाशमान होते हैं

(ग) शृंगाररस राजमयमूर्त्तिधर अतएव आत्मपर्यन्त सर्व चित्तहर ।।—चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद; श्रीभगवान् अपने सौन्दर्य से स्वय भी मोहित हो पड़ते हैं । ललितमाधव में लिखा है---

अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी
स्फुरति मय गरीयानेष माधुर्यपूरः ।
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः
सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव ।।

पूर्ण सौन्दर्य का ऐसा ही आकर्षण है ।

—भारतीय संस्कृति और साधना, रस और सौन्दर्य, पृ० ३१७ : महामहोपाध्याय डाँ० गोपीनाथजी कविराज ।

गोपियों की प्रेम-परीक्षा लेने के लिए भगवान् ने उन्हें पातिव्रत्य धर्म का उपदेश देते हुए घर लौट जाने के लिए कहा। परन्तु, गोपियों के अविचल प्रेम को देखकर भगवान् ने उनके साथ अपने स्वरूपभूत आनन्द का उद्रेक करते हुए विविध क्रीड़ाएँ कीं। इससे उनके मन में ऐसा प्रेमाभिमान आ गया कि पृथ्वी-भर की समस्त स्त्रियों में हमीं सबसे श्रेष्ठ हैं।[1] भगवान् भक्तों के अहंकार को उनके हित के लिए ही दूर कर देते हैं। वे भगवान् प्रेम को बढ़ाने तथा मान को दूर करने के लिए वहीं अन्तर्धान हो गए। अतः, उन्हें न देखकर गोपांगनाएँ व्याकुल होकर विलाप करने लगीं। उन्मत्त के समान एक वन में जाकर श्रीहरि का पता वृक्षों से पूछने लगीं। इधर, भगवान् श्रीकृष्ण और सब गोपियों को छोड़कर जिस एक गोपी को लेकर एकांत में आए थे, उस प्रेमगर्विता गोपांगना ने श्रीकृष्ण से कहा— 'प्यारे! मुझसे अब अधिक नहीं चला जाता, तुम्हारी जहाँ चलने की इच्छा हो कन्धे पर चढ़ा लो। ऐसा सुनकर भगवान् ने उस प्रियतमा से कहा, 'अच्छा, तुम मेरे कन्धे पर चढ़ लो। ऐसा सुन ज्योंहि वह कन्धे पर चढ़ने के लिए तैयार हुई, भगवान् तुरन्त अन्तर्धान हो गए। तदनन्तर, कृष्णचन्द्र के आगमन के लिए अत्यन्त उत्सुक वे समस्त गोपियाँ फिर यमुना की रेती में लौट आईं और परस्पर मिल-जुलकर उन्हीं का गुणगान करने लगीं।

'गोपी-गीत' यहीं से आरम्भ होता है, जिसमें गोपियों ने अधरामृत पिलाकर जीवनदान की प्रार्थना की है। 'गोपीगीत' रासपंचाध्यायी का प्राण है। गोपियाँ भाँति-भाँति से प्रलाप करती हुई कृष्ण-दर्शन की लालसा से फूट-फूटकर रोने लगीं और फिर—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥

कामदेव के भी मन को मथनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण पीताम्बर और वनमाला धारण किए मधुर-मधुर मुस्कान की फुलझड़ियाँ छोड़ते हुए उनके आगे प्रकट

---

१. एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि॥ (श्रीमद्भागवत पुराण, १०.३०.४७)

हुए। प्रियतम को आया देख समस्त ब्रजबालाओं के नेत्र आनंद से खिल गए और सब-की-सब इस प्रकार खड़ी हो गई जैसे प्राणों के आ जाने से शरीर उठ बैठता है। उनमें से किसी ने अति आनंदित हो अपनी अंजलि से भगवान् का कर-कमल पकड़ लिया, किसी ने उनकी चंदन-चर्चित भुजा अपने कंधे पर रख ली और किसी ने उनका चबाया हुआ पान अपने हाथ में रख लिया। एक विरह-संतप्ता बाला ने अपना चित्त शान्त करने के लिए अपने वक्षस्थल पर उनका कोमल चरण-कमल रख लिया। किसी ब्रजबाला ने भगवान् को नयनों के पथ से हृदय में ले जाकर आँखें मूंद लीं, फिर भीतर ही भीतर आलिंगन करने से उसके शरीर में रोमांच हो आया और वह परमानन्द में लीन हो गई। फिर गोपियों ने कृष्ण के बैठने के लिए अपने कुचकुंकुम-मण्डित दुकूल बिछा दिए। फिर महारास शुरू होता है। दो-दो गोपियों के बीच योगेश्वर श्रीकृष्ण उनके गले में हाथ डालकर खड़े हुए। उस समय सब गोपियों ने उन्हें अपने ही निकट पाया। रासोत्सव देखने के लिए उत्सुक देवगण तथा देवांगनाओं के सैकड़ों विमानों से सम्पूर्ण आकाश भर गया। इधर रास-मण्डल में अपने प्रियतम के साथ नृत्य करती हुई गोपांगनाओं के कंगन, पाजेब, और करधनी के घुंघरूओं का महान् शब्द होने लगा —

अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण का प्राकट्य तथा रासलीला

अंगनामंगनामन्तरे माधवो, माधवोमाधवो चान्तरे अंगना।
इत्थमाकल्पितं मंडलं सुन्दरं संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥

बीच में राधा और कृष्ण की युगल जोड़ी है, चारों ओर गोपियाँ और प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण। सारी प्रकृति रसमय, रासमय, आनंदमय, मधुमय, कृष्णमय हो रही है। गोपियों के प्राण कृष्णरसामृत से ओत-प्रोत हैं। नाचते-नाचते सारी सुध-बुध खो जाती है—

लोचन श्यामरु, वचनहिं श्यामरु
श्यामरु चारु निचोल।
श्याम हार हृदय मिलि श्यामरु
श्यामरु सखि करु कोल ॥

श्रीमद्भागवत का 'रास पंचाध्यायी' इसी लीला-माधुर्य से ओतप्रोत है। भगवान् की यह लीला अपने साथ अपनी ही लीला है—

'रेमे रमेशो व्रज सुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिविम्बविभ्रमः।' जैसे नन्हा-सा

शिशु दर्पण में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब के साथ खेलता है वैसे ही श्रीकृष्ण और ब्रजसुन्दरियों ने रमण किया। निखिल ब्रह्माण्ड रास के फाँस में गुंथा हुआ है।

राधा और कृष्ण का केन्द्र में होना प्रकृति तथा पुरुष की कौतुक-प्रियता तथा संयोग का ही व्यंजक है। चारों ओर गोपियाँ-रूपी आत्माएँ अपने प्राण-वल्लभ कृष्ण के साथ नाच रही हैं। कृष्ण सर्वत्र ओत-प्रोत हैं। सभी को वे अपने-अपने भिन्न दिखाई पड़ते हैं। परंतु सभी गोपियों के हृदय-प्रवाह में कृष्ण 'एकरस' समान भाव से विद्यमान हैं। हमारा हृदय ही वृंदावन की विहारस्थली है, जिसमें हमारे प्रेम के कालिन्दी-तट पर श्रद्धा के कुंजों के नीचे हमारी राधा-रूपिणी आत्मा अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ अनंत रास में संलग्न है।

चित्तवृत्ति-स्वरूप गोपियाँ

भगवान् श्रीकृष्ण ही हमारी आत्मा के आत्मा हैं। आत्माकार वृत्ति श्रीराधा है, और शेष आत्माभिमुखी वृत्तियाँ गोपियाँ।[१] उनका धाराप्रवाह रूप से निरंतर आत्मरमण ही 'रास' है।

भगवान् श्रीकृष्ण परात्पर ब्रह्म हैं, उनकी वंशी विद्या माया[२] का अवतार है और उससे निस्सृत ध्वनि आदि नाद ओंकार है तथा गोपियाँ श्रुति रूपा हैं। श्रुतियों का चरम लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति है।[३] उनमें ऊं नित्य प्रतिष्ठित है।

---

१. इसलिए इन्द्रियों के लिए आकर्षक होने से वह मूल-तत्व, भक्तजनों की परिभाषा में, 'कृष्ण' इस नाम से कहा जाता है और इन्द्रियों की वृत्तियों को गोपी (गो-इन्द्रियों को पालने या पुष्ट करनेवाली) कहा जाता है।

'कृष्णेत्याकर्षकं तत्वमिन्द्रियाणमतो मतम्।
गोप्यस्तद् वृत्तपरत्तस्माद् भक्तानां परिभाषया ॥'

कृष्ण और गोपी- डॉ० श्रीमंगलदेवजी शास्त्री,

'कल्याण' - गीताप्रेस गोरखपुर, वर्ष ३२ अंक १ पृष्ठ-५०१

२. माया के दो भेद हैं - विद्या माया और अविद्या माया। जो जीव का अपने आवरण का उच्छेदन कर ब्रह्म के साथ ऐक्य करा देती है उसे विद्यामाया कहा गया है। अविद्या माया जीव को अपने स्वरूप की स्मृति होने नहीं देती।

३. (क) तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजौ
मनोरथान्तं श्रुतयो यथा भणुः।
स्वेरुत्तरीयेः कुचकुंकुमंडितै -
रचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥

अतः वंशी ध्वनि सुनकर वे सहज भाव से श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट हो जाती हैं।[१] उस दिव्य ध्वनि का लोकायतन प्रभाव होता है।[२] पुनः गोपियाँ जीव-स्वरूपा कही गई हैं। जीव और ब्रह्म का नित्य अभिन्न संबंध है।[३] अतः

(ख) इनके अतिरिक्त श्रुतियों की अधिष्ठात्री महाशक्तियों ने, जब परमतत्त्व का अन्वेषण करते-करते महा-तपस्या के पश्चात् श्रीकृष्ण का दर्शन पाया, तब उन्होंने उनके साथ रमण (तादात्मयेन-संमिलन) की इच्छा प्रकट की। श्रीकृष्ण ने कहा कि तुम मेरी आराधना द्वारा ब्रज-कुमारिका बनो, तब वहाँ तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा। इस तरह कृष्ण का वर प्राप्त करके वे भी नंद ब्रजकुमारिका हुई हैं। उनमें आगे चलकर साक्षात् परब्रह्म पर्यवसायिनी सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादि श्रुतियाँ अनन्य पूर्विका या स्वकीया हुई हैं, एवं कर्मकांड या अन्यान्य,देवता तत्त्व पर्यवसायिनी श्रुतियाँ परकीया हुई हैं, जैसे- 'सर्वे वेदायत्पदमामनन्ति', 'वेदैश्चसर्वैरहमेव वेद्यः॥' इत्यादि श्रुति स्मृति के अनुसार समस्त वेदों का महातात्पर्य परब्रह्म में ही है। अन्यान्य अविचारित रमणीय का अवन्तर ही तात्पर्य होता है। वैसे ही यहाँ भी श्रुतिरूपा गोपांगनाओं का, अन्य संबंध केवल काल्पनिक है, मुख्य संबंध तो उनका भगवान् से ही है।

(भक्ति-सुधा, द्वितीय खण्ड, स्वामी करपात्रीजी) पृष्ठ ३२७

१. उनमें भी श्रुति रूपा गोपांगना वाच्यवाचक के अभेद रूप से ब्रह्मरूपा ही हैं, ओंकार मूलवाचक है, उसका वाच्य परब्रह्म है। समस्त वाङ्मय ओंकार का विकार है, और सारा प्रपंच ब्रह्म का कार्य है। अतः ओंकार का विकारभूत समस्त वाङ्मय, ब्रह्म के कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपंच का वाचक है। वाच्य और वाचक का अभेद हुआ करता है, इसीलिए समस्त वाङ्मय भी वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है।

(भक्ति-सुधा, द्वितीय खण्ड, स्वामी करपात्रीजी) पृष्ठ ३२७

२. 'अस्पन्दनं गतिमतां पुलकं तरुणाम्।' उसे सुनकर जो गतिमान् थे उनमें निस्पन्दता आ जाती थी और वृक्षों की रोमावली खड़ी हो जाती थी। अर्थात् चेतन पदार्थों में जड़ता आ जाती थी और जड़ों में चेतन की क्रिया होने लगती थी।

३. (क) 'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्राणी। मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी।'

रामचरितमानस-बालकांड।

(ख) "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिसस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥"

श्वेताश्वतरोपनिषद्-४।६

जीव स्वरूपा गोपियाँ

यह रासलीला ब्रह्म और जीव की चिन्मयी लीला है। इस प्रकार प्रतीकात्मक[1] अर्थों द्वारा इसका रहस्य समझना चाहिए।

'रासलीला' के संबंध में प्रतिवादियों द्वारा प्रश्न होते रहे हैं। लेकिन इसके पूर्वापर प्रसंग, भाव एवं लीला के हेतु पर विचार करने से कुछ भी संदेह नहीं रह जाता। श्रीमद्भागवत महापुराण परमहंसों की संहिता है। इसके वक्ता परम ज्ञानी शुकदेवजी तथा श्रोता मरणासन्न महाराज परीक्षित हैं। अतः ऐसे परम ज्ञानी कथमपि ग्रामकथा का वक्ता नहीं हो सकते। पुनः यदि किसी को अपनी मृत्यु का पता चल जाय तो वह कभी भी श्रृंगारिक कथा-श्रवण में प्रवृत्त नहीं हो सकता। महराज परीक्षित को सातवें दिन ही तक्षक नाग के दंशन से मृत्यु का शाप था। अतः वे कैसे इसे श्रृंगारिक समझकर इसके श्रवण में रूचि रख सकते थे ?

रासलीला ही 'भगवान्'[2] शब्द से प्रारम्भ होती है। इसके प्रथम अध्याय के बयालीसवें श्लोक में 'योगेश्वरेश्वरः' शब्द आया है।

रास पंचाध्यायी में आए हुए भगवन्नाम

साथ ही कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर पूरे रास पंचाध्यायी में गोपियों ने अनेकों बार 'उरूक्रम विक्रमात्' वराहवपुषः,[3] अच्युतः, खलानाम् दण्डघृक्, महात्मनः (चरण चिह्नों में परमात्मा-संभव ध्वजाम्भोजवज्रांकुशयवादिभिः का दर्शन) भगवान् हरिरीश्वरः, आत्मरतः, आत्मा-

---

१. "तदभिन्नत्वे सति तद्बोधकत्वं तद्प्रतीकत्वं

अर्थात् उससे भिन्न जो भावादि या लक्षणादि शब्द-शक्तियों द्वारा अर्थ-बोध हो उसे 'प्रतीक' कहते हैं।

२. षडैश्वर्यपूर्ण को भगवान् कहते हैं।

षट् ऐश्वर्य ये हैं - सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य।

भगवान् अपि ता रात्रिः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तु मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भागवतपुराण १०।२०।१)

३. श्रीमद्भागवतपुराण १०।३०।१०,११

रामः, श्रीकरग्रहम्, प्रणत देहिनाम् पाप कर्षणम्, श्रीनिकेतनम्, प्रणतकामदम्, पद्म जार्चितम्, श्रियः स्कान्त वल्लभम्, अच्युतम्, स्वयम् स्वरतिः आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। उन्होंने स्वयं 'निरवधसंयुजाम्' कहकर रासलीला को निर्दोष सिद्ध किया है। श्रीशुकदेव जी ने 'सत्यकामः' तथा 'अवरुद्धसौरतः' विशेषणों का प्रयोग कर भगवान् श्रीकृष्ण को नित्य ब्रह्मचारी बताया है। परीक्षित ने इस संबंध में रहस्योद्घाटन के लिए ही शंका व्यक्त की है। लेकिन श्रीशुकदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण को सबकी आत्मा कहकर उनकी 'कमलपत्रइवाम्भसा' पवित्रता सिद्ध की है[1] और इस रासलीला को 'काम विजय' का महामंत्र बतलाया है।[2]

'लौकिक-श्रृंगार' की तरह मधुरोपासना में भी परकीया में प्रेमाधिक्य की कल्पना की जाती है। लेकिन भगवान् की दृष्टि में स्वकीयात्व और परकीयात्व का भेद नहीं है। इस संबंध में श्रीहनुमान प्रसाद जी पोद्दार का मंतव्य देखने योग्य है—

गोपियों का स्वकीयात्व परकीयात्व विवेचन

गोपियाँ श्रीकृष्ण की स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न भी श्रीकृष्ण के स्वरूप को भुलाकर ही उठाया जाता है। श्रीकृष्ण जीव नहीं हैं कि जगत् की वस्तुओं में उनका हिस्सेदार दूसरा जीव भी हो। जो कुछ भी था, है और आगे होगा - उनके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं। अपनी प्रार्थना में गोपियों ने और परीक्षित के प्रश्न के उत्तर में श्रीशुकदेव जी ने यही

---

१. गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
यौन्तश्चरतिसोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
(श्रीमद्भागवत पुराण १०।२०।३६)

२. विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोनु शृणुयादथ वर्णयेद्यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥४०॥

अर्थात् ब्रजांगनाओं के साथ भगवान् श्रीकृष्ण की इस रासक्रीड़ा के वर्णन को जो श्रद्धा से युक्त होकर बार-बार सुनेगा अथवा कहेगा वह धीर पुरुष शीघ्र ही (उन) भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वश्रेष्ठ प्रेमस्वरूपा भक्ति को प्राप्तकर हृदय विकार रूप (लौकिक) काम से अविलम्ब मुक्त हो जाएगा।
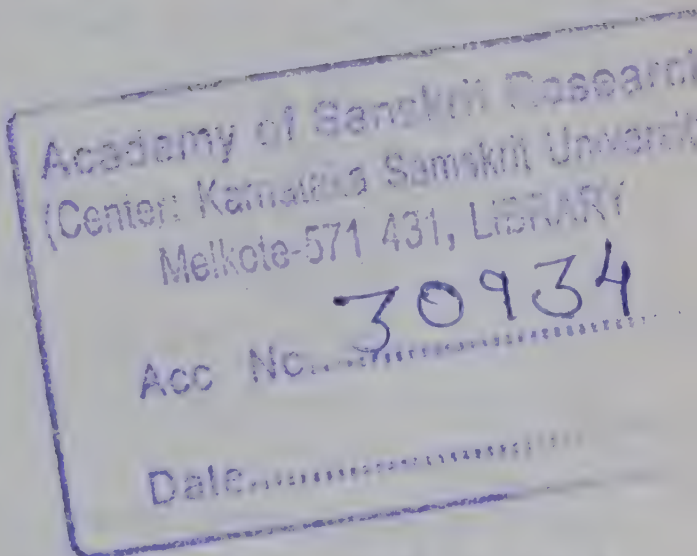
बात कही है कि गोपी, गोपियों के पति, उनके पुत्र, सगे संबंधी और जगत् के समस्त प्राणियों के हृदय में आत्मारूप से, परमात्मारूप से जो प्रभु स्थित हैं—वही श्रीकृष्ण हैं। कोई भ्रम से, अज्ञान से भले ही श्रीकृष्ण को पराया समझे, वे किसी के पराये नहीं हैं, सबके अपने हैं, सब उनके हैं। श्रीकृष्ण की दृष्टि से, जो वास्तविक दृष्टि है, कोई परकीया है नहीं, सब स्वकीया हैं, सब केवल अपना ही लीला-विलास है, सभी स्वरूपभूता आत्मरूपा अन्तरंगा शक्ति हैं। गोपियाँ इस बात को जानती थीं और स्थान-स्थान पर उन्होंने ऐसा कहा भी है।

ऐसी स्थिति में 'जार भाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ काम नहीं है, अंग-संग नहीं है, वहाँ औपपत्य और जार-भाव की कल्पना ही कैसे हो सकती है? गोपियाँ परकीया नहीं थीं, स्वकीया थीं, परंतु उनमें परकीया-भाव था। परकीया होने में और परकीया भाव होने में आकाश-पाताल का अन्तर है। परकीया-भाव में तीन बातें बड़ी महत्व की होती हैं— (१) अपने प्रियतम का निरन्तर-चिन्तन, (२) मिलन की उत्कट उत्कण्ठा और (३) दोष दृष्टि का सर्वथा अभाव। स्वकीया भाव में निरन्तर एक साथ रहने के कारण ये तीनों गौण हो जाती हैं, परंतु परकीया भाव में ये तीनों भाव उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं। कुछ गोपियाँ जारभाव से श्रीकृष्ण को चाहती थीं। इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्रीकृष्ण का निरन्तर चिन्तन करती थीं, मिलने के लिए उत्कण्ठित रहती थीं और श्रीकृष्ण के प्रत्येक व्यवहार को प्रेम की आँखों से ही देखती थीं। चौथा भाव और विशेष महत्व का है—वह यह कि स्वकीया अपने घर का, अपना और अपने पुत्र-कन्याओं का पालन-पोषण, रक्षणावेक्षण पति से चाहती है। वह समझती है कि इनकी देख-रेख करना पति का कर्त्तव्य है- क्योंकि ये सब उसी के आश्रित हैं और वह पति से ऐसी आशा भी करती हैं। कितनी ही पतिपरायणा क्यों न हो, स्वकीया में यह सकाम भाव छिपा रहता ही है। परंतु परकीया अपने प्रियतम से कुछ नहीं चाहती, कुछ भी आशा नहीं रखती, वह तो केवल अपने को देकर ही उसे सुखी करना चाहती है। श्रीगोपियों में यह भाव भी भलीभाँति प्रस्फुटित था। इसी विशेषता के कारण संस्कृत-साहित्य के कई ग्रंथों में निरन्तर चिन्तन के उदाहरण स्वरूप परकीया भाव का वर्णन आता है।

रासलीला में वर्णित श्रृंगार भाव दिव्य प्रेम के भाव हैं न कि प्राकृत प्रेम के। यद्यपि ये श्रृंगार के भाव हैं—रसीले भाव हैं। पर यह लौकिक श्रृंगार से ऊँची वस्तु हैं।[१] इस विषय में श्रीभरतादि नाट्याचार्यों की सम्मति है कि ऐसे

१. श्रीमद्भागवत रासपंचाध्यायी की पाद टिप्पणी - पृष्ठ ३३०-३३९ तक

समस्त श्रृंगार के उदात्त भाव, भेद, प्राकृत नायक नायिकादि में समन्वित नहीं हो सकते, यदि हो सकते हैं तो केवल रसिकशेखर श्रीराधाकृष्ण में ही । उनके प्रेम-सुधा-सिन्धु के तो एक विन्दु में ही ये सब समा जाएँगे । अतः गोपियों का दिव्य प्रेम ही काम कहा गया है—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यागमत् प्रथाम् ।' और 'चेष्टा यदंगिनी रसे कविभिः परोढ़ा तद् गोकुलाम्बुज दृशां कुलमन्तरेण' अर्थात् जो कवियों ने श्रृंगार रस में परोढ़ा (परकीया) कामिनी को अनभिमत माना है, वह तो गोकुल कुलांगनाओं को छोड़ कर माना है अर्थात् यहाँ की नायिका और नायक दोनों ही अलौकिक हैं ।[1] अप्राकृतिक हैं । अतः उनकी लीला भी अप्राकृतिक किंवा परम दिव्य ही है । गोलोक में यह रासलीला नित्य चलती रहती है । विश्व इसी रासलीला का परिणाम है । श्रीअक्षय कुमार वन्दोपाध्याय ने कहा है—'पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण नित्य रस-विलासी हैं । श्रीराधा की श्रीकृष्णाराधना से समुद्भूत श्रीराधा के ही अनंत वैचित्र्यमय रूपरूपान्तर का अनादि अनंतकाल से श्रीकृष्ण आस्वादन करते हैं । विश्व ब्रह्माण्ड में जितना रूप जितना भाव, जितना रस, जितनी संभोग्य सामग्री है सभी श्रीराधा की ही आंशिक अभिव्यक्ति है, श्रीराधा का ही खण्ड-खण्ड प्रकाश है, सभी के भीतर ह्लादिनी शक्ति का देश-काल भावावच्छिन्न परिचय है, सबके भीतर से ही श्रीराधा-श्रीकृष्णाराधना है । सबका श्रीकृष्ण आस्वादन करते हैं । सब लेकर ही उनकी रास-मंडली विरचित है । विश्व का सब कुछ श्रीकृष्णाराधना में रत है, सबके ही प्राणरूप में, सम्भोक्ता रूप में, आत्मारूप में श्रीकृष्ण विराजमान हैं । सबकी ही सत्ता श्रीकृष्ण चन्द्र को केन्द्र करके ही विचित्र रूपों में परिणाम को प्राप्त होती है, सभी श्रीकृष्ण की रस-विलासमयी सत्ता के भीतर अपने को विलीन करके अपनी-अपनी सत्ता की चरम सार्थकता संपादन करने के लिए अग्रसर हो रहे हैं । समस्त विश्व रास के संगीत के द्वारा ही मुखरित है, रास की नृत्यकला के द्वारा स्पन्दित है, रास के आनंद द्वारा ही संजीवित है । रास के भीतर ही विश्व के स्वरूप का परिचय है, विश्वनाथ के स्वरूप का परिचय है । विश्व में सर्वत्र रास की उपलब्धि होने पर मानवसाधना की कृतार्थता हो जाती है । शैव और शाक्त साधकगण इस रासतत्त्व को ही शिव गौरी का नित्य मिलन एवं महामाया की नित्य-निरन्तर शिवाराधना के रूप में

श्रीअक्षय कुमार वन्दोपाध्याय के मत में रासलीला

---

१. भक्तिसुधा—द्वितीय खण्ड-पृष्ठ ३२६
(स्वामी करपात्रीजी)

ध्यान और आस्वादन करते हैं। इस सच्चिदानन्दमयी आत्मा स्वरूपा महाशक्ति या परमाशक्ति को नित्य आलिंगनबद्ध करके ही महायोगीश्वर शिव अर्धनारीश्वर रूप में साधकों के सम्मुख अपने को प्रकट करते हैं। रामभक्त गण तत्त्व दृष्टि से रामसीता के नित्य मिलन का भी इसी भाव से आस्वादन करते हैं। भीतर बाहर इस महारास का आस्वादन होने पर ही जीवन अमृतमय, रसमय, परमानन्दमय हो जाता है।'

प्रतीकात्मक अर्थ का उपयोग केवल उसकी रहस्यात्मकता से है। प्रतीक अर्थ लेने से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह लीला काल्पनिक है। बल्कि परम सत्य है कि जैसा वर्णन हुआ है वैसी ही लीला हुई थी।

इस 'रासलीला' का परवर्त्ती संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। भारत के विभिन्न प्रान्तों के गीतों, नृत्यों एवं नाटकों पर भी रास-लीला ने अपना प्रभाव डाला। राधा वल्लभ सम्प्रदाय में इसके दार्शनिक स्वरूप की बहुत ही सुन्दर व्याख्या हुई है।

चौथा अध्याय

दक्षिण के द्वादश आलवार-भक्त एवं वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्त

उपनिषद् में लिखा है 'भगवान् जिसे वरन करते हैं वही उन्हें प्राप्त कर सकता है।'[1] अतः इसमें देश-काल तथा पात्र की अपेक्षा नहीं कृपा और प्रेम चाहिए। भगवान् के स्वयं वरन के ऐसे ही उदाहरण हैं दक्षिण भारत के द्वादश आलवारगण। वे भक्ति सिद्ध तो थे ही, प्रेम की साकार प्रतिमा भी थे। उनके नाम इस प्रकार हैं -- पोयगे आलवार (सरोयोगी), भूतत्तालवार (भूतयोगी), पेयालवार (महत्योगी), तिरुमड़िसै आलवार (भक्तिसार), शठकोप (नम्मालवार इन्हें पराकुंश मुनि भी कहते हैं), मधुर कवि आलवार, कुलशेखर आलवार, परि आलवार (विष्णुचित्र), गोदा-आण्डाल (रंगनायकी), तोण्डर-डिप्पोली (विप्रनारायण भक्त-पद-रेणु), तिरुप्पन (मुनिवाहन-योगवाह) और तिरुमगैयालवार (नीलनपरकाल)।[2] इनमें आलवारों के मूल नाम तामिल में हैं। बाद में इनका संस्कृतानुवाद हुआ। इन आलवारों में सरयोगी, भूतयोगी, महद्योगी और भक्तिसार सबसे प्राचीन हैं।

इन सभी आलवारों का एकमात्र सिद्धान्त था 'भक्ति सर्वश्रेष्ठ है, कृपा अहैतुकी है तथा शरणागति पूर्ण निर्भयता की स्थिति है। भगवान् नारायण ही सर्वोपरि हैं। भगवान् का कैंकर्य-प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का चरम उद्देश्य है। जगत् उन्हीं का रूप है। गुरु का स्थान बहुत ऊंचा है। गुरु तथा गोविन्द के चरणों में प्रीति सम्पूर्ण मंगलों का मूल है।'

---

१. यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।

२. भूतं सरश्च महदाह्वय भट्टनाथ—

श्री भक्ति-सार-कुलशेखर-योगिवाहान् ।
भक्ताङ्घ्रिरेणु-परकाल-यतीन्द्रमिश्रान्
श्रीमत् परांकुशमुनिं प्रणतोस्मि नित्यम् ।।

श्री पराशर भट्ट ।

विष्णुचित्त

इन सभी आलवारों का जन्म दिव्य किंवा रहस्यपूर्ण है। श्रीपेरि आलवार ने बहुत बचपन से ही अपना चित्त विष्णु में लगा दिया था। इसीलिए उनका नाम विष्णुचित्त पड़ा। इनके उपदेश से मदुरा का धर्मात्मा राजा बलदेव बहुत ही संतुष्ट हुआ था। बाद में वह इनका भक्त हो गया था। ये भगवान् की उपासना वात्सल्य भाव से करते थे।

श्री रंगनायकी

भक्तिमती आण्डाल या रंगनायकी का पूरा जीवन-चरित्र मीराबाई से मिलता जुलता है। ये तुलसी वन में मिली थीं। भक्त-वर विष्णुचित्त इसे प्राप्त कर अत्यन्त हर्षित हुए। ये बचपन से ही विष्णु के अतिरिक्त किसी दूसरे शब्द का उच्चारण नहीं करती थीं। सयानी होने पर वह भगवान् रंगनाथ को पति के रूप में भजने लगी। प्रेम की तन्मयता में भगवान् के लिए माला गूंथकर स्वयं पहन लेती थीं। और दर्पण में अपनी छवि को देखकर कहती—'क्या मेरा सौंदर्य मेरे प्रियतम को आकर्षित करेगा।' भगवान् रंगनाथ को इनकी पहनी माला पहनने में ही सुख होता था। अतः उसी माला को चढ़ाने का पिता को स्वप्न हुआ। एक समय वह अपने पिता से तीर्थ स्थानों का नाम सुन रही थी। भगवान् रंगनाथ का नाम सुनते ही वह मुग्ध हो गई, उसके शरीर में रोमांच हो आया तथा नेत्रों से अश्रुवर्षन होने लगा। उसकी उत्कण्ठा और भी तीव्र हो गई। बिना दर्शन किए एक-एक क्षण असह्य हो रहा था। परम भाव की स्थिति में तल्लीन वह भक्तिमती सदा गोपी बनकर वृंदावन में लीलाएँ करती थीं। कभी वह कोयल को संबोधन कर कहती— 'अरी कोयल! मेरा प्राण वल्लभ क्यों मुझे तड़पा रहा है? वह दर्शन क्यों नहीं देता?' उसकी अतिशय विरह व्याकुलता को देखकर भगवान् रंगनाथ ने मंदिर के अधिकारियों को दर्शन देकर आण्डाल को मंदिर में लाने की आज्ञा दी। विष्णुचित्त को भी स्वप्न में भगवान् ने कहा - तुम आण्डाल को शीघ्र लाओ, मैं उसका पणिग्रहण करूँगा। स्वयं आण्डाल ने भी स्वप्न में अपना विवाह रंगनाथजी के साथ होते हुए देखा। उनका स्वप्न सच्चा हो गया। स्वप्न में आज्ञा के अनुसार वहाँ के अधिकारी उन्हें सादर मंदिर में लाए। बड़ी धूम-धाम के साथ शादी हुई। देखते ही देखते वह भगवान् की शेष शय्या पर चढ़ गई। लोगों ने देखा मंदिर में सर्वत्र दिव्य प्रकास छा गया है। उस प्रकाश में देवी आण्डाल सबके देखते ही देखते विलीन हो गई। प्रेमी और प्रेमास्पद एक हो गए। आज आण्डाल की अभि-लाषा पूरी हो गई। दक्षिण के वैष्णव-मंदिरों में आज भी उसका विवाहोत्सव

प्रतिवर्ष मनाया जाता है। 'तिरुप्पावै' तथा 'नाच्चियार' 'तिरोमोलि' इनके भक्ति-रस पूर्ण ग्रंथ हैं। इनके भक्तिरसपूर्ण गीतों का एक संग्रह हिन्दी अनुवाद सहित बिहार राष्ट्र-भाषा-परिषद् से प्रकाशित हुआ है। संग्रह 'गोदागीतावली' नाम से प्रकाशित हुआ है।

श्रीकुलशेखर आलवार- ये कोल्लिनगर (केरल) के धर्मात्मा राजा दृढ़ व्रत के पुत्र थे। कुछ ही दिनों में ये सब प्रकार की विद्याओं में पारंगत हो गए। उनका शरीर तो सिंहासन पर बैठता था लेकिन उनका हृदय श्रीराम का सिंहासन हो गया था। वे सदा यही सोचा करते 'वह दिन कब होगा जब ये नेत्र भगवान् के त्रिभुवनसुंदर मंगल विग्रह का दर्शन पाकर कृतार्थ होंगे?' भगवान् भक्त की रूचि रखते हैं। एक दिन रात्रि में भक्त कुलशेखर ने भगवान् के श्रीविग्रह का साक्षात्कार किया। उनकी तन्मयता और भी बढ़ गई। अब वे अहर्निश भगवान् की भक्ति करने लगे। उनके उपास्य भगवान् श्री राम थे और वे दास्य भाव से उनकी उपासना करते थे। उन्होंने श्री रंगक्षेत्र में रहकर 'मुकुन्द-माला' नामक एक स्तोत्र ग्रंथ संस्कृत में लिखा।[1] वैष्णवों में इसका पाठ श्रद्धा से किया जाता है। इन्होंने उत्तर भारत के भी मथुरा वृंदावन, अयोध्या आदि कई तीर्थों की यात्रा की थी और श्रीराम तथा श्रीकृष्ण की लीलाओं पर पद रचे थे। उनमें शरणागति का माहात्म्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ये भगवान् की कौ-स्तुभमणि के अवतार माने जाते हैं।

श्रीविप्र नारायण : ये एक उच्च ब्राह्मण-कुल में पैदा हुए थे। शास्त्रों में निष्णात होकर उन्होंने अपने को भगवान् श्रीरंगनाथ जी के चरणों में अर्पित कर दिया था। भगवान् अपनी माया द्वारा प्रताड़ित कर भक्त को सुदृढ़ बनाते हैं। परम वितरागी ये संत देवदासी 'देवदेवी' के सौंदर्य-जाल में पड़ गए थे। भक्तहितार्थ भगवान् स्वयं विप्रनारायण का सेवक रूप धारण कर मंदिर का स्वर्ण-

---

१. पदलालित्य तथ माधुर्य के लिए ये श्लोक उद्धृत हैं—

जयतु जयतु देवो देवकीनन्दनोऽयं
जयतु जयतु कृष्णो वृष्णिवंश प्रदीपः।
जयतु जयतु मेघश्यामलः कोमलांगो
जयतु जयतु पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः॥

मुकुन्द ! मूर्ध्ना प्रणिपत्य याचे
भवन्तमेकन्तमियन्तमर्थम्।
अविस्मृतिस्त्वच्चरणारविन्दे
भवे भवे मेऽस्तु भवत्प्रसादात्॥

पात्र उस देवदासी के यहाँ दे आए। प्रातः काल पात्र का अन्वेषण प्रारम्भ हुआ। पता चला उसे विप्रनारायण का सेवक लाया था। अब क्या था! विप्रनारायण पकड़े गए और कारागार में भेज दिए गए। सत्य की विजय होती ही है। भगवान् ने राजा को स्वप्न में विप्रनारायण को निर्दोषी बताया। वे वहाँ से मुक्त कर दिए गए और तैलधारावत् भगवत् स्मरण करते हुए अपना जीवन बिताने लगे। उन्होंने अपना नाम भक्ति-पद-रेणु रखा और बड़ी श्रद्धा से भक्तों की सेवा करने लगे।

मुनिवाहन (तिरुप्पनालवार) : ये जाति के अन्त्यज थे। धान के खेत में पड़े बालक तिरुप्पन को पाकर वह अस्पृश्य धन्य हो गया था। गान-विद्या में निपुण उस अस्पृश्य ने तिरुप्पन को संगीत विद्या में पारंगत कर दिया। वे वीणा पर केवल हरिनाम का ही गान करते थे। वे श्रीरंग क्षेत्र में जाकर कावेरी के दक्षिण तट पर पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। रथ-यात्रा को देखकर वे आत्म-विभोर हो जाते थे। उनके नेत्रों से अश्रु-वर्षण होने लगता था। उनकी प्रबल उत्कंठा थी मंदिर में जाकर श्रीविग्रह के दर्शन की। परंतु, अछूत होने के कारण वे साहस नहीं कर सकते थे। चींटी के पग घूंघरु बाजे सो भी साहब सुनता है। अंतर्यामी भगवान् रंगनाथ ने भक्त को बड़ाई देने के लिए सारंगमा मुनि को उन्हें कंधे पर बैठाकर मन्दिर में लाने के लिए आज्ञा दी। मुनि ने उनकी झोपड़ी में आकर उन्हें उस भाँति मन्दिर में चलने के लिए कहा। ये सारी बातें भक्त तिरुप्पन को स्वप्न की तरह लग रही थी। वे मुनि के चरणों में गिर पड़े। इतने में मुनि उन्हें कंधे पर बिठाकर मन्दिर की ओर लाने लगे। अब भक्त मुनि वाहन के आनन्द का क्या ठिकाना! उन्हें अन्धे को नेत्रलाभ की तरह आनन्द हो रहा था। मन्दिर में भगवान् श्रीरंगनाथ के दर्शन कर कृतार्थ हो गए। लोगों ने देखा उनके मस्तक पर भगवान् का चरण रखा हुआ है और चारों ओर प्रकाश छा गया है। श्रीवत्स के अवतार मुनिवाहन उस दिव्य प्रकाश में हो गये।

सरोयोगी, भूतयोगी और महतयोगी : इनका स्थान आलवारों में सबसे प्राचीन है। उन्होंने लगभग तीन सौ भजन बनाए थे। इन्हें ऋग्वेद का सार-स्वरूप समझा जाता है। ये तीनों भक्त मानों ज्ञान और भक्ति के सगुण अवतार ही थे। इनके पद्यों का संग्रह 'ज्ञान-प्रदीप' के नाम से विख्यात है। कहा जाता है कि ये तीनों भक्त पहले सर्वथा अपरिचित थे। सर्वप्रथम तिरुक्कोईलूर नामक क्षेत्र में

उनका परस्पर परिचय हुआ। मंदिर में पूजा करके रात्रि के समय सरोयोगी एक बहुत छोटी कुटिया में लेट गए जिसमें केवल एक ही व्यक्ति सो सकता था। बाहर से किसी ने रात भर के लिए आश्रय मांगा। सहज दयालु संत ने आश्रय दिया। थोड़ी देर बाद एक और व्यक्ति ने वैसा ही कहा और उसे भी आश्रय मिला। अब तीनों खड़े होकर भगवान् का भजन कर ही रहे थे कि एक परम दिव्य चौथे व्यक्ति के आने का अनुभव हुआ। देखते ही देखते वहाँ मधुर प्रकाश छा गया। अपने प्रभु का दर्शन कर वे धन्य हो गए।

श्रीभक्तिसार : ये परम वैष्णव भक्त भार्गव के पुत्र थे। इनके माता-पिता ने सरकंडे के वन में इन्हें छोड़ दिया था। कहते हैं—स्वयं श्रीमहालक्ष्मी ने इन्हें अपना दुग्ध-पान कराया था। सरकंडे काटने के लिए आए हुए महाभाग तिरुवाडन नाम का व्याध इन्हें अपने घर लाया। उसी ने इनका नाम भक्तिसार रखा। थोड़ी ही अवस्था में भक्तिसार ने प्रायः सभी धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन कर लिया। गजेन्द्र सरोवर पर तप करते हुए इस परम भक्त को देवताओं ने कई बार 'वर' माँगने के लिए कहा। लेकिन ये अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहे। इनमें अहंकार नाम की कोई वस्तु नहीं थी। अपने बनाए हुए पदों की बढ़ी ख्याति को देखकर उन्होंने अपनी सारी पोथियाँ कावेरी नदी में डाल दीं। और सब पुस्तकें तो नदी के प्रवाह में बह गईं, केवल दो पुस्तकें बच रहीं। ये पुस्तकें प्रवाह के साथ न बहकर अपने-आप किनारे की ओर लौट आईं। उनके अनुसार मुक्ति भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है।

श्रीनीलन् : ये एक बहादुर योद्धा के पुत्र थे। इनकी युद्ध-कुशलता को देखकर चोल देश के राजा ने इन्हें सेनानायक बना दिया। वे भगवान् श्रीनारायण की भक्तिमती कुमुदवल्ली के रूप-सौंदर्य पर मोहित हो गए थे। उस कन्या ने भी विष्णु-भक्त से ही विवाह करने का शर्त रखा था। श्रीनीलन् ने शर्त स्वीकार कर एक साल तक प्रतिदिन एक हजार ब्राह्मणों को भोजन कराना प्रारम्भ किया। इससे उनके व्यक्तित्व में आमूल परिवर्तन हुआ। अब वे पूर्ण भक्त बन गए। राज्य के लिए प्राप्त राजस्व को भी अपने उद्देश्य पूर्ति में खर्च करने के कारण उन्हें कारागार मिला। भगवान् ने भक्त की इच्छापूर्ति के लिए कांचीनगरी में वेगमती नदी के तट पर गड़े गुप्त खजाने का पता उन्हें स्वप्न में दिया। भक्तवर ने वहाँ जाकर राजस्व चुकाने का शर्त रखा। वे कारागार से मुक्त कर दिए गए। वहाँ जाने पर उन्हें विपुल सम्पत्ति प्राप्त हुई। उन्होंने राजस्व को लौटाकर उसे साधुओं की सेवा में लगाया। वह सम्पत्ति जब सेवा में लग गई तब उन्होंने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए लूट-पाट शुरू किया। परंतु, भगवान् ने स्वयं उन्हें उस विपरीत

मार्ग से उचित मार्ग पर ला दिया। उन्होंने भगवान् विष्णु की स्तुति के हजारों पद बनाए, जिन्हें 'महाकाव्य' कहा जाता है। वे भी भगवान् की उपासना दास्य-भाव से करते थे। इन्होंने एकबार बौद्धों को शास्त्रार्थ में हराकर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की थी। वे भगवान् के शारंग धनुष के अवतार माने जाते हैं।

श्रीशठकोपाचार्य : इन द्वादश तमिल वैष्णव भक्तों में महात्मा शठकोप का स्थान बहुत ऊँचा था। ये जन्मसिद्ध भक्त माने जाते थे। ऐसे तो प्रत्येक आलवार को भगवान् के आयुध विशेष का अवतार माना जाता है, परंतु श्रीशठ-कोपाचार्य भगवान् नारायण के गणाध्यक्ष विश्वक्सेन का अवतार माने जाते हैं। परांकुश, बाकुलाभरण, शठारि या शठद्वेषी आदि नामों से भी उनकी ख्याति थी।[1] इनके संबंध में यह कथा प्रचलित है कि जन्म के दस दिन तक इन्हें भूख, प्यास कुछ भी नहीं लगी। इस रहस्य को समझकर इनके माता-पिता ने इन्हें स्थानीय मंदिर में एक इमली के वृक्ष के नीचे छोड़ दिया। तब से सोलह वर्ष तक वे साधना में तल्लीन रहे और सिद्धि प्राप्त की।

मधुर कवि : शठकोप की खोज में मधुर कवि को दूर से ही इनका दर्शन प्रकाश स्तम्भ रूप में हुआ था। समीप आने पर उन्होंने महात्मा शठकोप के दर्शन कर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। इनके बनाए चार ग्रंथों का पता चला है जो वेद की तरह मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। उनके नाम हैं—तिरुविरुत्तम्, तिरुवाशिरियम् पेरियतिरुवन्तादि तथा तिरुवाय मोलि। तिरुवाय मोलि में हजार से ऊपर पद हैं। तमिल देश के वैष्णवग्रंथ दिव्य 'पिरबन्दम्' के चतुर्थांश में शठकोप के ही पद संगृहीत हैं। ये गोपी भाव के उपासक थे। वेदान्त देशिकाचार्य ने तिरुवाय मौलि को 'द्रविड़ उपनिषद्' कहा तथा इसकी विशेषता के कारण इसका संस्कृत में अनुवाद भी किया। तमिल भाषा के महाकवि कंब ने इनकी प्रशंसा में कहा है—'क्या संसार के समग्र काव्य नाम्मालवार के एक शब्द की भी बराबरी कर सकते हैं?' भगवान् ने प्रसन्न होकर स्वयं इन्हें अपना आलवार (नम् आलवार) कहा था।

'शठकोप मोक्ष की अपेक्षा प्रभु-सामीप्य को श्रेष्ठतर समझते हैं। उनकी दृष्टि में दास्यभाव से प्रभु की भक्ति करना ही मोक्ष है। निखिल जगत् और उसकी वस्तुओं अर्थात् दृश्यों का वे भगवान् के शरीर रूप में अनुभव करते हैं। जो व्यक्ति भगवान् की आराधना नहीं कर सकते उनके लिए वे कृष्ण चरित तथा प्रतिमाओं के ध्यान को आवश्यक समझते हैं। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य देशों में

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना—महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथजी कविराज।

आस्था रखना उनके मतानुसार अनुचित है। उनकी रचनाओं में प्रभु के वियोग की तीव्र अनुभूति प्रकट हुई है। अपने समस्त अन्तःकरण को समेटकर वे इन्हीं नेत्रों से भगवान् के दिव्य दर्शन करने के अभिलाषी हैं। इसी के साथ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रभु का दर्शन बाहर की आँखों से नहीं, श्रद्धा-संवलित अन्तः-करण की आँखों से ही होता है। शठकोप अपने को प्रभु की पत्नी के रूप में बार-बार प्रस्तुत करते हैं। कुम्भ नाम के मंदिर में प्रतिष्ठित श्रीकृष्ण भगवान् की प्रतिमा का वे बहुत दिनों तक पूजन करते रहे और प्रभु का प्रसाद पाकर उन्होंने अपने को धन्य समझा। परिणामस्वरूप सांसारिक जीवन में उन्हें कुछ भी रूचि न रही।[1]

आचार्य रंगनाथमुनि : वैष्णव-धर्म और आचार्य इन बारह आलवारों के बाद आचार्यों ने वैष्णव धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। इन आचार्यों में प्रकाण्ड पांडित्य था। उन्होंने विविध तर्कों से भागवत धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। श्रीरंगनाथ मुनि इनमें सबसे पहले आते हैं। उन्होंने भक्तवर शठकोप के दर्शन उनके प्रबंधों का बारह हजार बार चिन्तन कर प्राप्त किए थे। शठकोप ने प्रसन्न होकर उन्हें दिब्य चक्षु प्रदान कर सच्चिदानन्द स्वरूप का बोध कराया। शठकोप की कृपा से उन्हें भावी गुरु का भी बोध हो गया था। कहा जाता है वे पाँच सौ वर्ष तक जीवित थे। शठकोप के पदों को वैष्णव यात्रियों से सुनकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने शठकोप के सभी ग्रंथों का पता लगाने का अथक प्रयास किया, लेकिन उन्हें मधुर कवि द्वारा केवल ग्यारह पद ही प्राप्त हो सके। उन्होंने 'न्यायतत्त्व' तथा 'योगरहस्य' नामक दो ग्रंथों की रचना की जिनका विद्वद मण्डली में विशेष समादर है। वेदान्त देशिकाचार्य ने इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'योगरहस्य' की चर्चा अपने ग्रंथों में की है। विशिष्टाद्वैत दर्शन का प्रारम्भ इन्हीं से होता है। इनके न्यायदर्शन में विशिष्टाद्वैत मत से संबंधित बहुत-सी बातें प्राप्त होती हैं।

श्रीयामुनाचार्य : ये श्रीईश्वर मुनि के पुत्र तथा श्रीरंगनाथ मुनि के पौत्र थे। अपने पितामह की तरह ही उनमें पांडित्य भरा था। उन्होंने गृहस्थाश्रम

---

१. मोक्षादरं स्फुटमवेक्ष्य मुनिर्मुकुन्द मोक्षं प्रदातुमसदृश फलं प्रवृत्ते।
आत्मेष्टकस्य पदकिंकरतैकरूपं मोक्षाख्यमस्तुमव मे निरणायि तेन ॥
सर्वं जगत् समवलोक्य विभोः शरीरं तद्वाचिनश्च सफलानपि शब्दराशिम्।
तं भूतकौतिक मुखान् कप्यन् पदार्थान् दास्यं चकार वचसैव मुनिश्चतुर्थं ॥
भक्ति का विकास, डॉ० मुंशी राम शर्मा, पृष्ठ ३५

स्वीकार किया था। यज्ञोपवित संस्कार के बाद वे वेदाध्ययन में तल्लीन हो गए और उसके पारंगत विद्वान हुए। ये महान् भक्त, भगवान् के परम विश्वासी और विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रचारक थे। भगवद्‌भक्ति के प्रचार में उन्हें पूर्ण सफलता मिली। पाण्ड्यराज्य के महापंडित कौलाहल को शास्त्रार्थ में परास्त करने के उपलक्ष्य में वहाँ की महारानी ने उन्हें 'आलवंदार' की उपाधि से विभूषित किया था। प्रारम्भ में तो राजसिक वैभव में दिन बीता था, लेकिन नाथमुनि की मृत्यु के बाद उन्होंने राज्याधिकार को स्वीकार नहीं किया।

दार्शनिक सिद्धान्त

उन्होंने भगवान् को पूर्ण पुरुषोत्तम माना। जीव और ईश्वर में अंश-अंशी संबंध निरूपित किया। दोनों में नित्य पृथकता बतायी। जगत् ब्रह्म का शरीर और ब्रह्म को आत्मा बताकर जगत् को ब्रह्मात्मक सिद्ध किया। ब्रह्म सविशेष सगुण, अशेष कल्याणगुणगणसागर, सर्व नियन्ता है। जीव स्वभाव से ही उनका दास है। भक्ति जीव का स्वधर्म है। भक्ति शरणागति का पर्याय है। भगवान् प्रणत-पाल हैं।

उन्होंने गीतार्थ संग्रह, श्रीचतुः श्लोकी, सिद्धित्रय, महापुरुष निर्णय, आगम प्रामाण्य, स्तोत्र रत्न आदि ग्रंथ लिखे थे। कहते हैं आचार्य प्रवर ने महाप्रयाण के समय श्रीरामानुजाचार्य को याद किया, लेकिन वे समय पर नहीं पहुँच सके। उनकी मुँड़ी हुईं तीन अंगुलियाँ मानो उन्हें तीन प्रसिद्ध ग्रंथों पर भाष्य लिखने का संकेत कर रहीं थी। इस रहस्य को समझकर श्रीरामानुजाचार्य ने पूरा करने के लिए कहा और वे सीधी हो गईं।

स्वामी रामानुजाचार्य : वे श्रीयामुनाचार्य की पौत्री के पुत्र थे। बचपन से ही वे कुशाग्र बुद्धि थे, अतः कभी-कभी अपने गुरु की व्याख्या में भी दोष निकाल दिया करते थे। गुरु ने ईर्ष्यावश इनके अनिष्ट का षड्‌यंत्र रचा था, लेकिन विफल रहा।

प्रारम्भ में वे गृहस्थ थे, जब उन्होंने देखा कि गृहस्थी में अपने उद्देश्य की पूर्त्ति कठिन है तब श्रीरंगम में जाकर मतिराज नामक संन्यासी से संन्यास की दीक्षा ले ली। इन्होंने तिरु कोट्टियूर के महात्मा नाम्बि से अष्टाक्षर मंत्र की दीक्षा ली थी। गुरु ने इसे गुप्त रखने के लिए कहा था। परंतु रामानुज ने सबको एकत्र कर, मंदिर के शिखर पर चढ़कर, पावन मंत्र सुनाया। इससे गुरु अप्रसन्न हो गए थे। लेकिन बाद में इनकी उदारता तथा करुणा-पूर्ण भावना से प्रभावित होकर इन्हें गले लगाकर आशीर्वाद दिए।

दार्शनिक मत : भगवान् शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त में शक्ति या माया का पारमार्थिक महत्व गौण होने के कारण भक्ति की गुंजाइश नहीं दिखाई पड़ती। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप स्वामी रामानुज ने अपना भक्ति सुलभ सिद्धान्त स्थापित किया। क्योंकि शक्ति के विशुद्ध तथा निर्मल स्वरूप को न मानने से, ईश्वर जीव और जगत् का संबंध अज्ञानकल्पित होने से भक्ति, करुणा, कर्म आदि का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। अतः जिस माया को शंकराचार्य ने सत्य-असत्य से परे अनिर्वचनीय बताया था उसे स्वामी रामानुज ने सत्य कहा और चित् अचित् से विशिष्ट ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया। इसीलिए इनका वाद 'विशिष्टाद्वैत' कहा जाता है। सम्प्रदाय रूप में तो इसकी अति प्राचीनता मानी जाती है, परंतु 'वाद' का सूत्रपात इन्हीं से होता है। इस सम्प्रदाय में चित्, अचित् और ईश्वर ये ही मूल तत्त्व हैं। 'चित्' और 'अचित्' विशेष ईश्वर के विशेषण हैं। अतः वह इन दोनों से विशिष्ट है। चित् जीव के भोक्ता स्वरूप तथा अचित् जगत् के भोग्य रूप से संबंध रखता है। ईश्वर षडैश्वर्यपूर्ण शक्ति को कहते हैं। ईश्वर की तरह ही जीव और जगत् भी नित्य एवं स्वतंत्र तत्त्व हैं। सृष्टिकाल में चित् और अचित् की स्थूलता देखी जाती है लेकिन प्रलयावस्था में वे सूक्ष्म रहते हैं।

चित् का स्वरूप

जीव नित्य, अणु, अव्यक्त, अतीन्द्रिय, अचिन्त्य, निरवयव, देहादि से विलक्षण तथा स्वप्रकाश आनंद रूप हैं। आत्मा की स्वतंत्रता ईश्वर के अधीन है। उनमें शासक-शास्य संबंध है। उसके अणु रूपत्व से ज्ञान के व्यापकत्व में कमी नहीं आती। अतः भोक्तृत्व भी अबाधित ही रहता है। क्रिया तथा भोग का बोध ज्ञान के ही आश्रय से होता है, अतः आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी स्वतः सिद्ध है। परंतु, उसके कर्तृत्व की स्वाधीनता नहीं है। वह ईश्वराधीन है। जीव का यत्किंचित दृश्य स्वातंत्र्य भी ईश्वर प्रदत्त होने के कारण भगवत्-कैंकर्य ही उसका परम स्वातंत्र्य है। सेवक भाव ही उसका परम पुरुषार्थ है। ईश्वर का प्रेरकत्व कभी जीव के आदि संस्कार विशिष्ट प्रमुख के अनुरूप और कभी-कभी तद् निरपेक्ष भी होता है।

आत्माओं की तीन श्रेणियाँ हैं—बद्ध, मुक्त तथा नित्य। प्रकृति के अनादि संसर्ग के कारण उनमें अविद्या, कर्म, वासना तथा रुचि उत्पन्न होती है। अचित् तत्त्व का संबंधाभाव अविद्यादि की निवृत्ति का मुख्य हेतु है। अविद्या के भेद बहुत प्रकार के हैं।

आत्मा के समान ही ज्ञान भी आनंदस्वरूप है। परंतु, इसकी न्यूनाधिकता प्रकृति-संसर्ग से होती है। आत्मा में संकोच-विकास की संभावना नहीं। मुक्तावस्था

प्रकृति-प्रभाव-विमुक्तावस्था है; अतः इसमें ज्ञान का पूर्ण विकास रहता है। ज्ञान की परिच्छिन्नता तो बद्धावस्था में ही होती है। ज्ञान आत्मा की तरह स्वप्रकाशक नहीं है। भोगादि के बाद तद्वत् ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। देहात्मबोध ही दुःख का कारण है। जगत् ईश्वरात्मक होने के कारण इसका प्रातिकूल्य भी औपाधिक है।

अचित् का स्वरूप

चेतना-रहित वस्तु अचित् कही जाती है। अचित् में स्वाभावतः ज्ञान और आनंद का अभाव है। इसके संसर्ग से आत्मा के ज्ञानानंद का बोध होता है। यह परिणामशील है। इसके तीन भेद हैं—शुद्ध सत्व, मिश्र सत्व और सत्वशून्य। सत्व शून्यता का उदाहरण है 'काल'। शुद्धसत्व निर्विकार है। नित्यंप्राप्त के सभी पदार्थ शुद्धसत्व के भगवदिच्छया कर्मनिरपेक्ष रूप से परिवर्तित स्वरूप हैं। भगवान् तथा नित्य मुक्तों की देह, उनका धाम आदि इसी शुद्धसत्व से बना है। यह परम निर्विकार स्वरूप है। इसका वाणी से निर्देश नहीं हो सकता क्योंकि यह अप्राकृत होने से स्वतः प्रकाशित होता है। फिर भी संसारी जीवों के निकट प्रकाशित नहीं होता है।

मिश्रसत्व रज और तम युक्त होने के कारण जीव के ज्ञान-स्वरूप का आच्छादक है। ईश्वर इसी के माध्यम से सृष्टि-संचालन करते हैं। देश और काल का वैभिन्य भी इसी कारण प्रतीत होता है। अविद्या, माया आदि इसी के पर्याय हैं। सत्वशून्य अचित् तत्त्व 'काल' कहा जाता है। यह प्राकृतिक सभी क्रियाओं की अवधि का अवबोधक तथा साधक है। सृष्टि-प्रलयादि इसी के अधीन हैं। यह ईश्वर की लीलाओं का साधक है। नित्य स्वरूप में यह ईश्वराधीन है। विशुद्ध सत्व उर्ध्वस्थानीय तथा मलिन सत्व निम्नस्थानीय होकर अनंतता को प्राप्त है।

विशिष्टाद्वैत में ईश्वर का स्वरूप : ईश्वर चित् और अचित् दोनों से श्रेष्ठ तथा दोनों की आत्मा होने के कारण आश्रयस्वरूप है। ये दोनों ईश्वर से पृथक होकर अस्तित्व नहीं रख सकते। ईश्वर अनंत ज्ञान, अखिल आनंद, सौंदर्य, कारुण्य, वात्सल्य, सौशील्यादि गुण सम्पन्न है। वह सम्पूर्ण प्राणियों का कर्मफल-प्रदाता है। उसमें सब प्रकार के दोषों का अभाव है। भगवान् का शरीर परम दिव्य तथा चिदानंदमय है। उनकी देह उनकी इच्छा के अनुरूप है। उनके दर्शन से त्रितापों का शमन हो जाता है तथा भोगों से विरक्त होकर मनुष्य भक्ति-पथ का पथिक बन जाता है। भक्त-हितार्थ अवतारों का स्वरूप भी चिन्मय

ही है। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार ये इनके पाँच स्वरूप हैं।

परस्वरूप — परस्वरूप को ही वासुदेव भी कहते हैं। यह सदा एक रस रहता है। इसमें किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं होते। यह परमानंदपूर्ण स्वरूप है जो उनका षाड्गुण्य विग्रह है। नित्य मुक्तात्माओं को इसी रूप का दर्शन होता है। इसको संकर्षण,

व्यूह स्वरूप — प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी कहते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, रक्षा, भक्तों पर करुणादि के हेतु इसकी अभिव्यक्ति होती है। इसकी संज्ञा 'प्रद्युम्न' भी है। इसके दो रूप हैं—मुख्य और गौण। मुख्य विभव प्राकृतिक-लेश-शून्य,

विभव — परम दिव्य-देह विशिष्ट है। इसकी उपासना मोक्षार्थी करते हैं।

अंतर्यामी — यह स्वरूप सम्पूर्ण प्राणियों के हृद्देश में स्थित रहकर सबका शासन करता है।[1] भगवान् के इस स्वरूप से सम्पूर्णप्राणियों को साहचर्य लाभ होता है। जीवों को ध्यानादि के द्वारा इस रूप का नित्य सान्निध्य प्राप्त होता है।

रामानुज के अनुसार ईश्वर और व्यूहों का संबंध यों व्यक्त किया जा सकता है—

ईश्वर का स्वरूप

- पर या षाड्गुण्यविग्रह (वासुदेव)
- व्यूह
  - संकर्षण (ज्ञान तथा बल)
  - प्रद्युम्न (ऐश्वर्य तथा वीर्य)
  - अनिरुद्ध (शक्ति और तेज)
- विभव
- अन्तर्यामी
- अर्चावतार

---
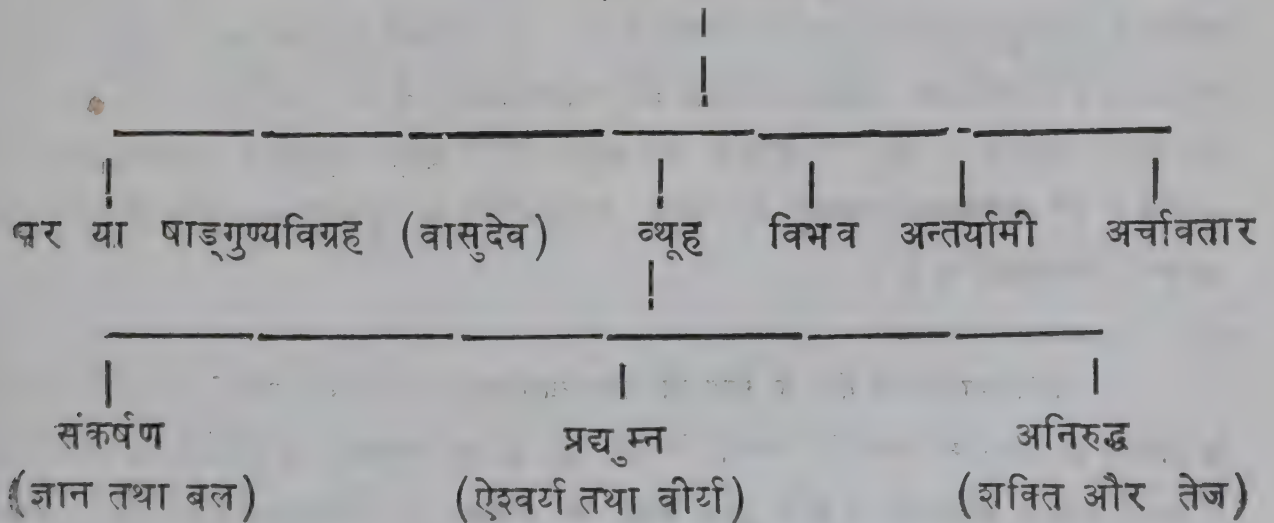
1. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया॥

गीता अ० १८

इस रूप से वे मंदिरादि में उपास्य रूप से विद्यमान रहते हैं । इन रूपों में

अर्चावतार

अधिष्ठानादि के भाव से संकर्षण जीवतत्त्व के अधिष्ठाता है, मनःसृष्टि के अधिष्ठाता हैं प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं कालसृष्टि और मिश्रसृष्टि के अधिष्ठाता ।

लक्ष्मी ईश्वर की शक्ति हैं । यह भी परमेश्वर की तरह ही सम्पूर्ण ऐश्वर्य-पूर्ण एवं सर्वशक्तिस्वरूप हैं ।

श्रीरामानुजाचार्य के मत में उपासना : उपासना को ही विशिष्टाद्वैत मत में भक्ति या ज्ञान कहा जाता है । ज्ञान की भक्ति के अतिरिक्त स्वतंत्र सत्ता नहीं है । यह भक्ति का विशेषण है । तैलधारावत् अविच्छिन्न ध्यान ही मुक्ति का हेतु है । बंधन का महत्व पारमार्थिक है अतः आत्मा का ब्रह्मैकत्व बोध होने पर भी यह दूर नहीं होता । बंधन का मूल कर्म है जो सुखदुखात्मक है । इसकी अनुभूति भी अनिवार्य ही है । अतः बंधन की सुख-दुख-रूपता भी मिथ्या नहीं कही जा सकती । भक्ति रूप में परिणत उपासना से परमात्मा प्रसन्न होते हैं । परमात्मा के प्रसन्न होने पर ही अविद्या का बंधन कटता है ।[१] भोक्ता, भोग्य और प्रेरक न्याय से तीनों में पार्थक्य स्पष्ट है । केवल अभेद ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती । भेद केवल प्रातिभासिक नहीं, बल्कि पारमार्थिक है । भक्ति के साधनों में विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष प्रधान हैं । वर्णाश्रम, विहित सत्कर्मों का सम्पादन चित्त को विमल बनाकर ज्ञान का विकास करता है । पराभक्ति भक्ति-साधना की शीर्षावस्था है । इसमें और ज्ञान में कुछ भी अंतर नहीं है । यह परमानंद की खान है । यही एकमात्र भगवत्प्राप्ति का साधन है ।[२] भगवत्साक्षात्कार के बाद परमभक्ति का आविर्भाव होता है और यही वस्तुतः भगवत्प्राप्ति है ।

---

१. निवर्तकानुपपत्ति दोष के साथ ही निवृत्यानुपपत्ति दोष भी लगा है क्योंकि अविद्या के निवर्तन के साधन के अभाव में उनकी निवृत्ति हो ही नहीं सकती । न तो निर्विशेष ब्रह्म के ज्ञान से उसकी निवृत्ति होगी और न ज्ञान द्वारा जीवों के कर्मक्षय से । निरतिशय भक्ति और अनुग्रह से ही कर्म दोषों का नाश होता है ।

भारतीय दर्शन डॉ. वी. पी. वर्मा, पृष्ठ २९७

२. निरतिशयप्रियानन्यप्रयोजनसकलेतरैतृष्णया वह सानविशेषः ।

वेदार्थसंग्रह-स्वामी रामानुजाचार्य ।

श्रीरामानुजाचार्य के मत में शरणागति : शरणागति या प्रपत्ति ही पूर्ण निर्भयता की स्थिति है। इससे शीघ्र फल प्राप्ति होती है।[1] बल्कि यह स्वतंत्र रूप से मोक्ष-साधन है। यही सर्वश्रेष्ठ भागवत-धर्म है। यही सबसे बढ़ कर संन्यास है। यह पुरुषार्थ-निरपेक्ष होने के कारण सबके लिए उदार है अर्थात् इसमें वर्णाश्रमादि की अपेक्षा नहीं होती। भगवान् प्रणतपाल हैं। 'प्रभु मैं आपका हूँ' कहने वाला प्रभु के राज्य में उच्चतम स्थान प्राप्त कर लेता है। शरणागतों के आर्त और दृप्त दो भेद हैं। भगवत् कृपा-प्राप्ति के बाद सहज परंतु निरंतर साधना द्वारा भगवदनुसंधानकर्ता 'आर्त प्रपन्न' हैं। जन्म-मृत्यु आदि के भय से कैंकर्यावलम्बी भगवान् से विविध व्यावहारिक संबंध मानने वाले भक्त 'दृप्त प्रपन्न' कहे जाते हैं। इस मत में ईश्वर प्रेरित गुरु ही शिष्य का परम कल्याण करते हैं।[2] भगवद्नुभव ही यथार्थ मोक्ष या परम पुरुषार्थ है। स्थूल देहादि में

मोक्ष का स्वरूप

आसक्ति ही मोक्ष में बाधक है। परंतु भक्त भगवत् कृपा-वशात् प्राप्त भक्ति के अतिरिक्त मुक्ति की कामना नहीं करते। क्योंकि भगवान् और जीव दोनों नित्य पदार्थ हैं अतः दोनों का संबंध भी निर्विवाद नित्य है। जीव और भगवान् में अणुत्व और विभुत्व का संबंध है। अतः जीव का नित्य आश्रितत्व भी सिद्ध है। इसे ही दास्य भाव या कैंकर्य कहते हैं। इसी की चरमावस्था मोक्ष कही जाती है। इसमें ज्ञानादि भाव प्रकृति के प्रभाव से मुक्त रहते हैं। अतः भगवान् और भक्त में किसी प्रकार का भेद भी नहीं रहता। फिर भी उसका जीव भाव तिरोहित नहीं होता, क्योंकि उसका मुख्य धर्म कैंकर्य है, स्वरूप-एकत्व नहीं। पुनः ईश्वर सदृश

---

१. (क) "शंकर के वैयक्तिक जीवन में भक्तिरस की अभिव्यंजना हुई थी किन्तु उनके निरपेक्षवाद में मानव को भावनात्मक दृष्टि से मुग्ध करने की शक्ति नहीं थी। किन्तु रामानुज के सगुण एकेश्वरवाद में अनंत कारुण्य की जो महिमामयी अभिव्यक्ति है वह भावना के अन्तराल को अपनी ओर वेग से खींचती है। उन्होंने बताया कि परिमित आयु वाले मानव के लिए कृच्छ चान्द्रायण, कुष्माण्ड, वैश्वानर, व्रातपति, पवित्रेष्टि, त्रिवृत, अग्निष्टोमाद यज्ञ कठिन हैं, अतः वात्सल्य जलधि परमात्मा की शरण ग्रहण करनी चाहिए। जनजीवन पर शांकर अद्वैतबाद की अपेक्षा रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद ने अधिक प्रभाव कायम किया।''

भारतीय दर्शन, डॉ. वी पी. वर्मा, पृष्ठ. २९६

२. (ख) निवर्तकानुपपत्ति दोष के साथ ही।

'अचार्यत्वेन प्राप्तकत्वेन।'

याग का सामर्थ सुलभ होने पर भी सृष्टि नियमनादि में जीव का कोई हस्तक्षेप नहीं हो सकता। क्योंकि वह नित्य ईश्वर के आश्रित है। उसका स्वातन्त्र्याभिमान ही अज्ञान मूलक है।

वस्तुओं की सुखदुखानुभूति भावसापेक्ष है। अतः एकमात्र परमात्मा ही निरपेक्ष सुख के आश्रय हैं। जागतिक वस्तु या व्यक्ति का पारतन्त्र्य जीव का स्वभाव नहीं, बल्कि भगवत्पारतन्त्र्य ही स्वभाव-सिद्ध है। जीव की नित्यता के अनुरूप ही उसकी भक्ति भी नित्य है। अतः उसका दास्याभिमान भी निर्दोष है। उनकी दृष्टि में मुक्ति में भी अहं का अभाव नहीं होता।[1]

महाप्रयाण का स्वरूप

इस मत में जीवों का महाप्रयाण भी अतिदिव्य रूप से वर्णित है। जीव ब्रह्मरन्ध्र का उत्क्रमण कर सूक्ष्म शरीर विशिष्ट होकर अर्चिरादि मार्ग में गमन करता है। इसे ही देवयानगति कहते हैं। बहुत से मार्गों को पार कर साधक जीव सूर्य-मण्डल को पार करता है। उसके बाद विरजा नदी की प्राप्ति होती है। इसमें अवगाहन कर वह दिव्य धाम में प्रवेश करता है जहाँ दिव्य आत्माओं द्वारा समादृत होकर कृतकृत्य हो जाता है। तब उसे त्रिगुणातीत भागवती तनु की प्राप्ति होती है। वह जरा-मृत्यु-रहित शरीर है। इस शरीर-प्राप्ति से ज्ञान के आनंदरूपता का बोध नहीं होता। इस भगवत् सेवोपयोगी शरीर को प्राप्त कर जीव भगवान् के निकट पहुँच जाता है। वहीं उसका स्वामी सेवक भाव की स्वाभाविकता का स्पष्टीकरण होता है। जीव सेवक होने के लिए विविध प्रार्थनाएँ करता है। तब भगवान् उस पर कृपा की दृष्टि से देखते हुए उसकी योग्यतानुरूप उसे सेवक रूप में वरण करते हैं। भक्त वहाँ सदा आदेश पालन की प्रतीक्षा में अन्य विषयों के विस्मरण-पूर्वक वद्धांजलि बैठा रहता है। तब प्रभु उसके शिर पर अपने श्रीचरण कमलों को रखते हैं। इस प्रकार जीव परमानंद को प्राप्त करता है ।

श्रीयामनुजाचार्य से जिन तीन कार्यों को पूरा करने का श्रीरामानुजाचार्य ने

---

१. अस अभिमान जाय नहीं मोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे ।।
रामचरितमानस-गोस्वामी तुलसीदास।

बचन दिया था, उनमें से ब्रह्म-सूत्र पर उन्होंने स्वयं भाष्य किया और उसकी ख्याति श्रीभाष्य से हुई। विष्णु-सहस्र नाम का भाष्य उन्होंने कुरेश भट्ट से कराया जो 'भगवदगुणदर्पण' नाम से प्रसिद्ध है। तीसरे ग्रंथ के आलवन्दारों के दिव्य प्रबंध की टीका उन्होंने अपने मामा के पुत्र कुरुकेश से करायी। इसमें लगभग छह हजार श्लोक हैं।

स्वामी श्रीरामानुज की रचनाएँ

इनके अतिरिक्त स्वामी रामानुज ने गीताभाष्य, वेदार्थसंग्रह, नित्याराधन विधि एवं गद्यत्रय की रचना की। उन्होंने वेदांतसार और वेदांतदीप नामक ब्रह्मसूत्रवृत्ति की भी रचना की थी।

स्वामी रामानुजाचार्य के 'शरणागति गद्य' के कुछ अंशों का भाव इस प्रकार है— 'मेरे अनादि कर्मों के प्रवाह में जो चली आ रही है, जो मुझसे भगवान् के स्वरूप को छिपा लेती है, जो विपरीत ज्ञान की जननी, अपने विषय में योग्य बुद्धि को उत्पन्न करनेवाली और देह, इन्द्रिय, भोग्य तथा सूक्ष्म रूप से स्थित रहनेवाली है, उस दैवी त्रिगुणमयी माया से, मैं आपका दास हूँ, किंकर हूँ, आपकी शरण में आया हूँ, इस प्रकार रट लगाने वाले मुझ दीन का आप उद्धार कर दीजिए।'[१]

विशिष्टाद्वैत के अन्य आचार्यों द्वारा प्रणित ग्रंथ : स्वामी रामानुज के अतिरिक्त गौड़पूर्णानंद ने तत्वमुक्तावली तथा पिल्लई लोकाचार्य ने अठारह ग्रंथ-रत्नों की रचना की जिनके नाम इस प्रकार हैं--तत्त्वत्रय, अर्थपंचक, तत्त्वशेखर, श्रीवचनभूषण, प्रमेयशेखर (प्रमुख ग्रंथ), अर्चिराद, प्रपन्नपरित्राण, सारसंग्रह, संसार-साम्राज्य, नवरत्नमाला, नवविधि संबंध, मुमुक्षुप्पडि, यादृच्छिकप्पडि, तनिचरमम्, परन्दपडि, तनिद्वयम्, तनिप्रणवम् तथा श्रियः पतिप्पडि। श्रीवेंकटनाथ वेदांत देशिक (वेदांताचार्य) ने शतदूषणी,[२] पंचरात्र रक्षा, सिद्धान्त रत्नावली, यामुनकृत स्तोत्र रत्न की टीका, स्वविरचित सर्वार्थ सिद्धिनामक टीका सहित तत्वमुक्ताकलाप, न्यायसिद्धांजन, रामानुजकृत गीताभाष्य की टीका, तात्पर्य चन्द्रिका, प्रपत्तिविषयक निक्षेपरक्षा और न्यायदशक, रहस्यत्रयसार, परमभंग, अधिकरण

---

१. "मदीयानादिकर्मप्रवाहप्रवृत्तां भगवत्स्वरूपतिरोधानकरीं विपरीतज्ञान जननीं स्वविषयायाश्च भोग्य बुद्धेर्जननीं देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन सूक्ष्मरूपेण चावस्थितां दैवीं गुणमयीं मायां दासभूतः शरणागतोस्मि तवास्मि दास इति वकारं मां तारय।"
शरणागति गद्यम्-श्रीरामानुजाचार्य।

२. इसमें शांकरमत में एक सौ दोष दिखाए गए हैं।

सारावली, वेदांतकौस्तुभ, वादिभय (खंडन- आदि ग्रंथ लिखे)। इनके अतिरिक्त उन्होंने यादवाभ्युदय, हंससंदेश, सुभाषितनीवी, पादुका सहस्र, दयाशतक, यतिराज सप्तति आदि सुन्दर काव्य भी लिखे। श्रीशैलेश के शिष्य श्रीवरवर मुनि ने श्रीवचनभूषण तथा तत्वत्रय पर टीकाएँ लिखीं। इनके अतिरिक्त उन्होंने यतिराज विंशति (इसमें श्रीरामानुज की प्रशस्ति है), उपदेशरत्न माला तथा अर्थि प्रबंध (तामिल भाषा में) की भी रचना की। श्रीवरदाचार्य ने तत्त्वसार नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की। श्रीविष्णुचित्त ने विष्णुपुराण की टीका लिखी जो अत्यन्त प्रसिद्ध है। श्रीसुदर्शन भट्ट ने श्रीभाष्य पर श्रुत-प्रकाशिका नाम की टीका लिखी तथा वेदार्थ संग्रह की व्याख्या का संकलन किया। श्री अक्षय दीक्षित ने श्रीवेंकटनाथ विरचित ग्रंथों की टीकाएँ लिखीं। श्रीचण्डमारुताचार्य ने शतदूषणी टीका चण्डमारुत की रचना की तथा श्रीनिवास ने यतीन्द्रमत दीपिका की।

विशिष्टाद्वैतवाद के भेद : आगे चलकर विशिष्टाद्वैत मत में दो भेद दिखाई पड़ते हैं--- बड़गलई तथा टेंगलई। 'टेंगलई' में 'बड़गलई' शाखा की अपेक्षा भगवत्कृपा की प्रधानता अधिक दिखाई पड़ती है। टेंगलई शाखावाले मानते हैं कि भगवत्कृपा निर्हेतुक होती है। अतः प्रपत्ति ही इस शाखा में भगवत्प्राप्ति का प्रधान उपाय है। इनके अनुसार कैवल्य नित्यावस्था है। वे जीवों के स्वभाव-वैचित्र्य के अनुरूप ही सेवाभेद को स्वीकार कर भगवदानन्द के अस्वादन में भी भिन्नता स्वीकार करते हैं। इसके आचार्य हैं पिल्लैलोकाचार्य। टेंगलई तमिल वेद को ही अत्यधिक प्रधानता देते थे। इनका सिद्धान्त मार्जार न्याय का है। अर्थात्, जैसे मादा मार्जार अपने शिशु को स्वयं पकड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है। अतः बच्चे को च्युत होने आदि का किसी प्रकार का भय नहीं रखता है। ऐसे ही भगवान् भी भक्त के सम्पूर्ण योग-क्षेम का वहन स्वयं करते हैं।

बड़गलई : इसके विपरीत बड़गलई कृपाप्राप्ति में कर्मादि की अपेक्षा करते हैं। अतः वे कर्म और ज्ञान को भक्ति के अंग रूप में स्वीकार करते हैं। वे प्रपत्ति को ही प्रमुख साधन न मानकर भगवत्प्राप्ति के एक उपाय मानते हैं। अतः वे यह मानते हैं कि यदि अन्य साधनों के अवलम्ब में सामर्थ्य न हो तो प्रपत्ति ग्रहण करना चाहिए। बड़गलई लोगों के मत में कैवल्य मुक्ति स्थायी नहीं है। उनके मत में मुक्त आत्मा की आनंदोपलब्धि में वैचित्र्य नहीं हो सकता। ये कपि-किशोर न्याय को प्रपत्ति में स्वीकार करते हैं। अर्थात् जैसे बंदर का बच्चा स्वयं अपनी माता की छाती से चिपका रहता है वैसे ही साधक को भी कृपा की प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। इस सिद्धान्त के संवर्द्धक हैं वेदान्तचार्य श्रीवेंकटनाथ वेदांत देशिक। वेदांत देशिक ने हनुमान जी को गुरुतत्त्व रूप में स्वीकार किया है।

बड़गलई तमिल वेद और वेदादि संस्कृत ग्रंथ दोनों को प्रामाणिक मानते हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्य : वे मुनिवर अरूणि के औरस पुत्र थे। इन्हें भगवान् के सुदर्शन चक्र का अवतार माना जाता है। इनका सम्प्रदाय भी अत्यन्त प्राचीन कहा जाता है। स्वयं भगवान् श्रीहरि ने हंस रूप धारण कर सनकादि महर्षियों को शिक्षा दी थी। श्रीनारद इस सम्प्रदाय में दीक्षित थे। वे ही स्वामी निम्बार्क के गुरु माने जाते हैं। इनका सिद्धान्त 'द्वैताद्वैतवाद' से विख्यात है।

निम्बार्क मत में चित् तत्त्व

स्वामी निम्बार्क ने भी 'तत्त्व' का चित् अचित् और ब्रह्म भेद से तीन प्रकार बताए। जीवात्मा ज्ञान[1]-स्वरूप होते हुए भी जड़ादि वस्तुओं का ज्ञाता है। उसकी आकृति अणुपरिमाण तथा वह कर्तृत्व शक्ति एवं कर्तृत्वाभिमान से युक्त है। प्रत्येक शरीर का अभिमानी जीव अपनी स्वतंत्र विशेषता के कारण परस्पर भिन्न है। उसे ईश्वर से नित्य प्रेरणा प्राप्त होती रहती है। जीव की तीन कोटियाँ हैं[2]—नित्य, बद्ध और मुक्त। नित्य जीव सम्पूर्ण जागतिक क्लेशों से मुक्त

---

१. ज्ञान स्वरूपं च हरेरधीनं
शरीरसंयोगवियोग योग्यम्।
तणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं
ज्ञातृत्ववन्तं यमनन्तमाहुः॥

२. अनादि माया परियुक्त रूपं
त्वेन विदुर्वै भगवत्प्रसादात्।
मुक्तं च बद्धं किल बद्धमुक्तं
प्रभेद बाहुल्यमथापि बोध्यम्॥

जीव

बद्ध | मुक्त

बद्ध → बुभुक्षु | मुमुक्षु

बुभुक्षु → भावी श्रेयस्क | नित्यसंसारी

मुमुक्षु → भगवद्भाव को प्राप्त करने की इच्छा वाले जीव | निज स्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले जीव

भारतीय दर्शन-डॉ० वी० पी० वर्मा के आधार पर, पृष्ठ ३४५

किंवा भगवत्स्वरूप ही होते हैं। अविद्या-प्रसूत देहादि के बंधनों का उच्छेद कर जब जीव स्वतंत्र हो जाता है, उसे मुक्तावस्था कहते हैं। मुक्ति के भेद से ही मुक्त जीवों में भी भेद देखा जाता है। भगवान् के विश्वात्मक स्वरूप का बोध ही परमानंद के विकास का मूल हेतु है। देहाभिमानी देवता भी बद्ध जीव के अन्तर्गत हैं। जीवों में भोग तथा साधना के भेद से बहुत कोटियाँ हो जाती हैं। भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्ति के लिए सद्गुरु की शरणागति आवश्यक है। भगवत्कृपा से ही उसे परम पद की प्राप्ति होती है।

अचित् तत्त्व : अचेतन तत्त्व भी सामान्यतः तीन प्रकार का माना गया है—अप्राकृत, प्राकृतरूप तथा काल (क्षण, लव, निमेषादि, स्वरूप)। अप्राकृत तत्त्व त्रिगुणात्मक प्रकृति और काल से विलक्षण है। प्राकृत तत्त्व त्रिगुणात्मक है। यह माया और प्रधान आदि भी कहा जाता है। प्रधान, मायादि कारण स्वरूप हैं अतः नित्य हैं और सम्पूर्ण जगत् कार्य स्वरूप होने के कारण अनित्य है। यह भगवदाधीन है। त्रिगुणात्मक प्रकृति ही देहादि के द्वारा आत्मा का स्वरूप अवच्छादन पूर्वक बंधन कारिणी है।

अप्राकृत अचित् तत्त्व को ही विष्णुपद तथा ब्रह्म लोक कहते हैं। वह भगवदिच्छा से ही भक्त तथा स्वयं भगवान् के भोगोपकरण तथा स्थान के रूप में अभिव्यक्त होता है। वह काल निरपेक्ष है अतः सम्पूर्ण परिणामों से मुक्त हैं।[१]

काल सदा नित्य एवं विभु है। भूत, भविष्य, वर्तमान इसकी तरंग सदृश हैं। सृष्टि की सम्पूर्ण क्रियाओं का नियमन इसके द्वारा होने पर भी यह ईश्वराधीन है।

ब्रह्म का स्वरूप : इसमें ब्रह्म चित् तथा अचित् का आश्रय है। जिनमें स्वभाव से ही समस्त दोषों का अभाव है तथा जो समस्त कल्याणमय गुणों के एकमात्र समुदाय हैं। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चारों व्यूह जिनके अंगभूत हैं ऐसे श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म हैं।[२] भगवान् श्रीकृष्ण ऐश्वर्य तथा

---

१. अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च
कालस्वरूपं तदचेदनं मप्तम्।
माया प्रधानादि पद प्रवाच्यं
शुक्लादिभेदाश्च समेपि तत्र॥

२. स्वभावतो प्राप्तसमस्तदोषमशेष कल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम् कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥

माधुर्य दोनों के आधार हैं। गोपियाँ प्रेम की अधिष्ठात्री हैं[1] लक्ष्मी ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री हैं। श्रीराधिका ही रमा हैं। भगवान् ब्रह्मादि देवताओं द्वारा भी वंदनीय हैं। वे ही मुमुक्षुओं के आश्रय हैं। भगवान् की विशेष शक्ति के अनुरूप ही उनका शरीर भी परम दिव्य है; अतः परम शक्तिमान में इन्द्रियादिकों की कल्पना अनावश्यक है। नित्य समीप रहनेवाले मुक्तात्मा भी उन्हीं सद्गुणों से विभूषित रहते हैं। परमेश्वर की अनादि इच्छा से सम्पन्न होने के कारण उनके देहों का संगठन स्वाभाविक है।

इसकी सृष्टि सामान्य रूप से नहीं होती। चित् और अचित् ब्रह्मात्मक ही हैं। जीव का ब्रह्म से तत्वतः अभिन्नता है। फिर भी परस्पर भेद स्वाभाविक है। दोनों में अंशांशी संबंध हैं। अतः भेद होने पर भी अभेद और अभेद होने पर भी परस्पर भेद दिखाई पड़ता है। यह श्रुति प्रमाण सिद्ध है।[2] क्योंकि

---

१. अंगं तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूप सौभगाम्
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥

२. सर्वहि विज्ञानमतौ यथार्थकं
श्रुति॰स्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं
त्रिरूपतापि श्रुति सूत्रसाधिता ॥

(भारतीय दर्शन---डॉ॰ वी॰ पी॰ वर्मा के आधार पर)

एक ही ब्रह्म चित् अचित् एवं इन दोनों से विलक्षण परब्रह्मस्वरूप से त्रिविध रूपों में स्थित है इसलिए सारा विधान यथार्थ है ।

ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। उपादान कारण में अपनी सूक्ष्म शक्तियों की स्थूल अभिव्यक्ति तथा निमित्त कारण में जीव के कर्मों तथा फल भोगों का विधान करता है। ब्रह्म की शक्तियाँ अनंत हैं जो उनकी सृष्टि आदि कार्यों की साधिका हैं। स्वामी निम्बार्क ने विवर्तवाद को असंगत बताया ।

निम्बार्क मत में भक्ति का स्वरूप : स्वामी निम्बार्क ने भी भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ तथा मुक्ति का साधन माना । उन्होंने प्रेमलक्षणा भक्ति को सर्वश्रेष्ठ बताया है । श्रीकृष्ण के चरणों में प्रेमाभक्ति ही जीव का परम पुरुषार्थ है। श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्ति के लिए दीनता और अभिमानशून्यता आवश्यक सद्गुण हैं। कृपा-प्राप्ति के उपरान्त ही प्रेमाभक्ति की प्राप्ति होती है। भक्ति के अन्य प्रकार इसी के साधन स्वरूप हैं।[1] अतः उपासनीय परमात्मा श्रीकृष्ण का स्वरूप, भगवान् की कृपा का फल, तदनन्तर भक्तिरस का आस्वादन तथा भगवत्प्राप्ति के विरोधी भाव का स्वरूप श्रेष्ठ साधकों को इन पाँच वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।[2]

स्वामी निम्बार्क की कृतियाँ : स्वामी निम्बार्क ने वेदांत का भाष्य किया था जो वेदांत पारिजात सौरभ या शारीरक मीमांसावाक्यार्थ नाम से विख्यात है उनकी दूसरी रचना दशश्लोकी है जिसमें उपर्युक्त अर्थपंचक की बहुत सुंदर व्याख्या की गई है। इनके अतिरिक्त उन्होंने श्रीकृष्ण स्तवराज, मंत्र रहस्य षोडसी, प्रपन्नकल्पवल्ली की भी रचना की थी। विशेष विस्तार के लिए द्रष्टव्य : "श्री निम्बार्क वेदान्त" लेखक आचार्य श्रीललितकृष्ण गोस्वामी ।

---

१. कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत् प्रेमविशेष लक्षणा ।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपते महात्मनः ।
सा चोत्तमा साधनरूपिका परा ॥

२. उपास्यरूपं तदुपासकस्य च
कृपाफलं भक्ति रसस्ततः परम् ।
विरोधिनी रूपमथैतदाप्ते--
र्ज्ञेया इमे र्थां अपि पंच साधुभिः ॥

द्वैताद्वैत सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों की कृतियाँ : स्वामी निम्बार्क के शिष्य श्रीनिवास ने उनके वेदांत पारिजात सौरभ नामक ब्रह्मसूत्र भाष्य पर वेदांत कौस्तुम नाम की उत्कृष्ट टीका की रचना की। श्रीदेवाचार्य ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धांतजाह्नवी में की है। श्रीसुंदर भट्ट ने सिद्धांतजाह्नवी पर सेतु नाम की टीका लिखी थी। श्रीकाश्मीरी केशव भट्ट ने वेदांत कौस्तुभ पर कौस्तुभ प्रभा नाम की टीका रची थी। इसके अतिरिक्त उनके तैत्तिरीय-प्रकाशिका तथा तत्त्व प्रकाशिका नामक दो अत्यंत उत्कृष्ट ग्रंथ हैं। श्रीब्रह्मचारी वनमाली मिश्र ने वेदांत सिद्धांत संग्रह की रचना की जो सात अध्यायों का है।

स्वामी मध्वाचार्य : ये श्री मध्यगेह भट्ट नामक ब्राह्मण के पुत्र थे। इनका जन्म दक्षिण कनड के उदीपी जिले के अन्तर्गत विल्व ग्राम में हुआ था। यह स्थान प्रसिद्ध शंकरमठ शृंगेरी से लगभग चालीस मील पश्चिम है। इन्होंने पचीस वर्ष की अवस्था में संन्यास ले लिया था। कहते हैं बदरिकाश्रम में तपस्या करने के बाद भगवान् वेदव्यास उनके सामने प्रकट हुए थे। उन्हीं की आज्ञा से हरिद्वार आकर वे भगवान् विष्णु के माहात्म्य वर्णन तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने में समर्थ हुए। इनका सिद्धांत द्वैतवाद का है तथा ये वायुदेवता के अवतार माने जाते हैं। इनका सम्प्रदाय ब्रह्म-सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध है।

इनके अनुसार जीवों में कर्म एवं भोग के दृष्टिकोण से परस्पर तारतम्य है। इन्होंने जीव के तीन भेद बताए हैं—उत्तम (मुक्ति योग), मध्यम (नित्यसंसारी), और अधम मनुष्य (तमोयोग्य)। जीव विविध क्लेशों से युक्त हैं। अज्ञान से ज्ञानादि के आच्छादित होने के कारण उसकी स्वाभाविक उर्ध्वप्रकृति नहीं होती। आब्रह्म भुवन लोक पर्यन्त के प्राणियों की यही स्थिति है। ब्रह्मादि के भी मोहित होने की कथा मिलती है। परंतु, उनके मोह में निश्चित अपरोक्ष ज्ञान का अभाव ही कारण है।

जीवों का कोटि-क्रम

जीव संख्या में त्रिकालों के क्षण-परिणाम तथा परमाणुओं से भी अनंत गुणा अधिक हैं। उनमें परस्पर भिन्नता तो है ही वे परमात्मा और लक्ष्मी से भी भिन्न हैं। मुक्तावस्था में भी उनकी भिन्नता बनी रहती है। क्योंकि यह स्वाभाविक है। जीव स्वरूपतः अणुपरिमाण है।

जीव संख्या

उत्तम जीव

उत्तम जीव (मुक्तियोग्य) इनकी पाँच कोटियाँ हैं—ब्रह्मा, वायु आदि देवता, नारद आदि ऋषि, विश्वामित्र आदि चिरपितृगण, रघु अम्बरीष आदि चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्य।

मध्यम मनुष्य

ये सदैव पृथ्वी एवं स्वर्गादि में कर्मानुसार विचरण करते हुए सुखदुखादि का अनुभव करते रहते हैं। इनमें सांसारिक वासना की प्रवृत्ति देखी जाती है।

अधम मनुष्य

राक्षसादि तथा पापी मनुष्य इस कोटि में परिगणित होते हैं। इन जीवों में चक्रवर्ती के आनंद-परिमाण के अनुसार से उतरोत्तर जीवों के आनंद की वृद्धि बताई जाती है।

अचित् तत्त्व

इनके अनुसार प्रकृति नित्य है। प्रकृति ही विश्व का उपादान कारण है। यह काल, सत्व तथा महतत्त्व का उपादान है। अतः यह द्रव्य है। यह जड़ रूप, परिणामशीला तथा प्रलयोपरांत नूतन सृष्टि का उपादान होने के कारण नित्य कही गई है। काल का भी उपादान होने के कारण इसमें व्यापकता विद्यमान हैं। प्रकृति जीवों के लिंग शरीर की समिष्ट का रूप है तथा उससे निम्न भी है। महाप्रलय में प्रकृति ब्रह्म में स्थित हो जाती है। सृष्टि रचना से पूर्व ब्रह्म संकल्प पूर्वक प्रकृति को सत्व, रज तथा तम में विभक्त करते हैं। इन प्रकृतियों के परिमाण में परस्पर अन्तर दिखाई पड़ता है। प्रकृति वैषम्य ही सृष्टि तथा साम्य ही प्रलय है। जगत् सत्य है एवं पंचविघ भेद युक्त जगत् का प्रवाह भी सत्य है। क्योंकि सत्य संकल्प की सृष्टि कभी भी असत्य नहीं हो सकती। उनके अनुसार पंचविघ भेदों का स्वरूप इस प्रकार है— (क) ईश्वर का जीव से भेद, (ख) ईश्वर का जड़ से भेद, (ग) जीव का जड़ से भेद, (घ) एक जीव का दूसरे जीव से भेद और एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद। जीव ही अज्ञान का आश्रय है, अन्तःकरण नहीं। स्वप्रकाश जीव भी ईश्वर की इच्छा से ही अविद्या द्वारा आवृत होता है।

परमात्मा : परमात्मा अखिल गुणगणैश्वर्यपूर्ण हैं। उनके स्वरूप को वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनका ज्ञान, आनंद आदि लक्ष्मी के ज्ञान, आनंद आदि से अनंत गुणा अधिक हैं। परमात्मा का प्रत्येक गुण अनंत को प्राप्त है। परमात्मा में सभी प्रकार के अनुकूल प्रतिकूल गुणों का संघात देखा जाता है। फिर भी वे गुण परम विशुद्ध स्वरूप ही हैं। उनसे उनके गुणादि में विकृति नहीं

आती परमात्मा का ज्ञान महाविशुद्ध चैतन्य स्वरूप है। वह सूर्य के विमल प्रकाश की तरह सम्पूर्ण सूक्ष्म स्थूल वस्तुओं का प्रकाशक तथापरम निर्दोष है। किसी के ज्ञानादि से इनके ज्ञान-गुणादि की तुलना नहीं की जा सकती। सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, अज्ञान, बोधन, बंध और मोक्ष इन आठ कार्यों में एक मात्र परमात्मा का ही सार्वभौम अधिकार है। इसमें दूसरे किसी की भी पहुँच नहीं। वे सबसे परे परम स्वतंत्र हैं। परमात्मा की देह अप्राकृत तथा ज्ञानानंदात्मक है, अतः उसमें किसी प्रकार के विकार की कल्पना भी नहीं की जा सकती। परमात्मा के सदृश कोई भी नहीं है।[१] अभेद की तो बात ही नहीं है। जीव यद्यपि चेतन है फिर भी उसका ईश्वर पारतन्त्र्य सहज स्वाभाविक है। परमात्मा अनंत है, सर्वव्यापी है, उनके सभी रूप सम्पूर्ण गुणों से युक्त हैं। परमात्मा के अवतारी स्वरूप तथा मूल रूप में आनंद का अंतर नहीं है। वह देश कालादि से अवाधित है। सम्पूर्ण जागतिक प्रपंच उनके इच्छामूलक होने के कारण वे नित्य मुक्त हैं। अवतारों में जो तपस्या की चर्चा की गई है वह लोक शिक्षण तथा लीला हेतु की है। परमेश्वर के सम्पूर्ण कर्म निर्दोष हैं। यह जीव तथा जड़ पदार्थ से भिन्न है। भगवान् के गुणों की सत्यता के अनुरूप ही जीव और ईश्वरादि का भेद भी सत्य है। भगवान् की शक्ति अचिन्त्य है। भगवत्प्रकृति के दो भेद हैं जड़ और अजड़। जड़ प्रकृति को अपरा तथा अजड़ प्रकृति को परा कहते हैं। यह चित्स्वरूप है। चित् प्रकृति अनादि तथा अनंत है। सम्पूर्ण वेदों के तात्पर्य विष्णु ही हैं।

लक्ष्मी का स्वरूप

लक्ष्मी भगवान् के ही सदृश नित्यमुक्त तथा गुणपूर्ण हैं। फिर भी ये सदा भगवान् की उपासना करती हैं। इन दोनों की नित्यता तथा मुक्ति अनादि है। लक्ष्मी में सम्पूर्ण गुण विद्यमान हैं। वे प्रभु की इच्छामात्र से सृष्टियादि अष्टकर्मों का क्षणभर में सम्पादन करती हैं। भगवान् के प्रति प्रियता, भक्ति तथा ज्ञान के संबंध में ये मुक्तात्माओं से भी करोड़ोगुणा श्रेष्ठ हैं। ब्रह्मादि लक्ष्मी के पुत्र होने के कारण इनके अधीन रहते हैं। परंतु, लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न होने पर भी परमात्मा के ही अधीन हैं।

---

१. द्वादश स्तोत्र में उन्होंने कहा है —

सज्जनों हमारी निर्मल वाणी सुनो। दोनों हाथ उठाकर शपथपूर्वक हम कहते हैं कि 'भगवान् की बराबरी करने वाला भी इस चराचर जगत् में कोई नहीं है फिर उनसे श्रेष्ठ तो कोई हो ही कैसे सकता है। वे ही सबसे श्रेष्ठ हैं।'

द्वा० स्तोत्र० ३।४

परमेश्वर की कृपा ही एकमात्र मुक्ति की साधिका है। इससे परमात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। परमात्मा के 'ऐश्वर्यबोध' होने पर उनके प्रति प्रेम का सहज प्रादुर्भाव होता है। प्रेमोदय होने पर अपने सहित सम्पूर्ण जागतिक संबंधों का विस्मरण हो जाता है। यह सम्पूर्ण बाधाओं से विनिर्मुक्त होता है। इसी को परम भक्ति की संज्ञा दी गई है। इस परम भक्ति का फल है परमेश्वर का परमानुग्रह प्राप्त करना। क्योंकि जीव की संसृति-चक्र से मुक्ति परमेश्वर के अनुग्रह से ही होती है। स्वर्ग तथा जन लोकादि की प्राप्ति में परमेश्वर के अनुग्रह का तारतम्य मुख्य कारण है। परमेश्वर के दर्शनमात्र से गुण, कर्म, प्रकृति तथा सूक्ष्म देह का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। फिर भी प्रारब्ध कर्म के क्षय हुए बिना उनमें अविर्भाव तथा तिरोधान का चक्र चलता रहता है। परमेश्वर के परमानुग्रह से प्रकृति और अविद्यादि से मुक्ति मिल जाती है। अहैतुकी भक्ति ही अमला तथा अनन्या नाम से अभिहित है।

मुक्ति का साधन भक्ति

उत्तम मनुष्यों में तो कोई एक गुण की उपासना करते हैं और कोई चतुर्गुणोपासक हैं। आत्मबोध एक गुणोपासना कहा जाता है। इससे देह रहते ही, बिना उत्क्रमण हुए ही मुक्ति-प्राप्त होती है। इस कोटि में तृण जीव (स्तम्भ) आदि आते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी चतुर्गुणोपासक हैं।

उपासना तथा मुक्ति

मोक्ष के चार प्रकार इसमें दिखाई पड़ते हैं। यथा, कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अर्चिरादि मार्ग एवं भोग। अपरोक्ष ज्ञान से सभी संचित पापों तथा प्रतिकूल पुण्यकर्मों का विनाश कर्मक्षय कहा जाता है। प्रारब्ध कर्म का क्षय भोग से ही होता है। ब्रह्मादि देवताओं को भी अपने दिव्य प्रारब्ध कर्मों का भोग कई कल्पों तक करना पड़ता है। प्रारब्ध क्षय के बाद उसका उत्क्रमण सुषुम्णा द्वारा होता है जो मूलाधार चक्र से मस्तक पर्यन्त पतले श्वेत सूत्र की तरह विद्यमान है। भगवान् जीव को साथ लेकर ब्रह्मद्वार से बाहर निकलते हैं। शरीराभिमानी अन्य देवता, विद्या, कर्मसंस्कार आदि भी उसके प्राणों का अनुगमन करते हुए उसके साथ जाते हैं। मार्ग के अन्यान्य लोक के लोग भी उस जीव का ईश्वर के साथ होने से विविध प्रकार से स्वागत करते हैं। अन्त में वैकुण्ठ में जाकर जीव भगवान् के तुरीय रूप के दर्शन करता है।

मोक्ष के प्रकार

नित्य संसारी जीव की मुक्ति लिंग देह मग्न होने पर भी नहीं होती। उनके

सुख-दुखादि के भोग में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता है। अतः ऐसे जीवों के लिए कोई निश्चित लोक नहीं है। मुक्तियोग्य आत्माओं के लिए वैकुण्ठ तथा तामस जीवों के लिए तमोमय स्थान का वर्णन किया गया है।

स्वामी मध्वाचार्य ने स्वर्ग लोक को पुण्यक्षय के बाद पुनरावर्ती कहा।[१] अतः इसकी आकांक्षा सर्वश्रेष्ठ नहीं। यद्यपि महलोक कुछ निरापद है फिर भी पतन का भय बना ही रहता है। केवल कर्म से स्वर्ग से ऊपर जाना कठिन है। ज्ञान द्वारा ही पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति होती है। परिपक्वज्ञान भगवद्धाम का कारण होता है। यों भी ज्ञानसाधना से वायु आदि दिव्य लोकों की प्राप्ति होती है। जनलोक की प्राप्ति होने पर भी पुनरावर्त्तन का भय नहीं होता। ब्रह्मनाड़ी द्वारा उत्क्रमित आत्मा जिसने अर्चिरादि मार्ग का अवलम्बन कर वैकुण्ठ को प्राप्त कर लिया है, उनका पुनरावर्तन नहीं होता। अन्य लोगों की पुनरावृत्ति अवश्य संभव है। जैसे राजा रैवत सत्यलोक को भी प्राप्त होकर मर्त्यलोक में अवतीर्ण हुए थे। राजा परीक्षित का भी वैकुण्ठ की प्राप्ति के बाद भगवान् वेदव्यास की आज्ञा से पुनः पृथ्वी पर अवतीर्ण होने की बात सुनी जाती है।

लोकों का तारतम्य

देवताओं की मुक्ति उन्हें उत्तम देह में अपनी देह को लय करने से हो सकती है। मनुष्य रूप में अवतीर्ण होकर साधना करने से उनका केवल मुक्तिरहित उत्क्रमण ही संभव है। गरूड़ और शेष नाम से इस लय के दो मार्ग उन्होंने बताया है। इन्होंने भी लिंगदेह के विनाश तथा दिव्यतनु प्राप्ति के लिए विरजा नदी में स्नान परमावश्यक बताया है। परम मोक्ष के लिए यह आवश्यक शर्त है। प्रारब्ध कर्म का आत्यन्तिक अभाव इसमें स्नान के बाद ही होता है। यह प्रधान और अव्याकृति आकाश के बीच स्थित लक्ष्मीस्वरूप कही गई है।

विरजा नदी

इस सम्प्रदाय में मुक्ति में भी आनंद सम तुल्य नहीं है। इसमें मुक्तात्माओं की अपनी योग्यता के अनुरूप ही आनंदयोग उपलब्ध होता है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य या सार्ष्टि भेद से भोग के चार प्रकार हैं। भगवान् में प्रवेश ही सायुज्य कहा जाता है।[२] मुक्तात्माओं में इच्छानुसार स्वरूप से बाहर आना तथा

---

१. ते तं मुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति।

२. सायुज्यं नाम भगवन्तं प्रविश्य तच्छरीरेण भोगः।

प्रवेश करना संभव है। क्योंकि वे स्वतंत्र हैं। मुक्तात्माओं को वैकुण्ठ में विविध दिव्य भोगों की प्राप्ति होती है। फिर भी आनंद का तारतम्य है। अणुपरिमाण जीव को मुक्त या बंध दोनों अवस्थाओं में भगवान् उसे भोगोपयोगी शरीर प्रदान करते हैं।

भगवान् का वैकुण्ठ आदि धाम परम दिव्य तथा नित्य है। उसकी प्राप्ति के बाद पुनरावृत्ति नहीं होती। फिर भी वहाँ मुक्तात्माओं में नियम्य नियामक भाव विद्यमान रहता है। जय और विजय का पृथ्वी पर अवतीर्ण होना उन्हें मुक्त नहीं बल्कि अधिकारस्थ सूचित करता है, क्योंकि मुक्तावस्था में शापादि का प्रभाव नहीं पड़ता।

इसके अतिरिक्त श्रीमध्वाचार्य ने प्रमाण, अंधकार, द्रव्य, गुण, आकाश, दिक्, रस, गंध, महत्तत्त्व, इन्द्रिय, मन, सामान्य, विशेष, जाति, कर्म आदि दार्शनिक पारिभाषिक तत्त्वों पर बहुत ही सुंदर प्रकाश डाला है। विस्तार-भय से यहाँ इनकी व्याख्या नहीं की गई है।

उपर्युक्त बातों की व्याख्या का बीज इस एक ही श्लोक में सन्निहित है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्वतो।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः॥
मुक्तिर्निजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनं।
यज्ञादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

स्वामी मध्वाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर एक अणुव्याख्यान और एक अणुभाष्य लिखा है। इनके अतिरिक्त उन्होंने ऋग्भाष्य, महाभारततात्पर्य निर्णय, माया

स्वामी मध्वाचार्य के ग्रंथ

वादखण्डन, उपाधिखण्डन, प्रपंचमिथ्यात्वानुमान खण्डन, गीतातात्पर्यनिर्णय, तत्त्वसंख्यान, गीताभाष्य, दशोपनिषद्भाष्य, भागवततात्पर्य निर्णय, तन्त्रसार, कर्मनिर्णय, विष्णु-तत्त्व-विनिर्णय, प्रमाणलक्षण, तत्वोद्योत आदि ग्रंथ लिखे।

स्वामी मध्वाचार्य के शिष्य श्रीविक्रम ने ब्रह्मसूत्रभाष्य पर तत्त्व प्रदीपिका नामक टीका लिखी थी। उनके दूसरे शिष्य श्रीपद्मनाथ ने उनके अणुव्याख्यान पर

द्वैत सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों की रचनाएँ

सन्यासरत्नावली नामक ग्रंथ लिखा जिसमें उसकी व्याख्या की गई है। श्रीजयतीर्थ ने न्यायसुधा, स्वामी निम्बार्क के वेदांत भाष्य की टीका तत्त्व प्रकाशिका, ऋग्भाष्य की टीका, वन्दावली, तत्वोद्योत टीका, गीतातात्पर्य निर्णय-व्याख्या, न्यायदीपिका, आदि ग्रंथों की रचना की। श्रीव्यासतीर्थ

ने जयतीर्थ कृत तत्त्वप्रकाशिका के ऊपर तात्पर्य चन्द्रिका नामक टीका की रचना की। श्रीराघवेन्द्र यति ने तात्पर्य चन्द्रिका के ऊपर प्रकाश नाम की टीका रची थी। श्रीरघूत्तम ने श्रीनिम्बार्क के बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य पर परमब्रह्मप्रकाशिका नाम की टीका की रचना की थी। श्रीव्यासराज स्वामी ने भेदोज्जीवन, न्यायामृत, तर्कताण्डव आदि ग्रंथ लिखे थे। श्रीव्यासरामाचार्य ने न्यायामृत तरंगिनी एवं न्यायामृत की टीका लिखी थी। श्रीनिवास ने भी न्यायामृत की टीका की रचना की थी। तथा श्रीविजयध्वजतीर्थ ने श्रीमद्भागवत के ऊपर पदरत्नावली नाम की सुप्रसिद्ध टीका रची थी।

श्रीबलदेव विद्याभूषण रचित प्रमेय रत्नावली में उद्धृत माध्वमत की गुरु-परम्परा इस प्रकार है—

श्रीमध्व
|
श्रीपद्मनाभ
|
श्रीनरहरि
|
श्रीमाधव
|
श्रीअक्षोभ्य
|
श्रीजयतीर्थ
|
श्रीज्ञानसिन्धु
|
श्रीदयानिधि
|
श्रीविद्यानिधि
|
श्रीराजेन्द्र
|
श्रीजयधर्म
|
श्रीपुरुषोत्तम
|
श्रीब्रह्मण्य
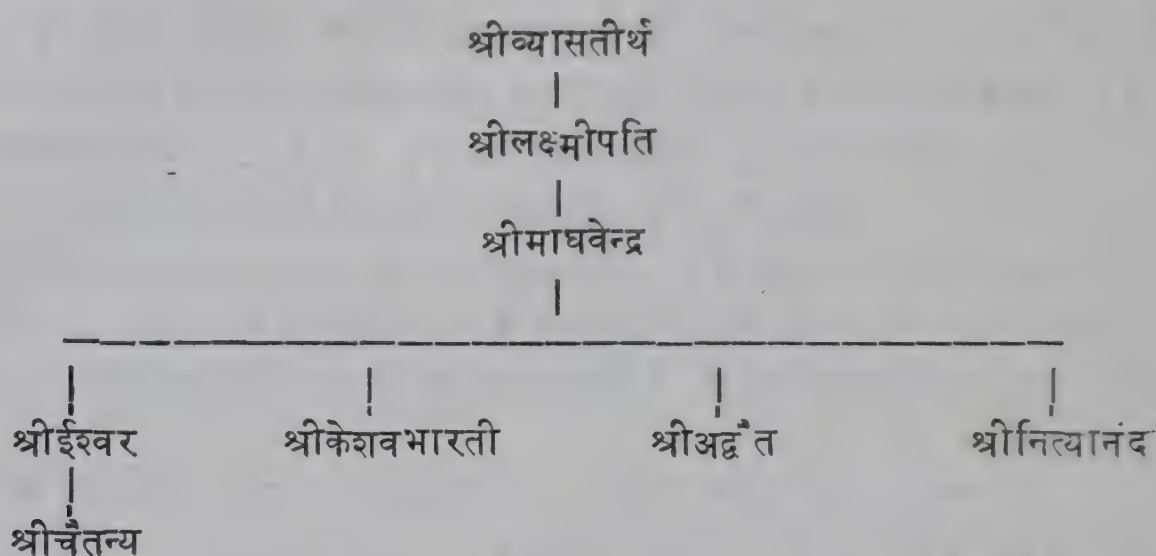
(भागवत सम्प्रदाय— आचार्य बलदेव उपाध्याय के आधार पर)

श्रीवल्लभाचार्य : स्वामी वल्लभाचार्य कृष्णयजुर्वेदीय तैलंग ब्राह्मण श्री-लक्ष्मणभट्ट के पुत्र थे । श्रीलक्षमणभट्ट की सपत्नीक काशीयात्रा के मार्ग में ही इनका जन्म १४७८ ई० में हुआ था । उन्हें भगवान् श्रीनाथ का दर्शन गोवर्द्धन पर्वत पर हुआ था । भगवान् ने उन्हें पुष्टिमार्ग का प्रचार तथा अपने मंदिर-निर्माण का आदेश स्वप्न में दिया था । इन्होंने शुद्धाद्वैत की स्थापना की । ये रूद्र-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता हैं । स्वामी वल्लभाचार्य साक्षात् भगवान् का, कई मतों में अग्नि का अवतार माने जाते हैं ।

इनके मत में जीव ईश्वर का अंश हैं अंशाशी न्याय से जीव और ईश्वर में परस्पर अभिन्नता है ।[1] जीव का ब्रह्म से निस्सरण अग्नि से स्फुलिंग के निकलने की तरह होता रहता है ।[2] यद्यपि जीव में सत्व और आनंद दोनों का भाव रहता है फिर भी ईश्वरेच्छया आनन्दांश न्यून होता जाता तथा सत्वांश की अभिवृद्धि होती है । अतः इसमें चित् की प्रधानता रहती है । ईश्वरोचित आनन्देश्वर्यादि में आनंद तो सृष्टि के प्रारम्भ में ही तिरोहित हो जाता है, परंतु ऐश्वर्य का तिरोधान बाद में होता है । जीव

श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार जीवन का स्वरूप

१. जीव और ईश्वर में प्रकृतियों के संयोग से केवल अवस्वागत ही भेद है । तत्वतः दोनों एक ही हैं । व्यामोहिका प्रकृति को स्वीकार करने के ही कारण पुरुष जीव भाव को प्राप्त होते हैं । परंतु, मूला प्रकृति को ग्रहण कर वे स्वरूपस्थ हो जगत् का कारण हो जाते हैं ।

२. विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जड़ जीवा विनिर्गताः ।
सर्वतः पाणिपादान्तात सर्वतोक्षिशिरोमुखात् ॥

के अणु परिमाण होने पर भी ईश्वरीय व्यापकत्व आदि धर्मों का भाव आनन्दांश की अभिव्यक्ति के समय में देखा जाता है। फिर भी वह व्यापकता आनंद-संबंध से ही देखी जा सकती है। अणुरूप में व्यापकता का अभाव हो जात है। जैसे, तप्त लौहखण्ड अग्निसम्पर्क से ही दाहक होता है, दाहकत्व उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है। जीव की उत्पत्ति नहीं होती बल्कि उद्गम होता है। अतः जीव भी ब्रह्मसदृश ही नित्य हैं।

इनके मत में जीव तीन प्रकार के हैं—शुद्ध, संसारी तथा मुक्त। ब्रह्म से

जीव के प्रकार भेद

शुद्ध जीव

सद्यः जीव के निकलने के बाद आनन्दांशरहित अवस्था को शुद्ध जीव कहा जाता हैं। पुनः अविद्या के संसर्ग से उसका शुद्ध स्वरूप बाधित हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त जीव को संसारी

संसारी जीव

कहते हैं। इसी अवस्था में उसके ऐश्वर्य[1] आदि गुणों का तिरोभाव हो जाता है। इनमें कुछ तो दैवी सम्पदा विशिष्ट और कुछ आसुरी सम्पदा युक्त होते हैं। जीव अपने परमोच्च भावों के कारण मुक्ति का अधिकारी होता है। नीच भावों से समाविष्ठ होने पर सद्गुणों के बाधक होने से, मुक्ति का भी मार्ग अवरुद्ध हो जाता हैं। मुक्ति और बंधन जीव की इन दोनों ही अवस्थाओं में भगवदिच्छा ही प्रधान है। आसुरी सम्पदा वाले घोर कर्मों के सम्पादन करने से कूकर-शूकरादि एवं तमोगुण प्रधान तिर्यक तथा वृक्षादि योनियों में जन्म लेते हैं। ऐसे जीव नित्य संसारी कहे गए

निरिन्द्रियात् स्वरूपेण तादृशादिति निश्चयः।
संदंशेन जड़ाः पूर्वं चिदंशेनेतरे अपि।
अन्यधर्मतिरोभावा मूलेच्छायो स्वतन्मिणः॥ (२।३।४३ का अणुभाष्य)

१. "आनन्दांश के तिरोहित होने से जीव में भगवद्गुणों का लोप हो जाता है। ऐश्वर्य के तिरोधान से दीनता और पराधीनता, वीर्य के तिरोभाव से सभी प्रकार के दुःखों की आस्पदता तथा यश के तिरोहित होने से सब तरह की हीनता उसमें उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार उस श्री के तिरोधान से सभी भाँति की विपत्तियों का आश्रय, ज्ञान के तिरोभाव से देहादि में अहं बुद्धि का और अपस्मार के रोगी की तरह विपरीत बोध का अधिष्ठान बनना पड़ता है। वैराग्य के तिरोहित हो जाने से उसमें विषयों के प्रति आसक्ति जगती है।"

[ब्रह्मसूत्र ३।२।५ पर अणुभाष्य।

हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका —ले० श्रीरामनरेश वर्मा, पृष्ठ १६६

हैं। भगवान् की आत्मरमण की इच्छा करने पर इन जीवों की भी अविद्यादि की निवृति हो जाती है। लेकिन तब अविद्याकार्य संसार का भी आत्यन्तिक अभाव हो जाता है।

अविद्या की आत्यन्तिक निवृत्ति ही जीवन्मुक्ति कही जाती है। सनकादि मुनि इसी कोटि में आते हैं। वैकुण्ठ, परमव्योम तथा अन्य भगवल्लोकों में निवास करने वाले जीवमुक्त हैं। संतो की कृपा से श्रवणादि साधकों से समुत्पन्न स्वतंत्र भक्ति द्वारा कोई-कोई दैवी सम्पदावाले व्यक्ति नित्य लीला में प्रवेश करते हैं। तिरोहित आनंदांश को प्राप्त कर जीव आनंदस्वरूप हो जाता है और भगवदैव्य प्राप्त कर लेता है।

मुक्त जीव

श्रीवल्लभाचार्य के मत में जीव की तरह ही अचित् तत्त्व भी सत्य हैं। अतः सम्पूर्ण प्रपंच भी मिथ्या नहीं है। प्रपंच का आविर्भाव एवं तिरोभाव होता है, आत्यन्तिक अभाव नहीं होता। प्रपंच भगवान् का ही स्वरूप है। भगवान् अपनी अचिन्त्य माया की सहायता से विविध आकार धारण करते हैं। अतः प्रपंच भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। प्रपंच रूप में प्रतीती तो अविद्या के कारण होती हैं। माया, अविद्यादि भगवान् की ही शक्तियाँ हैं। अविद्या के वशीभूत होकर ही जीव संसार की सुख-दुखात्मक स्थितियों का भोग करता है। श्रीवल्लभ-मत में संसार और प्रपंच में अन्तर है। मैं, मेरा का भाव ही संसार है। यह अविद्या-जन्य है। सर्व-ब्रह्मात्मक बोध होने पर इसकी सद्यः निवृत्ति हो जाती फिर भी प्रपंच की निवृत्ति नहीं होती। प्रपंचात्मक दृश्य की धारा अनादि तथा अनंत है। प्रलयादि में केवल उसका बाह्य स्वरूप ही तिरोहित होता है। अतः आविर्भाव तथा तिरोभाव क्रम से संसार और प्रपंच के स्वरूप में भेद अवश्य होता है।

अचित् तत्व

अनेकों साधकों की मुक्ति होने पर भी प्रपंच की धारा मंद नहीं पड़ती। ईश्वर के संवरण की इच्छा होने पर ही प्रपंच उनमें विलीन हो जाता है। इस विलीनता को प्रापंचिक जीव की मुक्ति नहीं कहा जा सकता है, यह केवल उनका विश्राम मात्र है। मुक्ति के लिए अभ्यास का आत्यन्तिक अभाव आवश्यक है। परंतु, इस अवस्था में अभ्यास पूर्णतया तिरोहित नहीं होता है, वह केवल दब जाता है। प्रपंचोत्पत्ति स्वेच्छया नहीं होती। यह ईश्वर की इच्छा के अधीन है।

जगत् और प्रपंच परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं। जगत् भगवदंश है तथा संसार जीव की कल्पना है। अतः ये श्रीशंकराचार्य की तरह 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'

न मानकर जगत् को भी ब्रह्म सदृश ही सत्य मानते हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि में माया सत् और असत् से विलक्षण अनिवर्चनीय नहीं, बल्कि ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है।

श्रीवल्लभाचार्य ने परम तत्त्व को पुरुषोत्तम कहा है। ये सगुण तथा निर्गुण दोनों हैं। परमेश्वर अप्राकृत गुणों के संयोग के कारण सगुण तथा प्राकृत गुणों के अभाव के कारण निर्गुण हैं। ये परम स्वतंत्र तथा ऐश्वर्यादि गुणों से पूर्ण हैं। इनमें किसी प्रकार के दोष की कल्पना नहीं की जा सकती। पुरुषोत्तम सच्चिदानन्द स्वरूप हैं।[१] ये ब्रह्म के दो स्वरूपों को स्वीकार करते हैं। पुरुषोत्तम तथा अक्षर ब्रह्म। अक्षर ब्रह्म ही पुरुषोत्तम का परम धाम है। पुरुषोत्तम पूर्ण गुण विग्रह होने के कारण भक्ति से प्राप्य है तथा अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति ज्ञान से होती है। अक्षर ब्रह्म में आनंद की, पुरुषोत्तम की अपेक्षा, न्यूनता रहती है।

'परब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। अतः उसका सगुण और निर्गुण स्वरूप स्वभावसिद्ध है। वह अणु परिमाण भी है तथा अतिमहान भी।[२] वह कर्तुम्, अकर्तुम अन्यथा कर्तुम समर्थ है। उसका सगुण बिग्रह भक्तों पर कृपा का परिमाण है।

अद्वैतमत में माया शबलित ब्रह्म जगत् कर्त्ता हैं, परंतु शुद्धाद्वैत में माया भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अतः लिप्तता, अलिप्तता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः जहाँ आचार्यप्रवर ने माया संबंध रहित कहा[३] है उसका अर्थ ही है माया का ब्रह्म से नित्य अभिन्न बताना। इसीलिए ब्रह्म ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। अतः ब्रह्म का सगुण तथा निर्गुण दोनों स्वरुप सत्य है। यद्यपि भक्ति के दृष्टिकोण से उन्होंने भी पुरुषोत्तम की श्रेष्ठता स्वीकार की है।[४] क्योंकि पुरुषोत्तम

---

१. निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतंत्रो, निश्चेतनात्मक शरीरगुणैश्च हीनः।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च त्रिविध भेद विवर्जितात्मा॥
(तत्वदीप०। शास्त्रार्थ ०।२ श्लोक ४८)

२. 'अणोरणीयान महतो महीयान'
उपनिषद्।

३. माया संबंध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥

४. यस्मात् क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
भक्तयालभ्यस्त्वनन्यया-गीता।

की प्राप्ति अनन्य भक्ति से ही होती है।[1]

पुरुषोत्तम में दुखादि का लेश भी नहीं है। अतः दुखादि का भाव अविद्या कल्पित है। प्राकृत सत्व से पृथक् अप्राकृतिक परम विशुद्ध सत्व, रज और तम का आश्रय लेकर पुरुषोत्तम सृष्टि पालक विष्णु, कर्ता ब्रह्मा तथा संहारक रूद्र का सगुण स्वरुप धारण करते हैं। तीनों स्वरूपों में कोई अन्तर नहीं है। उनमें परात्पर ब्रह्म ,श्रीकृष्ण से कोई भिन्नता नहीं है। इन गुणावतारों में विष्णु की सर्वश्रेष्ठता पुरुषोत्तम के बहुसंख्यक गुणों के प्राकट्य के कारण है। प्रभु के सभी रूप पूर्ण ब्रह्म हैं।

उन्होंने पुरुष तीन प्रकार के बताए हैं (१) महत्स्त्रष्टा, (२) ब्रह्माण्ड संस्थित, (३) सर्व भूतस्थ। भगवान् के सम्पूर्ण सगुण लीलावतारों का प्राकट्य पुरुषोत्तम से ही हाता है। अंतर्यामी रूप में वे जीवों के कोटि भेद से ही उनके प्रति शरीर में भिन्न हैं। सम्पूर्ण प्राणियों का वे प्रेरक रूप से नियामक हैं। अंतर्यामी स्वरूप कारण ब्रह्म के अन्तर्गत है।

अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म अप्रमेय है। अर्थात् उसे प्रमाणों से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। परंतु, वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को प्रमेय कहा है।

वेद के ज्ञान, कर्मादि साधनों द्वारा उसके निरपेक्ष स्वरूप में केवल तत्-तत् विशेषणों के कारण ही क्रिया विशिष्ट या ज्ञानविशिष्ट स्वरूप का बोध होता है। वस्तुतः उसका स्वरूप परम विशुद्ध है। गीता, श्रीमद्भागवत आदि ग्रंथों में भक्ति द्वारा प्रतिपादित सगुण स्वरूप में ज्ञान कर्म का वैशिष्ट्य है तथा वह सम्पूर्ण सद्-गुणों से युक्त है। भक्ति द्वारा ब्रह्म के सगुण स्वरूप की ही अभिव्यक्ति होती है। भगवान् का सगुण साकार विग्रह भी चिदानन्दमय है।

श्रीवल्लभाचार्य : श्रीवल्लभाचार्य के मत में भगवान् श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं।[2] परमभक्ति के फलस्वरूप ही यह साकार रूप प्रकट होता है। भगवान् का यह स्वरूप रसपूर्ण है। रसप्रतिपादक काव्यग्रंथों में रस की जो चर्चा की गई है वह रसरूप भगवान् का ही अंश मात्र है। यद्यपि मूल में रस एक ही है फिर भी स्थायी भावों के संयोग से उनकी अभिव्यंजना की रीति भी अनेक हो

---

१. पुरुष स पर पार्थ भक्तयालभ्यस्त्वनन्यया गीता ८।२२ इत्यनेन अक्षरात् परस्य स्वस्य भक्त्येकलभ्यत्वमुक्तम्। तेन ज्ञान-मार्गीयाणां न पुरुषोत्तम प्राप्तिरिति सिद्धम्। अणुभाष्य २।३।३३

२. परंब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्।

जाती है। रसरूप परमेश्वर की ही अभिव्यक्ति उन विविध रसों के व्याज से होती है। क्योंकि 'रस' की आनन्दरूपता स्वतंत्र नहीं है। रस और आनंद वस्तुतः एक ही चीज है। प्राकृत रसों में उसी रसेश्वर की छाया है। भौतिक आनंद भी परमानंद के एक कण को प्राप्तकर भोक्ता को आनंद प्रदान करने में समर्थ होता है। परंतु, अनन्य भक्ति के द्वारा हृद्देश में उदित रसस्वरूप ब्रह्म का उदय ही विशुद्ध रसानुभूति है। भगवान् का बाह्य सगुण विग्रह भी पूर्ण रसात्मक है। उनकी प्रत्येक लीला में रस की सरिता प्रवाहित होती है। रस स्वरूप होने के साथ ही वे सम्पूर्ण रसों के भोक्ता भी हैं। श्रृंगार का रसराजत्व सर्वमान्य है। इसका स्थायी भाव रति है। भगवान् रस स्वरूप होकर भी रसवान् हैं। अतः वे रति और रतिमान् दोनों हैं। शृंगार रस के आलम्बन विभाव (गोपियों) के भावानुसार भगवान् शृंगार रस रूप होते हैं। आलम्बन के भेद से भगवान् का भाव भी उसी प्रकार का हो जाता है। भाव भी भगवान् से भिन्न नहीं है। अतः आस्वाद्य रति और आस्वादक भगवान् दोनों एक ही तत्त्व है। अर्थात् स्वयं भगवान् ही आस्वाद्य तथा आस्वादक हैं।

श्रीवल्लभाचार्य के मत में श्रीकृष्ण

शृंगार रस प्रधान लीलाओं में विरह से उनके पूर्णत्व में बाधा नहीं आती, न वह मात्र लौकिक अनुकरण ही है। बल्कि विरहादि भी भगवत्स्वरूप ही हैं। परमात्मा की लीलाओं में आनन्दरूपता या चिन्मयता का कभी अभाव नहीं होता है। भगवान् की लीला प्रतियोगी निरपेक्ष कही गई है। उनके नाम रूपादि सभी भगवत्स्वरूप ही हैं। नाम और नामी में नित्य अभिन्नता रहती है।

भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य लीला व्यापी वैकुण्ठ में होती रहती है। भगवान् विष्णु के वैकुण्ठ से ऊपर इसकी अवस्थिति है। गोलोक भी इसी का एक अंश है। भक्तों को आनंद प्रदान करने के लिए भगवान् धराधाम पर अपनी शक्तियों के साथ अवतीर्ण होते है।[1] श्रीराधा, चन्द्रावली, रुक्मिणी आदि ही इनकी नित्य अभिन्न शक्तियाँ हैं। लीला में सहायक गोप, गोपियाँ, गौएँ, वत्स, वृक्ष लतादि सभी परम दिव्य हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण के अतिरिक्त दूसरा कोई भी दोष-रहित देवता नहीं है।[2] श्रीकृष्ण-भक्ति पर बल देते हुए स्वामी वल्लभाचार्य ने कहा है, 'दुष्टकर्म वाले

---

१. नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुत कर्मणे।
रूपनामविभेदेन यः क्रीडति-जगद् यतः॥
(निबंध)

२. कृष्णात्परं नास्ति देवं वस्तुत दोषविवर्जितम्॥
(अन्तः करण प्रबोध १)

इस कलिकाल में मनोवांछित फल की प्राप्ति के साधनभूत कर्म, ज्ञान, उपासना आदि सभी मार्ग लुप्त हो चुके हैं। लोक अत्यंत पाखण्डी हो गए हैं इसलिए एक-मात्र श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं'— ऐसा भाव हृदय में दृढ़ करना चाहिए।[1] निरा-लस्य होकर व्रजाधिप यशोदोछंगलालित नन्द कुमार का भजन ही हमारा धर्म है ऐसा समझकर भजन में प्रवृत्त होना चाहिए।[2] सदैव सर्वभाव से व्रजाधिप श्रीकृष्ण ही भजन करने योग्य हैं। जीवात्मा का यही धर्म है। किसी भी काल में, किसी भी देश में श्रीकृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म नहीं है।[3] और एकमात्र मंत्र है—'श्रीकृष्णः शरणं मम।' भगवान् श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का महत्व स्वीकार करते हुए भी आचार्यप्रवर ने भगवान् के बालरूप की ही उपासना की है। अतः इनका मुख्य भाव है वात्सल्य।

श्रीवल्लभाचार्य के मत में मोक्ष

अविद्या के विनाश होने पर ही जीव मुक्त होते हैं। परंतु विद्या से अविद्या का पूर्ण विनाश नहीं होता। उसका अत्यधिक अभाव हो जाता है। वह अपने मूल कारण माया में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है। अतः जन्ममरणादि के चक्र से विनिर्मुक्त होने पर भी देहादि प्रपंचों के सत्य होने से (क्योंकि प्रपंच सत्य है) अविद्या-जन्य अभ्यास बना ही रहता है। माया की निवृत्ति ही पूर्ण एवं यथार्थ मुक्त है। और इसकी निवृत्ति केवल अनन्य भक्ति से होती है।

इसके दो भेद हैं— सगुणा और निर्गुणा। उपासना का मुख्यफल सायुज्य है। श्रीकृष्णातिरिक्त और सभी देवता सगुणा हैं। अतः श्रीकृष्ण सायुज्य ही निर्गुणामुक्ति तथा अन्य सभी देवताओं का सायुज्य सगुणा मुक्ति हैं, परंतु, यह निर्गुण मुक्ति ज्ञान मार्ग की कैवल्य मुक्ति से भिन्न है। सात्विक ज्ञान को कैवल्य मुक्ति

---

१. सर्वेमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणी।
पाखण्ड प्रचुरे लोके कृष्ण एवं गतिर्मम॥
(कृष्णाश्रय १)

२. सर्वदा सर्वभावेन भक्तिनीयो ब्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मा हि नाष्यः क्वापि कदाचन॥
(चतुश्लोकी)

३. अतः सर्वात्मना शाश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः॥
(चतुश्लोकी-४)

कहते हैं। यह कैवल्य मुक्ति भी सगुण है क्योंकि उस समय गुण युक्त विद्या अविद्या का वशवर्ती जीव होता है। ब्रह्म भाव के बाद भक्ति का उदय होता हैं। तब साधक गुणातीत अवस्था में प्रवेश करता है। अतः सगुण भाव केवल जीवमुक्ति या कैवल्य तक रहता है। निर्गुण मुक्ति तो भक्ति प्राप्त होने के बाद ही होती है। सगुण मुक्ति केवल ज्ञान भाव विशिष्ट है तथा निर्गुण मुक्ति में ज्ञान और भक्ति दोनों विद्यमान रहते हैं। अर्थात् निर्गुण मुक्ति में सभी प्रकार के प्राकृतिक गुणों का लेश भी नहीं है। निर्गुण मुक्ति के उदाहरण हैं श्रीशुकदेव तथा सगुण मुक्ति के श्रीसनकादि हैं।

वल्लभ मत में सायुज्य का अर्थ ब्रह्मैक्य नहीं, बल्कि ब्रह्म के साथ योग है। यह योग ज्ञान से प्राप्त नहीं हो सकता। यह श्रीकृष्ण सेवा से ही प्राप्य है।

श्रीवल्लभाचार्य के मत में भक्ति की प्राप्ति साधन-सापेक्ष नहीं, बल्कि भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त होती है। भक्ति के दो भेद हैं— मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति।

श्रीवल्लभ मत में पुष्टि भक्ति

सामान्य अनुग्रह से जो भक्ति प्राप्त होती हैं उसे मर्यादा भक्ति कहते हैं और विशेष अनुग्रह से प्राप्त भक्ति को पुष्टि भक्ति कहते हैं।[1] भक्त इस भक्ति को प्राप्त कर भगवत्प्राप्ति के अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तु की कामना नहीं करता है।

भगवत्कृपा अहैतुकी होती है। भगवान् भक्तों के दोष गुणादि की अपेक्षा नहीं करते। बहुत बड़े अपराधी भी भगवत्कृपा से अपराध-जन्य दोषों का अतिक्रमण कर देते हैं। जैसे, विश्वरूप को दधीचि तथा भक्तवर वृत्र की हत्या का फल प्राप्त नहीं हुआ। भगवान् ने स्वयं परीक्षित की रक्षा गर्भ में की। अतः सम्पूर्ण विरोधी तत्त्वों का आत्यन्तिक अभाव पूर्वक अनुकूलता की प्राप्ति को महा-पुष्टि कहा जाता है। सामान्य पुष्टि से पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति होती है।

---

१. 'पोषणं तदनुग्रह'

कृतिसाध्यं साधनं ज्ञान भक्ति रूपं शास्त्रेण बोध्यते, ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिः मर्यादा। तद्रहितानामपि स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते (अणुभाष्य ३।३।२९)

'साधनं विना स्वरूपबलेनैव कार्यकरणं हि पुष्टिः' (वही ४।१।१३)

'साधनं क्रमेण मोचनेच्छा हि मर्यादा मार्गीया मर्यादा, विहित साधनं विनैव मोचनेच्छा (पुष्टिमार्ग मर्यादा वही ४।२।७) पुष्टिमार्गो नुग्रहैक साध्यः प्रमाणमार्गादि विलक्षणः (वही ४।४।९)

'मर्यादा-पुष्टि भेदेन वरणं द्विधोच्यते। तत्रः सहकार्यन्तरविधिस्तु मर्यादापदेनो च्यते पुष्टौ तु नान्यापेक्षा' (वही ३।४।४६)

भगवत्स्वरूप को प्राप्त कराने वाली भक्ति की प्राप्ति विशिष्ट पुष्टि से होती है। इसी को पुष्टि भक्ति कहते हैं। यह एकमात्र भगवत्कृपा-साध्य है।

पुष्टि भक्ति को प्राप्त कर भक्त मोक्ष सुख की भी इच्छा नहीं करता है। क्योंकि तब भक्ति ही साधन और साध्य दोनों हो जाती हैं। अन्य लौकिक सुख तथा सिद्धि आदिकों की प्राप्ति तो भक्त के बिना चाहे ही भगवत्कृपा से प्राप्त हो जाती है। भक्त रूप में स्वीकार करने में भगवान् जीवों की योग्यता का विचार नहीं करते और न भक्त ही भगवान् की विविध लीलाओं में हीनता या विशेषता का अनुभव करते हैं। उनकी कृपा से अत्यंत अयोग्य जीव भी धन्य हो जाता है। भगवान् की शक्ति का चिंतन कर भक्त सदा निर्भयता का अनुभव करता है।

इस मार्ग में मिलन से अधिक विरह में सुखानुभूति होती है, क्योंकि भक्त अपने हृदय में पूर्व की सभी लीलाओं का स्मरण करता रहता है।[१]

सारूप्य मुक्ति में भी भजन की आवश्यकता होती है। लीला के लिए पृथकता को प्राप्त जीव इसी के माध्यम से भगवान् का नित्य सान्निध्य प्राप्त करता हैं। यह साधन होने पर भी स्वयं फलरूप है। लौकिक वैदिक मार्ग की अपेक्षा पुष्टि मार्ग उत्कृष्ट है।[२]

पुष्टि भक्ति का मुख्य उद्देश्य[३] सेवा है। स्वामी वल्लभाचार्य ने कलियुग को भक्ति योग के लिए अनुकूल समय कहा है।

पुष्टि भक्ति के प्रकार : पुष्टि भक्ति चार प्रकार की है—**प्रवाह पुष्ट भक्ति**। इसमें वे लोग आते हैं जो जागतिक प्रवाह में रचे-पचे होने पर भी प्रभु कृपा से ऐसे आचरण करते हैं जिससे उन्हें भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

इस कोटि के भक्त अपने मन बुध्यादि इन्द्रियों को संयमित रखते हुए, विषयों से वितृष्ण होकर भगवान् में अपना मन उनकी लीलाओं के श्रवण, कीर्तनादि साधनों में लगाते हैं।

मर्यादा पुष्टि

पहले से ही पुष्टि प्राप्त भक्तजन और अधिक पुष्टि प्राप्त कर भक्ति के अनुकूल ज्ञान आदि की प्राप्ति करते हैं।

पुष्टि-पुष्टि

---

१. यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥

२. लौकिक वैदिक मार्गपेक्षया पुष्टिमार्गः उत्कृष्टः।
मार्गा यं सर्वमार्गणा मुत्तमः परिकीर्तितः॥
(सुबोधिनी)

३. सेवा च पुष्टिमार्गे सस्नेहा कृपाफलं चैतत।
(सुबोधिनी)

यह परम प्रेम की अवस्था है। इस स्थिति में भक्ति के साधनों का अवलम्बन सहज स्वाभाविक रूप से होता है।

शुद्ध पुष्टि

चित्त को प्रभु में तल्लीन कर देना ही सेवा है।[१] भक्ति का मुख्य संबंध सेवा से है। निर्हेतुक सेवा ही पूर्ण सेवा है। भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा तीन प्रकार की होती है—तनुजा, वित्तजा और मानसी। तनुजा सेवा में अपने शरीर तथा उसके सम्पूर्ण व्यापारों का भगवत्प्रीत्यर्थ समर्पण होता है। वित्तजा प्राप्त धन-सम्पत्ति से तथा मानसी मन के द्वारा भाव की स्थिति में होती है।

सेवा और उसके प्रकार

मानसी सेवा 'पारा सेवा' है।[२] उनकी सेवा ही जीव का परम लक्ष्य है। आचार्यप्रवर ने कहा है कि भगवत्सेवा में अथवा भगवत्कथा में जिसकी जीवन पर्यन्त दृढ़ आसक्ति रहती है, उसका कहीं पर भी नाश नहीं होता है, ऐसा मेरा विचार है।[३] इन्होंने सेवा के दो रूप निर्धारित किए हैं, नित्य सेवा और नैमित्तिक सेवा। नित्य सेवा में भोग, राग, श्रृंगार की चर्चा की गई है। नैमित्तिक सेवा—इसमें वर्ष भर के सभी पर्व त्योहारों को मनाया जाता है।

आचार्य प्रवर के ग्रंथ

श्रीवल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत पुराण का भाष्य किया था जो सुबोधिनी टीका से विख्यात है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गीता-टीका, सिद्धांतरहस्य, सेवाफल विवृत्ति, भक्ति वर्द्धिनी, निबंध प्रकाश, तत्वदीप निबंध, पुष्टि प्रवाह-मर्यादा भेद, कृष्णप्रमामृत आदि ग्रन्थ लिखें। इन ग्रंथों का वल्लभ-सम्प्रदाय में बहुत ही समादर है।

अन्य आचार्यों की रचनाएँ

श्री गिरिधर ने शुद्धाद्वैतमार्तण्ड नामक ग्रंथ की रचना की। श्रीहरिराय का ब्रह्मवाद एक अत्यंत उत्कृष्ट ग्रंथ है। श्रीगोपाल-कृष्ण भटट् का ब्रह्मवाद विवरण तथा श्रीतापीश की पत्रावलम्ब टीका, ब्रह्मवादार्थ एवं श्रीभटट्वल-भद्र सिद्धान्त सिद्धापगण इस सम्प्रदाय के उत्कृष्ट ग्रंथ हैं।

---

१. चेतस्तत् प्रवणं सेवा तत् सिद्धमै तनुवित्तजा।
(सिद्धान्त मुक्तावली-२)

२. कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परामता।
(सिद्धान्त मुक्ता०)

३. सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढ़ा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम॥
(भक्तिवर्धिनी-९)

श्रीविट्ठलनाथजी

श्रीविट्ठलनाथजी श्रीवल्लभाचार्य जी के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १५७२ वि० में काशी के निकट चुनार में हुआ था। उनके पिता ने उनका आवश्यक संस्कार अपने पूर्व निवासस्थान अड़ैल में कराया। इनके जन्म लेने पर महाकवि सूर ने मंगल गीत गाया था तथा गोकुल में नन्दमहोत्सव मनाया गया था। ये श्रीकृष्ण का अवतार माने जाते हैं।

श्रीविट्ठलनाथजी भी अपने पिता की तरह ही सद्गृहस्थ थे। उन्होंने दो विवाह किए थे। उनके जीवन का अधिकांश गोवर्धन और गोकुल में व्यतीत हुआ।

अपने बड़े भाई श्रीगोपीनाथजी के महाप्रयाण करने के बाद वे गद्दी के अधिकारी हुए। श्रीवल्लभाचार्य द्वारा स्थापित पुष्टि-मार्ग की वृद्धि तथा विकास इन्होंने ही किया। अतः इनका भी सिद्धांत पुष्टि-मार्ग का ही था। भगवद्भक्ति मानों इनकी सहज सिद्ध सम्पत्ति थी। उन्होंने अष्टछाप के कवियों को सर्वाधिक प्रतिष्ठा देकर भक्ति-मार्ग का उन्नयन किया। अष्टछाप उनकी अमर कीर्ति है।

आचार्य वल्लभ के सिद्धांतों में राधिका का दर्शन स्पष्ट रूप से नहीं मिलता परंतु, श्रीविट्टलनाथजी ने अपनी साधना में माधुर्य-भाव को प्रतिष्ठित किया। अतः श्रीराधिकाजी का वर्णन प्रचुर मात्रा में इनके भक्तिपरक श्लोकों में मिलता हैं। श्रीराधा-कृष्ण के संयोग वियोगात्मक दोनों स्वरूपों का मानों वे मूर्त्त अवतार ही थे। इसी भाँति गोस्वामी विट्ठलनाथजी भी श्रृंगार रस सरस श्रीकृष्ण के पूर्व दल (संयोग) स्वरूप होने से वास्तव में श्रीकृष्ण रूप हैं। तथा श्रीकृष्ण की नख-विधु-ज्योत्सना में प्रतिबिम्बित श्रीराधा प्रतिच्छवि के मूर्त विग्रह श्रीचन्द्रावली स्वरूप में भावित होने से वे स्वामिनी भाव भावित भी हैं। इस प्रकार स्वामिनी भाव एवं कृष्णभाव उभयभाव संवलित स्वरूप श्रीविट्ठलनाथजी का भी है।[१] श्रीराधिकाजी की कृपा की कामना करते हुए उन्होंने चतुः श्लोकी राधा की प्रार्थना में कहा है कि यदि श्रीराधिकाजी कृपा करें तो सम्पूर्ण विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं तथा कृपापात्र मुझ दास के किए पुष्टिमार्ग और मर्यादा मार्ग में दूसरा कौन सा कर्त्तव्य अविशिष्ट रह जाता है। यदि वे मणि की तरह शुभ्र दंत पंक्तियों पर ईषत हास की प्रभा को धारण कर दो-चार मधुर वचन बोल दें तो मुक्ति रूपी शुक्ति (सीपी) से क्या प्रयोजन? यद्यपि मधुरोपासना में दैन्य का कोई स्थान नहीं है फिर भी—

---

१. गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी तथा श्रीराधातत्व : श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार

भगवान् श्रीकृष्णकी प्रार्थना में उनमें दैन्य भाव की कामना भी दिखाई पड़ती है।[1] वे कहते हैं—जो दीनता आपकी कृपा में हेतु हैं—जिस दैन्य पर आप रीझते हैं, उसका तो मुझमें लेश भी नहीं है। अतः हे राधानाथ ! ऐसी कृपा कीजिए जिस कृपा से मैं उस दैन्य को प्राप्त कर सकूँ।[2] परंतु, श्रीविट्ठलनाथजी की साधना प्रमुखतः मधुर भाव की ही थी। श्रीवल्लभाचार्यजी ने रास का अधिकारी एकमात्र स्त्रियों को ही बताया था, फिर भी इस आनंद को यदि पुरुष भी प्राप्त करना चाहें तो उनके लिए गोपी-भाव आवश्यक है। उनके समय में ही मधुरोपासना का बीज अंकुरित होते हुए दिखाई पड़ता हैं जिसका श्रीविट्ठलनाथजी ने पूर्ण विस्तार किया। उन्होंने श्रीकृष्ण की बाल-लीला में ही मधुर लीला का भी समावेश किया। उनके दो प्रसिद्ध ग्रंथ हरिभक्तिरसामृतसिंधु तथा गुप्तरस ग्रंथ में इनका वर्णन मिलता हैं। श्रीविट्ठलनाथजी की इसी भक्ति-भावना से प्रभावित होकर अष्टछाप के कवियों ने अष्ट सखा तथा अष्टसखी भावों की साधना की थी। जैसे—

भक्त कवि	सखारूप	सखीरूप
१. सूरदास	कृष्णसखा (उद्धव)	चम्पक लता
२. परमानन्द दास	लोक सखा	चन्द्रभागा
३. कुंभनदास	अर्जुनसखा	विशाखा
४. कृष्णदास अधिकारी	ऋषभ सखा	ललिता
५. छीत स्वामी	सुबल सखा	पद्मा
६. गोविन्द स्वामी	श्रीदामा सखा	भामा
७. चतुर्भुजदास	विशाल सखा	विमला
८. नंददास	भोज सखा	चंद्ररेखा

इस तरह हम देखते हैं कि वात्सल्य भाव की उपासना के साथ ही माधुर्य

---

१. कृपयाति यदि राधा बाधिताशेषबाधा
किमपरमवशिष्टं पुष्टिमर्यादयो में।
यदि वदति च किंचित स्मेर हासोदित श्री-
द्विज वरमणिपङ्क्त्या मुक्तिशुक्त्या तथा किम्॥
(चतुः श्लोकी में राधा-प्रार्थना)

२. यद्दैन्यं त्वत्कृपाहेतुर्न तदस्ति ममाण्वपि।
तां कृपां कुरु राधेश यया ते दैन्यमाप्नुयाम्॥

भाव की भी उपासना होने लगी। साथ ही एक ही कवि में विभिन्न भावों जैसे वात्सल्य, सख्य, दास्य तथा मधुर के भी दर्शन होते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने इसे संभव तथा पानक की तरह परम रस कहा है।[१]

अपने पिता द्वारा स्थापित वात्सल्य-भाव की उपासना की भी उन्होंने श्रीवृद्धि की। मन्दिरों में सेवाओं के विविध रूपों की भावना कर प्रचुर धनराशि से सेवाएँ चलाईं। आज बहुत खर्च तथा श्रद्धा से सेवा का कार्य उनके स्थापित मठों में चलता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।

श्रीविट्ठलनाथजी के आठ पुत्र थे। उन पुत्रों को भगवान् के विविध रूपों की सेवा का भार देकर देश के विभिन्न भागों में स्थापित गद्दियों का उत्तराधिकारी बनाया। इससे इस सम्प्रदाय का समुचित विस्तार हुआ। उनके नाम इस प्रकार हैं—

	पुत्र	स्वरूप	विराजने का स्थान
१.	गिरिधरजी	श्रीमथुरेशजी	कोटा
२.	गोविन्दरायजी	श्रीविट्ठलनाथजी	नाथद्वारा
३.	बालकृष्णजी	श्रीद्वारिकाधीशजी	कांकरोली
४.	गोकुलनाथजी	श्रीगोकुलनाथजी	गोकुल
५.	रघुनाथजी	श्रीगोकुलचन्द्रमाजी	कामवन
६.	यदुनाथजी	श्रीबालकृष्णजी	सूरत
७.	घनश्यामजी	श्रीमदनमोहनजी	कामवन

गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने श्रीवल्लभाचार्यजी के रहस्ययुक्त ग्रंथ का भाव स्पष्ट करने के साथ ही बहुत से ग्रंथों की रचना की थी। विद्वानमंडल, भक्ति निर्णय, पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद टीका, शृंगार-रस-मंडन, भक्ति हंस, निबंध प्रकार टीका, वल्लभाष्टक, अणुभाष्य (अंतिम ढेढ़ अध्यायों की रचना से ग्रंथ की पूर्ति) कृष्ण प्रेमामृत-टीका, सुबोधिनी टिप्पणी तथा रत्नविवरण आदि ग्रंथ वैष्णव दर्शन के क्रम विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसके साथ ही ब्रजभाषा को भी साहित्यिक रूप देने का श्रेय इन्हीं को है। वे अपने पिता की ही तरह

---

१. एकदा यद्यपि व्यक्तमिदं रतिचतुष्टयाम्।
तदा तु पानकरसन्यायेन परमो रसः ॥
भगवद्भक्ति०। उल्लास २। श्लोक ७०

श्रीमद्भागवत पुराण के मर्मज्ञ विद्वान थे। जिस स्थान पर वे भागवत का सप्ताह पाठ करते थे वह स्थान बैठक नाम से अभिहित किया जाता था। उनके ऐसे बैठकों की संख्या अठाइस है।

श्रीविट्ठलनाथजी के पंचम पुत्र श्रीरघुनाथ ने भक्तिहंस के ऊपर भक्ति-तरंगिणी नाम की टीका लिखी। उन्होंने वल्लभाष्टकस्तोत्र पर भी टीका रची थी।

स्वामी विट्ठलदासजी के अतिरिक्त अन्य आचार्यों की रचनाएँ

श्रीबालकृष्ण भट्ट ने प्रमेयरत्नार्णव, शुद्ध द्वैतमार्तण्ड प्रकाश, निर्णयार्णव, सेवा कौमुदी आदि ग्रंथों को लिखा था। श्रीगोपेश्वर ने भक्तिमार्तण्ड तथा वाद कथा आदि ग्रंथों की रचना की। विट्ठलदासजी के दूसरे शिष्य श्रीपीताम्बर ने श्रीवल्लभाचार्य के तत्त्वदीप निबंध प्रकाश पर आवरण भंग नामक टीका रची थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने विद्वत्कविभिन्दिमाल, प्रहस्त, पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-विवरण आदि ग्रंथ लिखे थे। श्रीपुरुषोत्तम ने अणुभाष्य पर प्रकाश नाम की टीका रची थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने विद्वन्मण्डन टीका सुवर्णसूत्र, भक्तिहंस विवेश, भक्तितरंगिणी टीका तीर्थ, वल्लभाष्टक विवृति-प्रकाश, अवतारवादावली आदि ग्रंथों का प्रणयन किया।[1]

---

१. भारतीय संस्कृति और साधना--
महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथजी कविराज के आधार पर, पृष्ठ २३६

श्रीराधावल्लभसम्प्रदाय

(हितहरिवंशजी)

श्रीहितहरिवंशजी का जन्म मथुरा के निकट वाद ग्राम में विक्रम संवत् १५५९ वैशाख शुक्ला एकादशी को हुआ था। श्रीगोपाल प्रसाद शर्मा ने अपने ग्रंथ श्रीहित चरित्र में उनका जन्म संवत् १५३० निश्चित किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने भी इनका जन्म संवत् १५५९ ही माना है।[1] इसके अतिरिक्त श्रीविजयेन्द्र स्नातक, श्रीप्रभुदयाल मित्तल, डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, श्रीपरशुराम चतुर्वेदी, आचार्य श्रीबलदेव उपाध्याय प्रभृति विद्वानों ने भी उक्त तिथि को ही प्रामाणिक माना है।[2] इनके पिता का नाम श्रीव्यास मिश्र तथा माता का नाम श्रीतारादेवी था।

श्रीहितहरिवंशजी बहुत ही सुन्दर थे। बचपन से ही इन्हें राधा शब्द अत्यन्त प्रिय था। राधा शब्द सुनते ही ये जोर से किलकारी मारकर हंसने लगते

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास--पृष्ठ १७४

२. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृष्ठ ८८
ब्रज के धर्म सम्प्रदाय, पृष्ठ ३६४
हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ० १७८
मध्यकालीन प्रेम साधना, पृष्ठ १७२
भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ४२२

पन्द्रह सौ उनसठि संवतसर, वैसाखी सुदि ग्यास सोमवार।
तहां प्रगटे हरिवंस हित, रसिक मुकुठ मनिमाल।
कर्म, ज्ञान, खंडन करन, प्रेम भक्ति प्रतिपाल।

श्रीभागवत मुदित रचित हितहरिवंश चरित्र से डॉ० दीनदयालु गुप्त के ग्रंथ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय के पृष्ठ ६४ पर उद्धृत।

थे। कहते हैं कि छः महीने की अवस्था में ही उन्होंने राधा सुधानिधि का स्तव-गान किया था।[1] बाद में इनके ताऊ स्वामी श्रीनृसिंहजी ने उसे लिपिबद्ध किया था। दूसरी घटना देववन के घर के निकट बाग में एक कूप से श्रीरंगीलालजी की मूर्ति के निकालने तथा उन्हें अपने घर के मंदिर में प्रतिष्ठित करने की है। श्रीराधा ने स्वयं अपने मंत्र की दीक्षा उन्हें स्वप्न में ही दी थी।[2] वह मंत्र घर के बाहर के एक पीपल के वृक्ष के रक्तवर्ण के पत्र पर लिखा था जिसे उन्होंने प्राप्त किया था। इस तरह के अनेक अलौकिक चमत्कारों का वर्णन इनके संबंध में मिलता है।

बाल्यावस्था का अद्भुत चमत्कार

श्रीहितहरिवंशजी ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह अपने सिद्धान्त को दार्शनिकता से मुक्त रखने का प्रयास किया है।[3] अतः जीव के अन्य लक्षणों एवं स्थितियों पर विचार न कर उन्होंने जीव के कर्तव्य एवं भावात्मक साधना पर ही बल दिया है। उनकी दृष्टि में जीव का स्वरूप प्रेमरूपा गोपियों का है। भगवान् अपनी अष्टधा जड़प्रकृति तथा जीवरूपा

श्रीहितहरिवंशजी के मत में जीव का स्वरूप

---

१. राधा रस सुधानिधिषण मास में बखान्यो।
बीठल सुजान्यो सान्यौ हियौ सुख सार है॥
ज्ञानू और छबीलदास आस करि आये पास,
दियो दरसाय वृन्दाविपिन विहार है।
व्यास महल आंगन में अलिबेलि भाँति डोलै,
डोलैं संग माधुरी की उझल अपार है।
अंध्रि कंज मंजु पुंज रसन अमन्द सार,
हित मकरन्द मिष्ट दृष्टि को अधार है।
(मीठा भाई कृत अष्टक के बधाई छन्द हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

२ एक दिवस सोवत सुख लह्यौ, श्रीराधे सुपने में कह्यौ।
द्वार तिहारे पीपर जो है, ऊंची डार सबन में सो है।
ता में असून पत्र इक न्यारो, जामें जुगल मंत्र हमारो।
लेहु मंत्र तुम करहु प्रकास, रसिक जनन की प्रजियहु आस।
-(रसिक माल, उत्तमदासजी कृत)

३. श्रीहितहरिवंशजी ने अपने ग्रंथों में ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि के संबंध में भी कहीं विचार व्यक्त नहीं किए हैं। इन जिज्ञासाओं का धरातल प्रायः दार्शनिक रहता

पराप्रकृति के साथ नित्य लीला करते रहते हैं। अतः पराप्रकृति रूप से जीव का सखी भाव ही स्वभावसिद्ध है।

कृष्ण-भक्ति शाखा के आचार्यों ने श्रीराधा को ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति तथा आराधिका कहा था, लेकिन श्रीहितहरिवंशजी ने इन्हें स्वयं आनन्दस्वरूप कहा है। श्रीराधिका भगवान् श्रीकृष्ण की आराध्या हैं। श्रीकृष्ण सदा इनकी आराधना में तत्पर रहते हैं। यद्यपि दोनों तत्त्वतः एक हैं, फिर भी क्रीड़ा के लिए दो बने हुए हैं।[१] दोनों परस्पर एक-दूसरे को सुख पहुँचाना चाहते हैं। अतः परस्पर प्रेम के अतिरिक्त दूसरा न कोई साधक हैं, न साधना है और न साध्य ही। फिर भी श्रीराधा का स्थान सर्वोपरि है। वे राधावल्लभ सम्प्रदाय की आराध्या भी हैं तथा श्रीहितहरिवंशजी को मंत्र प्रदान करने के कारण गुरु स्थानीया भी। इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण की भी उपासना अपनी इष्ट राधा के प्रियतम होने के कारण ही की जाती है।

राधा का स्वरूप

इस सम्प्रदाय में श्रीराधा की उपासना-पद्धति शक्ति-सिद्धान्त से भिन्न हैं। शक्ति-दर्शन में शक्ति को 'माता' का स्थान प्राप्त है। परंतु, श्रीराधा का वर्णन श्रीकृष्ण की प्रिया के रूप में हुआ है। अतः राधाकृष्ण का वर्णन शक्ति और शक्तिमान् के रूप में न होकर प्रिया-प्रियतम के रूप में हुआ है।

इस सम्प्रदाय में रसो वै सः श्रीराधा ही हैं। अतः रस रूप परमात्मा भी इनकी कृपा प्राप्ति के लिए इनके चरणों में लोटते हैं। श्रीहितहरिवंशजी ने श्रीकृष्ण के इसी स्वरूप की वन्दना की है—रस स्वरूप मोहन मूर्ति है जिसकी, ऐसे श्रीकृष्ण की मैं वंदना करता हूँ जो विचित्र केलि महोत्सव से

है और दर्शन की सूक्ष्म विवेचना द्वारा ही इन गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न चिर अनादि से होता आ रहा है फिर भी आज तक कोई एकमत स्थिर नहीं हो सका। डॉ० विजयेन्द्र, पृष्ठ १२६

१. (क) श्रीकृष्ण राधारानी से प्रार्थना करते हैं : जहाँ-जहाँ तुम्हारे चरण-कमल पड़े, वहाँ-वहाँ मेरा मन छत्र बनकर छाया करता है। मेरी अनेक मूर्तियाँ चांवर व्यजन आदि के रूप में उनकी आराधना करती हैं, ताम्बूल-माल्य अर्पण करती हैं, आरती उतारती हैं, तुम्हारी रुचि का अनुसरण करके तुम्हारे प्रसाद की प्राप्ति के लिए तुम्हारी आराधना करती हैं।

श्रीहिताद्वैत : एक विवेचन —श्रीकरपात्रीजी।

(ख) प्रेम सरोवर प्रेम के भरे रहे दिन रैन जहाँ लाड़िली पग धरै स्याम धरै दोऊ नैन। (अज्ञात)

उल्लसित रहते हैं तथा जिनका मयूर पंखनिर्मित मुकुट श्रीराधा के चरण-कमलों में लोटता है।[१]

श्रीराधा साक्षात् रस की अधिष्ठात्री देवी हैं। वह कृपार्द्रदृष्टि से सदा प्रेम रस की वर्षा करती रहती है। उनकी चरणधूलि ब्रह्मादि प्रभृति देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। वह सम्पूर्ण पारमार्थिक सिद्धान्तों की सारभूता हैं तथा सम्पूर्ण सिद्धियों को देनेवाली हैं।[१] अपनी इष्ट आराध्या का परिचय वे इन शब्दों में देते हैं— 'जो अतिशय मधुर तथा विमलोज्ज्वल प्रेम का हृदय-स्वरूप, शृंगारलीलाकला में दक्ष, श्रीकृष्ण के लिए भी आराधनीया, परमात्मा श्रीकृष्ण की शची तथा जो दिव्य सुखमय शरीर को धारण करनेवाली, स्वतंत्रा तथा पराशक्ति रूपा हैं, वे वृंदावननाथ श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी राधा ही मेरी सेव्या हैं।[३] अपनी इष्टदेवी श्रीराधा के प्रति अनन्यता को वे शपथपूर्वक व्यक्त करते हैं। उनका कहना है—चाहे कोई किसी की भी उपासना करे, लेकिन मेरे प्राणों की सर्वस्व तो एक मात्र श्रीराधा ही हैं। अपने हृदय में विविध अवतारों की आराधना का दृढ़ व्रत धारण करनेवाले भक्तजन इस रस का आस्वादन कर अपनी मर्यादा को छोड़ देते हैं।[४] उनकी उपास्या श्रीराधा चातुर्य्य, प्रेमरस,

---

१. रसधन मोहन मूर्ति विचित्रकेलिमहोत्सवोल्लसितम्। राधा चरण विलोडिन, रुचिर शिखण्ड हरिं वन्दे ॥

(राधासुधानिधि, श्लोक सं० २००)

२. ब्रह्मेश्वरादि सुदुरूह पदारविन्द श्रीमत्पराग परमाद्भुत वैभवाया :।
सर्वार्थसार रस वर्णिकृपादृष्टेस्तस्या नमोस्तु वृषभानुभुवो महिम्ने ॥

(राधासुधानिधि, श्लोक सं० २)

३. प्रेम्णः सन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदय शृंगार लीला कला,
वैचित्री परमावधिर्भगवतः पूज्येव कापीशता।
ईशानी च महासुख तनुः शक्तिः स्वतंत्रा परा
श्रीवृंदावन नाथ पट्टमहिषी राधैव सेव्या मम ॥

(राधासुधानिधि, श्लोक सं० ७८)

४. रही कोऊ काहू मनहिं दिये।
मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा, शपथ करौं तृण छियै ॥
जो अवतार करंब भजत हैं, धरि दृढ़ व्रत जु हियै।
तेऊ उमंगि तजत मर्यादा, बन बिहार रस पियै ॥

(स्फुट वाणी, पद संख्या २०)

वात्सल्यभाव, अतिकृपा, लावण्य तथा छविरूपा अमृत की अपार सिन्धु है।[1] वे लावण्य, सुख, करुणा, मधुर रूप छवि, रतिविदग्धता तथा रतिकेलि विलास की भी सार तत्त्व हैं।[2]

अपनी उपास्या की दिव्य छवि की समता उन्हें देवलोक, भूलोक, तथा रसातल में कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती है। छवि भी जिसके सौंदर्य कण को पाकर सुशोभित होती हैं, ऐसी छविसिन्धु श्रीराधा का वर्णन कौन कर सकता है।[3] ऐसी श्रीराधा की उपासना तथा गोपीजनों के बीच उनकी प्रशंसा स्वयं श्रीकृष्ण चन्द्र भी करते रहते हैं।[4]

---

१. वैदग्ध्य सिन्धुरनुराग रसैक-सिन्धु-
वात्सल्यसिन्धुरति सान्द्रकृपैकसिंधुः।
लावण्यसिंधुरमृतच्छविरूपसिंधुः,
श्रीराधिका स्फुरतु में हृदि केलिसिंधुः॥
—श्रीराधा सुधानिधि, १७।

२. लावण्य सार रस सार सुखैक सारे,
कारुण्य सार-मधुरच्छवि-रूपसारे।
वैदग्ध्य-सार-रतिकेलि-विलास-सारे,
राधामिधै मम मनोऽखिलसारसारे॥
—श्रीराधासुधानिधि २५।

३, देवानामथभक्तमुक्त सुहृदामत्यन्त दूरं च यत्
प्रेमानन्द रसं महा सुखकरं चोच्चारितं प्रेमतः।
प्रेम्णाकर्णयते जपत्यथ मुदा जायत्यथा लिष्वयं
जल्पत्यश्रुमुखो हरिस्तदमृत राधेति मे जीवनम्॥

४, देखो माई सुन्दरता की सीवां।
ब्रज नवतरुनि कदम्ब नागरी निरखि करत अध ग्रीवां॥
जो कोउ कोटि कलप लगि जीवै रसना कोटिक पावै।
तऊ रुचिर वदनारविन्द की शोभा कहत न आवै॥
देवलोक भूलोक रसातल सुनि कवि कुल मत डरिये।
सहज माधुरी अंग अंग की कहि कासे पटतरिये॥
(जैश्री) हितहरिवंश प्रताप रूपगुण वय बल श्याम उजागर।
जाकी भ्रूविलास वस मुधुरिव दिन विचकित रस सागर॥
—हित चौरासी पद सं० ५२।

इस तरह श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय में अन्य सम्प्रदायों से भिन्न श्रीराधा का स्थान सर्वोपरि है। श्रीराधा ही परतत्त्व तथा परमोपास्या है।

इस सम्प्रदाय में भी भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप परात्पर ब्रह्म का है। प्राय: सभी वैष्णव सम्प्रदायों में उनके तीन रूप दिखाई पड़ते हैं—वृंदावन विहारी श्रीकृष्ण मथुरावासी श्रीकृष्ण और द्वारिकावासी श्रीकृष्ण।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण

मथुरा और द्वारिका में उनका स्वरूप ऐश्वर्यमंडित है। परंतु, राधावल्लभ सम्प्रदाय में जिस स्वरूप की उपासना होनी है वह है उनका रस-स्वरूप जिसमें वे नित्य किशोरावस्था में वृंदावन में लीलाएँ करते रहते हैं। हितहरिवंशजी की उपासना कान्ताभाव की है। परमात्मा श्रीकृष्ण स्वकीया तथा परकीया के भेद से मुक्त अपनी शक्तियों के साथ दिव्यक्रीड़ारत रहते हैं। यद्यपि राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीराधा की उपासना की प्रमुखता है, तथापि श्रीकृष्ण भी परमोपास्य हैं। इस संबंध में श्रीललिताचरण गोस्वामी का कथन है——"श्रीहितहरिवंशजी सच्चे युगल उपासक हैं और युगल में समान रस की स्थिति मानते हैं, उनकी दृष्टि में श्रीराधा की प्रधानता का अर्थ श्रीकृष्ण की गौणता नहीं है। कारण यह है, युगल के मिले बिना, अकेले श्रीकृष्ण अथवा श्रीराधा से रस की निष्पत्ति संभव नहीं है"।[१] सेवकवाणी में भी दोनों को नित्य अभिन्न बताया गया है। श्रीराधा और श्रीकृष्ण कभी भी अकेले नहीं रह सकते।[२]

भगवान् श्रीकृष्ण का वृंदावनविहारी स्वरूप दो प्रकार का है—ब्रज रस और निकुंज रस। श्रीहितहरिवंशजी ने निकुंज रस का ही वर्णन श्रीराधासुधानिधि में किया है। वे कहते हैं—"जो केवल श्री वृंदावन में ही दृष्टिगोचर होता है अन्यत्र नहीं, जिसका वर्णन करने में श्रुति-शिरोभाग उपनिषद् भी समर्थ नहीं है, जो शिव और शुक आदि के भी ध्यान में नहीं आता, जो प्रेमामृत माधुरी से परिपूर्ण है और जो नित्य-किशोर है उस रूप को देखने के लिए मेरे नेत्र चंचल हो रहे हैं।"[३]

---

१. श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, पृष्ठ २१९

२. श्रीहरिवंश सुरीति सुनाऊँ। स्याम-स्याम एक संग गाऊँ।
छिन इक कबहुं न अंतर होई। प्रान सु एक देह है दोई॥
राधा संग बिना नहीं स्याम। स्याम बिना नहिं राधा नाम॥
सेवकवाणी, ४-७

३. यद् वृंदावनमात्रगोचरमहो यन्न श्रुतिनां शिरो

फिर भी श्रीकृष्ण की उपासना स्वतंत्र न होकर प्रियतम के रूप में श्रीराधा के अनुषंग से ही होती है ।

उपासना और नित्य विहार

नित्य विहार की मान्यता ब्रज के सभी प्रेमोपासक-सम्प्रदायों में देखने को मिलती है। उनमें युगलकिशोर के नित्य विहार में यत्र-तत्र अन्तर भी दिखाई पड़ता है । उनकी प्रेम-साधना का एक मात्र लक्ष्य होता है इसका दर्शन करना। यद्यपि वल्लभ सम्प्रदाय में माधुर्यभक्ति के आलोक में निकुंजलीला का विशद् वर्णन हुआ है, परंतु उसमें लीला के विधायक तत्त्वों की स्थिति उदात्त कोटिक नहीं हो सकी है। डॉ० दीनदयालु गुप्त के अनुसार राधावल्लभ सम्प्रदाय की नित्य-विहार की उपासना का ही प्रभाव वल्लभ सम्प्रदाय तथा उसके समकालीन हरिदासजी के सखी सम्प्रदाय पर पड़ा ।[1]

राधावल्लभ सम्प्रदाय के नित्य-विहार का मूल उत्स स्वामी हितहरिवंशजी के हितचौरासी और राधा-सुधानिधि नामक प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। राधा सुधानिधि में इस दिव्य क्रीड़ा को देखनेके लिए सखियों की तत्परता, तन्ययता तथा आनंद-मग्नता का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ हैं।

नित्य-विहार शब्द परम दिव्य अति उन्मानसिक लीला का द्योतक है। इस निकुंजलीला के दर्शन के अधिकारी भी दिव्यतनुप्राप्त भक्तजन ही हो सकते हैं। श्रीसेवकजी के अनुसार कोई विरले साधक को ही श्रीहितहरिवंश जी की कृपा से तदवलोकन का सौभाग्य प्राप्त होता है।[2] श्रीध्रुवदासजी ने भी नित्यविहार में मग्न श्रीराधाकृष्ण का बहुत ही रोचक वर्णन किया है।[3] इसके संबंध में डॉ०

प्यारोढुंक्षमते न यच्छवशुकदीनां तु यद्यानगम् ।
यत्प्रेमामृतमाधुरी-रस-मयं यन्नित्यकैशोरकं
तद्रूपं परिवेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम ॥
(श्रीराधासुधानिधि, श्लोक-७६)

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग २, पृष्ठ ६४३-६४४

२. निरखत नित्य विहार, पुलकित तन रोमावली।
आनन्दनैन सुढ़ार, यह जु कृपा हरिवंश की ॥
तृपित न मानत नैन, कुंज-रंध्र अवलोकि तिन।
यह सुख कहत न बैन, यह जु कृपा हरिवंश की ॥

३. नवल रंगीले लाल, रस में रसीले अति, छवि सों छवीले, दोऊ उर धुरि लागे हैं।
नैननि सो नैन कोर, मुख मुख रहे जोर, रुचि को न ओर-छोर, ऐसे अनुरागे हैं।

विजयेन्द्र स्नातक का अभिमत द्रष्टव्य है—"साम्प्रदायिक दृष्टि से नित्यविहार शब्द एक गूढ़ रसलीन तात्त्विक व्यंजना का द्योतन करानेवाला है। उसे अनिर्वचनीय रसदशा कहा जाता है। लौकिक दृष्टि से समझने के लिए यह कह सकते हैं कि एक शीतल, सघन, सुरम्य निभृतनिकुंज में प्रिया-प्रियतम (राधा-माधव) अविच्छिन्न भाव से सतत, शाश्वत रतिक्रीड़ा संलग्न रहते हैं। उनकी यह केलि-क्रीड़ा बिना किसी बाह्य या आन्तरिक अन्तराय के अनवरत चलती रहती है। अपनी इस केलि-क्रीड़ा से वे दर्शन-सहचरी रूप जीवात्मा को दर्शन मात्र से अमित आनंद प्रदान करते हैं। सहचरी इस केलि को निकुंज रन्ध्रों से देखकर ही अपनी कृतार्थता मानती है। इस निकुंजलीला में न तो निकुंजांतर-गमन संभव है, और न किसी प्रकार का स्थूल मान या स्थूल विरह ही। चैतन्य, निम्बार्क और वल्लभ सम्प्रदाय के वर्णनों में मान, विरह, कोप तथा निकुंजांतर-गमन का वर्णन होने से उसे एकांत, विशुद्ध नित्यविहार नहीं कहा जा सकता।[1]

यद्यपि नित्य विहार के वर्णन में कहीं आध्यात्मिकता को सूचित करने के लिए रूपक का सहारा नहीं लिया गया है, तथापि आध्यात्मिक प्रतीकार्थ से ही उसकी परमोज्ज्वलता स्पष्ट हो सकती है। क्योंकि परम विशुद्धमना साधकों को लौकिक शृंगार वर्णन कथमपि अभीष्ट नहीं हो सकता। उन्होंने तो प्रेमी उपासकों के लिए ही चिन्मय शक्ति के युगल किशोर स्वरूप की नित्य क्रीड़ा का वर्णन किया है। यह लीला सृष्टि की आद्यावस्था से अन्त तक नित्य निरन्तर चलती रहती है। श्रीराधामाधव की कृपा से ही किसी भक्त को उस मधुर लीला में सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त होता है।

नित्यविहार की उदारता का वर्णन करते हुए ध्रुवदासजी ने कहा है—

मधुर ते मधुर अनूप ते अनूप अति,
रसनि कौ सार सब सुखनि कौ सार री।

परे रूप सिंधु माँझ, जानत न भोर सांझ, अंग-अंग मैन रंग, मोद-मद पागे हैं।
हित ध्रुव विलसत तृपित न होत कहूँ, जद्यपि लड़ैति-लाल सब निशि जागे हैं॥
(स०मं०)

१. विच्छेदाभास मानादहह निमिषतो गात्रविस्रंसनादौ।
चंचत्कल्पाग्नि कोटि ज्वलित मित भवेद्बाह्यमभ्यन्तरैंच॥
गाढ़ स्नेहाबन्धग्रथितमिव तयोरद्भुत प्रेम मूर्त्याः।
श्रीराधामाधवाख्यं परमिह मधुरं तद् द्वयं धाम जाने॥
—राधा सुधानिधि, श्लोक १७३।

विलास को विलास निज प्रेम की है राजै दसा,
राजै एक छत दिन विमल विहार री।
छिन-छिन तृपित चकित रूप माधुरी में,
भूलै सेई रहैं कछु आवै न विचार री।
भ्रमहूं को विरह कहत जहाँ डर आवै,
ऐसे हैं रंगीले ध्रुव तन सुकुमार री ॥[१]

अन्यत्र इसके मधुर-स्वरूप की मनोवैज्ञानिकता का वर्णन उन्होंने इस तरह किया है---

न आदि न अंत विहार करैं दोउ,
लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
नई-नई भाँति नई-नई कान्ति,
नई नवला, नव नेह विहारी ॥
दियैं चित आहि, रहै सुख चाहि,
रहे तन प्राण सु सर्वसु हारी।

नित्य विहार में सहचरी

नित्य विहार में तत्सुखीभाव से उपासना करनेवाली सखी-सहचरियों का प्रमुख स्थान है। ये श्रीराधा-कृष्ण की चिन्मयी लीला की साधिका हैं। ऐसे तो विश्व के सम्पूर्ण सचराचर जीवों का स्वरूप सखी या सहचरी का ही है, परंतु माया में रचे-पचे रहने के कारण शुद्ध सहचरी भाव का विस्मरण हो जाता है। श्रीराधा की कृपा होने पर ही कोई सखी रूप को प्राप्त होकर दिव्य लीला-दर्शन का अधिकारी होता है। तब साधक लौकिक स्त्री-पुरुषादि के द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है। उस लीला विशेष में सम्मिलित होने के लिए उसे दिव्य तनु की प्राप्ति होती है।

श्री चैतन्य तथा निबार्क सम्प्रदाय की गोपियों से इन सखियों का पार्थक्य दिखाई पड़ता है। उनकी गोपियों में कान्ताभाव तथा स्वसुख की कामना भी दिखाई पड़ती है। परंतु श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में सखियों में स्वसुख-कामना लेशमात्र भी दिखाई नहीं पड़ती है।[२] उन्हें तो श्रीराधाकृष्ण के सुखी होने में ही सुख

---

१. हित श्रृंगार लीला, बयालीस लीला, पृष्ठ १२६

२. राधा केलि कलासुसाक्षिणि कदा वृंदावने पावने,
वत्स्यामि स्फुटमुज्वलाद्भुत रसे प्रेमैकमत्ताकृतिः।

का अनुभव होता है। अतः वे सदैव श्रीराधाकृष्ण के सुख की कामना करती है। इस संबंध में श्रीविजयेन्द्र स्नातक का मंतव्य द्रष्टव्य है 'नित्यविहार-परायण ये सखियाँ अन्य सम्प्रदायों में वर्णित गोपी-भाव से सर्वथा पृथक् और स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं। इनके मन में श्रीकृष्ण के प्रति रतिभाव नहीं होता ये श्रीकृष्ण से मिलन, आलिगन आदि की कोई आकांक्षा लेकर रास-विलास में सम्मिलित नहीं होतीं। अपनी आराध्या की किंकरी जान यदि श्रीकृष्ण इनके प्रति अपने स्नेह-भाव को व्यक्त भी करें तो भी ये उस प्रकार की वासना अपने मन में सहेजती नहीं। यह स्थिति और मन का यह उदार तत्सुखिभाव ही इनको सामान्य गोपीगण से पृथक् ला खड़ा करता है।[1]

श्रीराधाकृष्ण भी इन सखियों की सुखानुभूति के लिए ही नित्य क्रीड़ा में निरत रहते हैं। जीव रूपी सहचरी के लिए परमाह्लादकारिणी इस लीला का दर्शन ही परम पुरुषार्थ है। उस लीला-दर्शन में तन्मय होने में ही उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है।[2] उसमें निज सुख-कामना का अभाव होने से स्पर्धा, ईर्ष्या, आदि रंचमात्र भी दिखाई नहीं पड़ता। वे श्रीराधा की कृपा की याचना अहर्निश करती रहती हैं। श्रीराधा के गृह की निम्न कोटि की सेवा भी वे सोल्लास करना चाहती हैं।

श्रीराधा को रासलीला में सम्मिलित करने में इन गोपियों का प्रधान

तेजोरूप निकुंज एव कलयन् नेत्रादि पिण्डस्थितं,
तादृक्स्वोचित दिव्य कोमल वपुः स्वीयं समालोक ये।
राधासुधानिधि, श्लोक २६६, पृष्ठ १६१,
(बाबा हितदासजी द्वारा सम्पादित)

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य
पृष्ठ २१३

२. सुन्दर पुलिन सुभग सुखदायक।
नव-नव घन अनुराग परस्पर खेलति कुंवरि नागरी नायक।
सीतल हंस सुता रस बीचिनु परस पवन सीकर मृदु बरसत।
— —
हित हरिवंश रसिक ललितादिक लता भवन रंध्रनि अवलोकत।
अनुपम सुख भा भरित विवश अमु आनंद वारि कंठ दृग रोकत।
(हित चौरासी, पद सं० ७२)

हाथ रहता है।[1] जिन युक्तियों का सहारा लेकर उन्हें रासोत्सव में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित करती हैं वे अत्यन्त मनोहर हैं।[2]

यद्यपि सखियों की संख्या अनंत है फिर भी ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पक लता, सुदेवी, इन्दुलेखा, तुंगविद्या और रंग देवी अष्ट प्रमुख सखियाँ हैं।[3]

नित्यविहार या नित्य निकुंज लीला का स्थल होने से वृंदावन का माहात्म्य सर्वोपरि है। पद्म, श्रीमद्भागवत, स्कन्द, ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों में इसका वर्णन सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों रूपों से हुआ है। सूक्ष्म रूप में वृंदावन विश्वव्याप्त है। तथा स्थूल रूप में वह स्थान विशेष है, जहाँ नित्य लीला होती रहती है। पुनः इसके नित्य अर्थात् अव्यक्त तथा प्रकट (व्यक्त) दो भेद विविध कृष्णोपासक सम्प्रदायों में देखने को मिलते हैं। नित्य वृंदावन वैकुंठ से भी कोटि योजन ऊपर बताया गया है। यह प्रकट वृंदावन उसी का अवतरित रूप है। परंतु, श्रीराधावल्लभसम्प्रदाय में इस प्रकार के भेद दिखाई नहीं पड़ते हैं। उनमें इस स्थूल वृंदावन को ही नित्य वृंदावन स्वीकार किया

नित्य विहार और वृंदावन

१. (क) चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान
रास रच्यो स्याम तट कलिन्द नन्दिनी।
(हित चौरासी, पद सं० १२)

(ख) मोहिनी मदन गोपाल की बाँसुरी।
माधुरी श्रवन पुट सुनत सुन राधिके
करत रतिराज के ताप को नसुरी।
सरद राका रजनि विपिन वृन्दा सजनि
अनिल अति मंद सीतल सहित बाँसुरी।
(हित चौरासी, पद सं० २६)

२. चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर।
तो बिनु कुंवरि कोटि वनिता जुत मथन मदन की पीर।
गदगद सुर विरहाकुल पुलकित श्रवत विलोचन नीर।
क्वासि-क्वासि वृषभानुनन्दिनी विलयत विपिन अधीर।
वंशी विशिष व्याल मालावलि पंचानन पिक कीर।
मलयज गरल हुतासन मारुत साखामृग रिपु चीर।
हित हरिवंश परम कोमल चित चपल चली पिय तीर।
सुनि भयभीत ब्रज को पंजर सुरत सूर रणवीर॥
—हित चौरासी, पद सं० ७४

३. रसानन्द लीला (व्यालीस लीला-पृष्ठ ६०-६४ तक) श्रीध्रुवदासजी।

गया है। इसके अतिरिक्त वृंदावन की सत्ता वे नहीं मानते। राधासुधानिधि में इसी वृंदावन का वर्णन मिलता है 'वृंदानि सर्वमहतामपहाय दूराद्वृंदारवी-मनुसर प्रणयेन चेतः ।'

श्री राधिका के अभाव में भक्त को उस वैकुंठ की भी इच्छा नहीं।[१] ऐसे प्रकट वृंदावन के वास्तविक आनंदस्वरूप के भी दर्शन श्रीराधा की कृपा से ही होते हैं।[२]

इस सम्प्रदाय के अन्य कवियों ने भी इसका माहात्म्यवर्णन बहुत विस्तार से किया है। भक्तकवि श्रीव्यास जी ने भी लौकिक वृंदावन का वर्णन किया है तथा उसमें निवास करने की कामना की है।[३] ध्रुवदासजी का वृंदावन-वर्णन परम मनोहर है।[४] स्वामी करपात्री जी ने बहुत सरस ढंग से वृंदावन का स्वरूप

---

१. (क) किंवा वैकुण्ठ लक्ष्म्याप्यहह परमया यत्र मे नास्ति राधा।
किन्त्वाशाप्यस्तु वृंदावन भुवि मधुरा कोटि जन्मान्तरेऽपि ।।
--राधासुधानिधि, श्लोक २१६

(ख) किं ब्रूमोन्यत्र कुण्ठीकृतकजनपदे धाम्न्यपि श्रीवैकुण्ठे-
राधामाधुर्य वेत्तामधुपतिरयतन्माधुरीं वेत्ति राधा।
वृंदारण्यस्थलीयं परमरससुधामाधुरीणां धुरीणां,
तद् द्वन्द्वं स्वादनीयं सकलमपि ददौ राधिका किंकरीभ्यः ।।
(राधासुधानिधि, श्लोक २६१, श्रीहितहरिवंशजी)

२. प्रथम यथामति प्रणऊ श्रीवृन्दावन इतिरम्य।
श्रीराधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य ।।
(हितचौरासी, पद सं० ५७)

३. हम कब होंहिगे ब्रजवासी।
ठाकुर नन्द किशोर हमारे ठकुरानी राधा-सी।
सखी सहेली कब मिलिहैं वे हरिवंशी, हरिदासी।
बंशीवट की सीतल छैयां, सुभग नदी जमुना-सी।
जाकी वैभव करत लालसा, कर मीडत कमला-सी
इतनी आस व्यास की पुजवौ वृन्दाविपिन विलासी ।।
व्यासवाणी, पद सं० २५६।

४. वृन्दावन दुतिपत्र की उपमा को कछु नाहिं।
कोटि-कोटि वैकुंठ हू तेहि सम कहे न आहिं ।।
यह आशा धरि चित में कहत यथामति थोर।

स्पष्ट किया है।[१] इस तरह हम देखते हैं कि इस सम्प्रदाय में वृंदावन का स्वरूप लौकिक ही है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में इसका बहुत महत्त्व है।

वृन्दावन सुख रंग को काहु न पायो और ॥
लता लता सब कलपतरु, पारिजात सब फूल।
सहज एकरस रहत हैं झलकत जमुना कूल ॥
वृन्दावन वैभव जितो तितो कह्यो नहिं जात।
देखत सम्पति विपिन की कमलाहू ललचात ॥
वृन्दावन के पास की जिनकौ नाहिं हुलास।
माता मित्र सुतादितिय तजि ध्रुव नीको वास ॥
खण्ड-खण्ड ह्वै जाइ तन, अंग-अंग सत टूक।
वृन्दावन नहिं छांड़िये छंडिवो है बड़ी चूक ॥
वृन्दावन को नाम रटि वृन्दावन को देखि।
वृन्दावन सों प्रीति करि वृन्दावन उरलेखि ॥
तजि कैं वृन्दाविपिन कौं और तीर्थ जै जात।
छांड़ि विमल चिन्तामणि कौड़ी को ललचात ॥
वृन्दावन लीला (व्यालीस लीला) पृष्ठ १६-२२
(श्रीध्रुवदास)

१. 'प्रेम रति ही वृन्दावन रति हैं। नित्य नूतन प्रेम ही वृन्दावन है। इसी में श्रीराधा माधव रसिक रूप से विराजते हैं। उनकी उपासिका सखियाँ हैं। यहीं प्रीतिलता अंकुरित एवं पल्लवित होती है। उसमें दो पुष्प खिलते हैं प्रेम और सौंदर्य। वे अनुराग रंग से रंजित और परम सुन्दर होते हैं। लतासक्त रसिक ही सहज प्रेमविलास का आस्वादन करते हैं। वृन्दावन में भी गोष्ठ वृन्दावन और क्रीड़ावृन्दावन दोनों से विलक्षण है राधा-विहार-वृंदावन। स्वसुख-वासना से रहित शुद्धतम परम समृद्ध एवं पूर्ण रति का वह सहज रूप है। वहीं श्यामाश्याम की शृंगार क्रीड़ा प्रकाशित होती रहती है। जैसे रति और रस का स्वाभाविक संबंध है, वैसे ही राधा विहार वृंदावन के साथ श्यामा-श्याम का संबंध है। इसी अनादि अनन्त असीम दिव्य वाम कामसागर में नित्य शुद्ध परमानन्दमय परम कोमल परम सुन्दर गौर श्याम दिव्य दम्पति सर्वदा विहार करते रहते हैं। उनके विहार का आधार यह वन है। इसलिए सत्पुरुष उसका सदा ध्यान करते हैं। वास्तव में यह तत्त्व का ही सुखविलसित रूप है। दिव्य दम्पति की किशोरता सर्वाश्चर्य-मयी है। उनका जीवन सर्वांगपूर्ण संश्लेष सर्वदायुक्त है। प्रमदायुक्त पुरुष का ही नाम शृंगार है।

२. श्रीहिताद्वैत : एक विवेचन
चिन्तामणि पत्रिका, पृष्ठ १४४

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में हिततत्त्व

इस सम्प्रदाय में प्रेम परमेश्वर का ही स्वरूप है। परमात्मा प्रेम रूप से ही सर्वव्याप्त हैं। उपनिषद् के 'रसो वै सः' की पूर्ण सार्थकता इसी हिततत्त्व में सन्निहित है। हित या प्रेम उसी का पर्याय है। नित्य विहार के चारों तत्त्व इसी प्रेम की अभिव्यक्ति हैं।[१] सृष्टि के चराचर सम्पूर्ण प्राणी प्रेम की ही साकार प्रतिमा हैं। श्रीलाड़िलीदासजी ने भी सर्वैचित्र हित मित्र के जहं लौं धामी धाम कह कर इसी का समर्थन किया है।[२] इस सम्प्रदाय की भक्ति का आधार यही प्रेमतत्त्व है।

प्रेम परमप्रिय आत्मा से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि जगत् में सबसे प्रिय वस्तु आत्मा ही है। हित ही ज्ञान स्थानीय साधन तथा साध्य स्थानीय परमात्मा है। अतः हित में साध्य और साधन दोनों का अन्तर्भाव है। अद्वैत दर्शन में जीव और ब्रह्म की एकता का समर्थन जिस ज्ञान तत्त्व से होता है, वही एकात्म यहाँ प्रेम से सिद्ध हो जाता है। यही इस सम्प्रदाय का मूलाधार है।[३] इस प्रेम में ही युगल तत्त्व की लीला नित्य होती रहती है। सखी जनों के लिए इसी की उपासना अभीष्ट है।

---

१. रसिकों के भजन रस की सिद्धि के लिए नित्य लीलामय प्रेम ही श्रीनन्दनन्दन, वृषभानुनन्दिनी, सहचरीगण और श्रीवृंदावन के रूप में व्यक्त होता है। नन्दनन्दन भोक्ता हैं, प्रेयसी, श्रीवृषभानुनन्दिनी भोग्या हैं, सहचरी और वृंदावन प्रेरक प्रेम-स्वरुप हैं। वही प्रेमलीला रसात्मक होने के कारण लोक और वेद में रसरूप से प्रसिद्ध हैं। 'रसौ वै सः' इस श्रुति में प्रेम को ही रसरूप कहा गया है। वह रसरूप होने पर भी नित्य नूतन रसोपलब्धि से ही आनन्दी होता है, 'क्योंकि श्रुति का अगला भाग है—'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।'

श्रीहिताद्वैत : एक विवेचन, स्वामी श्रीहरिहरानन्दजी श्रीकरपात्रीजी महाराज

चिन्तामणि पत्रिका, पृष्ठ १४० (सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई ६)

२. श्रीलाड़िलीदासकृत सुधर्म बोधिनी, पृष्ठ १०, दोहा १७

३. प्रेम का स्वभाव ही है दो को एक बना देना। इसी से भोक्ता और भोग्य दोनों एक दूसरे के आत्मा हैं और परस्पर एक दूसरे में निमज्जन के लिए उन्मुख रहते हैं।

श्रीहिताद्वैत : एक विवेचन (पृष्ठ १३९) स्वामी करपात्री चिन्तामणि पत्रिका।

नवधा भक्ति का भी प्रयोजन इसी प्रेम की प्राप्ति में है।[1] इसको प्राप्त कर लेने के बाद साधक को स्वर्ग या मोक्ष सब फीके लगने लगते हैं। उसके लिए एक-मात्र प्राप्तव्य भी है तो प्रेम ही। राधासुधानिधि ग्रंथ में श्रीहितहरिवंशजी ने इसको सर्वश्रेष्ठ बताया है।

इस संबंध में आचार्य बलदेव उपाध्याय ने कहा है—"प्रेम अनिर्वचनीय तत्त्व है। वह एक होकर भी अनेक है। वह प्रिया है, वह प्रियतम है, वह सखी है, वह श्रीवन है और वह इनसे परे भी हैं। ये सब मिलकर उसका रसास्वादन करते हैं, उसे जानना चाहते हैं पर जान नहीं पाते। उसने सबके चित्त को हरण कर रखा है। उस प्रेम ने उन्हें किस प्रकार वशीभूत कर रखा है, वे स्वयं सर्वज्ञ होकर भी नहीं जान पाए हैं। उस दिव्यातिदिव्य प्रेम के परिचय में कोई क्या कहे?[3] तथा श्रीविजयेन्द्र स्नातक की स्थापना है कि प्रेम की प्रभुता और गरिमा स्थापित करने के बाद इसे विलक्षण रूप देने के लिए शाश्वत तत्त्व माना गया और संसार में प्रतीत होनेवाले संयोग-वियोग से सर्वथा रहित कहा गया। तात्त्विक दृष्टि से इस सम्प्रदाय में प्रेम नित्य मिलन के साथ अभिन्न संबंध रखनेवाला एक स्थायी भाव है जो किसी भी रूप में आनन्दरहित होकर क्षण भर भी नहीं ठहरता।[4]

चैतन्य सम्प्रदाय के विद्वान पंडित श्रीगोस्वामी तथा परवर्ती वैष्णवाचार्यों ने काम तथा शृंगार के उदात्तकोटिक स्वरूप को स्वीकार किया है। वही श्रीराधा-

प्रेम और काम

वल्लभ सम्प्रदाय में भी मान्य है। अतः इस सम्प्रदाय के भक्ति-ग्रंथों जैसे, हितचौरासी, राधासुधानिधि आदि में आया हुआ काम, शृंगार शब्द शुद्ध प्रेम का पर्याय ही है। अतः उसमें वासना की छाया भी नहीं है। क्योंकि स्थूल काम

---

१. साधन विविध प्रयास तें सकल विहावहीं।
श्रवन कथन सुमिरन सेवन चित लावहीं॥
अर्चन बन्दन अरु दासन्तन सख्य और आत्म-समर्पण।
ये नव लक्षण भक्ति बड़ाई, तब तिन प्रेमलक्षणा पाई॥
(सेवक वाणी, पृष्ठ १२५)

२. अलं विषयवार्तया नरक कोटि वीभत्सया,
वृथा श्रुतिकथाश्रमो व्रत बिभेमि कैवल्यतः
परेश भजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः,
परं तु मम राधिका पदरसे मनो मज्जतु।
(राधासुधानिधि, श्लोक सं० ८३)

३. भागवत सम्प्रदाय—राधावल्लभीय सम्प्रदाय, पृष्ठ ४६३

४. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृष्ठ १२८

में सामिष प्रेम प्रधान रहता है। परन्तु, राधा-कृष्ण का प्रेम परम विशुद्ध तथा अति उन्मानसिक है। 'सिद्धान्तविचार' में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—'एक ने कही प्रेम में अरु काम में कहा भेद है? सो सब समझाई देहु। ताते जैसी यथामति उपजी तैसी कही। और जहां ताही सुख हैं तिन पर काम रस अधिक है या पर और नाहीं। तहां व्यासजू ने कही उहाँ के सुख की निसानी पद में। काम रति सुख की निसानी। ये प्रेम के रस के आगे काम लज्जित होइ रहे नातैं सबनि काम-सुख नेम मैं राखे। या पर प्रेम को सुख निमित्त रहित सदा एक रस है।"[1] अर्थात् सम्पूर्ण सुखों में कामरस प्रधान है। और, कामरस स्थूल विषय-रस न होकर परम पावन प्रेमरस ही है। श्रीराधा-कृष्ण का प्रेम अप्राकृत किंवा दिव्य प्रेम है। गोस्वामी रूपलालजी ने काम और प्रेम की तुलना सुहागा और सोने से की है।[2] श्रीकृष्णदास कविराज ने भी श्रीकृष्ण-प्रीति को ही विशुद्ध प्रेम कहा है।[3] स्वामी श्रीहरिहरानन्दजी सरस्वती (श्रीकरपात्रीजी) ने प्रेम और काम का अन्तर यों स्पष्ट किया है—"प्रेमी के द्रुत चित्त पर अभिव्यक्त जो प्रेमास्पद विच्छिन्न चैतन्य है, वही प्रेम कहलाता है। स्नेहादि एक अग्नि है। जिस प्रकार अग्नि का ताप पहुँचने पर जतु (लाक्षा) पिघल जाती है, उसी प्रकार स्नेहादि रूप अग्नि से भी प्रेमी का अन्तः-

---

१. सिद्धान्तविचार, ब्यालीस लीला, पृ० ४६ : श्रीध्रुवदासजी।

२. पावक में उड़ि जात ज्यों कनक सुहागो संग।
काम प्रेम त्यों ही लखो, कंचन प्रेम अनंग॥
सांचो भावक अंग कहावै, चाह धातु भावना मिलावै।
संत संग में नित औटावै, दिव्य के लिए चितहि लगावै॥
तब कछु भजन उपासन आवै, पुलक रोम गद्गद दरसावै।
धातु अंग सांचो बिसरावै, सोई प्रेमी दीन कहावै॥
या सांचे में नित बसै, सांचो प्रेमी आइ।
रूपलाल हित जानिकै, छिन-छिन लखि वरि जाई॥
—श्रीगोस्वामी रूपलालजी की वाणी (राधावल्लभ-सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य के आधार पर)

३. आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तार काम नाम।
श्रीकृष्णेर प्रीति इच्छा तार प्रेम नाम॥
अतएव काम प्रेमे बहोत अन्तर।
काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर॥
अतएव गोपीगण न करें विचार।
कृष्ण सुख हेतु करै संगम-विहार॥
—श्रीचैतन्यचरितामृत।

करण द्रवीभूत हो जाता है। कृष्ण आदि आलम्बन सात्त्विक हैं। इसलिए जिस समय तदवच्छिन्न चैतन्य की द्रुत चित्त पर अभिव्यक्ति होती है, उस समय उसे प्रेम कहा जाता है और जब नायिकावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है, तब उसे काम कहते हैं। प्रेम सुख और पुण्य स्वरूप है, तथा काम दुःख और अपुण्य स्वरूप है।[१]

श्रीहितहरिवंशजी—श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय में नित्य विहार में विरह वांछनीय नहीं है। युगल दम्पती में कभी लवनिमेष के लिए भी विछोह नहीं होता।

नित्य विहार में विरह-मिलन

फिर भी, प्रेम वियोग में ही परिपुष्ट होता है। उसकी गहराई की सच्ची कसौटी विरह ही है। अतः, प्रेम को उद्दीप्त करने के लिए विरह की कल्पना-मात्र ही इस सिद्धान्त में गृहीत है।

कवि-परम्परा में विरह की कई कोटियाँ हैं। सारस, चक्रवाक, मीन, भ्रमर, चातक ये विश्व के प्रसिद्ध सच्चे विरही हैं। परन्तु, हितहरिवंशजी के दृष्टिकोण से दिव्य सम्पत्ति का प्रेम इन सबसे लोकातिशय है। इसमें चक्रवाक की विरह-सहिष्णुता तथा सारस की असहिष्णुता दोनों से परे प्रेम का दर्शन होता है। इसमें चक्रवाक ा तीव्र विरह-ताप भी है और सारस-सा अधैर्य भी तथा मिलन की नित्य एकान्तता ी।

श्रीहितह रिवंशजी ने इन दो कोटि के प्रेमियों की चर्चा अपनी स्फुट वाणी में की है। कवि-परम्परा के अनुसार चक्रवाकी अपने प्रियतम चक्रवाक से निशा-पर्यन्त वियुक्त रहती है। रात्रि की वियोगजन्य असह्य वेदना में तपकर उसकी प्रेमानुभूति और तीव्र हो जाती है। जैसे अतिबुभुक्षु को भोजन का स्वाद मधुरतम लगता है, वैसे ही चिरपरिचित होने पर भी विरहिणी चक्रवाकी को उसका प्रियतम नवीनतम, सौन्दर्यपूर्ण तथा सुखद प्रतीत होता है। परन्तु, विरह-व्यथा को सर्वदा सहने में असमर्थ सारस को उसका यह विरह-ताप प्रिय नहीं। वह कभी प्रिय के वियोग की कल्पना करके भी जीवित रहना पसन्द नहीं करता। अतः, वह चक्र-वाकी के असाधारण तप के प्रति साश्चर्य व्यंग्य करता है—"तू, घोर अन्धकारमयी रजनी में सरिता के दो कूलों की दूरी में स्थित होकर परम विविक्त देश में, घोर मेघ-गर्जन के होते हुए भी प्रिय से वियुक्त होकर जीवन धारण करती है। ऐसी वेदना को सहन करने में तुझे लज्जा क्यों नहीं आती? तेरे नेत्र अश्रु-विरहित होकर कैसे प्रभात की प्रतीक्षा करते हैं? किसकी स्मृति तथा किसका सन्देश तेरे प्राणों

१. भगवत्तत्त्व, पृ० २२९।

को धारण करने में सहायक होते हैं।[1] अर्थात्, विरह में भी जीवित रहना सारस के लिए अत्यन्त आश्चर्यमयी घटना है।

परन्तु, चक्रवाकी सारस के प्रेम को तप की कसौटी स्वीकार नहीं करती। वह प्रेम कैसा, जिसमें प्रेमी प्रिय के लिए तड़पता नहीं, विकल नहीं होता। मर जाना तो विरह के ताप से मुक्त होना है। पुनः प्रिय के वियोग में प्रतिक्षण व्याकुलता ही तो उसकी सच्ची कसौटी है। अतः, उसके व्यंग्यपूर्ण प्रश्नों का उत्तर वह यों देती है—"हे सारस ! प्राणप्रिय प्रियतम से ऐसी विषम परिस्थिति में विलग होकर जीवित रहना ही तो सच्चा प्रेम है। वियोग में मरने से तो प्रेम-परिचय का अवसर ही नहीं मिलता। अतः, प्रेम की सच्ची अनुभूति के लिए विरहानुभूति की आवश्यकता है। नित्य अपने प्रिय के पास रहने के कारण तुझे इसका अनुभव कैसे हो सकता है ?"[2]

श्रीस्वामी हरिहरानन्दजी सरस्वती (स्वामी करपात्रीजी महाराज) ने दिव्य दम्पति के प्रेम के सम्बन्ध में कहा है कि—"सारस दम्पति विरहासहिष्णुता और आत्मोत्सर्ग-वेदना को सहते रहते हैं, यह भी रसिकों के लिए स्पृहणीय है। विषम विष से युक्त, खौलते हुए तेल के कड़ाह में डाल देने पर सभी कोई क्षण में मर जाते हैं, परन्तु उससे भी तीक्ष्ण विरहाग्नि में पड़ जाने पर भी यदि किसी का जीवन लम्बे समय तक बचा रहे, तो उसका जीवन भी परम त्यागमय ही माना जायगा। जल-वियोगी मीन के लिए मृत्यु ही सुखकारी है। यदि उसका वह दुःखमय जीवन

---

१. चकई प्राण जु घट रहै पिय बिछुरन्त निकंज।
सर अन्तर, अरु काल निशि, तरफ तेज घन कंज ॥
तरफ तेज घन कंज लज्ज तुहि बदन न आवै।
जल बिहून करि नैन भोर किय भाय बितावै ॥
हित हरिवंश विचारि याद अस मीन जु चकई।
सारस यह सन्देश प्राण घट रहै जु चकई ॥

(सारस उक्ति चक्रवाकी प्रति, श्रीहितहरिवंशजी, स्फुटवाणी, पद-सं० ५)

२. सारस सर बिछुरन्त कौ जो पल सह्य शरीर।
अगिन अनंग जु तिय भखै तो जानै पर पीर ॥
तौ जानै पर पीर धीर धरि सकहिं वज्र तन।
मरत सारसहिं फूटि पुन न परचौ जु लहत मन ॥
हित हरिवंश विचारि प्रेम विरहा बिन वारस।
निकट कंत नित रहत, मरम कहा जानै सारस ॥

(चक्रवाकी उक्ति सारस प्रति, श्रीहितहरिवंशजी, स्फुटवाणी, पद-सं० ६)

भी बचा रहे, तो उसे लोकोत्तर तप ही कहेंगे। दीपशिखा के प्रति आकृष्ट पतंग क्षण-भर में ही जलकर भस्म हो जाते हैं। यदि वे भी दीपशिखा को देख-देखकर तृष्णा से व्याकुल हो रहे हों और मरणाधिक वेदना का अनुभव करते हुए भी जीवित रहें, तो यह भी उनका तप ही होगा। बिना विरह के उत्सुकता की पराकाष्ठा नहीं होती। औत्सुक्यातिशय के बिना प्रेम का पूर्ण परिपाक नहीं होता। सम्भोग, संयोग शृंगार के बिना चर्वणा-रसास्वादन नहीं होता। इस दिव्य दम्पति के प्रेम में यह अनिर्वचनीय आश्चर्य है कि सम्पूर्ण रूप से सर्वांगीण संश्लेष प्राप्त होते रहने पर भी अतिशय उत्कण्ठा और विह्वलता बनी रहती है और विशेष प्रकार की अतृप्ति और लोकोत्तर आर्त्ति भी। मिलन और दर्शन में भी मिलन और दर्शन के लिए अशान्ति बनी रहती है और परस्पर एक दूसरे के प्राणों में प्रवेश कर जाना चाहते हैं।'[1] अन्यत्र वे कहते हैं—'सारस-पत्नी लक्ष्मणा केवल सम्प्रयोगजन्य रस का ही अनुभव करती हैं और चकवी वियोगजन्य तीव्र ताप के अनन्तर सहृदयहृदयवेद्य सम्प्रयोगजन्य अनुपम रस का आस्वादन करती है, परन्तु वह भी विप्रयोग-काल में सम्प्रयोगजन्य रसास्वादन से वंचित रहती है। परन्तु, नित्य निकुंज में श्रीनिकुंजेश्वरी को अपने प्रियतम परम प्रेमास्पद श्रीव्रजराजकिशोर के साथ सारस-पत्नी लक्ष्मणा की अपेक्षा शतकोटिगुणित दिव्य सम्प्रयोगजन्य रस की अनुभूति होती है और साथ ही चकवी की अपेक्षा शतकोटिगुणित अधिक विप्रयोगजन्य तीव्र ताप के अनुभव के अनन्तर पुनः दिव्य रसानुभूति होती है। यही इसकी विशेषता है।[2]

श्रीरूपगोस्वामी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में कहा है कि "प्रेमोत्कर्ष के कारण प्रिय के अत्यन्त सन्निकट रहने पर भी जो वियोगानुभूति होती है, उसे प्रेमवैचित्त्य कहते हैं।"[3] इस विषय पर विचार करते हुए श्रीबलदेव उपाध्याय ने लिखा है—"प्रेम-विरह ही राधावल्लभीय पद्धति का सार है। मिलने

---

१. श्रीहिताद्वैत : एक विवेचन, चिन्तामणि (मासिक पत्रिका), सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई-६, पृ० २७६।

२. श्रीकरपात्रीजी : श्रीभगवत्तत्व, पृ० १६१।

३. प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षः स्वभावतः।
या विश्लेषधियार्त्तिस्तत्प्रेमवैचित्त्यमुच्यते ॥ १३४ ॥
आभीरेन्द्रसुते स्फुरत्यपि पुरस्तीव्रानुरागोत्थया।
विश्लेषज्वरसम्पदा विवशधीरत्यन्तमुद्घूर्णिता ॥
कान्तं मे सखि दर्शयेति दशनैरुद्घूर्णशस्याङ्कुरा।
राधा हन्त तथा व्यचेष्टत यतः कृष्णो ह्यभूद्विस्मितः ॥१३५॥

—उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५४८-४९।

में भी विरह जैसी उत्कण्ठा इसका प्राण है। युगलकिशोर श्रीराधावल्लभ लाल के नित्य मिलन में वियोग की कल्पना तक नहीं है। परन्तु, इस मिलन में प्रेम की क्षीणता नहीं, प्रत्युत प्रतिक्षण नूतनता का स्वाद है।[1] श्रीहितहरिवंशजी ने तो एक क्षण के लिए भी नेत्रों पर लट-बाधा के कारण प्रियदर्शन में विरह की तीव्रता का वर्णन किया है।[2]

इस तरह, हम देखते हैं कि इस नित्य मिलन में भी प्रेमातिशय के लिए विरह की भावात्मक स्वीकृति है।

राधावल्लभीय भक्ति की कठिनता तथा विधि-निषेध का स्वरूप

श्रीहितहरिवंशजी की इस प्रेमाभक्ति के साम्राज्य में सबकी पहुँच आसानी से नहीं हो सकती। जिनके मन में वासना का संस्कार शेष है, अर्थात् जो काम और विशुद्ध प्रेम में अन्तर नहीं समझ सके हैं, ऐसे व्यक्ति इस पावन पथ के पथिक नहीं बन सकते।[3] अतः, इस तरह की साधना तो वे ही कर सकते हैं, जो दिव्य तनु प्राप्त करके नित्य चिन्मय भाव-राज्य में विचरण करते हैं।

---

१. भागवत सम्प्रदाय, पृ० ४४०

२. कहा कहौं इत नैननि की बात।
ये अलि प्रिया बदन अम्बुज रस अटके अनतन जात।
जब जब सकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात॥
लम्पट लव निमेष अन्तर ते अलप कलप सत-सात।
श्रुति पर कंज, दृगजन कुच विच मृग मद ह्वै न समात॥
जै श्री हितहरिवंश नाभि सर जलचर जांचत सांवल जात।—हितचौरासी, पद ६०।

३. "उक्त सम्प्रदायों का समकालीन राधाकृष्णभक्तिपरक एक सम्प्रदाय राधावल्लभीय भी था, जिसके सस्थापक श्रीगोस्वामी हितहरिवंशजी थे, जो स्वयं एक सिद्ध भक्त और उच्च कोटि के सुप्रसिद्ध कवि थे। भक्तप्रवर व्यासदेव और ध्रुवदास इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भक्त हो गये हैं। राधावल्लभीय भक्तों ने भी ज्ञान और योग-मार्गों को अनुपयुक्त बताकर, प्रेम-भक्ति का प्रसार किया। इस सम्प्रदाय में राधा-कृष्णयुगल की प्रेम और आनन्दमयी लीलाओं के ध्यान और मनन को परमानन्द-प्राप्ति का साधन बताया गया है। गोस्वामी हितहरिवश ने भी माधुर्यभाव की प्रेम-भक्ति का प्रचार किया, परन्तु उन्होंने मधुरभाव को एक नवीन और विशेष ढंग से अपनाया। इस सम्प्रदाय में आनन्दस्वरूप कृष्ण का रसशक्ति राधा की विशेष मान्यता है। भक्तमाल में नाभादासजी ने इनके सिद्धान्त को स्पष्ट किया है और इस सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति को बड़ा कठिन बताया है। वे कहते हैं—श्रीराधा चरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी, कुंज केलि दम्पति तहाँ की करत खवासी॥

इस सम्प्रदाय में प्रेम-साधना के अतिरिक्त विधि-निषेध का कोई महत्व नहीं है। विधि-निषेध तो केवल वैधी भक्ति के अन्तर्गत आते हैं। प्रेमाभक्ति में इन्हें बाधक ही समझा जाता है। प्रेमाभक्ति में आसक्त भक्त विधि-निषेध की परवाह नहीं करता है। श्रीहितहरिवंशजी के अनुसार यहाँ प्रेम ही साधन तथा साध्य है। भक्तों के लिए उन्होंने श्रीराधिकोपासना को ही सर्वश्रेष्ठ नियम निश्चित किया। राधासुधानिधि में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है।[१]

विधि-निषेध की दृष्टि से, सेवकजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को संक्षेप में इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :

१. श्रीहरिवंशजी की उपासना-रीति यह है कि उसमें श्याम-श्यामा का नाम एक साथ लिया जाता है। इनमें श्याम (कृष्ण) आराधक और श्यामा (राधा) आराध्या हैं। ये दोनों निकुंज में नित्य विहार करते हैं और श्रीहरिवंश इनकी परस्पर प्रीति का गान करते हैं। सहचरी-रूप जीवात्मा को इनके सुख-भोग को देखकर आत्मसुख लाभ करना इष्ट या साध्य है।

२. श्रीहरिवंशजी इस रीति में वृन्दावन, सहचरीगण, श्यामसुन्दर और

व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भलि पहिचानि है।
हरिवंश गुसाई भजन की रीति सुकृत कोई आनि है ।। (भक्तमाल)

राधा-कृष्ण दम्पति की माधुर्यभाव (शृंगार) की आनन्दकेलि का मनन करते हुए मानसिक वृत्ति को लौकिक काम-भावना से बचाये रखना वास्तव में बड़ा कठिन योग है। प्रियादासजी ने तो यहाँतक कहा है कि 'हितू जू की प्रेम-पद्धति को लाखों व्यक्तियों में से कोई एक समझ सकता है।'

१. लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शङ्खचक्रादिकं
विचित्रहरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।
लसत्तुलसिमालिकां दधति कण्ठपीठेन वा
गुरोर्भजनविक्रमात्क दूहते हतबुद्धयः ।।
(राधासुधानिधि, श्लोक ८१)

कर्माणि श्रुतिबोधितानि नितरां कुर्वन्तु कुर्वन्तु मा
गूढाश्चर्यरसाः स्मयादि विषयान्गृहणन्तु मुञ्चन्तु वा।
कैर्वा भावरहस्यपारगमतिः श्रीराधिकाप्रेयसः
किंचिज्ज्ञैरनुयुज्यतां बहिरहो भ्राम्यद्भिरन्यैरपि ।।
(राधासुधानिधि, श्लोक ८२)

श्यामा (राधा) परस्पर तत्सुखमयी प्रीति में आबद्ध होकर लोक एवं वेद की मर्यादाओं से अतीत परम प्रेममयी क्रीड़ा में प्रवृत्त रहते हैं।

३. अनन्य प्रेमियों के भजन में अन्तर्यामी-स्वरूप (निर्गुण) की उपासना को अवकाश नहीं है; क्योंकि प्रकट रूप से ही प्रीति का आश्रय बन सकता है। प्रकट रूपों में सबसे शुद्ध रूप वह है; जो वृन्दावन में नित्य रासक्रीड़ा में निमग्न हैं।

४. श्रीहरि (कृष्ण) और हरिवंश में कोई भेद नहीं है। हरि की उपासना के लिए लीलाश्रवण, गुणकथन एवं नामस्मरण में दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। इस रीति के ग्रहण किये बिना भक्ति का उदय नहीं होता।

५. विधर्मियों के साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने से कोई लाभ नहीं। विविध शास्त्रों के फेर में रहने से स्वधर्म की हानि ही होती है। अतः, सच्चे धर्मी को अपने धर्म में दृढ़ आस्था रखकर हरिवंश-प्रतिपादित मार्ग पर चलना चाहिए।[1]

अतः, श्रीहितहरिवंशजी के सम्प्रदाय में एकमात्र प्रधानता दी गयी है अनन्य प्रेम को। फिर भी, सेवा-पद्धति की भी चर्चा की गयी है। परन्तु, यह भी प्रेम की भूमिका से पृथक् होकर नहीं होती।

तृतीय अध्याय में रासलीला के सम्बन्ध में मैंने विस्तारपूर्वक उसके प्रतिकार्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। राधावल्लभ-सम्प्रदाय में इस लीला का उद्देश्य एकमात्र प्रेम का विकास है। श्रीकृष्ण और गोपियों का आविर्भाव एक ही 'श्रीतत्त्व' से होता है। यद्यपि इस लीला में लौकिक शृंगारिकता दिखाई पड़ती है, तथापि उसका आलम्बन भगवान् के होने के कारण वह उदात्त हो जाती है। गोपियों में स्वकीयात्व तथा परकीयात्व का आरोपण मात्र लीला-माधुर्य के लिए है। स्वामी हितहरिवंशजी ने उन्हें स्वकीया ही माना है। उनके अनुसार श्रीकृष्ण रासलीला का आयोजन श्रीराधिका को प्रसन्न करने के लिए करते हैं। क्योंकि, वे नित्य श्रीराधा को प्रसन्न करने में लगे रहते हैं।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय में रासलीला-वर्णन

---

१. राधावल्लभ-सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० १६०, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के आधार पर।

रासलीला चूँकि काम-विजय का महामन्त्र है, अतः इसका अनुकरण भी मंगलकारी ही है। यह लीला प्राकृत वृन्दावन में नित्य ही होती रहती है।[1]

सभी वैष्णव-सम्प्रदायों के अनुसार ही इस सम्प्रदाय में भी नवधा भक्ति को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु, इसकी साधना की कठोरता इस सम्प्रदाय में नहीं है। साध्य तो एकमात्र मधुराभक्ति ही है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय में सेवा-पद्धति

इस सम्प्रदाय में गृहीत सेवा-पद्धति भी अत्यन्त सरस है। इसकी सेवा-पद्धति में अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा यत्किंचित् अन्तर दिखायी पड़ता है। वह यह कि इस सम्प्रदाय में सेवा के अवसर पर वैदिक, तान्त्रिक या पौराणिक मन्त्रों का प्रयोग नहीं होता, बल्कि परम प्रेम तथा सरल भाव से ही सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन होता है। विशुद्ध प्रेम की प्राप्ति केलिए तो केवल निश्छल भाव से परिचर्या ही एकमात्र सेवा-पद्धति का आदर्श है

इस सम्प्रदाय में सेवा के दो स्वरूप हैं— प्रकट सेवा तथा भावसेवा। प्रकट सेवा श्रीराधाकृष्णजी के विग्रह की होती है। उसमें भी श्रीराधावल्लभ का ही

प्रकट सेवा

विग्रह प्रकट होता है तथा राधाजी के विग्रह के स्थान पर उनकी 'गादी' की सेवा होती है। उनका श्रीराधा नाम वस्त्राभूषण से अलंकृत करके आसन पर रखा जाता है। इस सम्प्रदाय में उसी को 'गादी' कहते हैं। सेवा की यह पद्धति इस सम्प्रदाय की निजी विशेषता है।

प्रकट सेवा के भी दो भेद हैं—नित्य और नैमित्तिक। नित्य सेवा प्रातः-

---

१. आज बन नीको रास बनायो।
पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट मोहन बेनु बजायो॥
कलकंकन किंकिनी नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायो।
जुवतिनु मण्डल मध्य श्याम घन सारंग राग जमायो॥
ताल मृदंग उपंग मुरज ढफ मिलि रस सिंधु बढायो।
विविध विशद वृषभानु नन्दिनी अंग सुघंग दिखायो॥
बरषत कुसुम मुदित नभनायक इन्द्र निसान बजायो।
हितहरि वंश रसिक राधापति जस वितान जग छायो॥

(हितचौरासी, पद-संख्या ३६)

काल से शयन-काल तक विविध रूपों में की जाती है। जैसे : मंगला, श्रृंगार, राजभोग, उत्थापन, सन्ध्या, शयन तथा शैया-समय। इसे अष्टयाम सेवा भी कहते हैं। नैमित्तिक सेवा वर्ष के कुछ विशिष्टि अवसरों पर होती है। जैसे : फाग-डोल, चन्दन, वसन, झूलन, शारदोत्सव, दीपमलिका, कार्त्तिक-शुक्ला प्रतिपदा, श्रीराधावल्लभजी का पाटोत्सव (कार्त्तिक शु० १३), वन-विहार, खिचरी-उत्सव और वसन्तोत्सव।[1]

यह मानसी सेवा या मानसपूजा है। इसमें सम्पूर्ण सामग्री भावात्मक होती है। परन्तु, नित्य सेवा में जो पद्धति तथा वस्तु की अपेक्षा होती है, उनका चिन्तन एवं उस समय के गाये जानेवाले पदों से इस भावसेवा में अत्यधिक सहायता मिलती है।

श्रीहितहरिवंशजी-रचित साहित्य—राधासुधानिधि, यमुनाष्टक (संस्कृत-ग्रन्थ), हितचौरासी, स्फुटवाणी, (हिन्दी-ग्रन्थ) तथा विट्ठलनाथजी को लिखे दो गद्य-पत्र हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इनके और तीन ग्रन्थों की चर्चा की है। वे हैं—आशास्तव, चतुःश्लोकी तथा राधातन्त्र ग्रन्थ।

श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय की प्रधान गुरु-शिष्य-परम्परा —

श्रीनित्यबिहारी
|
श्रीनारायण (प्रथम पुरुष)
|
श्रीब्रह्मा
|
श्रीमरीचि
|
श्रीकश्यप
|
श्रीअचलेश्वर
|
श्रीअच्युतेश्वर
|
श्रीश्रीधर
|

१. श्रीलाड़िलीदास-कृत सुधर्मबोधिनी, पृ० ७२।

श्रीहलधर
श्रीऋषिपाणिधर
श्रीगंगाधर
श्रीविजयभट्ट
श्रीकुलाजित भट्ट
श्रीविद्याधर
श्रीलाजपत मिश्र
श्रीप्रभाकर मिश्र
श्रीउमाकर मिश्र
श्रीजीवद् मिश्र
श्रीहिमकर मिश्र
श्रीव्यास मिश्र
श्रीगोस्वामी रसिकाचार्य्य श्रीहितहरिवंश चन्द्र
श्रीगोस्वामी श्रीवनचन्द्र [वनमालीदासजी]
श्रीगोस्वामी श्रीसुन्दरवरजी
श्रीगोस्वामी, श्रीदामोदरवरजी
श्रीगोस्वामी
श्रीदामोदरवरजी

गोस्वामी श्रीरामदास
|
श्रीकमलनयनजी
|
गोस्वामी राधालालजी
|
श्रीमुकुन्दलालजी
|
श्रीघनश्यामलालजी
|
श्रीमाधवलालजी
|
श्रीमाखनलालजी
|
श्रीछोटेलालजी

श्रीविलासदासजी
|
श्रीरसिकलालजी
|
श्रीसुखलालजी
|
श्रीकान्तलालजी
|
श्रीराधालालजी
|
श्रीमोहनलालजी
|
श्रीलाड़लीलालजी
|
श्रीहरिलालजी
|
श्रीकिशोरीलालजी
|
श्रीरूपलालजी
|
श्रीसुकुमारीलालजी (वर्त्तमान गद्दी के अधिकारी)

(राधावल्लभ-सम्प्रदाय : आचार्य बलदेव उपाध्याय के आधार पर)

श्रीरामानन्द

श्रीरामानन्दजी की जन्मतिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। श्रीरामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में वे स्वामी राघवानन्द के शिष्य थे। इसके अनुसार उनका जन्म माघ कृष्ण-सप्तमी गुरुवार, सं० १३५६ है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने उनका जन्म, सं० १४६७ माना है। आचार्य शुक्ल ने उन्हें

१४७५ से १५७५ के बीच माना है।[1] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने इनका जन्म सं० १३५६ माना है। परन्तु आचार्य शुक्ल तथा आचार्य बलदेव उपाध्याय के सिद्धान्त से यह मेल नहीं खाता।[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रमाण की पुष्टि में कहा है—श्रीरामार्चन-पद्धति में रामानन्दजी ने अपनी पूरी गुरु-परम्परा दी है। उसके अनुसार रामानुजाचार्यजी रामानन्दजी से १४ पीढ़ी ऊपर थे। रामानुजाचार्यजी का परलोक-वास संवत् ११९४ में हुआ। अब १४ पीढ़ियों के लिए हम ३०० वर्ष रखें, तो रामानन्दजी का समय प्रायः वही आता है, जो ऊपर दिया गया है। रामानन्दजी का और कोई वृत्त ज्ञात नहीं।[3] आचार्य शुक्ल का तर्क सटीक दीखता है। अतः, उनका जन्म-सवत्, जैसा कि आचार्य बलदेव उपाध्याय ने निश्चित किया है, १४६७ ही उचित प्रतीत होता है।

इनके पिता का नाम पुण्यसदन था तथा माता का श्रीमती सुशीला। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

कुलपुरोहित श्रीवाराणसी अवस्थी के कथनानुसार उन्हें तीन वर्षों तक दुग्धपान कराया गया था।[4]

स्वामी रामानन्द बचपन से ही बड़े कुशाग्रबुद्धि थे। काशी में रहकर उन्होंने अद्वैत वेदान्त का भली भाँति अध्ययन किया था। बाद में उन्होंने स्वामी रामानुजाचार्य की विशिष्टाद्वैत-परम्परा में स्वामी राघवानन्द से वैष्णवी दीक्षा ली थी।

---

1. अतः राजा रामचन्द्र से अधिक-से-अधिक ३० वर्ष पहले यदि उन्होंने दीक्षा ली हो, तो संवत् १५७५ या १५८० तक रामानन्दजी का वर्त्तमान रहना ठहरता है, इस दिशा में स्थूल रूप से उनका समय विक्रम की १५वीं शती के चतुर्थ और १६वीं शती के तृतीय चरण के भीतर माना जा सकता है। (हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २१५)।
2. इनका जन्मकाल भी अगस्त्यसंहिता के आधार पर कलियुग के ४४०० वर्ष, अर्थात् विक्रम-संवत् १३५६ में होना समझा जाता है, जिसे अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी स्वीकार कर लिया है।
   (उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० २२५ : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी)।
3. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ११६।
4. कल्याण, भक्त-चरितांक, स्वामी रामानन्दाचार्यजी, पृ० ३४४।

जिस समय स्वामी रामानन्द का अविर्भाव हुआ था, उस समय हिन्दू-जनता पर कट्टर मुसलमान-शासकों का विविध अत्याचार हो रहा था। बादशाह बहलोल लोदी का पुत्र सिकन्दर लोदी उस समय गद्दी पर था। वह इस्लाम धर्म का बड़ा ही प्रभावशाली तथा क्रूर शासक था उसके समय में अनेक हिन्दू साधु-सन्तों को भीषण अत्याचारों का सामना करना पड़ा था।

जीवनचरित

किसी दिन शुभ पर्व के अवसर पर काशी में विभिन्न प्रान्तों के श्रद्धावान् पुरुष एकत्र हुए थे। उनलोगों ने स्वामीजी से मुसलमानों के अत्याचारों की शिकायत की। तैमूरलंग द्वारा नरहत्या और लखनवी का उपद्रव ये सब अत्याचार धर्म के नाम पर होते थे। उनलोगों ने उन्हें उचित शिक्षा देने की प्रार्थना की। स्वामी ने उन्हें आश्वासन दिया।

कहते हैं कि एक समय स्वामीजी के तपोबल से अजान के समय मुसलमानों के कण्ठ अवरुद्ध होने लगे। अतः, सभी मुसलमानों की बुद्धि चक्कर में पड़ गयी। इस पर इब्नन्नूर तथा मीर तकी ने उसे किसी महापुरुष की करामात निश्चय किया। कुछ मुसलमानों के साथ वे काशी आये और कबीरदासजी को साथ लेकर स्वामी रामानन्द के आश्रम में पहुँचे। उनकी प्रार्थना सुनकर स्वामीजी ने कहा कि भगवान् केवल मुसलमानों का ही नहीं है, सम्पूर्ण संसार का है। ईश्वर एक है, जो सब स्थानों पर सब हृदयों में वास करता है। अतः, जब उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाला एक परमात्मा है और उसी को सब अनेक नामों से स्मरण करते हैं, तब केवल पूजा के विधान में भेद होने से हिन्दुओं पर जो विविध अत्याचार हो रहे हैं, उन्हें नहीं होने देना चाहिए। कहते हैं, उन्होंने उस समय के प्रमुख हिन्दू-धर्म-सम्बन्धी बाहरी अत्याचारों को नहीं करने की प्रतिज्ञा करायी थी।

उन मुसलमानों ने काशी में अजान बन्द होने की तथा स्वामी रामानन्द के बारह शर्त्तों की बात गयासुद्दीन तुगलक को लिखी। बादशाह ने इसकी सचाई की जाँच कराकर उन अत्याचारों को बन्द करने की आज्ञा दी थी। इस तरह स्वामी रामानन्द ने हिन्दुओं को भारी संकट से मुक्त किया था।

स्वामी रामानन्द अतिशय उदारचेता तथा समय की आवश्यकता के सूक्ष्म पारखी थे। उन्होंने अयोध्या के अधिपति हरिसिंह के भतीजा श्रीभजसिंहदेव को, जो मुसलमानों के कुचक्र के कारण धर्मभ्रष्ट हो गये थे, सपरिवार शुद्ध कर दिया। इस प्रकार, उनके धर्म-सुधार द्वारा जो हिन्दू-जनता का संरक्षण हुआ, उससे आज भी हिन्दू-धर्म उनका ऋणी है।

उन के समकालीन फकीर मौलाना रशीदुद्दीन ने अपने ग्रन्थ 'तजकीर तुल फुकरा' में स्वामी रामानन्द की भी चर्चा की है। उनका हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है—

"इसी पुरी (काशी) में पंचगंगा घाट पर एक प्रसिद्ध महात्मा रहते हैं। तेजः-पुंज और पूर्ण योगेश्वर हैं। वैष्णवों के सर्वमान्य आचार्य हैं। सदाचार और ब्रह्मनिष्ठत्व के स्वरूप ही हैं। परमात्मतत्त्व-रहस्य के पूर्ण ज्ञाता हैं। सच्चे भगवत्प्रेमियों एवं ब्रह्मवादियों के समाज में उत्कृष्ट प्रभाव रखते हैं। अपितु, धर्माधिकार में वे हिन्दुओं के धर्म-कर्म के सम्राट् हैं। केवल ब्रह्मवेला में अपनी पुनीत गुफा से गंगास्नान के लिए बाहर निकलते हैं। उन पवित्र आत्मा को स्वामी रामानन्द कहते हैं। उनके शिष्यों की संख्या पाँच सौ से अधिक है। उस शिष्य-समूह में द्वादश गुरु विशेष कृपापात्र हैं, कबीर, पीपा, रैदास आदि। भागवतों के समुदाय का नाम 'विरागी' है। जो लोक-परलोक की इच्छाओं का त्याग करता है, उसे ब्राह्मणों की भाषा में 'विरागी' कहते हैं। कहते हैं कि इस सम्प्रदाय की प्रवर्त्तिका (ऋषि) जगज्जननी (श्री) सीताजी हैं। उन्होंने प्रथमतः अपने सविशेष सेवक पार्षद-रूप (श्री) हनुमानजी को उपदेश किया और उन ऋषि (आचार्य) के के द्वारा संसार में उस रहस्य (मन्त्र) का प्रकाश हुआ। इस कारण इस सम्प्रदाय का नाम श्रीसम्प्रदाय है। और उसके मुख्य मन्त्र को 'राम तारक' कहते हैं और यह कि उस पवित्र मन्त्र को गुरु शिष्य के कान में दीक्षा देते हैं और ऊर्ध्वपुण्ड तिलक लाम एवं भीम के आकार का ललाट तथा अन्य ग्यारह स्थलों पर लगाते हैं। तुलसी का 'हीरा' जनेऊ में गूँथ कर शिष्य के गले में पहनाते हैं। उनकी जिह्वा जप में और मन सच्चे प्रियतम के दर्शनानुसन्धान में रहा करता है। पूर्णतया भजन में ही इस सम्प्रदाय की प्रीति है। अधिकांश सन्त आत्मारामी अथवा परमहंसी जीवन निर्वाह करते हैं।"[1]

स्वामी रामानन्दजी की उपासना

चूँकि स्वामी रामानन्दजी श्रीरामानुजाचार्य की विशिष्टाद्वैत-परम्परा में आते हैं, इसलिए उनका भी दार्शनिक सिद्धान्त वही है। अतः परमात्मा के चिदचिद्विशिष्ट स्वरूप को उन्होंने भी स्वीकार किया है। परन्तु, उन्होंने श्रीसम्प्रदाय से भिन्न उपास्य का स्वरूप स्वीकार किया है। श्रीसम्प्रदाय में लक्ष्मी और विष्णु की उपासना होती है। उन्होंने विष्णु के अवतार राम तथा

---

१. 'कल्याण' के सन्तांक से उद्धृत।

लक्ष्मी का अवतार श्रीसीता को उपास्य माना।[1] स्वामी रामानन्द से कई सौ वर्ष पूर्व राम की उपासना लोकजीवन में प्रचार-प्रसार पा गयी थी।[2] अतः, हिन्दू-जनता के लिए यह कोई नवीन बात नहीं थी। आचार्य शठकोप तथा कुलशेखर आलवार के उपास्य राम ही थे। कहते हैं, कुलशेखर आलवार ने रामकथा की तन्मयता में खर-दूषण के मुकाबले में अपनी सेना को कूच करने की आज्ञा दे दी थी। श्री शठकोपाचार्य तो स्वामी रामानन्द से पाँच पीढ़ी पहले हुए थे। उन्होंने अपनी 'सहस्र-गीता' में कहा है—'दशरथस्य सुतं तं विना अन्यशरणवान्नास्मि'। स्वामी रामानुज के शिष्य कुरेशस्वामी के ग्रन्थ 'पंचस्तदी' में राम की भक्ति का विशद वर्णन मिलता है। पुनः रामकथा-प्रधान अध्यात्मरामायण का भी रामभक्ति के प्रचार-प्रसार में प्रमुख स्थान रहा है। परन्तु, रामानन्दजी की विशेषता है कि उनकी उपासना-पद्धति में सबके प्रति उदारता थी।

---

१. आगे चलकर रामानन्द (रामानुज से १४ पीढ़ी बाद) ने चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रामानुज की अनेक बातें ग्रहण करते हुए भी विष्णु के स्थान पर उनके अवतार राम का लोकरंजनकारी रूप प्रचलित किया। उन्होंने एक सबल सम्प्रदाय की स्थापना की और उदारतापूर्वक मनुष्य-मात्र को सगुण भक्ति का अधिकारी बताया।

—हिन्दी-साहित्य का इतिहास : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० १४६।

२. इस सम्बन्ध में श्रीरामनरेश शर्मा की उक्ति द्रष्टव्य है—

"विद्वानों की प्रारम्भ से यह धारणा रही है कि उत्तर भारत में रामावत-सम्प्रदाय का उद्भव और विकास बहुत बाद में हुआ। सर रामकृष्ण भण्डारकर तथा फर्कुहार इस सम्प्रदाय के आविर्भाव का समय राष्ट्रीय सन् की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व तथा प्रतिष्ठा का समय रामानन्दी काल या चौदहवीं शताब्दी मानते हैं। डॉ० बड़थ्वाल इसकी प्रतिष्ठा का श्रेय राघवानन्द को देते हैं। इसी प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि अनेक विद्वान् रामानन्द से ही उत्तरापथ में राम की निर्गुण एवं सगुण दोनों परम्पराओं का प्रादुर्भाव मानते हैं।

किन्तु, ये मत निर्भ्रान्त नहीं प्रतीत होते। पहले इस बात की चर्चा आ चुकी है कि रामानन्द के कई सौ वर्ष पूर्व राम के देवालय उत्तरापथ में विद्यमान थे और इष्ट के रूप में पूजित होते थे। अतः, राम की सगुण परम्परा राघवानन्द के भी पहले उत्तर भारत में वर्त्तमान थी। यदि विष्णुसहस्रनाम शंकरभाष्य को आद्य शंकराचार्य द्वारा रचित माना जाय, तो ईसा की आठवीं शताब्दी में राम के दो रूप स्वीकृत मालूम पड़ते हैं। परब्रह्म-रूप तथा दाशरथि-रूप। इन दोनों की अभिन्नता भी उन्हें स्वीकृत है। राम की परब्रह्म-रूपता के समर्थन में उन्होंने पद्मपुराण का प्रमाण भी उपस्थित किया है।

—हिन्दी-सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ० ११३।

स्वामी रामानन्द ने श्रीसम्प्रदाय से भिन्न अपना मूलमन्त्र, द्वयमन्त्र तथा चरम-मन्त्र भी निश्चित किया।

मूलमन्त्र है—श्री रां रामाय नमः। यह षडक्षर मन्त्र कहा जाता है।

द्वयमन्त्र—श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः। ये पंचविंशत्यक्षर मन्त्र हैं। तथा चरम मन्त्र है---

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

इन उपर्युक्त रहस्यत्रय का पूर्ण विवरण निम्नांकित श्लोक में हैं—

जाप्यस्तत् तारकाख्यो मनुवरमखिलैर्वह्निबीजं यदादौ।
रामो यत्प्रत्ययान्तो रसमितशुभदस्त्वक्षरः स्यान्नमोऽतः॥
मन्त्रो रामद्वयाख्यः सकृदिति चरमप्रान्वितौ गुह्यगुह्यौ।
भूताण्युतसंख्यवर्णः सुकृतिभिरनिशं मोक्षकामैर्निषेव्यः॥

(वै० म० भा०, श्लोक १०२)

इसके अतिरिक्त, उन्होंने रामोपासना में तन्त्र, मन्त्र, कील-कवचादि तान्त्रिक उपासना के अंगों की भी व्यवस्था की थी; क्योंकि शैव तथा शाक्त सम्प्रदायों के प्रभाव से उनके प्रति जनता बहुत आकृष्ट थी। रामरक्षा की रचना का उद्देश्य यही है। लोक-कल्याण तथा रामोपासना को युग-धर्म के अनुकूल बनाने के उद्देश्य से ही ऐसा किया गया था।

स्वामी रामानन्द के अनुसार मुक्ति-साधना

उन्होंने रामभक्ति को ही मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन बताया। अहर्निश अविच्छिन्न तैलधारावत् श्रीराम का स्मरण तथा उनके प्रति परम अनुराग ही भक्ति है। उन्होंने इस भक्ति के विकास के लिए सात साधनों[1] को मननीय बताया। वे इस प्रकार हैं— विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धेग। संक्षेप में उनका भक्तिसिद्धांत इस श्लोक में दिखायी पड़ता है।—

---

१. विवेक : दूषित एवं वर्जित आहार से सात्त्विक आहार का विश्लेषण करना।
विमोक : कामना से उपरति, विषय-विकारों से चित्त को पृथक् करना।
अभ्यास : जगत् स्रष्टा राम का अनवरत तैलधारावत् चिन्तन।
क्रिया : पंचमहायज्ञों को विधिवत् करना।

सा चैलधारा-समनित्य-संस्मृति—
सन्तानरूपेशि परानुरक्तिः ।
भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या
तथा यमाद्यष्ट-सुबोधकांगा ।।
(वै० म० भा०, श्लोक ६५)

स्वामी रामानन्दजी ने सीताजी तथा लक्ष्मणजी से युक्त श्रीराम का ध्यान करने का आदेश दिया ।[१] राम परब्रह्म परमात्मा हैं । सीताजी लक्ष्मी के तथा लक्ष्मणजी जीव-तत्त्व के द्योतक हैं । उन्होंने भी गुरु का स्थान सर्वोपरि सिद्ध किया है । गुरु की कृपा से ही भक्त राम की भक्ति प्राप्त कर सकता है ।

नित्य साकेत में वास के लिए उन्होंने विरजा नदी में स्नान करना आवश्यक बताया है, जिसे लगभग सभी वैष्णव आचार्यों ने स्वीकार किया है । साकेत से जीव का पुनरावर्त्तन नहीं होता है ।[२]

भगवान् श्रीराम की अनन्य भक्ति करने के साथ ही अन्य देवताओं के प्रति भी श्रद्धा रखने का आदेश उनके ग्रन्थ 'श्रीरामानन्ददिग्विजय' में दिखायी पड़ता है ।[३]

कल्याण : सत्य, सरलता, दया, दान, करुणा आदि का सम्पादन ।

अनवसाद : किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव किये विना प्रसन्नचित्त होकर भगवद्भक्ति के पथ पर चलना ।

अनुद्धर्ष : हर्षादि के भौतिक कारणों से दूर रहना ।

१. प्रसन्नलावण्यसुभृन्मुखाम्बुजं नरं शरण्यं शरणं नरोत्तमम् ।
सहानुजं दाशरथिं महोत्सवं स्मरामि रामं सह सीतया सदा ।।
(वैष्णवमताब्जभास्कर, श्लोक ५८)

२. सीमान्तसिन्ध्वाप्लुत एव धन्यो
गत्वा परब्रह्म सुवीक्षितोनिशम् ।
प्राप्तं महानन्दमहाब्धिमग्नो
नावर्त्तते जातु ततः पुनः सः ।।
(वैष्णवमताब्जभास्कर, श्लोक १८७) ।

३. ध्येयः स एव भगवाननिशं हृदब्जे
भक्तैः स्वभूः शिवगुणैर्व्यभिचारिभक्त्या ।
किं त्वन्यदेवविषये मनसापि चिन्त्यो
द्वेषः कदाचिदपि नैव तदीयभक्तैः ।।
(श्रीरामानन्ददिग्विजय, १२।५)

उन्होंने वैष्णवों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म अहिंसा के पालन पर विशेष जोर दिया।[१] राम-नाम का जप करने के साथ ही उन्होंने संयत जीवन बिताने तथा निष्काम भाव से वैदिक कर्मों के आचरण करने का भी महत्त्व सिद्ध किया।[२]

कुछ विद्वानों ने उपास्य तथा मन्त्रों में भिन्नता के कारण श्रीरामानन्दाचार्य को श्रीसम्प्रदाय से अलग कहने का प्रयास किया है। लेकिन, उनकी मान्यता भ्रमपूर्ण है। क्योंकि, श्रीरामानन्दाचार्य ने विशिष्टाद्वैत के आधार पर ही अपने उपास्य का स्वरूप स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में राम और विष्णु में अन्तर नहीं है। राम विष्णु के ही लीलावपुधारी स्वरूप हैं। इसी प्रकार, श्रीरामानन्दाचार्य को निर्गुण परम्परा का प्रचारक कहना भी उचित नहीं प्रतीत होता।[३] अवश्य उनके शिष्यों में कुछ राम के निर्गुण स्वरूप के उपासक थे। स्वामी रामानन्द निश्चित रूप से स्वामी रामानुज के गुरु-शिष्य-परम्परा में थे। अतः, विशिष्टाद्वैत-मतावलम्बी तो निश्चित रूप से सगुणोपासक ही होता है।[४] आचार्य शुक्ल ने उन्हें सगुणोपासक ही

---

१. दानं तपस्तीर्थनिषेवणं जपो
न चास्त्यहिंसासदृशं सुपुण्यम्।
हिंसामतस्तां परिवर्जयेज्जनः
सुधर्मनिष्ठो दृढधर्मवृद्धये॥
(वैष्णवमताब्जभास्कर, १११)

२. जितेन्द्रियश्चात्मरतो बुधो सकृत्
सुनिश्चितं नाम हरेरनुत्तमम्।
अपारसंसारनिवारणक्षमं
समुच्चरेद्वैदिकमाचरन् सदा॥
(वैष्णवमताब्जभास्कर, १०६)

३. इस प्रकार, 'रहस्यत्रय' के टीकाकार ने 'जितेन्द्रियाः' और 'नन्दनाः' कहकर रामानन्द के जिन सार्द्धद्वादश शिष्यों का उल्लेख किया है, वे तथा इन शिष्यों के शिष्य प्रशिष्यों ने रामानन्दी सम्प्रदाय को जो रूप दिया है उसमें स्पष्टतः निर्गुण राम की उपासना स्वीकृत है। मधुर भाव से उपासना करनेवाले राम के सगुण रूप के प्रति आस्थाशील होकर भी शैवतान्त्रिकों से प्रभावित हैं। स्पष्ट है कि रामानन्द उनके गुरु और उनके सम्प्रदाय का शैव आस्था-विश्वास से गहरा सम्बन्ध था। उनके शिष्यों का प्रबल वर्ग निर्गुण राम के प्रति आस्थाशील था। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रामानन्द मूलतः निर्गुण भक्ति के समर्थक थे, जिसमें योग को पर्याप्त महत्त्व प्राप्त था। परन्तु, इस कथन में स्पष्ट ही कोई तारतम्य नहीं दिखायी पड़ता है। (सन्तों की भक्ति : ऐतिहासिक सन्दर्भ, पृ० ७६ : डॉ० राजदेव सिंह)।

४. "रामानन्द ने राम की उपासना पर अधिक जोर दिया, तो वल्लभाचार्य ने कृष्ण की

सिद्ध किया है—"दूसरी बात जो उनके सम्बन्ध में कुछ लोग इधर-उधर कहते सुने जाते हैं, वह यह है कि उन्होंने बारह वर्ष तक गिरनार या आबू पर्वत पर योगसाधना करके सिद्धि प्राप्त की थी। रामानन्दजी के जो दो ग्रन्थ प्राप्त हैं तथा उनके सम्प्रदाय में जिस ढंग की उपासना चली आ रही है, उससे स्पष्ट है कि वे खुले हुए विश्व के बीच भगवान् की कला की भावना करनेवाले विशुद्ध वैष्णव भक्तिमार्ग के अनुयायी थे, घट के भीतर ढूँढ़नेवाले योगमार्गी नहीं।[1]

....

"जब कोई शाखा चल पड़ती है, तब आगे चलकर अपनी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए वह बहुत-सी कथाओं का प्रचार करती है। स्वामी रामानन्दजी के बारह वर्ष तक योगसाधना करने की कथा इसी प्रकार की है, जो वैरागियों की तपसी शाखा में चली।[2]"

श्रीरामानुजाचार्य के सम्प्रदाय में दीक्षा केवल द्विजातियों को ही दी जाती थी। परन्तु, स्वामी रामानन्दजी ने युगधर्म को दृष्टि में रखते हुए अपनी उपासना में बिना किसी भेद-भाव के सबको स्थान दिया।[3] उनके शिष्यों में मुसलमान, नाई, चमार आदि भी थे। उन्होंने एक उत्साही विरक्त दल का संगठन किया, जो आज भी वैरागी के नाम से प्रसिद्ध है। आज भी इन वैरागियों के मुख्य स्थान हैं अयोध्या, चित्रकूट आदि। भक्तिमार्ग में इनकी इस उदारता का अभिप्राय यह कदापि नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझा और कहा करते हैं कि श्रीरामानन्दजी वर्णाश्रम के विरोधी थे। समाज के लिए वर्ण और आश्रम की व्यवस्था करते हुए वे भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यों की योजना स्वीकार करते थे। केवल उपासना के क्षेत्र में उन्होंने सबका

उपासना पर। दोनों ने अवतारवाद को जनता के सामने रखा। रामानन्द ने रामानुज के विचारों को व्यापक और लोकप्रिय रूप दिया।"

(हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १२४ : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय)

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ११८।

२. वही, पृ० ११९।

३. सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणं सदा
शक्ता अशक्ता अपि नित्यरङ्गिणः।
अपेक्ष्यते तत्र कुलं बलं च नो
न चापि कालो न हि शुद्धता च॥

(वै० म० भा०, ९९)

अर्थात्, भगवान् के चरणों में अटूट अनुराग रखनेवाले सभी लोग, चाहे वे समर्थ हों

समान अधिकार स्वीकार किया। भगवद्भक्ति में वे किसी भेद-भाव को आश्रय नहीं देते थे। कर्म के क्षेत्र में शास्त्रमर्यादा इन्हें मान्य थी, पर उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबन्ध ये नहीं मानते थे। सब जाति के लोगों को एकत्र कर रामभक्ति का उपदेश ये करने लगे और राम-नाम की महिमा सुनाने लगे।[१]

स्वामी रामानन्द ने जिस सम्प्रदाय को स्थापित किया, वह रामावत या रामानन्दी सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है। भक्तमाल के अनुसार उनके बारह प्रमुख शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—

कबीर, सेन, पीपा, रैदास, धन्ना, अनन्तानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, सुखानन्द, भवानन्द, पद्मावती और सुरसुरी स्त्री शिष्या थीं।[२] इन शिष्यों के नामों में यत्र-तत्र अन्तर भी दिखायी पड़ता है। श्रीरूपकलाजी ने सुरसुरी के स्थान पर गालवानन्द को रखा है तथा योगानन्द को भी इन्हीं के अन्तर्गत रखकर साढ़े बारह शिष्यों की चर्चा की है।[३] स्त्री होने के कारण पद्मावती को आधे शिष्य में गणना की गयी है। इनमें से सेन, नाई, कबीर साहब, पीपाजी, रमादास (रविदास) तथा धन्ना के साथ पद्मावती को भी सम्मिलित करके इन छहों को जितेन्द्रिय कहा गया है। शेष सात में अनन्तानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, योगानन्द, सुखानन्द, भवानन्द तथा गालवानन्द को गिना कर 'नन्दना': बतलाया गया है। अन्य शिष्यों में श्रीअनन्तानन्दजी के शिष्य कृष्णदास पयहारी अधिक प्रख्यात हुए, जिन्होंने जयपुर-राज्य के अन्तर्गत गलता में रामानन्दी वैष्णवों की एक गद्दी स्थापित की, जो आजतक चली आती है। आचार्य शुक्ल ने

श्रीरामानन्दाचार्यजी के शिष्य

या असमर्थ, भगवच्छरणागति के नित्य अधिकारी हैं। भगवच्छरणागति के लिए न तो श्रेष्ठ कुल की आवश्यता है, न किसी प्रकार के बल की। वहाँ न उत्तम काल की आवश्यकता है और न किसी प्रकार की शुद्धि ही अपेक्षित है। सब समय और शुचि-अशुचि सभी अवस्थाओं में जीव उनकी शरण ग्रहण कर सकता है।

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११६।

२. भक्तमाल : श्रीनाभादासजी।

३. राघवानन्द एतस्य रामानन्दस्ततोऽभवत्। सार्द्धद्वादश शिष्याः स्युः रामानन्दस्य सद्गुरोः। द्वादशादित्यसङ्काशाः संसारतिमिरापहाः। श्रीमदनन्तानन्दस्तु सुरसुरानन्दनस्तथा। नरहरियानन्दस्तु योगानन्दस्तथैव च। सुखाभवागालवं च सप्तैते नामवन्दनाः॥ कबीरश्च रमादासः सेनापीपाधनास्तथा। पद्मावती तदर्द्धश्च षडेते च जितेन्द्रियाः॥

(भक्ति-सुधाबिन्दुस्वाद : रूपकलाजी, पृ० २६४ पर उद्धृत, श्लोक १६-१८)

इसे पहली और प्रधान गद्दी कहा है। उनके अनुसार रामानुज-सम्प्रदाय के लिए दक्षिण में जो महत्त्व तोताद्रि का था, वही महत्त्व रामानन्दी सम्प्रदाय के लिए उत्तर भारत में गलता को प्राप्त हुआ; वह उत्तर तोताद्रि कहलाया।[1] इससे भी स्वामी रामानन्द का विशिष्टाद्वैत-परम्परा में होना सिद्ध होता है।

श्रीरामानन्दाचार्य की रचनाएँ

स्वामी रामानन्दजी के केवल दो संस्कृत-ग्रन्थ ही, जो स्वयं उनके द्वारा लिखे गये हैं, प्रामाणिक माने जाते हैं। वैष्णवमताब्ज-भास्कर में उन्होंने अपने शिष्य श्रीसुरसुरानन्द के नौ प्रश्नों के उत्तर में रामतारक मन्त्र की विस्तृत व्याख्या, तत्त्वोपदेश, अहिंसा की महत्त्व-प्रपत्ति, वैष्णवों की दिनचर्या, षोडशोपचार पूजन इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला है। दूसरा संस्कृत-ग्रन्थ है श्रीरामार्चनपद्धति। उनके नाम से चलाये हुए बहुत-से ग्रन्थों की चर्चा भी मिलती है। जैसे योगचिन्तामणि तथा रामरक्षास्तोत्र आदि। परन्तु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें प्रामाणिक नहीं माना है।[2] उन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर आनन्दभाष्य तथा गीताभाष्य को भी उनकी रचनाएँ स्वीकार नहीं की हैं।[3] स्वामी रामानन्दजी के बनाये हिन्दी के केवल दो-तीन स्तुतिपरक पद प्राप्त हो सके हैं। श्रीहनुमानजी की प्रसिद्ध आरती उन्हीं की बनायी हुई है—

आरती कीजै हनुमान लला की।
दुष्ट दलन रघुनाथ कला की।।
जाके बल-भर ते महि कापे।
रोग सोग जाकी सिमा न चापे।।
अंजनी सुत महाबल दायक।
साधु संत पर सदा सहायक।।
बाएं भुजा सब असुर संहारी।
दहिन भुजा सब संत उबारी।।
लछिमन धरति में मूर्छि पर्‌यो।
पैंठि पताल जमकातर तोर्‌यो।।
आनि सजीवन प्रान उबार्‌यो।
गही सबन कै भुजा उपार्‌यो।।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११८।

२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ११९।

३. वही, पृ० ११७।

गाढ़ परे कपि सुमिरों तोहीं।
होहु दयाल देहु जस मोहीं॥
लंका कोट समुंदर खाई।
जात पवनसुत बार न लाई॥
लंक प्रजारि असुर सब मार्‌यो।
राजा राम के काज सँवारयो॥
घंटा ताल झालरी बाजे।
जगमग जोति अवधपुर छाजै॥
जो हनुमानजी की आरति गावै।
बसि बैकुंठ परम पद पावै॥
लंक बिधंस कियो रघुराई।
रामानन्द आरती गाई॥
सुर नर मुनि सब करहिं आरती।
जै जै जै हनुमान लाल की॥

स्वामी हरिदासजी

स्वामी हरिदासजी की जन्मतिथि

स्वामी हरिदासजी की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में उनके अनुयायियों में बहुत मतभेद है। विरक्त शिष्य-परम्परा के अनुसार उनकी जन्मतिथि सं० १५३७, भाद्रपद शुक्ला ८, बुधवार है तथा गृहस्थ गोस्वामी-परम्परावाले उनकी जन्मतिथि सं० १५६९ पौष शुक्ला १३, भृगुवार मानते हैं। परन्तु, श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र' ने 'मिराते सिकन्दरी' व 'मिराते अकबरी' नामक फारसी ग्रन्थ के अनुसार उनका जन्म-संवत् १५६९ की पौष शुक्ल १३ भृगु-वार निश्चित किया है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने उनके जन्म-संवत् के सम्बन्ध में लिखा है कि 'इनके जन्म-संवत् के विषय में एक मत नहीं है। जन्म-तिथि कोई भादो सुदी अष्टमी सं० १४४१ मानते हैं, तो कोई सं० १४८५ ।[1] श्रीप्रभुदयाल मीतल ने उनका जन्म-सं० १५६९ ही माना है।[2]

---

१. भागवत-सम्प्रदाय, पृ० ३५१।
२. ब्रज के धर्म सम्प्रदाय, पृ० ४५०।

इनके जन्मस्थान और पिता के नाम में भी बहुत मतभेद हैं। लेकिन, निश्चित प्रमाणों के आधार पर इनके पिता का नाम आशुधीर और जन्मस्थान अलीगढ़ के निकट का एक गाँव हरिदासपुर है।[1] ये जाति के सारस्वत ब्राह्मण थे।

स्वामी हरिदासजी बचपन से ही कोमलचित्त व्यक्ति थे। उनका सब समय भगवद्भक्ति में ही व्यतीत होता था। उनमें वैराग्य की भावना कूट-कूट-कर भरी हुई थी; अतः किशोरावस्था पार करते ही उन्होंने सन्यास ले लिया था और वृन्दावन के ही एक अति रमणीय तथा शान्त स्थल में रहकर सुदीर्घकाल तक तप किया था। कहते हैं, स्वामी हरिदासजी संगीत-कला के सिद्ध आचार्य थे।

स्वामी हरिदासजी की संक्षिप्त जीवनी

स्वामीजी की साधना अत्यन्त सरस थी, परन्तु ठीक इसके विपरीत उनमें प्रगाढ़ विरक्ति भी थी। अपने जीवन-यापन केलिए वे अति स्वल्प वस्तुओं को स्वीकार करते थे। सब प्रकार की सुविधाओं के बीच में रहते हुए भी इस प्रकार जीवन-निर्वाह करना उनकी चित्तवृत्ति की सहज उदात्तता का द्योतक है। वे अपने उपास्य के लिए तैयार किये हुए विविध व्यंजनों को वृन्दावन के मोर, बन्दर आदि पशु-पक्षियों को खिला देते थे।

स्वामीजी अपनी सरस साधना को सदा भावलोक में ही प्रतिष्ठित कर स्वय परम उदासीन भाव से रहते थे। वे संगीतशास्त्र के अच्छे मर्मज्ञ थे। वे संगीत के ध्रुपद-धमार आदि के मूल प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। उनकी संगीत-कला से प्रभावित होकर तानसेन ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। कहते हैं, बादशाह अकबर ने उनकी ख्याति सुनकर उन्हें अपने दरबार में बुलाया। परन्तु, परम वीतरागी महात्मा हरिदास ने वहाँ जाना स्वीकार नहीं किया। वे अपने उपास्य के अतिरिक्त दूसरे किसी को भी संगीत नहीं सुनाते थे। अतः, एक दिन छद्मवेष में वह तानसेन के साथ उनके आश्रम पर आया। तानसेन ने गाने में जान-बूझकर गलती कर दी। स्वामी हरिदास ने उसे उसका शुद्ध रूप प्रस्तुत किया। इस तरह बादशाह अकबर को उनका संगीत सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। वह उसे सुनकर मुग्ध हो गया। उसने स्वामीजी के चरणों में गिरकर कुछ माँगने के लिए निवेदन किया। स्वामीजी ने अपने योगबल से यमुना के किनारे की एक सीढ़ी का खण्डित भाग उसे दिखाया। बादशाह अकबर उसे देखकर चकित हो गया। पूरे साम्राज्य का ऐश्वर्य भी मणिमय रत्नों से निर्मित सीढ़ियों के उस खण्डित अंश

---

१. व्रज के धर्म-सम्प्रदाय : श्रीप्रभुदयाल मीतल।

के निर्माण में थोड़ा ही होता। वह उनका चमत्कार समझकर सीधे अपनी राजधानी में लौट आया।

स्वामीजी का भक्तिमार्ग हरिदास-सम्प्रदाय या सखी-सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है। वे ललित सखी के अवतार माने जाते हैं।

यद्यपि स्वामीजी कोई उच्च कोटि के भक्त कवि नहीं थे, तथापि उनकी उपासना-पद्धति की सरसता, उनकी तपस्या तथा सर्वोपरि उनकी ऐहिक विरक्ति किसी भी साधक से कम नहीं थी। उनकी पवित्र साधना से प्रभावित होकर अनेक राजे-महाराजे उनके चरणों पर लोटते थे।

उनकी सरस भक्ति-साधना तो इतनी विमलोज्ज्वल थी कि उनकी तुलना में कोई विरले ही रसिकोपासक आ सकते हैं। उनकी सरस साधना की प्रशंसा में महात्मा हरिरामजी व्यास ने कहा है कि उनके समान रसिक पृथ्वी-मण्डल में अबतक न हुआ है और न आगे होगा ही : 'ऐसो रसिक भयो ना ह्वै हैं, भुव मंडल आकास'!

स्वामी हरिदासजी की उपासना-पद्धति प्रधानतः रस-तत्त्व पर ही आधारित है। नाभादासजी ने स्वामीजी की भक्ति-पद्धति के विषय में बड़े महत्त्व की बातें लिखी हैं।[1]

रसोपासना में सखी-भाव

रसोपासना की प्रधान साधिका सखियाँ ही मानी गयी हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं के दो स्वरूप हमें दिखायी पड़ते हैं—नित्य या अप्रकट लीला तथा नैमित्तिक या प्रकट लीला। नित्य लीला दिव्य वृन्दावन में तथा नैमित्तिक लीला वन-वृन्दावन में होती है। नित्य लीला की साधिका हैं सखी सहचरियाँ तथा नैमित्तिक की गोपियाँ।

मधुरा भक्ति के लगभग सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्तिमार्ग में गोपियों का स्वकीया तथा परकीया-भेद भी दिखायी

---

१. आसधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की।
जुगल नाम सौं नेम, जपत नित कुंज बिहारी।
अवलोकन रहे केलि सुखी सुख को अधिकारी।
गान कला-गन्धर्व स्याम-स्यामा कौं तोषैं।
उत्तम भोग लगाय, मोर मरकट तिमि पोषैं।
नृपति द्वार ठाढ़े रहें, दर्सन आसाजास की।
आसधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदास की ॥

पड़ता है, परन्तु सम्पूर्ण भेदों से मुक्त इन सखियों की मधुर सेवाओं का वर्णन हरिदासजी की भक्ति-साधना में हुआ है। वे नित्यलीला को भी व्रजलीला से भिन्न नहीं मानते। यद्यपि श्रीहितहरिवंशजी के सिद्धान्तों से उनकी भक्ति-साधना में सामंजस्य दिखायी पड़ता है, फिर भी उनकी अतिसूक्ष्म स्थिति को प्राप्त सखी-भाव अपनी स्वतन्त्र विशेषता रखता है। स्वामीजी के मतानुसार सखी-भाव से उपासना करनेवाले भक्त ही नित्य निकुंजलीला के दिव्यातिदिव्य परम माधुर्य की रसानुभूति कर सकते हैं। इस सखी-भाव में गोपियों की तरह स्वसुख की अपेक्षा नहीं, वे तो सदा तत्सुखसुखी रहती हैं। अर्थात्, राधा-कृष्ण के सुख में ही उन्हें सुख का रसास्वादन होता है। इस प्रकार, स्वामीजी श्रीराधाकृष्ण के युगल रूप के उपासक थे तथा वे इनकी ललित लीलाओं का अवलोकन सखी-भाव से किया करते थे। जिस परमात्मा को योगी-यती कठोर साधना करके प्राप्त करते हैं, उसे उन्होंने रस-साधना द्वारा प्राप्त किया था। स्वामीजी की इस रस-साधना में किसी प्रकार के नियम, जप-तप, व्रत-संयम और विधि-निषेध की अपेक्षा नहीं है।[1] इस प्रेमाभक्ति में माला, मन्त्र और भजन के अतिरिक्त जाति तथा जनेऊ आदि का कोई विशेष महत्त्व नहीं है और न तीर्थयात्रा तथा श्राद्धकर्म ही आवश्यक है।[2] उनके अनुसार श्रीकुंजविहारीजी ही सर्वोपरि परम तत्त्व हैं। उनके सम्प्रदाय में नित्य क्रीडारत श्यामा-श्याम की उपासना होती है। स्वामीजी ने इन्हें घन-दामिनी की तरह नित्य अभिन्न तथा शाश्वत कहा है। सम्पूर्ण उपाधिशून्य तथा केवल सखीजनों को ही प्राप्तव्य यह लीला अपनी चरमावस्था में सखीजनों की भी अपेक्षा नहीं करती। तब श्यामा-श्याम स्वयं सखीजनों का कार्य-सम्पादन कर लेते हैं।[3]

अन्य सम्प्रदायों की मधुरोपासना की तरह ही स्वामी हरिदासजी की रसो-

---

१. विधि-निषेध को क्यों पचि मरे। प्रेम भक्ति में अंतर परे।।
मन-वच-क्रम जो उपजे भाव। तो लोक वेद सब बिसरि जाव।।
स्वर्ग नर्क की आस न त्रास। जे रस रसिक बिहारिनदास।।
(ह० र० सा०, पृ० १३५)

२. भक्ति में कहा जनेऊ जाति।
गायत्री, सन्ध्या, तर्पण जति, भजि माला-मंत्र सजाति।। (ह० र० साहित्य, पृ० १६६)

३. प्यारी जू ! हम तुम दोऊ एक कुंज के सखा, रूठे क्यों बनै ?
(केलिमाल, पद सं० ८६)

पासना भी सामान्य व्यक्तियों के लिए अत्यन्त कठिन है ।[१] उनका सिद्धान्त किसी दार्शनिक मतवाद पर आधारित नहीं है। उनके सिद्धान्त को इच्छाद्वैत कहने का प्रचार बाद का है। सम्भवतः, चतुर्वैष्णव-सम्प्रदायों से इसे सम्बद्ध करने के लिए ही किसी ने ऐसा प्रयास किया होगा।

श्रीभगवतरसिकजी ने सखी-सम्प्रदाय का स्वरूप इस प्रकार निश्चित किया था—

आचार्य	छाप	उपासना	मन्त्र	प्रमाण-ग्रन्थ
ललितासखी	रसिक	नित्यकिशोर	युगल मन्त्र	रसिकों की वाणी
धाम		इष्ट[२]		
श्रीवृन्दावन		श्रीराधाजी		

आचार्य शुक्ल ने इन्हें निम्बार्क-मतान्तर्गत टट्टी-सम्प्रदाय का संस्थापक माना है।[३] परन्तु, अर्वाचीन शोधकार्य के आधार पर विद्वानों ने यह सिद्ध

टट्टी-सम्प्रदाय

किया है कि टट्टी-सम्प्रदाय नाम का कोई सम्प्रदाय नहीं है, बल्कि यह एक भक्ति-संस्थान है। कहते हैं, स्वामी हरिदासजी से लगभग दो सौ वर्ष बाद उन्हीं की शिष्य-परम्परा में श्रीललितकिशोरीदासजी ने, जो एक परम विरक्त सन्त थे, इसकी स्थापना की थी। वे यमुना के किनारे निर्जन स्थान में साधना करते थे। भक्तो में उस स्थल की सुरक्षा के लिए बाँस की टट्टियों से घेर दिया था, अतः वह टट्टी-संस्थान कहा जाने लगा।

स्वामीजी के अनेक शिष्यों की चर्चा श्रीकिशोरदासजी के ग्रन्थ 'निजमत-

स्वामी हरिदासजी के शिष्य तथा सम्प्रदाय के दो भेद

सिद्धान्त' में की गयी है। इसके अनुसार स्वामीजी के बहुत-से शिष्य थे। उनमें श्रीविट्ठलविपुलजी श्रीदयालदासजी, श्रीमनोहरदासजी, श्रीमधुकरदासजी, श्रीगोविन्ददासजी, श्रीकेशवदासजी, श्रीअनन्यजी,

---

१. सम्प्रदाय नवधा भगति वेद सुरसरी नीर।
ललिता सखी उपासना, ज्यों सिंहिन कौ छीर।।
ज्यों सिंहिन कौ छीर, रहे कुंदन के बासन।
कै बच्चा के पेट, और घट करे विनासन।। (श्रीभगवतरसिकजी)

२. श्रीभगवतरसिकजी।

३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १८०।

श्रीमोहनदासजी और बलदाऊदासजी प्रधान हैं। श्रीकिशोरदासजी और तानसेन भी इन्हीं के शिष्य माने जाते हैं।

श्रीविट्ठलविपुलजी स्वामी हरिदासजी के प्रधान शिष्य थे। इनकी परम्परा के सन्तगण अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए परम विरक्त होते हैं। इस सम्प्रदाय के अधिकारी को आचार्य कहते हैं तथा इस परम्परा के शिष्य-समुदाय स्वामी कहे जाते हैं। दूसरा वर्ग है श्रीजगन्नाथजी के वंशजों का। वे गृहस्थ होते हैं तथा वे श्रीविहारीजी के गोस्वामी कहलाते हैं, अतः उन्हें 'गोस्वामी' कहा जाता है।

स्वामी श्रीहरिदासजी की रचनाएँ

स्वामी श्रीहरिदासजी के पदों के तीन-चार संग्रह हरिदासजी के ग्रन्थ, स्वामी हरिदासजी के पद, हरिदासजी की बानी आदि नामों से मिलते हैं। नीचे के एक पद में कितनी निश्छल विनम्रता दिखायी पड़ती है—

ज्योंही ज्योंही तुम राखत हौं, त्योंही त्योंही रहियत हौं, हे हरि।
और अपरचै पाय धरो सुतौ कहौ कौन के पैंड भरि।।
जदपि हौं अपनो भयो कियो चाहौं, कैसे करि सकौं जो तुम राखो पकरि।
कहे हरिदास पिंजरा के जनावर लौं, तरफराय रह्यो उड़िबे को कितोऊ करि।।

रसिक भक्त विद्यापति पर वैष्णव-प्रभाव

परमरसिक कवि विद्यापति का जन्म १३६० ई० में बिहार प्रान्त में दरभंगा जिले के बिसपी ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम गणपति ठाकुर था। इनके पिता महाराज गणेश्वरसिंह के राज-सभासद थे। विद्यापति बहुत बचपन से ही राजदरबार में आया-जाया करते थे। महाराज गणेश्वरसिंह की मृत्यु के बाद उनके अधिकारी हुए महाराज कीर्त्तिसिंह ये विद्यापति के आश्रयदाता थे। कीर्त्ति-सिंह के बाद शिवसिंह गद्दी पर बैठे। इनके दरबार में विद्यापति का जीवन हर्षो-ल्लासपूर्ण बीत रहा था। पर परिस्थिति सदा एक-सी नहीं रहती। महाराज ने दिल्ली को कर देना बन्द कर दिया। अतः, उन्हें दिल्ली-शासक का कोपभाजन होना पड़ा। वे कैद करके दिल्ली लाये गये। सम्भवतः वहीं उनकी मृत्यु भी हुई। इस घटना का सबसे अधिक प्रभाव विद्यापति पर पड़ा। फलतः, उन्हें अपने जीविको-पार्जन के लिए यत्र-तत्र भटकना पड़ा। पुनः राज्य में सुव्यवस्था होने पर वे दरबार में आये। उन्होंने कीर्त्तिसिंह की प्रशंसा में 'कीर्त्तिलता' की रचना की है।

विद्यापति रसिक कवि थे। उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम से सम्बद्ध अनेक पदों की रचना की है। जीवन-भर सरस पदावलियों की रचना तथा पाठ करने में तन्मय रहनेवाले कविवर विद्यापति ने सन् १४४७ ई० में स्वर्गवास किया।

कीर्त्तिलता के अतिरिक्त उन्होंने भूपरिक्रमा, पुरुषपरीक्षा, लिखनावली, विभागसार, वर्षकृत्य, गयापत्तलक, शैवसर्वस्वसार, प्रमाणभूतपुराणसंग्रह, गंगा-वाक्यावली, दानवाक्यावली, दुर्गाभक्तितरंगिणी प्रभृति ग्रन्थों की रचना संस्कृत में की। इनमें भक्ति आदि विविध विषयों की चर्चा की गई है। कीर्त्तिलता और कीर्त्ति-पताका उनके अवहट्ठ-भाषा में रचित ग्रन्थ हैं। उनकी शेष पदावलियाँ मैथिली भाषा में लिखी गई हैं। उनकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि वे सर्वतो-मुखी प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति थे।

मैथिलकोकिल विद्यापति के **पदों** का अनुशीलन करने से स्पष्ट होता है कि उनपर वैष्णव साधना की मधुरोपासना का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा था। उनकी उपासना-पद्धति पर विचार-विमर्श करनेवालों में यह प्रश्न अभी तक असमाहित ही रहा है कि विद्यापति शैव थे या शाक्त अथवा वैष्णव थे या स्मार्त्त। इन विवादास्पद प्रश्नों के मूल में छिपी हुई हैं आलोचकों की परम्परागत धारणा, जिसके द्वारा वे किसी की साधना-पद्धति या साम्प्रदायिकता का निर्णय करते हैं। परन्तु, जब कभी वे भक्तों के द्वारा शृंगारिक पदों का वर्णन देखते हैं, उनमें उन्हें न जाने कहाँ से स्थूलता और अश्लीलता के दर्शन होने लगते हैं। वे रूपगोस्वामी की इस उक्ति को भूल जाते हैं कि राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का वर्णन प्राकृतिक काम-केलि की तरह ही होता है, परन्तु उसमें स्थूल काम का लेश भी नहीं है। वह काम प्रेम ही है—केवलमात्र चिन्मय प्रेम।[1] ऐसा होना स्वाभाविक भी है। सदा प्रेम का अर्थ 'काम' लगाने-वाले तथा काम का चिन्तन सामान्य स्थूल धरातल पर करनेवाले इस अलौकिक 'काम' या 'प्रेम' की कल्पना भी नहीं कर सकते। वे अपनी सीमा से आगे न बढ़ना ही जानते हैं, न उस स्थूलता के चश्मे को हटाकर देखने का प्रयास ही करते हैं। यही कारण है कि वे परम रसिक भक्त श्रीविद्यापति के शृंगारिक पदों को भौतिक शृंगार-वर्णन की कोटि में परिगणित करने का दुस्साहस करते हैं। यद्यपि सूरसागर के दशम स्कन्ध में भी कुछ ऐसे पद हैं, जिनमें शृंगारिकता अपने शीर्ष बिन्दु पर है, फिर भी उदात्त आलम्बन के कारण वहाँ शृंगार भी दिव्य किंवा उदात्त हो गया है। इसी तरह विद्यापति का भी शृंगारिक चित्रण अपने आलम्बन की विशेषता के कारण विमल मधुरोपासना से ओत-प्रोत है।

---

१. 'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यभिधीयते'। (श्रीमद्भागवत)

कोई भी भारतीय हिन्दू, चाहे वह किसी भी देवता की उपासना क्यों न करता हो, भक्त ही माना जाता है। वह ईश्वर के सभी रूपों से परिचित होता है। तो क्या विद्यापति को राधा-कृष्ण के ईश्वरत्व का परिचय नहीं था कि उन्हें वे मात्र स्थूल शृंगार का आलम्बन बनाते? निश्चित रूप से, शृंगारिक-से लगनेवाले पदों में मधुरोपासना ही उनका लक्ष्य है, जिसका पुराकल्प श्रीमद्भागवत महापुराण में हो गया था।

पुनः कोई भी हिन्दू-संस्कार से ही राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं का वर्णन स्थूल शृंगार की दृष्टि से देखना पसन्द नहीं करता। ऐसे वर्णनों में उसे रहस्य, प्रतीकगर्भत्व या मधुरोपासना के ही दर्शन होते हैं, जो यथार्थ भी हैं। कुछ लोगों ने राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं के स्थूलता की पृष्ठभूमि में वर्णन का अवश्य दुस्साहस किया है, परन्तु उनकी आलोचना भी कम नहीं हुई है। विद्यापति उस कोटि की आलोचना से सदा अछूते रहे हैं। क्योंकि, यदि उन्हें कुछ लोग शृंगारिक कवि होने का तर्क देते हैं, तो अधिकांश आलोचकों ने उन्हें भक्त कवि ही स्वीकार किया है।

विद्यापति ने अपने काव्य-सर्जन का आधार बनाया जयदेव के गीत-गोविन्द को, जिसके सरस सुमधुर श्लोक-बद्ध गीतों का जनजीवन में पर्याप्त प्रचार-प्रसार हो गया था। उनके गीतों में 'विलास-कला' नित्य 'हरिस्मरण' के लिए ही है : 'यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्। मधुर कोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥'[1]

श्रीराधाकृष्ण के प्रेम के स्वरूप का चिन्तन करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

श्रीराधिका के हृदय में शृंगार के सम्पूर्ण सात्त्विक भावों के उद्रेक होते रहते हैं। उनका प्रेम महाभाव की दशा में पहुँच जाता है। प्रेम की अन्तिम अवस्था 'चिद्दीपन' कही जाती है। अभिनव माधुर्यपूर्ण तथा अदाक्षिण्य के भाव से युक्त स्नेह ही 'मान' की संज्ञा प्राप्त करता है। विश्रम्भण को प्राप्त मान 'प्रणय' कहा जाता है। राग की स्थिति तब आती है, जब अति दुःख भी प्रणयोत्कर्ष के कारण सुखवत् प्रतीत होने लगता है। नित्य नूतन लगनेवाला राग अनुराग तथा 'यावदाश्रयवृत्ति' से स्वसंवेद्य अनुराग ही भाव कहा जाता है।[2]

---

१. गीतगोविन्दम्, श्लोक ३ : महाकवि जयदेव।

२. आरुह्य परमां काष्ठां प्रेम चिद्दीपदीपनः।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुरागो इतीर्यते ॥

श्रीकृष्ण से प्राप्त सुख में क्षण-भर के लिए भी असहिष्णुता का होना रूप महाभाव कहा जाता है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के सुख भी जिस सुख का लेशमात्र भी नहीं होता, सारे बिच्छुओं और सर्पों के दंशन भी श्रीकृष्ण के विरहजन्य दुःख के लेशमात्र का अनुभव नहीं करा सकते, श्रीकृष्ण के मिलन-विरह का यह सुख और दुःख जिस दशा में प्राप्त होता है, उस दशा को, 'अधिरूढ महाभाव' कहते हैं।

अधिरूढ महाभाव को प्राप्त राधा की दशा का कितना स्वाभाविक चित्र खींचा है महाकवि ने ! श्रीकृष्ण-वियोग में वह तड़फड़ाकर गिर जाती है तथा प्रतिक्षण गम्भीर साँस लेकर रोती रहती है —

लोटइ घरनि घर सोइ
खने खने साँस खने खन रोइ
खने खने मुरछई कंठ परान
इथि पर की गति दैव से जान
हे हरि पेखलौं से वर नारि
न जीवइ बिनु कर परस तोहारि

नित्य श्रीकृष्ण-प्रेम में मग्न राधिका स्वप्न में भी श्रीकृष्ण का स्मरण करती रहती हैं। प्रीति की अतिशयता से उसका चित्त जर्जर हो गया है। वह अपने मुख-कमल को हाथों से छिपाकर सखियों के बीच बैठती है। उसके नेत्रों से सतत अश्रु-धारा चलती रहती है। उसकी वाणी गद्गद हो गई है तथा वह कुहू-शशि की तरह क्षीण हो गई है, फलतः उठने में भी असमर्थ है —

माधव कि कहब से विपरीत।
जनु भेल जरजर भामिनी अन्तर
चिर बाढ़ल तसु प्रीत॥
निरस कमल मुख कर अवलम्बइ
सखि माझ बइसइ गोइ।
नयनक नीर धीर नहिं बाँधइ
पंक कमल माँहि रोइ॥
मरमक लोल नयन नहिं बोलइ
तनु भेल कुहु ससि खीना।
आवनि उपर धनि, उठए न पारइ
धएल भुजा धरि दीना॥

श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा में राधिका प्रतिक्षण बेचैन हो रही हैं। यदि उनके पंख होते, तो वह श्रीकृष्ण के पास अतिशीघ्र उड़कर चली जातीं। उसे स्वप्न में प्रिय-

मिलन का सुख प्राप्त हो रहा था, परन्तु विधाता को वह भी सहा नहीं गया। निद्रा भंग हुई और प्रियतम को अतिदूर समझकर हृदय दुःख से भर गया :

लोचन धाए फेधायेल हरि नहिं आयल रे।
शिव शिव जिवओ न जाए आस अरुझायल रे।।
मन करि तहं उड़ि जाइय जहाँ हरि पाइय रे।
प्रेम परसमनि जानि आनि उर लाइअ रे।।
सपनहु संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे।
से मोरा विहिं विघटाओल निन्दओ हेरायल रे।।
भनइ विद्यापति गाओल धनि धइरज कर रे।
अचिरे मिल तोंहि बालम पुरत मनोरथ रे।।

और, श्रीकृष्ण भी राधा रानी के विना एक क्षण नहीं रह सकते। जमुना के किनारे कदम्ब के नीचे वंशी-वादन करते हुए वे बार-बार उनका बाट जोहते रहते हैं। वे उस मार्ग से जानेवाले प्रत्येक पथिक से राधिका के आने का समाचार पूछते रहते हैं। सच है, प्रेम की ऐसी स्थिति होती ही है।

नन्दक नन्द कदम्बक तरु तर धिरे धिरे मुरलि बजाव।
समय संकेत निकेतन बइसल बेरि बेरि बोल पठाव।।
सामरि, तोरा लागि अनुखन बिकल मुरारि।
जमुनाक तिर उपवन उदवेगल फिरि फिरि ततहिं निहारि।।
गोरस बेचन अंबइत जाइत जनि जनि पुछ बनवारि।
तोंहे मतिमान, सुमति, मधुसूदन बचन सुनहु किछु मोरा।
भनइ विद्यापति सुनु बरजौवति बन्दह नन्द किशोरा।।

नित्य अतृप्ति तथा चाह ही प्रीति का सच्चा लक्षण है। प्रतिक्षण नवीन होना ही उसका सहज स्वभाव है। अनेक मधुमय रात्रियों में प्रिय का संयोग पाकर भी केलि-सुख का आनन्द नहीं प्राप्त हो सका। अनन्त युग से प्रियतम को हृदय में रखकर भी हृदय जुड़ा न सका।

सखि कि पुछसि अनुभव मोय।
सेहो पिरिति अनुराग बखानइत तिले तिले नूतन होय।।
जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।
सेहो मधुर बोल श्रवणहि सुनल श्रुतिपथे परस न गेल।।
कत मधु जामिनी रभसे गमाओल न बुझल कैसन केल।
लाख लाख जुग हिय हिय राखल तइओ हिया जुड़न न गेल।।

कत विदगध जन रस अनुगमन अनुभव काहु न पेख।
विद्यापति कह प्राण जुड़ाइत लाखवे न मिलल एक॥

इस प्रकार, संयोग-सुख में भी सदा अतृप्त रहनेवाली राधा यदि विरह की घड़ियों में अहर्निश श्रीकृष्ण का चिन्तन करने से तदाकार होकर कभी अपने नाम का और कभी श्रीकृष्ण नाम का रट लगाती है, तो क्या आश्चर्य ! उसकी स्थिति किसी लकड़ी में छिपे कीड़े की तरह हो गई है, जिसके उभय भाग में अग्नि प्रज्वलित हो रही हो और वह कीड़ा भागने में भी असमर्थ हो गया हो। विरहविदग्धा की कैसी सटीक तुलना की गई है—

अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दर भेलि मधाई।
और निज भाव सुभावहु बिसरल
अपने गुन लबुधाई॥
माधव अपरूप तोहर सनेह।
अपने विरह अपन तन जर जर
जीवइति भेल संदेह॥
भोरहिं सहचरि कातर दिठि हेरि
छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा बानि॥
राधा सयं जब पुनतहि माधव
माधव सयं जब राधा।
दारुन प्रेम तबहिं नहिं टूटत
बाढ़त विरहक बाधा॥
दुहु दिसि दारुन दहन जैसे दगधइ
आकुल कीट परान।
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि
कवि विद्यापति भान॥

ऐसी विरहिणी के लिए क्यों न सम्पूर्ण सुख के साधन दुःखद प्रतीत हों। सच है, प्रियतम ही प्रिया के जीवन का रस है। उसके बिना चन्द्रमा भी दाहक तथा मणिमय आभूषण भी भारस्वरूप ही हैं। यदि प्रियतम समीप है, तो कुछ भी प्रतिकूल नहीं। लेकिन, विरह का समय तो काटे नहीं कटता। दर्शन की आशा लगाये

राधिकाजी स्वप्न में भी दर्शन की कामना करती है। परन्तु, वह भी दुर्लभ हो गया है। हृदय विरह से नित्य जल रहा है तथा उसका वस्त्र धूमिल हो गया है। विरह की स्थिति की कितनी सुन्दर व्यंजना हुई है इस पद में :

चानन भेल विषम सर रे
भूषन भेल भारी।
सपनहु हरि नहिं आयल रे
गोकुल गिरिधारी ।।
एकसरि ठाढ़ि कदम तर रे
पथ हेरति मुरारी।
हरि विनु हृदय दगध भेल रे
झामर भेल सारी ।।

इस तरह 'विरह' राधाकृष्ण के परम पुनीत प्रेम का साक्षी है। इसके सम्बन्ध में डॉ० शिवप्रसाद सिंह का कथन सटीक लगता है कि "उल्लास का यह वातावरण, मांसल सौन्दर्य के उपभोग का यह इन्द्रिय-व्यापार, दैहिक स्पर्श-सुख के तरलायित प्रसंग, एक-एक अंग के स्थूल और विवृत विवरण केवल इन्द्रिय-लिप्सा के परिचायक हो जाते, यदि इनके अन्त में विरहोत्पन्न आकस्मिक विश्लेष दुःख की इतनी बड़ी अतीन्द्रिय पीड़ा को जगाने में समर्थ न होता। विद्यापति का प्रबुद्ध पाठक उनके इन स्थूल रति-व्यापारों को भी क्षमा न कर पाता, यदि वे साध्य बन कर आते, किन्तु यह अवस्था प्रेम के एक पक्ष का परिचय देती है, उसकी पूर्णता का नहीं। इस मिलन-सुख के अन्तराल में विरह की इतनी तीव्र व्यथा सोई है, देखते हुए पाठक इन प्रसंगों की अतिवादिता को क्षम्य मान लेता है।"[१]

अवश्य विद्यापति के पदों में मांसल प्रेमवत् व्यंजना हुई है, परन्तु आलम्बन के ईश्वरीय ऐश्वर्य की स्मृति यदि बनी रहे, तो अश्लीलता की कल्पना भी नहीं हो सकती। मधुरोपासनात्मक साधना से अपरिचित रहनेवाले आलोचकों की आलोचना करते हुए डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने कहा है—"वस्तुतः विद्यापति शृंगारिक कवि थे या भक्त, इसे समझने के लिए भक्तिकाल की सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि समझना अनिवार्य हो जाता है। हमारे मन में शृंगार और भक्ति के विषय में कई मिथ्या धारणाएँ बद्धमूल हो गई हैं। शृंगार भक्ति का विरोधी नहीं है। विद्यापति के काव्य में इस शृंगार का ऐसा रूप क्यों है, इसे हम पूरी पृष्ठभूमि में रखकर देखने पर ही समझ सकते हैं। नखशिख-वर्णन केवल शृंगारिक कवियों ने

१. विद्यापति : डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० १४२।

ही प्रस्तुत नहीं किये हैं। रूप-वर्णन की वैष्णव-शैली में किन-किन तत्त्वों का समावेश हुआ, यह भी जानना आवश्यक है। रूपोपासना में क्या फर्क है? राधा क्या है? राधा के स्वरूप का विकास किन-किन तत्त्वों के सम्मिश्रण से हुआ? राधा के किस रूप की विद्यापति स्तुति करते हैं, आदि प्रश्न इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आकलन के बाद ही समाहित हो सकते हैं।"[१]

विद्यापति के शृंगारिक पदों की यह परम पावनता ही है, जो प्रत्येक वैष्णव के हृदय में उच्च स्थान प्राप्त कर सकी है। कहते हैं, उनके मधुर पदों को सुनकर महाप्रभु चैतन्यदेव मूर्च्छित हो जाते थे। आज भी गौड़ीय वैष्णवों में इसको सर्वाधिक समादर प्राप्त है। वे पूजा के समय में सदा इनका पाठ करते हैं।

अतः, यह कहना अक्षरशः सत्य होगा कि उनका सम्पूर्ण सौन्दर्य-चित्रण लोकातिशय सौन्दर्य की भावना से मण्डित है, जिसकी सुन्दरता के कण-मात्र से ब्रह्माण्ड सुशोभित हो रहा है। जो स्वयं सौन्दर्य को भी सुन्दर बनाने की शक्ति रखती है : 'सुन्दरता कहँ सुन्दर करई', जिसके पारस-रूप के स्पर्शमात्र से असुन्दर भी सुन्दर बन जाता है, वही हैं अनन्त सौन्दर्यराशि श्रीराधिकाजी। विद्यापति ने राधिकाजी के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार किया है—

जहाँ जहाँ पग-जुग धरई, तहँ तहँ सरोरुह भरई
जहाँ जहाँ झलकत अंग, तँहि तँहि बिजुरि तरंग
कि हेरल अपरूप गोरि, पइठल हिय माँहि मोरि
जहाँ जहाँ नयन विकास, तँहि तँहि कमल परगास
जहाँ लहु हास संचार, तँहि तँहि अमिय विचार
जहाँ जहाँ कुटिल कटाख, तंतहि मदन सर लाख
हेरइति से धनि थोर, अब तिन भुवन अगोर
पुनु किए दरसन पाव दय मोहे इह दुख जाव
विद्यापति कह जानि, तब गुने दैवष आनि॥

विद्यापति की दृष्टि में राधा ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति है, जिसके रूप-लावण्य को देखकर कोटि-कोटि मन्मथमथन श्रीकृष्ण भी संज्ञाहीन होकर पृथ्वी पर गिर जाते हैं। उनके चरणों में सहस्रों लक्ष्मी न्योछावर हैं। श्रीराधिका की वन्दना करते हुए कवि कहता है—

देखि देखि राधा रूप अपार।
अपरूप केहि विधि आन मिलाओलि

१. विद्यापति : डॉ शिवप्रसाद सिंह, पृ० ७८।

खिति तल लावनि-सार ।।
अंगहि अंग अनंग मुरछायत
हेरय पड़ए अधीर ।
मन्मथ कोटि मथन करु जे जन
से हेरि महि मध गीर ।।
कत कत लक्ष्मी चरन तल नेओछय
रंगिनि हेरि विभोरि ।
करु अभिलाख मनहि पद पंकज
अहो निसि जोर अगोरि ।।

कविवर विद्यापति के श्रीकृष्णपरक विनय के पदों के देखने से भी उनके वैष्णव होने में सन्देह नहीं रह जाता। उन्होंने कई पदों में दुर्गा, गंगा तथा शिव की भी वन्दना की है। इन्हीं पदों के आधार पर कोई उन्हें शाक्त कहते हैं, तो कोई शैव। परन्तु, उनके श्रीकृष्ण-सम्बन्धी विनय के पद तथा मधुरोपासना के क्रम में आये शृंगारिक पदों के आलोचन करने से उनपर वैष्णवता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

आजीवन सरस पदावलियों की रचना करके भी वृद्धावस्था में कवि का मन जगत् और जीवन की क्षणभंगुरता को देखकर अत्यन्त उदास हो जाता है। उसे सब प्रकार के सम्बन्धों में खोखलापन का अनुभव हो रहा है। प्रियजनों की संगति तो तप्त बालुका-राशि पर पड़े जलबिन्दु की तरह नश्वर है। वह श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हुए कहता है कि आपको भूलकर मैंने अपना मन पुत्र, मित्र और कलत्र में लगाया, परन्तु सब व्यर्थ ही हुआ। अब मैं किस काम का होऊँगा। मुझे तो, लक्ष्य से च्युत हो जाने के कारण जीवन की अन्तिम अवस्था में निराशा ही दिखायी पड़ती है। सम्पूर्ण जीवन जैसे-तैसे सोने-जागने, बालक्रीड़ा तथा रति-केलि में ही बीत गया। बुढ़ापा का भी अन्त हो रहा है। मैं आपका भजन कब करूँगा। लेकिन नहीं, इस बात को याद कर कि आप दोनों के ऊपर अहैतुकी करुणा करनेवाले हैं, मेरे मन को पूर्ण बल मिलता है। आप आदि-अन्तरहित अनादि तत्त्व हैं। सामान्य की तो बात ही क्या, अनेक ब्रह्मा प्रभृति देवता भी आपकी इच्छा से जन्म लेते तथा आपमें ही विलीन हो जाते हैं। अतः, आपको छोड़कर मुझे यम के पाशों से निर्भय करने वाला दूसरा कोई भी दिखायी नहीं पड़ता :

तातल सैकत बारि बिन्दु सम सुत मित रमनि समाज ।
तोहे बिसारि मन ताहि समरपिलु अब मझु होब कोन काज ।।

माधव, हम परिनाम निरासा ।
तुहुँ जगतारन दीन दयामय अतय तोर बिसवासा ।।
आध जनम हम नींद गमायलु जरा सिसु कत दिन गेला ।
निधुबन रमनि-रभस रँग मातलु तोहे भजब कोन बेला ।।
कत चतुरानन मरि मरि जाओत न तुअ आदि अवसाना ।
तोहे जनमि पुनि तोहे समाओत सागर लहरि समाना ।।
भनइ विद्यापति शेष समन भय तुअ बिनु गति नहिं आरा ।
आदि अनादि नाथ कहाओसि अब तारन भार तोहारा ।।
जतने जतेक धन पापे बटोरल मिलि मिलि परिजन खाय ।
मरनक बेरि हरि कोई न पूछए करम संग चलि जाय ।।[१]

अब उन्हें निश्चित हो गया है कि भगवान् को छोड़कर दूसरा कोई भी पाप-सिन्धु से पार करनेवाला नहीं है । परमात्मा को भूलकर और युवतीजनों में मन लगाकर तो मैंने मानों अमृत के बदले विष का पान कर लिया । अतः, वे अहर्निश हरिमयता की कामना करते हैं :

ए हरि, बंदौं तुअ पद नाय ।
तुअ पद परिहरि पाप-पयोनिधि पारक कओन उपाय ।।
जाबत जनम नहि तुअ पद सेवनु जुबती मति मयं मेलि ।
अमृत तजि हलाहल किए पीअल सम्पद अपदहि भेलि ।।
भनइ विद्यापति नेह मने गनि कहल कि बाढ़ब काजे ।
साँझक बेरि सेवकाई मँगइत हेरइत तुअ पद आजे ।।
हरि सम आनन हरि सम लोचन हरि तहाँ हरिबर आगी ।
हरिहिं चाहि हरि हरि न सोहाबए हरि हरि कए उठि जागी ।।

अतः, वे सर्वात्मना श्रीहरि की शरण में जाते हैं और उनसे सदा अपने ऊपर कृपा रखने की प्रार्थना करते हैं । यदि श्रीहरि उनके गुणों की ओर देखें, तो उनमें सर्वथा इनका अभाव मिलेगा । चाहे वे कर्मवश मनुष्य-योनि में जायँ अथवा पशु-पक्षी या कीट-पतंग की योनि में, परन्तु उनकी तो एकमात्र यही कामना है कि उनका मन

१. इस सम्बन्ध में डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने कहा है कि विद्यापति को जो लोग मात्र शृंगारिक कवि कहते हैं, सम्भवतः ऐसे पदों पर ध्यान देना नहीं चाहते, किन्तु इन पदों का ऐतिहासिक महत्त्व है । विद्यापति के ये पद न केवल उस समय की भक्ति-पद्धति की एक खास विशेषता की सूचना देते हैं; बल्कि इनसे यह भी मालूम होता है कि उनके स्तुतिपरक पद सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के भक्ति-काव्यों की परम्परा में और उन्हें प्रभावित करनेवाले हैं ।—विद्यापति, पृ० ९६ ।

श्रीहरि में ही लगा रहे। क्योंकि, उन्हें इस संसार-सागर को पार करने में अत्यन्त भय लग रहा है। अतः, उन्हें तो परमात्मा के चरण-कमलों का ही सहारा है।

माधव, बहुत मिनति करि तोय।
दए तुलसी तिल देह समर्पिनु दय जनि छाड़बि मोय॥
गनइत दोसर गुन लेस न पाओबि जब तुहु करबि विचार।
तुहू जगत जगनाथ कहाओसि जग बाहिर नइ छार॥
किए मानुस पशु पखि भए जनमिए अथवा कीट पतंग॥
करम विपाक गतागत पुनु पुनु मति रह तुअ परसंग॥
भनइ विद्यापति अतिसय कातर तरइत इह भव-सिंधु।
तुअ पद-पल्लव करि अवलम्बन तिल एक देह दीन बंधु॥

विद्यापति की वैष्णव पदावलियों का सर्वाधिक प्रभाव ब्रजबुलि तथा बँगला-साहित्य पर पड़ा। बंगाल, आसाम, उड़ीसा तथा नेपाल के ब्रजबुलि के कवि इनके ऋणी हैं। किसी-किसी ब्रजबुलि के पद को तो विद्यापति की पद-शैली तथा शब्दावलि से अलग करना कठिन हो जाता है। डॉ० रामपूजन तिवारी ने कहा है कि—'बंगाल के ब्रजबुलि-साहित्य को हम ध्यान में रखें, तो यह कहने में संकोच नहीं होगा कि ब्रजबुलि मैथिली से प्रभावित एक खिचड़ी भाषा है। विद्यापति के राधाकृष्ण-विषयक ललित पदों ने बंगाल में शिक्षित समुदाय को अत्यधिक प्रभावित किया। विद्यापति का बंगाल में बहुत समादर हुआ। उनके अनुकरण पर उन्हीं की भाषा में बंगाली कवियों ने काव्य-रचना करनी शुरू की। यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि उनकी रचनाओं में बँगला के शब्द और बँगला-भाषा की विशेषताओं का समावेश हो। विद्यापति की पदावली का अनुकरण करने जाकर बंगाली कवियों ने एक नई भाषा की ही सृष्टि कर डाली। इसे ही ग्रियर्सन ने साहित्य के इतिहास की एक अद्भुत बात कही है। यह नई काव्यभाषा ही ब्रजबुलि है।'[1]

विद्यापति के शैव होने के पक्ष में आचार्य शुक्ल के तर्कों[2] की आलोचना करते हुए डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने कहा कि "विद्यापति शैव थे, इसलिए कृष्णभक्ति के पद नहीं लिख सकते और इसलिए उनके पदों को शृंगार के पद मानना चाहिए, कृष्णभक्ति के ही नहीं, यह बहुत अच्छा तर्क प्रतीत नहीं होता।"[3] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी विद्यापति को वैष्णव ही सिद्ध किया है, जो लोग विद्यापति के

१. ब्रजबुलि-साहित्य, पृ० ५।
२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ५७-५८।
३. विद्यापति : डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० ७१।

बारे में कहा करते हैं कि वे शैव थे, अतः वैष्णव भक्त नहीं हो सकते, वे उस काल की मनःस्थिति को नहीं जानते। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णुभक्ति के आश्रय। गाहड़वाल-नरेश अपने को महेश्वर कहते थे, पर वे लक्ष्मी-नारायण की स्तुति भी किया करते थे ।[१] इनके अतिरिक्त डॉ० ग्रियर्सन, श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त, डॉ० जनार्दन मिश्र तथा श्यामसुन्दरदास प्रभृति विद्वानों ने भी विद्यापति को वैष्णव ही सिद्ध किया है। इस तरह हम देखते हैं कि विद्यापति पर वैष्णवता का प्रभाव पड़ा था और वे एक वैष्णव भक्त थे। उन्होंने पदों के अन्त में राजा और रानी के नाम उनके आश्रय में रहने के कारण लिया है और दूसरा कोई हेतु नहीं है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु

श्रीचैतन्य महाप्रभु का जन्म सं० १५४२ की फाल्गुनी पूर्णिमा को हुआ था। उस दिन चन्द्रग्रहण लगा था और लोग हरि का नाम लेते हुए स्नान करने जा रहे थे। बड़े-बड़े ज्योतिषियों ने कहा कि इस बालक ने जन्म लेते ही इतने लोगों से हरि-नाम-स्मरण कराया, अतः इससे हरिनाम का सर्वत्र प्रचार होगा। श्रीचैतन्य महाप्रभु के पिता का नाम श्रीजगन्नाथ मिश्र तथा माता का नाम शची देवी था। उनका बचपन का नाम निमाई था। ये श्रीराधाकृष्ण के अवतार माने जाते हैं।

अत्यन्त सूक्ष्म प्रतिभा के बालक श्रीचैतन्य ने अल्पकाल में ही सम्पूर्ण विद्या प्राप्त कर ली थी। लगभग सोलह वर्ष की अवस्था में उन्होंने एक पाठशाला स्थापित कर विद्यार्थियों का अध्यापन करना प्रारम्भ कर दिया था। अध्ययन समाप्त करने के पूर्व हो उनका प्रथम विवाह श्रीलक्ष्मीदेवी के साथ हुआ था। परन्तु, उनके स्वर्ग सिधार जाने के बाद उनका दूसरा विवाह श्रीविष्णुप्रिया से हुआ, जो राजपण्डित श्रीसनातन की पुत्री थीं। कहते हैं, उनका श्रीविष्णुप्रिया के साथ व्यवहार सदा परम पावन रहा।

अपने पिता के श्राद्ध एवं पिण्डदान के लिए की गई गया की यात्रा ने उनके जीवन में आमूल परिवर्त्तन ला दिया। गया जाकर उन्होंने श्रीमाधवेन्द्रपुरी के शिष्य श्रीईश्वरपुरी से दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही उनकी सारी वृत्तियाँ एकाएक बदल गईं। गया से नवद्वीप में आकर जब उन्होंने छात्रों को पढ़ाना प्रारम्भ किया, तो सम्पूर्ण ग्रन्थों का अर्थ कृष्णपरक ही किया। शिष्य उनकी वह स्थिति देखकर आश्चर्यमग्न थे। वे पूछते—'वर्णों की सिद्धि किस प्रकार होती है ?' प्रभु उत्तर देते—'श्रीकृष्ण की दृष्टिमात्र से ही सब वर्ण सिद्ध हो जाते हैं।' शिष्य

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३९।

उनकी स्थिति देखकर हैरान थे। वे महाप्रभु के चरणों पर गिरकर प्रार्थना करने लगे। महाप्रभु ने कहा कि "असल बात यह है कि अब हम पढ़ाने का या अन्य काम करने का यत्न करते हैं, तो एक श्यामवर्ण का सुन्दर शिशु हमारी आँखों के सामने आकर बड़े ही सुन्दर स्वर में मुरली बजाने लगता है। उस मुरली की विश्वविमोहिनी तान को सुनकर हमारा चित्त व्याकुल हो जाता है और हमारी सब सुधबुध भूल जाती है। हम पागल की भाँति मन्त्रमुग्ध-से हो जाते हैं। फिर, हम दूसरा काम कर ही नहीं सकते।"

श्रीविष्णुप्रिया उनकी ऐसी दशा देखकर भयभीत हो गईं और उन्होंने जाकर अपनी सास से कहा। शचीमाता पुत्र की दशा देखकर दुःख से कातर होकर रुदन करने लगीं और सभी देवी-देवताओं की मनौती मनाने लगी। वे करुणा-भाव से अधीर होकर प्रभु के पादपद्मों में प्रार्थना करतीं—'हे अशरणशरण ! इस दीन-हीन, कंगालिनी विधवा के एकमात्र पुत्र के ऊपर कृपा करो !'

उनका श्रीकृष्ण प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। अब तो उनकी ऐसी स्थिति हो गई कि जो भी काम करना चाहते, उसे ही नहीं कर सकते। काम करते-करते उन्हें अपने प्रियतम की याद आ जाती और उसी के विरह में वे बेहोश होकर गिर पड़ते। ठीक-ठीक भोजन भी नहीं कर सकते। स्नान, सन्ध्या, पूजा का उन्हें कुछ भी होश नहीं, मुख से निरन्तर श्रीकृष्ण के मधुर नामों का ही अपने-आप उच्चारण होता रहता। किसी की बात का उत्तर भी देते हैं, तो उनमें भी भगवान् की अलौकिक लीलाओं का ही वर्णन होता है। किसी से बातें भी करते हैं, तो श्रीकृष्ण के सम्बन्ध की ही करते हैं। अर्थात्, वे कृष्ण के सिवा कुछ जानते ही नहीं। श्रीकृष्ण ही उनके प्राण हैं, श्रीकृष्ण ही उनके धन हैं, अर्थात् उनके सर्वस्व श्रीकृष्ण ही हैं, उनके लिए संसार में श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। फलतः, पारिवारिक स्नेह उन्हें रोक न सका। उन्होंने सं० १५६६ के माघ महीने में संन्यास की दीक्षा ले ली।[1] इसके बाद सर्वप्रथम वे जगन्नाथपुरी गए थे। वहाँ उन्होंने नीलाचल पर कुछ काल तक निवास किया। उन्होंने आठ वर्षों तक भारत के अनेक तीर्थों की यात्रा की थी। संन्यास-ग्रहण के बाद उनका नाम श्रीकृष्ण चैतन्य हुआ। पुरी में रहते हुए उन्होंने श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती आदि पर कृपा की थी। श्रीरूपगोस्वामी और श्रीसनातन को नाना प्रकार के तत्त्वों से उन्होंने अवगत कराया। प्रारम्भ में श्रीप्रकाशानन्दजी वेदान्ती थे, परन्तु बाद में वे

---

१. उनके, संन्यास-दीक्षा के गुरु थे बंगाल के कटवा नामक स्थान के रहनेवाले श्रीकेशव भारती।—ले०

श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से अपने शिष्यों-सहित वैष्णव हो गये। पुरी में ही उन्हें राय रामानन्द से भेंट हुई। वे वहाँ के राजा प्रतापरुद्र के उच्चपदस्थ कर्मचारी थे। दोनों के बीच हुई आध्यात्मिक वार्ता अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। चैतन्यदेव से प्रभावित होकर वे उनके अनुगामी हो गये।

उसके बाद वे भगवान् श्रीकृष्ण का नित्य क्रीड़ास्थल व्रज में आये थे। वहाँ उन्होंने श्रीकेशव भगवान् के दर्शन किये थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने गोवर्धन, राधा-कुण्ड, नन्दगाँव, कामवन आदि लीलास्थलों का भी दर्शन तथा पर्यटन किया था। गोवर्धन पहुँचने पर उन्हें व्रजवासियों द्वारा श्रीनाथ गोपालजी के विग्रह को गाँठौली के वन में ले जाने की सूचना मिली। वे गाँठौली जाकर ही श्रीगोपालजी के दर्शन किये थे। वृन्दावन के सम्पूर्ण पावन स्थलों के दर्शन कर नवद्वीप लौट आये तथा अपने भक्तों को व्रज-लीलास्थलों के पुनरुद्धार के लिए प्रेरित किया।

महाप्रभु ने द्वीप के घोर अत्याचारी जगाई-मधाई का उद्धार किया तथा श्रीनित्यानन्द, श्रीहरिदास ठाकुर, अद्वैताचार्य श्रीगदाधर आदि की सहायता से महा संकीर्तन का आयोजन कर सम्पूर्ण गौड़ प्रदेश को संकीर्त्तन से गुंजरित कर दिया। उनके इस दिव्य कार्य तथा मधुर स्वभाव से प्रभावित होकर हुसेन शाह ने, जो पहले उनके विद्वेषियों के उकसाने से प्रभावित होकर संकीर्त्तन बन्द होने का आदेश दिया था, उस पावन कार्य में बाधा देना बन्द कर दिया। महाभाव की स्थिति में तन्मय होकर महाप्रभु बादल को कृष्ण समझकर नाचने लगते थे। श्रीकृष्ण शब्द को सुनकर वे सारी सुध-बुध भूल जाते थे तथा 'श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' कहकर रो पड़ते थे। कभी वे पूर्ण चन्द्रमा को श्रीकृष्ण का मुखारविन्द समझकर निर्निमेष दृष्टि से देखते रहते थे।

यद्यपि इनका प्रधान उद्देश्य भगवद्भक्ति और भगवन्नाम का प्रचार करना और जगत् में प्रेम और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करना था, तथापि इन्होंने दूसरे धर्मों और दूसरे साधनों की कभी निन्दा नहीं की। इनके भक्ति-सिद्धान्त में द्वैत और अद्वैत का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है। महाप्रभु में अहंकार लेशमात्र भी नहीं था। प्रारम्भ में वे न्यायदर्शन के महान् पण्डित थे। उन्होंने न्यायदर्शन पर एक अपूर्व ग्रन्थ लिखा था, जिसे देखकर उनके एक मित्र को बड़ी ईर्ष्या हुई। उनके मित्र को भय हुआ कि उस ग्रन्थ के प्रकाश में आ जाने पर उनके ग्रन्थ का समादर कम हो जायगा। महाप्रभु को यह बात ज्ञात हुई। उन्होंने हँसते हुए अपने ग्रन्थ को गंगाजी में बहा दिया।

श्रीअद्वैत महाप्रभु को विश्वरूप का दर्शन कराना तथा नित्यानन्द प्रभु को एक बार शंख, चक्र, गदा, पद्म, शार्ंगधनुष तथा मुरली लिए हुए षड्भुज नारायण

के रूप में, दूसरी बार दो हाथों में मुरली और दो हाथों में शंख, चक्र लिए हुए चतुर्भुज रूप में और तीसरी बार द्विभुज श्रीकृष्ण के रूप में दर्शन देना, अपनी माता शचीदेवी को श्रीनित्यानन्द प्रभु के साथ बलराम और कृष्ण के रूप में दर्शन देना, तथा गोदावरी के तट पर राय रामानन्द के सामने युगल रूप में प्रकट होना प्रभृति अलौकिक चमत्कारों से उनका ईश्वरत्व प्रकट होता है।

महाप्रभु सदैव श्रीकृष्ण-प्रेम में मग्न रहते थे। उनके नेत्रों से सदा प्रेमाश्रुओं की अविरल धारा बहती रहती थी। महाभाव की स्थिति में तन्मय महाप्रभु समुद्र के किनारे घूम रहे थे। समुद्र के शान्त नीले रंग की जलराशि को वे श्रीकृष्ण समझकर उसमें कूद पड़े तथा अपने परम प्रेमास्पद श्रीकृष्ण में लीन हो गये।

महाप्रभु के अवतार के हेतु

गौड़ीय वैष्णवों ने श्रीकृष्ण के अवतार के तीन हेतु बतलाये हैं। 'चैतन्य-चरितामृत' में कहा गया है कि श्रीकृष्ण के हृदय में तीन इच्छाएँ उत्पन्न हुईं: (क) मेरे अद्भुत माधुर्य का आस्वादन राधिका जिस प्रेम के द्वारा करती है, उस प्रेम की महिमा किस प्रकार की है; (ख) उस प्रेम द्वारा मेरे जिस माधुर्य का आस्वादन करती है, वह माधुर्य और उनका आस्वादन किस प्रकार का है तथा (ग) आस्वादित सुख किस प्रकार का है। इस लोभ से आकृष्ट होकर श्रीकृष्ण शची माता के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए।[1]

श्रीकृष्ण ही जिसके लिए सब कुछ हैं, ऐसी श्रीराधा के मादनाख्य भाव से परिपूर्ण होकर श्रीकृष्ण ने अपने माधुर्य का आस्वादन किया। इस प्रकार, श्रीकृष्ण ने श्रीराधा का भाव तथा साथ ही उनका गौरवर्ण दोनों से युक्त राधा-भाव-द्युति-सुवलित होकर श्रीगौरांगमहाप्रभु (श्रीचैतन्य) के रूप में अवतार लिया।

श्रीराधिकाजी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सभी भक्तों में श्रेष्ठ हैं। अतः, सर्वश्रेष्ठ भक्त श्रीराधिका का भाव अंगीकार करने के कारण श्रीगौरांग को भक्तावतार कहा जाता है।[2]

---

१. श्रीराधायाः प्रणय-महिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृश वेति लोभा-
त्तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥
(चैतन्यचरितामृत, आदिलीला, १:६)

२. चैतन्यचरितामृत, पृ० ६ (पादटिप्पणी ६)।

प्रेमाभक्ति के सम्बन्ध में राय रामानन्द से वार्तालाप

श्रीकृष्णदास कविराज ने चैतन्यचरितामृत में श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा राय रामानन्द के बीच हुई वार्ता का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। गौड़ीय वैष्णवों के लिए वह वार्ता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—सम्पूर्ण विद्याओं की सार कौन विद्या है। रायरामानन्द ने कहा कि कृष्णभक्ति के अतिरिक्त और कोई विद्या नहीं है।[1]

सम्पूर्ण कीर्त्तियों में जीव की सबसे बड़ी कीर्त्ति कौन-सी है? जिसकी कृष्ण-भक्त के रूप में ख्याति हो, उसी की सबसे बड़ी कीर्त्ति है।[2]

सम्पत्तियों में जीव की कौन-सी सम्पत्ति गण्य होती है? जिसे राधाकृष्ण से प्रेम हो, वही सबसे बड़ा धनी है।[3] इस तरह श्रीचैतन्यदेव ने बहुत-से प्रश्न किये तथा श्रीराय रामानन्द ने उनके उत्तर दिये।[4] इसके अतिरिक्त महाप्रभु ने उनके वचनामृत का पानकर, और भक्ति के सम्बन्ध में और भी जिज्ञासा की।[5] उन्होंने भक्ति के

---

१. प्रभु कहे कोन विद्या विद्यामध्ये सार।
राय कहे कृष्णभक्ति विना विद्या नाहि आर॥

२. कीर्त्तिगणमध्ये जीवेर कौन बड़ कीर्त्ति।
कृष्ण प्रेम-भक्ति बलि यारे हय ख्याति॥

३. सम्पत्तिमध्ये जीवेर कोन सम्पत्ति गणि।
राधाकृष्ण प्रेम यार सेइ बड़ धनी॥

४. दुःख मध्ये कोन दुःख हय गुरुतर।
कृष्ण भक्त विरह विनु दुःख नाहि आर॥
मुक्तमध्ये कोन जीव मुक्त करि मानि।
कृष्णप्रेम यार सेइ मुक्त-शिरोमणि॥
श्रेयोमध्ये कोन श्रेय जीवेर हय सार।
कृष्णभक्त संग विना श्रेय नाहि आर॥
काहार स्मरण जीव करे अनुक्षण।
कृष्णनाम गुणलीला प्रधान स्मरण॥
ध्येयमध्ये जीवेर कर्त्तव्य कोन ध्यान।
राधाकृष्ण पदाम्बुज-ध्यान प्रधान॥
सर्वत्यागी जीवेर कर्त्तव्य काहाँ वास।
व्रजभूमि वृन्दावन याहाँ लीलारास॥ (चैतन्यचरितामृत)

५. प्रभु कहे—आगे कह, शुनिते पाइ सुखे।
अपूर्व अमृत नदी बहे तोमार मुखे॥

सम्बन्ध में एक-एक कर बातें बताईं। परन्तु, प्रत्येक बार महाप्रभु कहते गये—'एहो बाह्य आगे कह आर' (अर्थात्, यह भी बाह्य है और आगे कहो)। जब राय रामानन्द ने सख्य और वात्सल्य भक्ति को श्रेष्ठ एवं साध्य बताया, तब महाप्रभु ने भी इन्हें स्वीकार किया। परन्तु, इतने से ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। अतः, महाप्रभु ने जिज्ञासा की—'एहोत्तम, आगे कह आर।' इसपर राय रामानन्द ने कहा—'कान्ताप्रेम सर्वसाध्य सार।' इसके बाद भी उन्होंने कहा—'निश्चित रूप से यही चरम साध्य है, लेकिन इसके बाद भी और कुछ हो, तो कृपाकर कहो।' राय रामानन्द ने कहा कि इसके बाद के सम्बन्ध में भी कोई पूछे, ऐसा जन इस भुवन में है, इतने दिनों तक नहीं जानता था। इसके बीच यानी कान्ता-भाव में भी राधा का प्रेम साध्य शिरोमणि है, जिसकी महिमा का वर्णन सभी शास्त्रों में है।[1]

इस तरह महाभाव के अवतार-स्वरूप महाप्रभु ने राय रामानन्द से वार्त्ता-लाप के माध्यम से गौडीय वैष्णवों के लिए मधुरोपासना का आदर्श निश्चित किया।

शिक्षाष्टक तथा नाम-कीर्त्तन की महिमा

महाप्रभु ने अति महत्त्वपूर्ण आठ उपदेश दिये हैं। उन्हें शिक्षाष्टक कहा जाता है। गौड़ीय वैष्णव इसका पाठ बहुत ही श्रद्धा-प्रेमपूर्वक करते हैं। शिक्षाष्टक में चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—चित्तरूपी दर्पण को परिमार्जित करनेवाला संसार-रूपी महादावानल को बुझा देनेवाला, कल्याण-रूप कुमुद को विकसित करनेवाली ज्योत्स्ना को फैलानेवाला, पराविद्या-रूपी वधू के जीवन-रूप आनन्द-समुद्र को बढ़ानेवाला, पद-पद पर पूर्ण अमृत का आस्वादन प्रदान करनेवाला, सम्पूर्ण आत्मा को आनन्द से सराबोर कर देनेवाला अद्वितीय श्रीकृष्ण-संकीर्त्तन सर्वोपरि विराजमान है।[2]

---

१. प्रभु कहे एइ साध्यावधि सुनिश्चय।
कृपा करि कह यदि आगे किछु हय॥
राय कहे—इहार आगे पुछे हैन जने।
एतदिन नाहि जानि आछये भुवने॥
इहार मध्ये राधार प्रेम साध्य शिरोमणि।
याँहार महिमा सर्व शास्त्रे ते बाखानि॥ (चै० चरितामृत, मध्यलीला, ८।९६—९८)।

२. चेतो दर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयः कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्त्तनम्॥१॥

बृहन्नारदीयपुराण के इस परम पावन श्लोक 'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् । कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ।।' की व्याख्या करते हुए श्रीचैतन्यचरितामृत (आदिलीला, परिच्छेद १७) में श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है—

कलि काले नाम रूपे कृष्ण अवतार ।
नाम हेते हय सर्व जगत् निस्तार ।।
दार्ढ्य लागि हरेर्नाम उक्ति तिन वार ।
जड लोक बुझाइते पुनरेव कार ।।
केवल शब्द पुनरपि निश्चय कारण ।
ज्ञान योग तप कर्म आदि निवारण ।।
अन्यथा ये माने तार नाहिक निस्तार ।
नाहि नाहि नाहि ए तिन एवकार ।।

अर्थात्, कलि में नाम के रूप में श्रीकृष्ण का अवतार है । नाम से सम्पूर्ण चराचर का निस्तार होता है । दृढ़ता के लिए हरेर्नाम की तीन बार आवृत्ति की गई है । जड़ लोगों को समझाने के लिए पुनः 'एव' का प्रयोग किया है और फिर 'केवल' शब्द का और भी निश्चय कराने के लिए प्रयोग हुआ है । उससे ज्ञान-योग-तप-कर्मों आदि का निवारण किया गया है । जिसकी ऐसी मान्यता नहीं है, उसका निस्तार नहीं है । 'एव' के साथ 'नास्ति, नास्ति, नास्ति' तीन बार कहकर इसी का पूर्ण समर्थन किया गया है ।

इसके अतिरिक्त, श्रीचैतन्यचरितामृत की अन्त्य लीला के चतुर्थ परिच्छेद में श्री श्रीमन्महाप्रभु का उपदेश है । वे कहते हैं, कुबुद्धि छोड़कर श्रवण-कीर्त्तन करो । इनके करने से शीघ्र ही कृष्णप्रेम-धन प्राप्त हो जायगा । नीच वर्णों में पैदा होने से ही कोई भजन के अयोग्य नहीं होता । इसके विपरीत, सत्कुल में उत्पन्न ब्राह्मण ही भजन के योग्य हो, ऐसी बात भी नहीं है । जो भजन में लगा है, वही श्रेष्ठ है और जो अशक्त है, वही हीन धूल के समान है । भगवान् दीनों पर अधिक दया करते हैं । कुलीन पण्डित और धनी लोग बड़े अभिमानी होते हैं । भजन में नवधा भक्ति श्रेष्ठ है । वह कृष्णप्रेम तथा स्वयं श्रीकृष्ण को प्रदान करने में शक्तिशाली होती है । उसमें भी नाम-संकीर्त्तन सर्वश्रेष्ठ है । साधुनिन्दा आदि दस अपराधों का त्याग करके नाम लेने पर प्रेमधन प्राप्त होता है ।[1]

---

१. कुबुद्धि छाड़िया कर श्रवण-कीर्त्तन ।
अचिरात् पाबे तबे कृष्ण-प्रेमधन ।।
नीच जाति नहे कृष्ण-भजने अयोग्य ।

वे 'नाम' और 'कृष्ण' में अन्तर नहीं मानते है। उन्होंने नाम-श्रवण से ही सम्पूर्ण पापों का नाश बताया है। कृष्ण और हरि नाम अत्यन्त मधुर है। कृष्ण को भजनेवाला ही सबसे बढ़कर चतुर है।[1]

इसी तरह शिक्षाष्टक के दूसरे श्लोक में वे कहते हैं—'भगवन्! आपने अपने गोविन्द, गोपाल, वनमाली इत्यादि अनेक नाम प्रकट किये हैं और उन नामों में अपनी सम्पूर्ण शक्ति निहित कर दी है। श्रीनाम-स्मरण में कोई कालाकाल का विचार भी नहीं रखा है। आपकी तो इस प्रकार की कृपा है और इधर मेरा भी इस प्रकार का दुर्भाग्य कि ऐसे श्रीहरिनाम में अनुराग नहीं हुआ।[2]

वैष्णवगणों के आवश्यक धर्म का निर्देश करते हुए वे कहते हैं कि तृण की अपेक्षा भी अतिशय नीच एवं वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होकर स्वयं अमानी रहते हुए दूसरे को मान प्रदान करके निरन्तर श्रीहरिनाम या उनकी लीलादि का गान करना ही एकमात्र कर्त्तव्य है।[3]

सांसारिक सम्पूर्ण एषणाओं से मुक्त होकर वे एकमात्र निष्काम भक्ति की याचना करते है—'जगन्नाथ! मैं धन, जन, कामिनी, काव्य अथवा पाण्डित्य की कामना नहीं करता। परमेश्वर-स्वरूप तुम्हारे प्रति जन्म-जन्मान्तर में मेरी अकारण भक्ति हो।'[4]

सत्कुल बिप्र नहे भजनेर योग्य ॥
येई भजे सेई बड़, अभक्त हीन छार ।
कृष्ण-भजने नाहि जाति कुलादि विचार ॥
दीनेरे अधिक दया करे भगवान ।
कुलीन पण्डित धनीर बड़ अभिमान ॥
भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति ।
कृष्ण-प्रेम कृष्ण दिते धरे महा भक्ति ॥
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम-संकीर्त्तन ।
निरपराधे नाम लले पाय प्रेमघन ॥

१. येई 'नाम' सेई 'कृष्ण' भजे निष्ठाकरि। नामेर सहित आछ आपनि सुन सुन ओरे भाई नाम-संकीर्त्तन। ये नाम श्रवणे-श्री हरि॥ हाय पाप विमोचन। कृष्ण नाम हरि नाम बड़इ मधुर। येन जन कृष्ण भजे से बड़ चतुर॥ (श्रीचैतन्यचरितामृत)

२. शिक्षाष्टक, श्लोक २।

३. वही, श्लोक ३।

४. वही, श्लोक ४।

महाभाव की स्थिति की कामना करते हुए वे कहते हैं—गोपीजनवल्लभ ! कब आपके श्रीनामग्रहण के समय मेरे दोनों नेत्र बहती हुई अश्रुधारा से, मेरा वदन गद्‌गद होने के कारण रुकी हुई वाणी से तथा मेरा शरीर रोमांच से युक्त होगा।[१]

श्रीकृष्ण के विरह में तो उनकी व्याकुलता प्रतिक्षण बढ़ रही है। एक-एक निमेष युग के समान बीत रहा है। नेत्रों में मानों वर्षा ऋतु छायी हुई है तथा उन्हें सम्पूर्ण संसार शून्य-सा लग रहा है।[२]

अनन्य भाव से भगवान् के पादपद्‌मों की छाया में पड़े हुए महाप्रभु कहते हैं—नन्दनन्दन। तुम्हारा दास मैं घोर दुष्पार संसार-सागर में पड़ा हुआ हूँ। मुझको कृपापूर्वक अपने पाद-पद्‌म की धूल के समान समझिए।[३]

अन्त में वे कहते हैं—चरण-सेवा में लगे हुए मुझको वे गले से लगा लें या पैरों तले रौंद डालें, अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें। उन परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण की जो इच्छा, वही करें, तथापि मेरे तो ये ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।[४]

श्रीरूपगोस्वामी

श्रीरूपगोस्वामी का जन्म सन् १४९९ ई० में हुआ था। उनके पिता का नाम कुमारदेव तथा माता का श्रीमती रेवती देवी था। ये भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी वंश-परम्परा के पर्यालोचन करने पर पता चलता है कि इनके पूर्वज कभी कर्णाटक के राजा थे। श्रीरूपशिक्षा में इनकी वंश-परम्परा इस प्रकार

---

१. नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्‌गदरुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति ।।
(शिक्षाष्टक, श्लोक ५)

२. युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे ।। (वही, श्लोक ९)

३. अयि नन्दतनूज किङ्करं
पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।
कृपया तव पादपङ्कज—
स्थितधूलीसदृशं विचिन्तय ।।
(वही, श्लोक ७) ।।

४. आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ।।
(वही, श्लोक ८)

मिलती है—"उपयुक्त वंश-परिचय से जाना जाता है कि कर्णाटकराज श्रीसर्वज्ञ के पुत्र अनिरुद्ध, अनिरुद्ध के पुत्र रूपेश्वर, रूपेश्वर के पुत्र पद्मनाभ, पद्मनाभ के पुत्र मुकुन्द, मुकुन्द के पुत्र कुमारदेव, कुमारदेव के द्वितीय पुत्र श्रीरूप" ये उद्भट विद्वान् थे। कुछ दिन तक ये बंगाल के नवाब हुसेन साह के प्रधानमन्त्री थे। नवाब ने इनका नाम कबीरखास रख दिया था। परन्तु, बाद में रामकेलि ग्राम में जब चैतन्य महाप्रभु से प्रथम बार भेंट हुई थी, तब तो उन्होंने इनका नाम 'रूप' रखा। महाप्रभु के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इन्होंने अपने गौरवमय पद को ठुकरा-कर संन्यास ले लिया। पुनः श्रीचैतन्यचरण-प्राप्ति के लिए उन्हें कृष्णमन्त्र का पुरश्चरण करना पड़ा था। चैतन्य से इनकी भेंट प्रयाग में हुई। ये भी महा-प्रभु के साथ अड़ेल ग्राम में श्रीवल्लभाचार्यजी के यहाँ गये थे।

महाप्रभु ने इन्हें प्रयाग में ही दस दिनों तक तत्त्वज्ञान की शिक्षा दी। वृन्दावन के लुप्त तीर्थों का उद्धार करने की प्रेरणा प्राप्त कर वे वहाँ चले गये। वहाँ वे एक आदर्श वैष्णव का जीवन बिताते थे। अपने प्रिय सन्त भाई श्रीसनातन गोस्वामी के साथ वृन्दावन में वे जिस प्रकार रहते थे, उसका बहुत ही सात्त्विक चित्रण 'चैतन्य-चरितामृत' में मिलता है—"बिना घर बाँधे दोनों रहते। जितने वृक्ष थे, उनमें से एक-एक वृक्ष के नीचे एक-एक रात्रि शयन करते। (किसी वृक्ष के नीचे भी एक दिन से अधिक नहीं रहते)। किसी ब्राह्मण के घर उतनी ही भिक्षा लेते थे, जितने से काम चल जा सकता था और फिर कभी मधुकरी से ही सन्तुष्ट हो जाते थे। उन्होंने सम्पूर्ण भोगों का परित्याग कर दिया था तथा सूखी रोटी खाकर और चने चबाकर रह जाते थे। वे आठों पहर भगवान् श्रीकृष्ण का भजन करते रहते और केवल चार ही घड़ी शयन करते थे। कभी-कभी तो नाम-संकीर्त्तन में तन्मय होने के कारण उतना भी नहीं सो पाते। कभी वे भक्ति-रसशास्त्र को लिखते और कभी चैतन्य महाप्रभु की लीला सुनते तथा उन्हीं का चिन्तन करते थे :

अनिकेतन दोहे रहे, जत वृक्ष गण।
एकेक वृक्षेर तले एकेक रात्रि शयन॥
विप्रगृहे स्थूल भिक्षा, काहों मधुकरि।
शुष्क रूटि-चाना चाबाय, भोग परिहरि॥
करोया मात्र हाथे कांथा छिड़ा बहिर्वासि।
कृष्ण-कथा कृष्णनाम नर्त्तन उल्लास॥
अष्ट प्रहर कृष्णभजन चारि दण्ड शयने।
नाम-संकीर्त्तन मे हों नहे कत दिने॥

---

१. श्रीरूपशिक्षा : श्रीरूपगोस्वामी, श्रीरूपगोस्वामी का संक्षिप्त परिचय, पृ० ५।

कभु भक्ति-रसशास्त्र करये लिखन।
चैतन्य कथा सुने, करे चैतन्य चिन्तन ॥
(चै० च० म०, १९।११५-११९)

श्रीगोविन्ददेवजी ने इन्हें स्वप्न में अपने को जमीन में गड़ा रहने के सम्बन्ध में कहा। उन्होंने निर्दिष्ट स्थान से भगवान् के श्रीविग्रह को निकाला और वे उनकी पूजा करने लगे। बाद में यह बात जयपुर के महाराज मानसिंह के कानों में पड़ी। उन्होंने श्रीगोविन्ददेवजी के लिए बहुत ही सुन्दर तथा विशाल मन्दिर बनवाया। श्रीवृन्दावन के सौन्दर्य की वृद्धि करनेवाली वस्तुओं में इनका भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने व्रज के अनेक लीलास्थलों का उद्धार किया था। व्रज में वे जहाँ-जहाँ रहते थे, उन स्थानों में भजन-कुटियों के अवशेष आज भी मिलते हैं।

संस्कृत-भाषा के प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण उनके भक्ति-ग्रन्थों में दर्शन के गाम्भीर्य के साथ ही भावुकता की सरिता भी प्रवाहित होती दिखायी पड़ती है। श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा के अनुरूप उन्होंने बहुत-से भक्ति-ग्रन्थों का प्रणयन किया तथा गौड़ीय वैष्णव-धर्म के साधन-भजन की रीति का प्रचार किया। बंगाल से व्रज-वृन्दावन तक वैष्णवता के प्रचार-प्रसार में इनका महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इसके प्रचार के साधनों में उनके प्रणीत नाटकों का विशेष हाथ है, जिसमें श्रीकृष्ण की सरस लीलाओं का मधुर वर्णन प्रस्तुत किया गया है। ललितमाधव और विदग्धमाधव इनके प्रसिद्ध नाट्यग्रन्थ हैं। उन्होंने 'उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिरस का शास्त्रीय विवेचन किया है। इनके अतिरिक्त इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं लघुभागवतामृत, ललितमाधव, विदग्धमाधव, दानकेलि-कौमुदी, स्तवमाला, श्रीराधाकृष्णगणोद्देशदीपिका, मथुरामाहात्म्य, उद्धवसन्देश, हंसदूत, श्रीकृष्णजन्म-तिथिविधि, पदावली, आख्यातचन्द्रिका तथा नाटक-चन्द्रिका आदि। ये श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी के शिक्षागुरु थे। कहते हैं मीराँबाई ने इन्हीं से दीक्षा ली थी। भक्तवर श्रीरूपगोस्वामी ने सन् १५६३ ई० में गोलोकवास किया।

महाप्रभु द्वारा श्रीरूप-गोस्वामी के प्रति जीव-मीमांसा

भक्ति के सन्दर्भ में श्रीरूपगोस्वामी को शिक्षा देते हुए महाप्रभु ने जीवों के अनेक भेद किये हैं। उनके जीवों के चौरासी लाख भेद वेदादि-सम्मत हैं।[1] जीवों के अतिसूक्ष्म स्वरूप का विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि बाल

१. एइत ब्रह्माण्ड भरि अनन्त जीव गण।
चौरासी लक्ष योनि ते करये भ्रमण ॥१२५॥

के अग्रभाग के यदि सौ भाग करके उनके एक भाग के पुनः सौ भाग किये जायँ, तो उसके प्रत्येक भाग के परिमाण के अनुरूप जीव का भी स्वरूप होगा।[१] इन अनन्त जीवों में स्थावर-जंगम के भेद भी अनन्त हैं। जंगम जीवों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। उनमें भी ज्ञानी तथा करोड़ों मुक्त आत्माओं में भी श्रीकृष्ण का एक भक्त श्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त निष्काम होने के कारण नित्य अविचल शान्ति-सुख को प्राप्त करते हैं, परन्तु जो ऐहिक तथा पार-

श्रीकृष्णभक्त की सर्वश्रेष्ठता

चौरासी लक्ष योनि ते करये भ्रमण ।।१२५।।
आकर चार लाख चौरासी । जाति जीव जल थल नभ बासी ।।

(रामचरितमानस, बालकाण्ड)

आकर चार लाख चौरासी । भ्रमत फिरत यह जीव अविनासी ।।

(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

अथवा

जलजा नव लक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः ।
क्रमयो रुद्रसंख्याकाः पक्षिणो दशलक्षकम् ।।
त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानुषाः ।
सर्वयोनिं परित्यज्य ब्रह्मयोनिं ततोऽभ्यगात् ।।

अर्थात्, जीव नौ लाख बार जलज-योनि में, बीस लाख बार स्थावर-योनि में, ग्यारह लाख बार कृमियोनि में, दस लाख बार पक्षियोनि में, तीस लाख बार पशुयोनि में और चार लाख बार मनुष्य-योनि में भ्रमण करता है। इसके बाद सब योनियों को छोड़कर ब्रह्मयोनि को प्राप्त होता है।

१. केशाग्रशतैकभाग पुनः शतांश करि।
तार सम सूक्ष्म जीवेर स्वरूप विचारि ।।१२६।।
श्रीमद्भागवतमहापुराण में भी यह बात ठीक इसी रूप में दिखाई पड़ती है :
केशाग्रशतभागस्य शतांशसदृशात्मकः ।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः ।। (१०।८७।३०।)

इसकी संस्कृत-टीका इस प्रकार की गई है :

केशाग्रेति । अयं जीवः चित्कणः चित्स्वरूपस्य कणः पुञ्जायमानाग्नीनां स्फुलिंगो भवति यथा। कथम्भूतः केशाग्रशतभागस्य य एको भागः पुनः तच्छतांशस्यैकांशसदृशं समानात्मकं स्वरूपं यस्य सः। पुनः कीदृशः सूक्ष्मं अतिक्षुद्रं स्वरूपं मूर्तिर्यस्य सः पुनः संख्यातीतः हि निश्चितम्।

अर्थात्, केशाग्र के शत भाग का एक भाग लिया जाय, उस एक भाग के शतांश के तुल्य सूक्ष्म जीव का स्वरूप है। यह चैतन्य-स्वरूप के कण के तुल्य है एवं संख्या में अनन्त है।

लौकिक सुख के आकांक्षी हैं अथवा जो मुक्ति तथा विविध सिद्धियों की प्राप्ति की कामना करते हैं, वे आत्मसुख-वासना के कारण सदा चंचलचित्त होते हैं और चंचलचित्तवाले को शान्ति नहीं प्राप्त होती है।[1]

श्रीरूपगोस्वामी के प्रति भक्ति-निरूपण

इस ब्रह्माण्ड में अनेक योनियों में भटकता हुआ कोई भाग्यशाली जीव ही गुरु और श्रीकृष्ण की महती कृपा से भक्ति-लता का बीज प्राप्त करता है, अर्थात् भजनादि की ओर अभिमुख होता है।[2] अतः, जैसे प्राकृत बीज के अंकुरण तथा संवर्धन के लिए जलादि की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार महत्कृपा से प्राप्त भक्तिलता-बीज को साधक माली की तरह श्रवण-कीर्त्तन के जल से

---

१. तार मध्ये स्थावर-जंगम दुइ भेद।
जंगमे तिर्यक् जल-स्थल-चर-विभेद।। (१२७)

... ...

कोटि ज्ञानी मध्ये हम एक जन मुक्त।
कोटि मुक्त मध्ये दुर्लभ एक कृष्ण भक्त।। (१३६)
कृष्ण भक्त निष्काम, अतएव शान्त।
भुक्ति मुक्ति सिद्धिकामी सकलि अशान्त।। (१३२)

श्रीमद्भागवत में भी कृष्ण-भक्त की दुर्लभता बताई गई है :

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामने।। (१६)

श्रीजीवगोस्वामी ने इसकी टीका इस प्रकार की है—मुक्तानां प्राकृतशरीरस्थत्वेऽपि तदभिमान-शून्यानाम्। सिद्धानां प्राप्तसालोक्यादीनां च कोटिष्वपि मध्ये नारायणसेवामात्राकाङ्क्षी सुदुर्लभः। प्रशान्तात्मा सर्वोपद्रवरहितः।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी टीका यों की है—मुक्तानामपि मध्ये कश्चिदेव सिध्यतीति। तत्रैतदुक्तं भवति। मोक्षसाधनवन्तोऽपि बहवो मुक्ता न भवन्ति, किन्तु केचिदेव? मुक्ता अपि सर्वे सिद्धा न भवन्ति, केचिदेव। जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः।। इत्याद्युक्तेः च सिद्धाः सन्निहितसायुज्याः एवोच्यन्ते तेषां मध्ये नारायण-परायण इति निर्द्धारणानुपपत्तेः षष्ठीयं पञ्चम्यर्थं एव। ततश्च मुक्तेभ्यः सिद्धेभ्यश्च सकाशात् नारायणपरायणः श्रेष्ठत्वात् सुदुर्लभः।

अर्थात्, श्रीशुकदेवजी के प्रति परीक्षित महाराज कहते हैं—हे महामुने! जो लोग जीवन्मुक्त हैं और जिनकी सायुज्य मुक्ति निकट ही है, उन कोटि जनों में से भी (श्रेष्ठत्व की दृष्टि से) नारायणसेवापरायण एक भक्त भी सुदुर्लभ है।

२. ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।
गुरु कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलता बीज।। (१३५)

अभिसिंचित करता है।[१] भक्ति-लता जब उत्पन्न हो जाती है, तब वह ब्रह्माण्ड को बेधकर ऊपर चली जाती है। इतना ही नहीं, वह विरजा तथा ब्रह्मलोक का भी भेदन कर परव्योम में पहुँच जाती है।[२] पुनः उसका भी अतिक्रमण करती हुई गोलोकधाम एवं वृन्दावन तक जाती है। वहाँ परब्रह्म परमेश्वर श्रीकृष्ण के चरण-रूपी कल्पवृक्ष का आश्रय लेती है।[३] वहाँ पहुँचकर वह विस्तार को प्राप्त करती है तथा उसमें अत्यन्त सुमधुर प्रेम-रूपी फल फलता है। परन्तु, यहाँ साधक अपने हृदय में अवस्थित उसकी जड़ को श्रवणादि रूपी जल से सिंचित करता है तथा उसकी सुरक्षा के लिए सदा सावधान रहता है।[४] परन्तु, उसे इस परम दिव्य लतिका की सुरक्षा के लिए सदा सावधान रहना चाहिए। क्योंकि, जरा-सा असावधान हो जाने

चैतन्यचरितामृत में भी इसका समर्थन किया गया है :

महत्-कृपा बिना कोन कर्म्मे भक्ति नय।

कृष्ण-भक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय ॥ (२२।२३)

भजन की प्रवृत्ति को ही भक्तिलता-बीज कहते हैं। वही जब पुष्ट होती है, अर्थात् भजन अहर्निश तैलधारावत् होने लगता है, तब स्वतः श्रीकृष्ण के प्रति राग गाढ़ा होता जाता है और उससे श्रीकृष्ण-सेवा की वासना जगती है। सेवा की वासना ही भक्तिलता कही जाती है। भजन की प्रवृत्ति में साधु या गुरुकृपा ही मूल हेतु है। श्रीकृष्ण भजन करने की अन्तःप्रेरणा करते हैं, परन्तु सामान्य जन को उसका बोध नहीं होता, अतः सत्संग की प्राप्ति कराते हैं। श्रीकृष्ण-कृपा से तात्पर्य इसी से है।

१. कृष्ण यदि कृपा करे कौन भाग्यवाने।
गुरु-अन्तर्यामी रूपे शिखाय आपने ॥
(चै० च० म०, २२।३०)
जीवे साक्षात् नाहि ताते गुरु चैतन्यरूपे।
शिक्षा गुरु हय कृष्ण महान्त स्वरूपे ॥
(चै० च० म०, १।२६)
माली ह करे सेइ बीज आरोपन।
श्रवण-कीर्तन-जले करये सेचन ॥१३४॥

२. उपजिया बाढे लता ब्रह्माण्ड भेदि जाय।
विरजा ब्रह्मलोक भेदि परव्योम पाय ॥१३५॥

विरजा कहते हैं कारण-समुद्र को। महाप्रलय में सभी जीव अपने कर्मादि के संस्कारो के साथ रहते हैं। परन्तु, यह लता तो इनका भी अतिक्रमण कर देती है। अर्थात्, जिनके मन में भक्ति-लता लहराती है, उनके कोई भी कर्म बन्धन करनेवाले नहीं होते।

३. तबे जाय तदुपरि गोलोक वृन्दावन।
कृष्ण चरण कल्पवृक्षे करे आरोहण ॥

४. ताहाँ विस्तरित ह फले प्रेमफल।
इहाँ माली सेचे नित्य श्रवणादि जल ॥

पर उसे वैष्णवापराध-रूपी मतवाला हाथी नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है।[१] अतः, साधक-रूपी माली को उसकी रक्षा बड़े प्रयत्न से करनी चाहिए, ताकि अपराध-रूपी हाथी इसके समीप भी न आ सके।[२] इतना ही नहीं, साधक को इस बात के लिए भी सावधान रहना चाहिए कि कहीं इसपर मुक्ति तथा अन्य कामनारूपी परजीवी लताएँ अभिवृद्धि को प्राप्त न हो सकें।[३] क्योंकि, बढ़ी हुई वे विजातीय लताएँ मूल लता, अर्थात् भक्तिलता को बढ़ने नहीं देतीं।[४] यदि साधक सदा सतर्क रहकर भक्ति बनाये रहता है, तो वह श्रीकृष्ण के चरणरूपी कल्पवृक्ष का सेवन करता हुआ लता को अपने हृदय में हरा-भरा रखकर आनंदपूर्वक प्रेम-रूपी फल के रस का आस्वादन करता है।[५] इसी सुमधुर प्रेमफल को परमफल या परम पुरुषार्थ कहते हैं, जिसके सामने पुरुषार्थचतुष्टय नगण्य-सा है।[६]

---

१. यदि वैष्णव-अपराध उठे हाथी माता।
उपाड़े वा छिड़े, तार शुकि जाय पाता ।।१३८।।

संक्षेप में वैष्णवापराध ये हैं—किसी भी वैष्णव के प्रति प्रहार करने से, द्वेष करने से, उसकी निन्दा करने से, अनादर करने से, क्रोध करने से अथवा वैष्णव को देखकर हर्ष-प्रकाश न करने से वैष्णवापराध होता है।

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवानाभिनन्दति।
कुप्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट् ।।
(ह० मा० वि०, १०।२।३९)

२. ताते माली यत्न करि करे आवरण।
अपराध-हस्ती जैछे ना हय उद्‌गम ।।१३९।।

३. किंतु यदि लातार अंगे उठे उपशाखा।
भुक्ति मुक्ति वांछा जत असंख्य तार लेखा ।।१४०।।

४. सेकजल पाइया उपशाखा बाढ़ि जाय।
स्तब्ध हय मूलक शाखा बाढ़िते ना पाय ।।१४२।।

५. ताहां सेइ कल्पवृक्षेर करये सेवन।
सुखे प्रेमफल-रस करे आस्वादन ।।१४५।।

६. एइ त परम फल परम पुरुषार्थ।
जार आगे तृण-तुल्य चारि पुरुषार्थ ।।१४६।।

ललितमाधव में भी इस सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर कहा है—

ऋद्धा सिद्धिव्रजविजयिता सत्यधर्मा समाधि-
ब्रह्मानन्दो गुरुरपि चमत्कारयत्येव तावत्।
यावत् प्रेम्णा मधुरिपुवशीकारसिद्धौषधीनां
गन्धोऽप्यन्तःकरणसरणीपान्थतां न प्रयाति ।।२०।।

ऋद्धेति। मधुरिपुः श्रीकृष्णः तस्य वशीकाराय . . . . . . चमत्कारं करोति इत्यर्थः अर्थात्, श्रीकृष्ण-वशीकरण के लिए सिद्धौषधि-स्वरूप प्रेमसमूह किंचित् अंश भी जबतक अन्तःकरण-पथ का पथिक न हो जाय, अर्थात् अन्तःकरण में न आ जाय, तब तक समृद्धशाली अणिमादि सिद्धि-समूह की उत्कृष्टता, सत्यधर्मोपेत समाधि एवं निर्विशेषब्रह्मानुभवजनित महानन्द भी चमत्कारिता सम्पादन करने मे समर्थ होते हैं।

इस मधुरातिमधुर प्रेमफल की प्राप्ति के लिए शुद्धाभक्ति परमावश्यक है। इसमें सम्पूर्ण कामनाओं, अन्य देवता की पूजा तथा ज्ञान और कर्म की विविध साधनाओं को छोड़कर एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र की ही आराधना सर्वात्मना करनी चाहिए।[1]

परन्तु, यदि हृदय में अन्यान्य भोग-वासनाएँ एवं मुक्ति आदि की इच्छा विद्यमान है, तो साधना करने पर भी प्रेमोदय नहीं हो सकता है।[2]

---

१. अन्य वांछा अन्य पूजा छाड़ि ज्ञानकर्म।
आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन ॥१४८॥

यह अनन्य भक्ति का स्वरूप है। 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' में इसका बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है :

अन्य अभिलाष छाड़ि, ज्ञान-कर्म्म परिहरि, काय-मने करिब भजन।
साधुसंगे कृष्णसेवा, ना पूजिब देवी देवा, एइ भक्ति परम कारण ॥११॥
योगी-न्यासी, कर्म्मी ज्ञानी, अन्यदेव-पूजक ध्यानी, इहलोक दूरे परिहरि।
धर्म्म-कर्म्म दुःख शोक, जेवा थाके अन्य योग, छाड़ि भज गिरिवरधारी ॥१४॥
हृषिकेषगोविन्द सेवा, ना पूजिब देवी देवा, एइ त अनन्य भक्ति हय ॥१७॥

अन्यदेवता की पूजा छोड़ने का तात्पर्य है कि भगवान् ही सम्पूर्ण रूपों में अभिव्यक्त हैं। अतः, उनकी पूजा करने से ही सबकी पूजा हो जाती है। गीता में लिखा भी है कि जो अन्य देवी-देवताओं की उपासना करते हैं, वे मेरी ही उपासना करते हैं, परन्तु वह अज्ञानपूर्वक है। (गीता) परन्तु, इसके साथ ही सभी देवताओं के प्रति श्रद्धाबुद्धि ही रखनी चाहिए। शास्त्रसम्मत उनकी पूजा भी करनी चाहिए। पद्मपुराण में लिखा है :

हरिरेव सदाराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः।
इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन ॥ (पद्मपुराण)

अर्थात्, सर्वदेवेश्वरेश्वर श्रीहरि ही सदा आराधना करने योग्य हैं, फिर भी ब्रह्मा-रुद्रादि अन्य देवताओं की अवज्ञा कदापि नहीं करनी चाहिए।

२. भुक्ति-मुक्ति आदि वांछा यदि मने हय।
साधन करिले प्रेम उत्पन्न ना हय ॥१५०॥

हरिभक्तिरसामृतसिन्धु के पूर्व भाग २११ में भी इसी तरह की बात आई है :

भुक्ति-मुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

श्रीजीवगोस्वामी ने इसकी संस्कृत-टीका यों की है :

अथ मूलमनुसरामः। पूर्वत्र हेतुं व्यतिरेकेणाह भुक्तीति। अत्र मुक्तिस्पृहायामपि पिशाचित्वं भावान्तरेण भुक्तिस्पृहावरकत्वात् पूर्वा परा च स्वोन्मुखतात्पर्यवती च। अत्र यद्यपि भक्ताः एव संसारतो मुक्ता भवत्येव तथापि तदंशे तु तेषां तात्पर्यं न भवत्येव किंतु भक्तेः प्रभावेणैव सा स्यादिति तदेवमनया कारिकया साधकानामपि भुक्तिमक्ति-स्पृहा न युक्तेत्युक्तं अतः सुतरामेव सिद्धानां नास्तीत्यभिप्रायस्तु परत्रोभयविधस्तत्तदुदाहरणेषु ज्ञयः। व्याप्नोति हृदयं यावत् भुक्तिमुक्तिस्पृहाग्रह इति पाठान्तरं तु सुश्लिष्टम्।

अर्थात्, जबतक भुक्ति और मुक्ति की वासना-रूपी पिशाची हृदय में विद्यमान रहेगी, तबतक भक्तिसुख का अभ्युदय कैसे होगा?

पुनः साधन-भक्ति के सतत अभ्यास से प्रेम का जो मूल बीज रति है, उसका उदय होता है और यही रति गाढ़ी होकर प्रेम कही जाती है।[1] यही प्रेम बढ़कर क्रमशः, स्नेह, मान, प्रणय, अनुराग, भाव और महाभाव की संज्ञा को प्राप्त होता है।[2] यह माधुर्य ठीक वैसा ही है, जैसे इक्षु-बीज का ही अन्तिम परिणाम सुमधुर मिश्री होती है।[3]

महाप्रभु ने उपर्युक्त स्नेह, मान, प्रणयादि को स्थायी भाव की संज्ञा दी है, जिसमें भक्तिरस को आस्वादन करने योग्य होने के लिए अनुकूल विभाव, अनुभाव तथा सात्त्विक, संचारी आदि भावों के सम्मिश्रण की आवश्यकता है।[4] उपर्युक्त

---

१. साधन भक्ति हैते हय रतिर उदय।
रति गाढ़ हैले तार प्रेम नाम कय ॥१११॥

प्रेमांकुर, प्रीत्यंकुर और भाव रति के पर्यायवाची शब्द हैं। प्रेमरूपी सूर्य की किरणों के समान अपनी कान्तियों के द्वारा चित्त में कोमलता को उत्पन्न करनेवाला चित्त की परम विशुद्ध, सत्त्वप्रधानावस्था-रूप भक्ति को ही भाव कहते हैं :

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यवदसौ भाव उच्यते ॥ (भ० र० सि०, १।३।१)।

अन्यत्र भी प्रेम की प्रथमावस्था को भाव कहा गया है—प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते। इस भाव से अश्रु-पुलकादि सात्त्विक भाव अल्प मात्रा में उदित होते हैं— सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः। (भ० र०सि०, १।३।३)

परन्तु, जिससे चित्त पूर्णतया स्निग्ध हो एवं जिससे श्रीकृष्ण के प्रति अतिशय ममत्व उत्पन्न हो, ऐसे प्रगाढ भाव को पण्डितों ने प्रेम कहा है :

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥ (भ० र० सि०, १।४।१)

२. प्रेम वृद्धि क्रमे नाम-स्नेह, मान, प्रणय।
राग, अनुराग, भाव, महाभाव हय ॥१५२॥

३. जैछे बीज, इक्षु, रस, गुड़, खण्डसार।
शर्करा, सिता, मिश्री उत्तम मिश्री आर ॥१५३॥

ठीक यही बात 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ में भी दिखाई पड़ती है :

बीजमिक्षुः स च रसः स गुड़ः खण्ड एव सः।
स शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात् सितोपला ॥
(उ० नी०, स्था० ४५)

४. एइ सब कृष्णभक्ति-रसेर स्थायिभाव।
(क) स्थायिभावे मिले यदि विभाव-अनुभाव ॥१५४॥
(ख) सात्त्विक व्यभिचारि-भावेर मिलने।
कृष्णभक्ति रस हय अमृत आस्वादने ॥१५५॥

भाव, विभाव अनुभाव तथा संचारी भाव के सम्मिश्रण से भक्तिरस का स्वाद लोकोत्तर आनन्द देता है, ठीक वैसे ही, जैसे दधि, घृत, शर्करा, मिर्च, कर्पूर आदि का अलग-अलग स्वाद एक में मिल जाने से अतिशय माधुर्य को धारण करता है।[१]

रति भेद से भक्ति के पाँच भेद हो जाते हैं।[२] इनके क्रमशः नाम है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर।[३] इन भक्तों में कुछ तो भगवान् के ऐश्वर्य-बोध-वाले होते हैं तथा कुछ भक्त ऐश्वर्यज्ञान-रहित होते हैं। इसे केवला रति कहते हैं। मधुरोपासक इसी कोटि के भक्त होते हैं।[४] गोकुल में इस भाव की प्रधानता है, परन्तु वैकुण्ठ, द्वारका और मथुरा में ऐश्वर्य-भाव ही प्रधान है।[५]

मधुरोपासना में ऐश्वर्य-ज्ञान की प्रधानता नहीं है; क्योंकि ऐश्वर्य-बोध से उन्मुक्त प्रीति संकुचित हो जाती है।[६] क्योंकि, यह ऐश्वर्यभाव शान्त और दास्य रस को ही उद्दीप्त करता है, शेष वात्सल्यादि का। तो, यह संकोचक ही है।[७] श्रीकृष्ण द्वारा वन्दित चरण होने पर भी उनके ऐश्वर्य-बोध से वसुदेव-देवकी का मन भय से

---

१. जैसे दधि सिता घृत मरीच कर्पूर।
मिलने रसाला हय अमृत मधुर ॥१५६॥
भक्त भेदे रति भेद पंच परकार।

२. (क) शान्तरति दास्यरति सख्यरति आर ॥१५७॥
(ख) वात्सल्य रति, मधुररति ए पंच विभेद।
रति भेदे कृष्ण भक्तिरस पंचविभेद ॥१५८॥

३. शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर रस नाम।
कृष्ण भक्ति-रसमध्ये ए पंच प्रधान ॥१५६॥

४. पुन कृष्णरति हय दुइ त प्रकार।
ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा, केवला भेद आर ॥१६५॥

५. गोकुले केवलारति ऐश्वर्य-ज्ञानहीन।
पुरीद्वये, वैकुण्ठाद्ये ऐश्वर्य प्रवीण ॥१६६॥

६. ऐश्वर्यज्ञान-प्राधान्ये संकोचित प्रीति।
देखिले ना माने ऐश्वर्य केवलार रीति ॥

७. शान्त-दास्य रसे ऐश्वर्य काहां ओ उद्दीपन।
वात्सल्य-सख्य-मधुरे त करे संकोचन ॥१६८॥

व्याकुल हो गया।[1] रुक्मिणी और अर्जुन की भी यही स्थिति केवल ऐश्वर्य-बोध के कारण हुई थी।[2]

परन्तु, विशुद्ध श्रीकृष्ण - प्रेम की स्थिति में ऐश्वर्य का बोध होने पर भी उनके साथ जो सम्बन्ध तथा तद्गत भाव है, वह अविचल बना रहता है।[3] शान्त

---

१. वसुदेव-देवकीर कृष्ण चरण वन्दिल।
ऐश्वर्यज्ञाने दोंहर मने भय हैल ।।१६६।
श्रीमद्भागवत में भी यही भाव दिखाई पड़ता है :
देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सष्वजाते न शङ्कितौ ।।२७।।

पुत्रभ्रान्तिं विहाय जगदीश्वराविति ज्ञात्वा शङ्कितौ न सष्वजाते नालिङ्गितवन्तौ बद्धाञ्जली तस्थतुरित्यर्थः ।

२. गीता श्लोक, (अ०११।४१-४२) तथा श्रीमद्भागवत का श्लोक इसका प्रमाण है :
तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धे—
हस्ताच्छ्लद्वलयतो व्यजनं पपात ।
देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यन्—
रम्भेव वातविहता प्रविकीर्य केशान् ।।
(श्रीमद्भागवत म० पु०, १०।६०।२४) ।

अर्थात् अत्यन्त दुःख, भय और शोक से हतबुद्धि रुक्मिणी के हाथ के कंकण शिथिल हो गये एवं उनके हाथ से व्यजन (चँवर) भूमि पर गिर पड़ा। उनकी संज्ञाशून्य देह भी मोह को प्राप्त होकर बिखरे हुए केशों के साथ, वाताहत केले के वृक्ष की तरह, भूमि पर गिर पड़ी।

३. केवलार शुद्ध प्रेम ऐश्वर्य ना जाने।
ऐश्वर्य देखिलेओ निज सम्बन्ध से माने ।। १७२ ।।
श्रीमद्भागवत में कहा है :
त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्त्वतैः ।
उपजीव्यमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम् ।। (१०।८।४५)

मायाबलोद्रेकमाह त्रय्येति। त्रय्या कर्मकाण्डरूपया इन्द्रादिरूपेण उपनिषद्भिर्ब्रह्मेति सांख्यैः पुरुष इति योगैः परमात्मेति सात्त्वतैर्भगवानित्युपगीयमानंमाहात्म्यं यस्य तम्। (स्वामी)।

अर्थात्, वेदत्रयी के संहितांश में और कर्मकाण्ड में इन्द्रादि देवता रूप से, उपनिषद्, अर्थात् वेद के ज्ञानकाण्ड में ब्रह्मरूप से, सेश्वर-सांख्य में पुरुष-रूप से, योगशास्त्र में परमात्मा-रूप से एवं नारद-पांचरात्रादि सात्त्वत शास्त्र में भगवान् रूप से जिनकी महिमा गाई गई है, उन हरि को यशोदा अपना गर्भजात पुत्र मानने लगी। इसके अतिरिक्त यशोदा द्वारा ऊखल में बाँधा जाना, श्रीराधिका द्वारा कन्धे पर चढ़ने का आग्रह करना आदि अनेक उदाहरण श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में मिलते हैं।

रस में भक्ति की तन्मयता रहती है। शान्त भक्त किसी प्रकार का भी लौकिक सुख नहीं चाहता। वह तो स्वर्ग और मोक्ष तक को नरकतुल्य समझकर छोड़ देता है।[१] ये सद्गुण कृष्ण के सब प्रकार के भक्तों में समान रूप से पाये जाते हैं।

इन भक्तों में भी वात्सल्यभाव के उपासक अपने को पालक तथा श्रीकृष्ण को पालन करने में योग्य मानते हैं। अतः, पूर्व-पूर्व के अन्य रसों के भी गुण इनमें विद्यमान होने के कारण यह वात्सल्यरस अमृत - समान कहा गया है।[२] इसी अमृतानन्द में भगवान् भी भक्त के साथ डूबे रहते हैं। ऐश्वर्य-ज्ञानवालों का कहना ठीक ही है कि भगवान् भक्त के वश में रहते हैं।[३] परन्तु, मधुररस सर्वोत्कृष्ट है। इसमें श्रीकृष्ण से प्रति अतिशय निष्ठा तथा सेवा का भाव रहता है। साथ ही, सख्योचित असंकोच तथा लालन-पालन का भाव एवं प्रगाढ ममता दिखाई पड़ती है।[४] इतना ही नहीं, बल्कि अपने सुख का परित्याग कर केवल श्रीकृष्ण के मुख के लिए, पतिव्रता पत्नी की तरह अपने अंगदानादि द्वारा भी सेवा की जाती है। यही कारण है कि मधुर रस के अन्तर्गत पाँचों गुणों, अर्थात् शान्त की निष्ठा, दास्य की सेवा, सख्य की संकोचहीनता, वात्सल्य का लालन और मधुर की निजांग द्वारा सेवा का समावेश रहता है। व्रज की गोपांगनाओं की विशुद्धा भक्ति इसका सुन्दरतम उदाहरण है।[५] जैसे आकाशादि पंचमहाभूतों के गुण क्रमशः उत्तरोत्तर महाभूतों में अधिक होते जाते हैं

---

१. स्वर्ग-मोक्ष कृष्ण भक्ति नरक करि माने।
कृष्ण निष्ठा, तृष्णात्याग-शान्तेर दुइ गुणे॥

श्रीमद्भागवत भी मुक्त कण्ठ से इसका समर्थन करता है :

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥ (६।१७।२८)।

अर्थात्, श्रीनारायण के सभी भक्त किसी से भी भयभीत नहीं होते; क्योंकि वे लोग स्वर्ग, मुक्ति और नरक को समान समझते हैं।

२. आपना के पालक ज्ञान, कृष्णे पाल्य ज्ञान।
चारि रसेर गुणे वात्सल्य अमृत-समान॥ १८७॥

३. से अमृतानन्दे भक्तसह डुबे न आपने।
कृष्ण भक्तवश गुण कहे ऐश्वर्य ज्ञानी गणे॥१८८॥

४. मधुर रसे कृष्णनिष्ठा, सेवा-अतिशय।
सख्येर असंकोच लालन ममताधिक हय॥१८९॥

५. कान्तभावे निजांग दिया करे न सेवन।
अतएब मधुर-रसे हय पंचगुण॥१९०॥

और अन्त में पृथ्वी में पाँचों गुणों का समाहार होता है।[१] उसी तरह मधुर रस सम्पूर्ण भावों से युक्त होने के कारण अपने रसास्वादन में विलक्षण माधुर्यादि चमत्कार प्रकट करता है।[२]

बंगाल के वैष्णवसाधकों की दार्शनिक भावना

ब्रह्म तथा उसके चित्-अचित् स्वरूपों के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिको के क्या सिद्धान्त हैं, उन्हें स्पष्ट करने का प्रयास मैंने तीसरे अध्याय में किया है। यहाँ हमें बंगाल के वैष्णव साधकों के सिद्धान्तों से परिचित होना है। इन साधकों ने ब्रह्म, जीव तथा जगत् के सम्बन्ध को अप्रतर्क्य बताया है। उनके मत में जीव और जगत् का ब्रह्म से भेद है या अभेद, यह प्रश्न स्वाभाविक नहीं लगता। उन्होंने इसे स्पष्ट करने के लिए शब्द-प्रमाण को ही ग्रहण किया है। क्योंकि, प्रत्यक्ष लौकिक प्रमाणों द्वारा इसकी सिद्धि सम्भव नहीं। ब्रह्म का स्वरूप अचिन्त्य है। अतः, वह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञान अत्यन्त कठिन होने पर भी अपौरुषेय वेद द्वारा सहज बोधगम्य होता है। वैसे ब्रह्म, जीव तथा जगत् का पारस्परिक भेद-अभेद परम अचिन्त्य है। अतः, उनका सिद्धान्त अचिन्त्यभेदाभेदवाद नाम से विख्यात है।

ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कृष्णदास कविराज ने उन्हें षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् कहा है। उनसे श्रेष्ठ और दूसरा कोई नहीं है।[३] श्वेताश्वतरोपनिषद् के ऋषि भी इसका समर्थन करते हैं—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बलं क्रिया च।[४] अर्थात्, ब्रह्म का ज्ञान, बल, क्रियादिविषयक स्वाभाविकी शक्तियाँ अनन्त तथा सर्वश्रेष्ठ हैं। गौडीय वैष्णवाचार्यों ने शक्तिसविशेष ब्रह्म को सगुण ही माना है तथा सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण विभूतियाँ शुद्ध चिदानन्द-

---

१. आकाशादिर गुण जेन पर-पर-भूते।
एक-दुइ-तिन क्रमे पंच पृथिवीते ॥१६१॥

२. एइमत मधुरे सब भाव समाहार।
अतएव स्वादाधिक्ये करे चमत्कार ॥१६२॥

३. ब्रह्म शब्दे मुख्य अर्थ कहे भगवान।
षडैश्वर्य-परिपूर्ण-अनूर्द्ध समान ॥
(चैतन्यचरितामृत, आदिलीला, ७ : १११)

४. श्वेता०, ६।८।

स्वरूप हैं।[1] इनके सच्चिदानन्द-स्वरूप के सत्, चित् और आनन्द की स्थिति परस्पर नित्य अभिन्न हैं।

ब्रह्म अपने आनन्दस्वरूप का आस्वादन अपनी स्वरूप-शक्ति की सहायता से स्वयं करते हैं, अतः वे आस्वाद्य तथा आस्वादक दोनों हैं। 'रसो वै सः' का यही रहस्य-गर्भत्व है। यहाँ आनन्द ही रस रूप से ज्ञेय है।[2]

वंगप्रदेशीय वैष्णव साधकों ने परमात्मा के सभी अवतारों में श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण कलाओं से युक्त, सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। क्योंकि, अन्य अवतारों की अपेक्षा उनमें लीला-विलास अधिक देखा जाता है। उनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण ही पूर्णज्ञान तथा पूर्णानन्द स्वरूप एवं परतत्त्व हैं।[3] अपनी प्रकाश की विशेषता के कारण वे ही तीन नाम धारण करते हैं।[4] ईश्वर के सभी रूप उनसे नित्य अभिन्न हैं।[5] ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वधाम-स्वरूप, सम्पूर्ण विश्व के आधार हैं।[6] श्रीकृष्ण की, सच्चिदानन्दांश की तीन शक्तियाँ है—ह्लादिनी, सन्धिनी तथा संवित्।[7]

---

१. (क) चिदानन्द ते हो तार स्थान परिवार।
तारे कहे प्राकृत सत्त्वेर विकार॥
(चैतन्यचरितामृत, आदिलीला, सप्तम परिवार, ११३)
(ख) ताहार विभूति देह सब चिदाकार। (चै० च०, आदिलीला, ७ : ११२)

२. तैत्तिरीयोपनिषद्, २१७।

३. स्वयं भगवान् कृष्ण, कृष्ण परतत्व।
पूर्णज्ञान पूर्णानन्द परम महत्त्व॥
(चै० च०, आदिलीला, २:५)

४. प्रकाशविशेषे तेहो धरे तिन नाम।
ब्रह्म परमात्मा आर पूर्ण भगवान॥
(चै० च०, आदिलीला, २:१०)

५. एकइ ईश्वर भक्तेर ध्यान अनुरूप।
एकइ विग्रहे करे नानाकार रूप॥
(वही, मध्यलीला, ६:१५५)

६. कृष्ण एक सर्व्वाश्रिय-कृष्ण सर्व्व-धाम।
कृष्ण शरीरे सर्व्व विश्वेर विश्राम॥
(वही, आदिलीला, २:६४)

७. सच्चिदानन्द पूर्ण कृष्णेर स्वरूप।
एकइ चिच्छक्ति तार धरे तीन रूप॥
आनन्दांशे ह्लादिनी, सन्देशे सन्धिनी।
चिदंशे संवित् यारे ज्ञान करि मानि॥

श्रीकृष्ण की चिच्छक्ति उनमें नित्य स्थित रहने के कारण स्वरूप-शक्ति कही जाती है। जीव-शक्ति से वे अनन्त कोटि जीवों की सृष्टि करते हैं तथा उनकी मायाशक्ति अखिल ब्रह्माण्डों में कार्य करती रहती है।

श्रीकृष्ण की मायाशक्ति के कार्य अनन्त हैं। उसके कार्य के आधार पर संक्षेप में उसके दो नाम दिये गये हैं। प्रथम गुणमाया तथा द्वितीय जीवमाया। गुणमाया अपनी त्रिगुणात्मक शक्तियों से गौण उपादान के रूप में जगत् में परिव्याप्त है। ईश्वर से विमुख जीवों को जीवमाया जागतिक प्रपंचों में आबद्ध करती है तथा उनकी अनिर्वचनीय योगमाया-शक्ति उनकी परम दिव्य लीलाओं के सम्पादन तथा उनके रसास्वादन में सहायता पहुँचाती है।

श्रीकृष्ण अपनी स्वरूप-शक्ति से अनन्त रूप धारण कर तथा स्वयं अपने-आपको ही परिकर-रूप में अभिव्यक्त कर अनन्त धामों में लीला करते हैं। उनके सभी धाम नित्य चिन्मय हैं। श्रीकृष्ण का धाम परम व्योम नाम से अभिहित है, जहाँ माया का प्रभाव लेश-मात्र भी नहीं पड़ता है। श्रीकृष्ण अपने सभी अवतारों में इसी परम व्योम में स्थित वैकुण्ठ, महावैकुण्ठ और अयोध्यादि धामों में लीला करते हैं। कृष्णलोक इनसे भी ऊपर हैं। द्वारका, मथुरा तथा गोकुल इसके भेद हैं। गोकुल इनसे भी ऊपर स्थित है। गोलोक तथा व्रजधाम स्वरूपतः एक होने पर भी उनमें लीला के दृष्टिकोण से कुछ पार्थक्य है। उनमें अन्तर इतना ही है कि गोलोक में अप्रकट स्वकीया लीला होती रहती है और व्रज में प्रकटाप्रकट परकीया-विहार होता रहता है प्रकटाप्रकट से तात्पर्य है कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में यह लीला कहीं-न-कहीं होती रहती है। उनके परिकर गण भी उनके स्वरूप होने के कारण अप्राकृत गुणों से युक्त हैं। उन लोकों की लीलाओं में मात्र इतना ही अन्तर है कि गोलोक में केवल कैशोर लीला होती है तथा व्रज में बाल्य, पौगण्ड तथा कैशोर तीनों लीलाएँ होती हैं। व्रज, मथुरा तथा द्वारका में उनकी लीला के स्वरूप में अन्तर हो जाता है। व्रज में उनकी लीला गोपवेशधारी श्रीकृष्ण की है, जिसमें केवल माधुर्य-ही-माधुर्य है। परन्तु, मथुरा तथा द्वारका में उनकी लीला ऐश्वर्यपूर्ण हैं। वहाँ वे क्षत्रिय शासक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। परन्तु, वहाँ भी माधुर्य का आत्यन्तिक अभाव नहीं हो जाता। उसी तरह व्रज में भी ऐश्वर्य रूप के दर्शन होते ही रहते हैं। व्रज का ऐश्वर्य माधुर्य का पोषक है

अनन्त जन्मों के पुण्योदय होने पर एवं सम्पूर्ण वासनाओं के क्षय होने पर भक्त के हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम का उदय होता है। नित्यसिद्ध प्रेम का उदय एकमात्र निर्मल हृदय में ही होता है। गौडीय वैष्णव श्रीकृष्ण-प्रेम को साध्य

न मानकर नित्य सिद्ध मानते हैं।[१] प्रेमोदय होने पर कृष्ण के प्रति ममता प्रगाढ होती हुई स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा महाभाव के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

श्रीराधिकाजी : इस सम्प्रदाय में श्रीराधिकाजी को श्रीकृष्ण की नित्य अभिन्नस्वरूप शक्ति कहा गया है। वे श्रीकृष्ण को मूर्त्तिमती ह्लादिनी शक्ति हैं। वे प्रेम की अधिष्ठात्री देवी हैं। त्रैलोक्यविमोहन श्रीकृष्ण को भी ये विमोहित करती हैं।[२] वे परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण की पूर्णशक्ति हैं। लीला-आस्वादन के लिए ही वे दो भिन्न रूप धारण करते हैं।[३] महाभाग्या व्रज की गोपियाँ इन्हीं श्रीराधिकाजी की कायव्यूहरूपा हैं।[४] श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्त्ति-रूप ही हैं श्रीराधिकाजी।[५] श्रीराधिकाजी महाभाव-स्वरूपा हैं।[६]

चैतन्य-सम्प्रदाय में श्रीराधा तथा गोपियों का सम्बन्ध द्रष्टव्य है—''चैतन्य-सम्प्रदाय में गोपी-भाव को अपेक्षाकृत अधिक दार्शनिक भित्ति पर प्रतिष्ठित किया

---

१. नित्य सिद्ध कृष्ण प्रेम, साध्य कभु नय।
श्रवणादि शुद्ध चित्ते करये उदय॥

२. जगत-मोहन कृष्ण ताहार मोहिनी।
अतएव, समस्तेर परा ठाकुराणी॥
(चैतन्यचरितामृत, आदिलीला, ४:९४)।

३. किम्बा प्रेम रसमय कृष्णेर स्वरूप।
तार शक्ति तार सह हय एकरूप॥
(वही, आदिलीला, ४:८५)।

४. व्रजांगना-रूप आर-कालागण-सार।
श्रीराधिका हेते कान्ता-गणेर विस्तार॥
(वही, आदिलीला ४:७५)।

५. श्रीकृष्णवांछा पूर्त्तिरूप करे आराधने।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने॥
(वही, आदि लीला, ४:८९)।

६. ह्लादिनीर सार प्रेम, प्रेम सार भाव।
भावेर परमकाष्ठा-नाम महाभाव॥
महाभाव-स्वरूपा श्रीराधा ठाकुराणी।
सर्व्वगुण-खानि कृष्ण-कान्ता-शिरोमणि॥
(वही, आदिलीला, ४:६८-६९)।

गया है। गोपी को सर्वप्रथम कान्ता-भाव दिया गया है और उसे राधा के ही, असंख्य रूपों में माना गया है, अर्थात् जैसे लता के पत्र, पुष्पादि लता-रूप ही हैं, वैसे ही राधा लता हैं और गोपियाँ उनके पत्र-पुष्पादि हैं। गोपी श्रीकृष्ण की प्रेयसी ही है—अनुगत सखी या सहचरी नहीं। श्रीकृष्ण गोपियों के साथ कान्ता-भावमयी लीला करते हैं। श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ रमण भी होता है। गोपी को साधनसिद्धा और नित्यसिद्धा दो नाम दिये गये हैं। जो अनादि काल से कान्ताभाव-युक्त होकर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की सेवा करती आ रही हैं, वे ह्लादिनी शक्तिरूपा गोपियाँ ही नित्यसिद्धा हैं, जो साधनों द्वारा सिद्धिलाभ करके व्रज में गोपीत्व को प्राप्त होकर नित्यसिद्ध परिकर के साथ-साथ श्रीकृष्ण की सेवा करती रही हैं, वे साधनसिद्धा हैं। वे स्वरूपतः जीवतत्त्व हैं। सेवा के प्रकार-भेद से गोपियों को पुनः दो नाम प्रदान किये गये हैं—सखी तथा मंजरी। जो गोपियाँ श्रीराधा की समजातीय सेवा से श्रीकृष्ण की प्रीति का विधान करती हैं, उन्हें सखी कहते हैं—जैसे श्रीललिता, विशाखा आदि। जो श्रीराधा गोविन्द के मिलन एवं सेवा का आनुकूल्य - सम्पादन करना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य समझती हैं, उन्हें मंजरी कहते हैं। ये राधा की किंकरी और अन्तरंग सेवा की अधिकारिणी हैं। अन्तरंग सेवा में सखियों की अपेक्षा मंजरियों का अधिकार अधिक है।[१]

गौडीय सम्प्रदाय में जीवत्व : परमात्मा अपने स्वांश तथा विभिन्नांश के रूप में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में अनन्त रूप धारण कर विहार कर रहे हैं। सम्पूर्ण अवतार तथा वासुदेवादि चतुर्व्यूह स्वांश से होते हैं। जीव परमात्मा के विभिन्नांश से उत्पन्न होते हैं। जीव और ईश्वर में सूर्य तथा उसकी रश्मियों की तरह सम्बन्ध है।

---

१. श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्नसंग्रह (हिन्दी-रूपान्तर), बँगला मूल-लेखक, श्रीराधागोविन्द नाथ, ९७ से १०४ तक (राधावल्लभ-सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य), डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० २१०।

The sakhi is an important person in the Rasa-shastric and theology of Chaitanyaism. Without her the blissful erotic sport of Krishna and Radha is not nourished, nor does it expand. No one has access to the sport except the priviliged sakhis and those devotees who imitate (through Raganuga mode) their attitude. Hence the devotional fancy of the faithful vaishnava adopts the way of the Gopies and thinks on the sport, day and night, manifested in various erotic forms."

—*Dr. S. K. De : Vaishnava faith and movement in Bengal*, p. 158.

नित्यमुक्त और नित्यबद्ध भेद से जीव की दो कोटियाँ हैं। नित्यमुक्त जीव के उदाहरण हैं श्रीकृष्ण के पार्षदगण, जो सदा श्रीकृष्ण की सेवा में संलग्न रहते हैं। नित्यबद्ध जीव जागतिक ऐश्वर्य को ही सब कुछ मानकर उनमें आसक्त रहते हैं। श्रीकृष्ण के चरणारविन्द से विमुख रहने के कारण वे नाना प्रकार के क्लेशों को सहते रहते हैं। श्रीकृष्ण की कृपा होने पर जब उन्हें सन्तों की संगति प्राप्त होती है, तब उनका भी उद्धार हो जाता है। परब्रह्म श्रीकृष्ण विभुचित् हैं तथा जीव अणुचित्। वह श्रीकृष्ण का स्वरूप से ही नित्यदास है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थचतुष्टय से भी अधिक पंचम पुरुषार्थ है श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में अनन्य प्रेम होना। जीव के लिए यह पंचम पुरुषार्थ परम प्राप्तव्य है।[१] भक्त इसी प्रेम को प्राप्तकर श्रीकृष्ण को अपने वश में कर लेता है। श्रीकृष्ण की सेवा ही सच्चा तथा नित्य सुख है।[१]

जगत् : श्रीकृष्ण ही स्वयं जगत्-रूप में अपने को अभिव्यक्त करते हैं। अतः, जगत् उन्हीं की तरह सत्य तो है, परन्तु नित्य नहीं। वे ही जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। गौड़ीय सम्प्रदाय में गुणमाया को कारण नहीं माना गया है; क्योंकि उनकी दृष्टि में प्रकृति जड़ होने के कारण जगत् का निमित्तकारण होने में समर्थ नहीं हो सकती। उसमें तो भगवत्कृपा से ही तप्त लौह-दण्ड में अग्नि-संस्पर्श से संचरित प्रकाश एवं ताप की तरह, गौण उपादान होने योग्य शक्ति-संचार होता है।[२]

---

१. पंचम पुरुषार्थ सेइ प्रेम-महाधन।
कृष्णेर माधुर्य-रस कराय आस्वादन॥
प्रेम हैते कृष्ण हय निज भक्त-वश।
प्रेम हैते पाय कृष्णेर सेवा-सुखरस॥

श्रीचैतन्यचरितामृत में जीव के सम्बन्ध में निम्नांकित बातें बताई गई हैं :

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्य दास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥
... ...
कृष्ण भूलि सेई जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तोरे देय संसार-सुख॥
... ...
माया मुग्ध जीवेर नाइ कृष्णस्मृतिज्ञान।
जीवेर कृपाय कल ... कृष्ण कृष्णभक्ति प्रेम महाधन॥

२. श्रीचैतन्यचरितामृत, आदिलीला, ५वाँ परिच्छेद, प्रचार-सं० ५०—५४।

गौडीय सम्प्रदाय में भक्ति का स्वरूप : गौडीय सम्प्रदाय में अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की अपेक्षा दार्शनिक सिद्धान्त कम और भक्ति के सम्बन्ध में अधिक बातें बताई गई हैं। चूँकि श्रीकृष्ण ही इस सम्प्रदाय में परम तत्त्व हैं, अतः उन्हीं की आराधना करना ही गौडीय भक्तों की एकमात्र साधना है।

साधनभक्ति के प्रकार

श्रीकृष्ण का प्रेम जिसके द्वारा प्राप्त होता है, उसे साधनभक्ति कहते हैं। श्रीरूपगोस्वामी ने कहा है—"सर्वोत्तम साधन-भक्ति का लक्ष्य कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति है। नित्य सिद्ध श्रीकृष्ण-प्रेम का हृदय में उदय होना ही इसकी सिद्धि है।[१] श्रीचैतन्यमहाप्रभु ने साधन-भक्ति के चौंसठ अंग बतलाये हैं, जिनमें सत्संग, हरिनाम-कीर्त्तन, भागवत-श्रवण, मथुरामण्डल का वास तथा श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्ति की सेवा ये पाँच प्रमुख हैं, इनमें से एक-एक अंग की साधना भी परम कल्याण-कारक है। परन्तु, गौडीय सम्प्रदाय में हरि संकीर्त्तन को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इस सम्प्रदाय के भक्तों ने विस्तारपूर्वक इसकी महिमा का वर्णन किया है। कृष्णदासजी कविराज के अनुसार नवधा भक्ति में सकीर्तन सर्वश्रेष्ठ है।[२] श्रीचैतन्य महाप्रभु ने संकीर्त्तन पर अधिक जोर दिया तथा इसके प्रसार-प्रसार का सर्वाधिक श्रेय इन्हीं को है। उन्होंने अपने 'शिक्षाष्टक' में श्रीकृष्ण-संकीर्त्तन की भी जय मनाई है।[३]

इसके अतिरिक्त, भगवान् के अष्टकालीन लीलाओं के स्मरण को भी बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त है। श्रीरूपगोस्वामीजी ने भक्तों के मन की लीला में तन्मय होने के लिए 'स्मरण-मंगल' नाम के स्तोत्र की रचना की है, जिसपर बाद में गौडीय भक्तों ने विविध भाष्य भी किया है। गौडीय वैष्णवों में इन ग्रन्थों का बहुत समादर है।

साधनभक्ति के मुख्यतः दो भेद हैं : १. वैधी भक्ति और २. रागभक्ति। शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार श्रीकृष्ण की उपासना करना वैधी भक्ति है। परन्तु, भगवान् श्रीकृष्ण में अहैतुक प्रेम होना रागभक्ति है। कृष्णदास कविराज ने रागभक्ति की अपेक्षा वैधी द्वारा चतुर्विध मुक्ति को प्राप्त करना सहज बताया है।

---

२. भक्तिरसामृतसिन्धु, १-२-२।

३. भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति। तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम-संकीर्त्तन।

४. सर्वात्मस्नपनं परं बिजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनम्।

रागभक्ति में हम चार प्रकार के भावों के दर्शन करते हैं। वे हैं—१. दास्य, २. सख्य, ३. वात्सत्य और ४. माधुर्य। भगवान् के नित्य सिद्ध परिकर, जैसे नन्द, यशोदा, गोप-गोपियों आदि के लिए ये भाव सहज स्वाभाविक हैं। इन्हीं परिकरों के अनुगत होकर ही अधिकार-भेद के अनुसार श्रीकृष्ण की भक्ति करनी चाहिए। इन भावों में माधुर्य-भाव की साधना सर्वोच्च है। इन भावों के अनुरूप श्रीकृष्ण-रति के पाँच भेद हैं। अतः, भक्तिरस के भी मुख्यतः पाँच प्रकार हैं—शान्त रस, दास्य रस, सख्य रस, वात्सल्य रस और मधुर रस। मधुर रस को श्रीरूपगोस्वामी ने उज्ज्वल रस कहा है। इन पाँचों भक्तिरसों में उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व के रसों का गुण बढ़ता जाता है।[1] गौडीय वैष्णवों की साधना की सबसे बड़ी विशेषता है परकीया-भाव की। जहाँ ब्रज के अन्य वैष्णवगण स्वकीया-भाव के समर्थक थे, वहाँ इन्होंने परकीया-भाव को अधिक महत्त्वपूर्ण एवं मधुर सिद्ध किया। श्रीकृष्णदास कविराज ने परकीया-भाव का महत्त्व बतलाते हुए कहा है, परकीया-भाव में रस का अधिक उल्लास होता है, किन्तु वह ब्रज से अन्यत्र सम्भव नहीं है। यह भाव ब्रज की गोप-वधुओं में निरन्तर विद्यमान है और उनमें भी श्रीराधाजी में इसकी परमावधि है।[2] श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने भी अपने ग्रन्थ 'आनन्दचन्द्रिका' में इसका समर्थन किया है। अत्यधिक कष्ट-सहन तथा प्रिय-प्राप्ति की सुदृढ लालसा से इसका माधुर्य और बढ़ जाता है, जो नित्य साथ रहनेवाली स्वकीया में सम्भव नहीं। गौडीय विद्वानों ने परकीया-भाव के पक्ष में यहाँतक कहा है कि परब्रह्म श्रीकृष्ण के अवतार का प्रमुख कारण परकीया-भाव से रसास्वादन करना ही था, अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना तो गौण कारण है। उनका कथन है, परब्रह्म श्रीकृष्ण अपने दिव्य गोलोकधाम में अपनी स्वरूप-शक्तियों के साथ जिस दिव्य केलि-क्रीडा में सतत रत रहते हैं, वह स्वकीया-भाव की है, अतः उसमें चरम सीमा के रसोत्कर्ष का अभाव होता है। उनकी पूर्त्ति के निमित्त ही परब्रह्म श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति राधा गोपियों के साथ ब्रज में प्रकट होते हैं और परकीया-भाव से रमण कर परमोत्कृष्ट लीला-रस का आस्वादन करते हैं। इसीलिए कृष्णदास कविराज ने कहा है—"परकीया-भाव में रस का सर्वाधिक

---

१. श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, १९वाँ परिच्छेद, प्रचार-सं० १५१—५३, श्रीकृष्णदास कविराज।

२. श्रीचैतन्यचरितामृत, आदिलीला, चतुर्थ परिच्छेद, प्रचार-सं० ४२-४३। (ब्रज के धर्मसम्प्रदायों का इतिहास : श्रीप्रभुदयाल मीतल, भाग २, पृ० ३३०)।

उत्कर्ष है, किन्तु उसकी प्राप्ति ब्रज के अतिरिक्त अन्यत्र सम्भव नहीं है—"परकीया भावे अति रसेर उल्लास। ब्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास।"[1]

यह परकीया-भाव प्राकृत परकीया-भाव से सर्वथा विलक्षण परम दिव्य है। परकीया-भाव कहने से तात्पर्य है केवल माधुर्य की अतिशयता से। नहीं तो सर्वात्मा श्रीकृष्ण के लिए स्वकीया-परकीया का भेद कहाँ?

---

१. ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास (भाग २) : श्रीप्रभुदयाल मीतल, पृ० ३३१।

वैष्णव साधना और सिद्धान्तों का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

ब्रजबुलि के कवियों पर वैष्णव साधना का प्रभाव : ब्रजबुलि के कवियों पर वैष्णव साधना का क्या प्रभाव पड़ा, इस सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व ब्रजबुलि शब्द की उत्पत्ति तथा व्यापकता पर प्रकाश डालना आवश्यक होगा। ब्रज-बुलि शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। डॉ० ग्रियर्सन ने इसे बंगाली पदकर्त्ताओं द्वारा विद्यापति के पदों के अनुकरण करने से उत्पन्न एक वर्णसंकर भाषा स्वीकार किया है। डॉ० सुकुमार सेन ने इसका विकास ब्रजबुलि बोली से माना है। परन्तु, डॉ० रामपूजन तिवारी ने डॉ० सुकुमार सेन की आलोचना करते हुए कहा है कि "डॉ० सुकुमार सेन का मत ब्रजबुलि की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में तर्क-संगत न होकर अनुमान पर ही अधिक आधारित है और यह अनुमान भी बहुत दूर तक कल्पना की खींचतान-मात्र है। वास्तव में, अधिक तर्कसंगत यह मालूम होता है कि इस भाषा में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है, अतएव कृष्ण की लीलाभूमि ब्रज के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ इसे ब्रजबोली समझा गया होगा और वही बँगला में ब्रजबुलि बन गया होगा। साधारण जनता के लिए यह समझ लेना अत्यन्त स्वाभाविक है कि यह बोली राधा-कृष्ण की अपनी भाषा होगी और इसी भाषा में वे बोलते होंगे, अतएव इस भाषा का नाम ब्रजबोली या ब्रजबुलि समझना उनके लिए ठीक ही था। गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के भक्तों का वृन्दावन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और ब्रजभाषा में लिखे उनके पद भी मिलते हैं। अतएव, ब्रजबुलि शब्द गढ़ते समय ब्रजभाषा का ध्यान में आ जाना कुछ कठिन नहीं।"[1]

विद्यापति के सुमधुर पद बंगालियों को अधिक प्रिय लगते थे। उसका प्रभाव सामान्य व्यक्तियों से लेकर उद्‌भट विद्वानों पर भी पड़ा। विद्यापति के गीतों के अनु-करण पर उन विद्वानों ने भी काव्य-रचना प्रारम्भ की, परन्तु बँगला शब्द और भाषा के योग से शुद्ध मैथिली भाषा के गीतों की रचना न होकर बँगला और मैथिली भाषा के मिश्रण से एक तीसरी भाषा ही बन गई। यह नई भाषा ब्रजबुलि ही थी। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी इसका समर्थन किया है। अतः, ब्रजबुलि बँगला और मैथिली भाषा के योग से बनी है।

---

1. ब्रजबुलि-साहित्य : डॉ० रामपूजन तिवारी, पृ० ३।

ब्रजबुलि भाषा मुख्यतः भारत के पूर्वांचलों में फैली हुई थी। बंगाल में इसका सबसे अधिक प्रचार-प्रसार हुआ। महाप्रभु चैतन्य के पूर्व से ही ब्रजब्रुलि में पद लिखे जाने लगे थे। परन्तु, महाप्रभु के आविर्भाव से उसमें अधिकाधिक विकास हुआ। वैष्णवता के प्रसार में इसका महत्त्वपूर्ण योग है। गौडीय वैष्णवों के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव पर्याप्त रूप में ब्रजबुलि-साहित्य पर पड़ा। ब्रजब्रुलि-साहित्य के प्रणेता या पदकर्त्ता इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

भारत के पड़ोसी हिन्दू-राज्य नेपाल में भी बहुत-से नाटक-ग्रन्थ ब्रजब्रुलि में लिखे हुए मिले हैं। इन नाटकों तथा पदों की रचना सन् १३२४ ई० के बाद की है। मुसलमान आक्रमणकारियों से त्रस्त होकर मिथिला के राजा हरिसिंहदेव उक्त समय के आस-पास ही नेपाल में जाकर, वहाँ अधिकार जमाकर रहने लगे थे। उनके जामाता थे नेपाल के ही प्राचीन मल्लवंश में उत्पन्न श्रीजयसिंहमल्ल। उन्होंने मिथिला के बहुत-से पण्डितों को अपने दरबार में शरण दी। उन मैथिल पण्डितों के रचित ग्रन्थ अधिकतर ब्रजबुलि के ही स्वरूप लिये हुए हैं। नेपाल में रचित ब्रजबुलि-साहित्य का अन्य प्रान्तों में रचित ब्रजबुलि-साहित्य से अन्तर इस बात में है कि अन्य प्रान्त के वैष्णव भक्त कवियों ने ब्रजबुलि मे भक्ति के पदों की रचना की है, परन्तु नेपाल में ऐसी बात नहीं है।[1]

आसाम में ब्रजबुलि-साहित्य की रचना कर उसका प्रचार-प्रसार का श्रेय वहाँ के सुप्रसिद्ध भक्तकवि श्रीशंकरदेव को है। उनके अतिरिक्त उनके प्रिय शिष्य श्रीमाधवदेव तथा श्रीमाधवदेव के शिष्य श्रीरामचरण ने भी ब्रजबुलि-साहित्य की श्रीवृद्धि की। श्रीरामचरण ने शंकर-रचित 'भक्तिरत्नाकर' को आधार बनाकर भाषा में 'भक्तिरत्नाकर' की रचना की। आसाम के कामरूप-क्षेत्र में वैष्णवता का प्रचार करने का श्रेय इन्हीं मनीषियों को है। उनलोगों ने ब्रजब्रुलि को वैष्णव धर्म के प्रचार का साधन बनाया। वहाँ के साहित्य में ब्रजबुलि अपना प्रमुख स्थान रखती है।

आसाम के वैष्णव साधकों में दास्यभाव की प्रधानता दिखाई पड़ती है, जो बंगाल की, मधुर भाव की उपासना से भिन्न है। पुनः आसामी ब्रजबुलि-साहित्य में राधा की उपासना की चर्चा नहीं हुई है। साथ ही, नेपाल के ब्रजबुलि-साहित्य की तरह ही इसमें नाटकों की रचना अधिक हुई है। परन्तु, बंगाल के ब्रजबुलि-साहित्य में भक्ति के पद पर्याप्त रूप में दिखाई पड़ते हैं।

---

१. ब्रजबुलि-साहित्य : डॉ० रामपूजन तिवारी, पृ० १८।

आसामी ब्रजबुलि में गीतों की दो कोटियाँ दिखाई पड़ती हैं—१ बड़गीत (दैवी गीत) तथा २. अँकेरा गीत (अंकिया नाटों के गीत)। बड़गीतों में काव्यगत सौन्दर्य के साथ ही विचारों की उच्चता भी है। आसाम की सामान्य जनभाषा होने के कारण ही शंकरदेव ने ब्रजबुलि को साहित्य-सर्जन का माध्यम बनाया। यह चारित्रिक गाम्भीर्य की रक्षा के लिए उपयुक्त सिद्ध हुई।

राय रामानन्द तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु के बीच हुई वार्त्ता से स्पष्ट होता है कि उड़ीसा में ब्रजबुलि का प्रचार बहुत पहले से हो गया था। अतः, यह कहना कि गौडीय वैष्णवों द्वारा उड़ीसा में ब्रजबुलि का आविर्भाव हुआ, सटीक नहीं जँचता। इसका समर्थन करते हुए डॉ० रामपूजन तिवारी ने कहा है—रामानन्द का ब्रजबुलि का पद (पहिलहिं राग) जो उन्होंने महाप्रभु को गाकर सुनाया था, उसके पहले बंगाल में एकमात्र यशोराज खान का ब्रजबुलि का पद मिलता है, अतएव यह कहना कुछ ठीक नहीं जँचता कि बंगाल से ही ब्रजबुलि का प्रवेश उड़ीसा में हुआ। राय रामानन्द के उक्त पद की प्रौढ शैली को देखकर यह कहा जा सकता है कि उड़ीसा में इसका उपयोग कुछ पहले से ही होने लगा होगा।[1]

इसके अतिरिक्त, चम्पति राय, महाराज प्रतापरुद्रदेव तथा उनके महापात्र कान्हुदास तथा माधवीदासी का भी नाम वहाँ के सुप्रसिद्ध कवियों में लिया जाता है।

इस तरह ब्रजबुलि-साहित्य का क्षेत्र भारत के पूर्वांचल-प्रान्तों में बहुत दूर तक फैला हुआ था। गौड़ीय वैष्णवों के आविर्भाव के साथ ही इसकी व्यापकता और भी बढ़ गई। चैतन्य महाप्रभु के भक्ति के पदों का इसपर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा।

गौडीय सम्प्रदाय में श्रीचैतन्य महाप्रभु को राधाकृष्ण का अवतार माना जाता है। अतः, ब्रजबुलि के पदों में श्रीकृष्ण-लीला की तरह ही महाप्रभु के सम्बन्ध में भी वर्णन मिलता है। यद्यपि ब्रजबुलि के कवियों ने ब्रजबुलि में तो रचना की ही, परन्तु उनकी अधिकांश रचनाएँ बँगला में ही हुई।

यशोराज खाँ बंगप्रदेशीय ब्रजबुलि-साहित्य के प्रथम कवि हैं। ये बंगाल के नवाब हुसेनशाह (सन् १४९३—१५१९ ई०) के दरबारी कवि थे। पीताम्बरदास की 'रसमंजरी' में संगृहीत इनका पद मधुर रस से सिक्त है।

रूप-सौन्दर्य से मदमाती कोई गोपी श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा से देहली

---

1. ब्रजबुलि-साहित्य : डॉ० रामपूजन तिवारी, पृ० ३०।

की लज्जा-सीमा को पार कर बाहर आ गई है। सौन्दर्य-देवता कामदेव की आराधना मानों उसका मुखचन्द्र दोनों नेत्र-कमलों से कर चुका है। इस रस-रहस्य को श्रीयुत हुसेन खाँ जानते हैं :

एक पयोधर चन्दन-लेपित
आरे सहजइ गोर।
हिम धराधर कनक-भूधर
कोले मिलल जोर॥
माधव, तुआ दरशन काजे
आध पदचारि करत सुन्दरी
बाहिर देहली माझे।
दाहिन लोचन काजरे रंजित
धवल रहल बाम।
नील धवल कमल-युगल
चांद पूजल काम॥
श्रीयुत हुसन जगत-भूषण
सोइ इह रस जान।
पंच गौड़ेश्वर भोग-पुरन्दर
भणे यशोराज खान॥

महाप्रभु चैतन्य के सहपाठी श्रीमुरारी गुप्त (ई० सन् की १६वीं शताब्दी) के ब्रजबुलि में लिखित दो-एक पद मिलते हैं। इन्होंने 'चैतन्यचरितामृत' की रचना संस्कृत में की है। यह गौडीय वैष्णवों का सर्वाधिक प्रिय ग्रन्थ है।

इस पद में श्रीराधाजी ने मान किया है। श्रीकृष्ण उनसे क्रोध छोड़कर प्रसन्न होने के लिए मना रहे हैं। वे कहते हैं कि यदि तप्त किरणों से शरीर दग्ध हो गया, तो जल के अभिसिचन से क्या लाभ ? जब दुःख के भार से प्राण प्रयाण कर जायेंगे, तब औषधि कर ही क्या सकती है ? अतः, हे मानिनि, हठ छोड़कर, मीठी-मीठी बातें करते हुए मेरे हृदय को शीतल करो; क्योंकि तुम्हारे मुखचन्द्र को उदास होते देख मेरे नयन-चोर तृप्त हो आनन्दित हो रहे हैं :

तपत किरण यदि अंग ना दगधल
कि करब जल अभिषेके।

दुःख भरे प्राण बाहिरे यब निकसब
कि करब औषध-विशेखे ।।
मानिनि, अतएव समापह माने ।
मृदु-मृदु भाषे सम्भाषह वर तनु
एकबार देह जिउ दाने ।।
सुन्दर बदने बिहसि वर भामिनी
रचह मनोहर वाणी ।
कुच कनया-गिरि मधि गहि राखह
निज भुजे आपन जानि ।।
अधर-सुधारस पान देह सखि
हृदय जुड़ायह मोर ।
तुय मुख-इन्दु-उदय हेरि विलसत
तिरपित नयन चकोर ।।
निज गुण हेरि परक दोख परिहरि
तेजह हृदयक रोख ।
भणइ मुरारि प्राणपति संगिनी
पुरुष-वध बहु दोख ।।

गौडीय वैष्णवों ने श्रीकृष्ण का स्वरूप मानकर ही महाप्रभु की लीलाओं का वर्णन किया है। वासुदेव घोष, माधव घोष तथा गोविन्द घोष महाप्रभु के प्रिय भक्त थे। नीचे के पद में वासुदेव घोष ने चैतन्य महाप्रभु के रूप को देखकर बेसुध होने की स्थिति का वर्णन किया है :

निरमल गोरा तनु कषिल कांचन जनु
हेरइते भै गेलु भोर ।
भाउ भुजंगमे दंशल मझु मम
अन्तर कांपये मोर ।।
सजनि, यब हाम पेखलु गोरा ।
आकुल दीग विदिग नाहि पाइये
मदन लालसे मन भोरा ।।
अरुणित नयने तेरछ अवलोकने
बरिखे कुसुमसर साधे ।

जिवइते जीवने थेह नाहि पायलुं
डुबलुं गंग अगाधे ।।
मंत्र महौषधि तुहुं जानसि यदि
मझु लागि करबि उपाय ।
वासुदेव घोष कहे शुन शुन ए सखि
गोरा लागी प्राण मोर चाय ।।

महाप्रभु के दूसरे अनुगामी कवि हैं माधव घोष। उन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन अत्यन्त सरस ढंग से किया है। प्रेम-रस का छककर पान करके राधा-कृष्ण अपने-अपने घर को जाने को तैयार हो एक-दूसरे के मुख को देखते हैं। उनके हृदय में प्रेम-सागर उमड़ रहा है तथा नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है। राधा माधव के पैरों में विदाई निवेदित करती हैं। वह कहती हैं कि तुम्हारे प्रेम के कारण फिर चली आऊँगी, परन्तु अभी (थोड़ी देर के लिए) तुम्हारे दर्शन नहीं पाऊँगी। दोनों के हृदय में प्रेम की तरंग उमड़ रही है। श्रीराधिकाजी मूर्च्छित हो गईं। दर्शन में विलम्ब की कल्पना कर श्रीकृष्ण भी मूर्च्छित हो गये। राधा की यह स्थिति देख ललिता ने उन्हें गोद में ले लिया। कृष्ण के साथ आनेवाली सहचरी भी रो पड़ी। प्रेमी जनों का चरित्र अत्यन्त दुर्ज्ञेय होता ही है :

निज-निज मन्दिर याइते पुन पुन
दुहुं दुहां बदन नेहारि ।
अन्तरे ऊयल प्रेम-पयोनिधि
नयने गलये घन-वारि ।।
माधव हामारि बिदाय पाये तोय ।
तोहारि प्रेम सजे पुन चलि आयब
अब दर्शन नाहि मोय ।।
कातर नयने नेहारिते दुहुं दुहां
उथलल प्रेम-तरंग ।
मुरुछल राइ मुरुछि पड़ु माधव
कबे हबे ताकर संग ।।
ललिता सुमुखि सुमुखि करि फुकरत
राइक कोरे आगोर ।
सहचरि कानु कानु करि फुकरत
ढरकत लोचन-लोर ।।

कथि गेओ अरुण-किरण-भय दारुण
कथि गेओ लोकक भीत।
माधव घोष अबहु नाहि समुझल
उदभट मुगध चरीत।।

महाप्रभु के समकालीन थे रामानन्द बसु। वे चैतन्य के प्रिय भक्त थे। उन्होंने अत्यन्त सरस पदावली में श्रीराधा-कृष्ण के युगल रूप का वर्णन किया है।

वंशीवट का निमाण सुगन्ध-परिपूरित दक्षिण पवन तथा सुशीतल यमुना-जल से हुआ है। समीप में ही कदम्ब-वृक्ष पुष्पित हो गया है। प्राकृतिक छवि को कोयल तथा भौरों का गान द्विगुणित कर रहा है। उसी वृक्ष के नीचे श्रीकृष्ण त्रिभंगी मुद्रा में खड़े हैं। उनके वामपार्श्व में स्थित राधाजी ऐसी लगती हैं, मानों नव नील जलधर की गोद में बिजली स्थिर हो। दोनों का मिलन मणि-कांचन-योग है। गाढ आलिगन में उनकी छवि की कोई तुलना मन में नहीं आती है :

मलयज-मिलित यमुना-जल-शीतल
वंशी वट निरमाण।
निकटहिं नीप कदम्ब-तरु कुसुमित
कोकिला भ्रमर करु गान।।
तार तले तिरिभंग तरवण तमाल-तनु
वामे रसवति राइ।
एके नवजल धर कोरे बिजुरि थिर
काँचने रतन मिशाइ।।
दुहुं तनु एकमन निबड़ आलिंगन
दुहुं जन एकइ पराण।
वसु रामानन्द भणे तुलना ना हये मने
रूपेर निछनि पांच-वाण।।

व्रजबुलि-साहित्य में वंशीवदन नाम के एक कवि हो गये हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण की बालक्रीडा का अत्यन्त ही सुन्दर वर्णन किया है।

बाल-कृष्ण व्रज के बालकों के साथ विविध आभूपणों से सजे हुए हैं। उनके घुँघराले बालों में मणि-मुक्ता गूँथे हुए हैं और कटितट में किंकिणी बज रही है। भगवान् कृष्ण नृत्य कर रहे हैं तथा गोपियाँ ताली बजा रही हैं। ऐसे सौन्दर्य-मण्डित श्रीकृष्ण को देखकर नन्द, सुनन्द, यशोदा, रोहिणी आदि अति प्रसन्न हो रहे हैं।

सभी ब्रजरमणियाँ आनन्द में मग्न हो गई हैं तथा वात्सल्य के कारण उनके वस्त्र स्तन के दूध से भींग गये हैं :

धातु प्रवाल-दल नव गुंजाफल
ब्रजबालक संगे साजे।
कुटिल कुन्तल बेढ़ि मणि मुकुता-भुरि
कटि तटे घुंगुर बागे ।।
नाचत मोहन बाल गोपाल।
बरज बधू मेलि देओइ करतालि
बोलइ भालि रे भाल ।।
नन्द सुनन्द यशोमति रोहिणि
आनन्दे सुत-मुख चाय।
अरुण दृगंचल काजरे रंजित
हासि हासि दशन देखाय ।।
बंशि कहइ सब ब्रज-रमणीगण
आनन्द-सायरे भास।
हेरइते परशिते लालन करइते
स्तन खीरे मिल बास ।।

भक्त माधवदास (सन् १५८३ ई०) ने श्रीराधा के सौन्दर्य का बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

श्रीराधा की मुख-छवि शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह सुन्दर है। मुख की वह लोकातिशय शोभा कुंकुम, कंचन, बिजली, गोरोचन तथा चम्पक पुष्पों के रंग को भी हर लेती है तथा मन को लुभा लेती है। श्रीराधा का रूप-सौन्दर्य, लावण्य और प्रेमामृत की अतिशय मधुर धारा है, जिसमें श्रीकृष्ण सदा तैरते रहते हैं। उनके शिर की वेणी में पुष्प गुँथे हुए हैं। उसके हृदय पर सुशोभित श्रेष्ठ मोती की माला इस तरह लगती है, मानों सुमेरु पर्वत को भेद कर त्रिवेणी बह रही है। उसकी बाँहें सुनहले हाथी के बच्चे की सूँड़ की तरह सुन्दर लगती है। उसकी सिंह की तरह क्षीण कटि में मणि-किंकिणी विराजित है और वह श्रेष्ठ हाथी की तरह चलती है। उसके पैरों के नख दर्पण की भी शोभा को हर लेते हैं। राधा का यह रूप कविवर माधव के नेत्र-रूपी भ्रमरों के चित्त को मुग्ध करता है :

शरद सुधकर किये मुख शोभा।
कुंकुम कांचन-बिजुरि गोरोचन-

चम्पक हरण वरण मन लोभा ।।
देख देख राधा रूप अपारा ।
मदन मोहन वाहिते अनुखन
लावणि प्रेम-अमिय रसधारा ।।
शिर पर कुसुम खचित वरवेणी ।
लम्बित हृदि पर मोतिमाल वर
सुमेरु भेदिया जनु बहत त्रिवेणी ।।
कनक करमकर भुजवर साजे ।
केशरि खिन कटि मणि किंकिणी तटो
गति गजराज मनोहर राजे ।।
थल पंकज पद शोभा ।
नखर मुकुरमणि-मंजिर रणमणि
माधवनदन भ्रमरचित क्षोभा ।।

श्रीपुरुषोत्तमदास के नव पद व्रजबुलि में लिखे हुए मिलते हैं। नीचे के पद से कवि ने श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने का वर्णन किया है। लगतां है, जैसे वहाँ की पूरी स्थितियों में परिवर्त्तन हो गया है। व्रज के सभी चर-अचर विरह-ताप में तप्त हो रहे हैं। गौएँ व्याकुल हो गई हैं। मुख में तृण धारण कर वे उनके आगमन की प्रतीक्षा में मथुरा की ओर देखती रहती हैं। उन गौओं के नेत्रों से, जैसे मेघ-वर्षण होता है। उन्हें जल पीने की भी चिन्ता नहीं है। कोयल, मोर, सारिका तथा शुक वृक्षों पर बैठकर रोते हैं। इस तरह सम्पूर्ण व्रज शोकाकुल हो गया है :

गोकुल छोड़ि यबहु तुहुं आयलि
तब बिहि प्रतिकुल भेल ।
बरजबासि किये थावर जंगम
विरहदहने दहि गेल ।।
तसप पत्रूष यतहुं सुरभिकुल आकुल
त्रीणकवल करि मूखे ।
हेरि मथुरापुर लोचन झरझर
पाणि ना पीवत दूखे ।।
कोकिल भ्रमर सारी शुकवर
रोयत तरु पर बैठि ।
तोहारि मयूर-मृगीकुल लूठये

शकति नाहि वने पैठि ।।
तरु कुलपल्लव सबहु शुखायल
तेजल कुसुम विकाशे ।
एतहुं विपदे तोहे कतये निवेदब
दुखि पुरुषोत्तम दासे ।।

भक्त कवि बलरामदास (सोलहवीं शताब्दी) वात्सल्य भाव के सफल कवि एवं साधक हो गये हैं। उन्होंने कृष्णलीला का वर्णन करने के साथ ही चैतन्य महाप्रभु के सम्बन्ध में भी बहुत-से उत्कृष्ट पदों की रचना की है। उनके निम्नलिखित पद में मानों 'मधुराष्टक' की तरह ही मधुर शब्द की माला बन गई है। इस पद में प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन हुआ है :

मधुर मधुर रजनिशेष
शोहइ मधुर कानन देश
गगने उयल मधुर मधुर
विधु निरमल कांतिया ।
मधुर माधविकेलिनिकुंज
फुटल मधुर कुसुमपुंज
गावह मधुर भ्रमरा भ्रमरि
मधुर मधुहिं मातिया ।।
आजु खेलत आनन्दे भोर
मधुर युवति नव किशोर ।
मधुर बरजरंगिणी मेलि
करत मधुर रभसकेलि ।।
मधुर पवन बहइ मन्द
कूजये कोकिल मधुर छन्द
मधुर रसहि शब्द सुभग
नदइ बिहज पांतिया ।
रवइ मधुर शारि कीर
पढ़इ ऐछन मउर मउरि
रटइ मधुर भातिया ।।
मधुर मिलन खेलन हास
मधुर मधुर रसविलास

मदन हेरइ धरणि लुठइ
वेदन फुटइ छातिया ।
मधुर-मधुर चरित रीत
बलराम चितै फुरउ ढीत
दुहुंक मधुरचरणसेवन
भावने जनम जातिया ।।

प्रेम की स्थिति अत्यन्त निराली होती है। प्रिय के लिए सब कुछ समर्पण करके ही प्रेमी सुख तथा सन्तोष का अनुभव करते हैं। उनके मन में अपने सुख के लिए किसी भी चीज की इच्छा नहीं रहती है। वे सदा प्रिय के सुख की ही कामना करते हैं। ब्रजबुलि के सर्वश्रेष्ठ कवि तथा परमभागवत श्रीगोविन्ददास कविराज (सन् १५३५—१६१३ ई०) ने प्रेमस्वरूपा श्रीराधिका के प्रेम का वर्णन अत्यन्त मधुर ढंग से किया है।

श्रीराधिकाजी कहती हैं कि मेरा शरीर उस स्थान की धरती बन जाय, जहाँ-जहाँ मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण अपने लाल-लाल चरणों को धरते हैं। उस तालाब में जल होकर भर जाऊँ, जिसमें वे नित्य स्नान करते हैं। हे सखि ! यदि श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो जाय, तो वह मरण भी विरह से श्रेष्ठ है। मेरे शरीर की ज्योति उस दर्पण में लगे, जिसमें मेरे प्रियतम अपना मुख देखते हैं। मेरा शरीर उस पंखे की हवा बन जाय, जिससे मेरे स्वामी अपने शरीर पर हवा करते हैं। जहाँ-जहाँ मेरे प्रभु नवनील जलधर की तरह घूमते हैं, उन स्थानों पर मेरा शरीर व्योम बन जाय। कवि कहता है कि हे स्वर्ण-गौरांगी, मरकत की तरह शरीरवाले श्रीकृष्ण तुझे कैसे छोड़ सकते हैं ?

यहां पहुं अरुणचरणे चलि यात ।
ताहां ताहां धरणि हइये मझगात ।।
यो सरोवरे पहुं निति निहि नाह ।
हाम भरि सलिल होइतथि माह ।।
ए सखि विरह-मरण निरदन्द ।
ऐछे मिलइ यब गोकुल चन्द ।।
यो दरपणे पहुं निजमुख चाह ।
मझु अंगज्योति होइतथि माह ।।
यो बीजने पहुं बीजत गात ।
मझु अंग ताहे होइ मृदुवात ।।
याहां पहुं भरमइ जलधर श्याम ।
मझु अंग गगन होइ तछ ठाम ।।

गोविन्ददास कह कांचन गोरि।
सो मरकत तनु तोहे किये छोड़ि ॥[1]

श्रीकृष्ण की मुरली की मधुर-ध्वनि सुनकर गोपियों की क्या स्थिति हो जाती है, वह नीचे के पद में देखने ही योग्य है।

शरदानन्द   पवन   मन्द
विपिने भरत कुसुमगन्ध
फुल्ल मल्लिका मालती यूथी
मत्त मधुकर मोरणि।
हेरति राति ऐछन याति
श्याम मोहन मदने भाति
मुरलि गान पंचम तान
कुलवति चित-चोरणि॥
शुनत गोपि प्रेम रोपि
मनहिं मनहिं आपन सोंपि
तांहि चलत यांहि बोलत
मुरलिक कल लोलनि।
बिसरि गेह निजहुं देह
एक नयने काजर रेह

---

१. श्रीरूपगोस्वामी के इस ललित श्लोक में भी यही भाव दिखाई पड़ता है :

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गणे—
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

श्रीराधिकाजी श्रीललिताजी से कहती हैं—हे सखि ! श्रीकृष्ण के ब्रज में नहीं आने पर मेरे लिए उनको पाना असम्भव है, अतः इस अतिशय कष्ट को सहकर इस शरीर की रक्षा से भी क्या लाभ ? अतः, यह शरीर भी अपने उपादानभूत पंचमहाभूतों में लीन हो जाय। परन्तु, मैं विधाता से करबद्ध प्रार्थना करती हूँ और इस वरदान की याचना करती हूँ कि मेरे शरीर का पंचतत्त्व श्रीकृष्ण-सेवा में ही लग जाय। जल-तत्त्व उस बावड़ी के जल में मिल जाय, जिसमें श्रीकृष्ण स्नान करते हों, तेज-तत्त्व उस दर्पण में मिल जाय, जिसमें प्यारे श्रीकृष्ण अपना सौन्दर्यालोकन करते हों। श्रीकृष्ण जिस प्रांगण में क्रीडा करते हों, उसके आकाश में आकाश-तत्त्व चला जाय। श्रीकृष्ण जिस धरती पर विचरण करते थे, उसमें पृथ्वी-तत्त्व प्रवेश करे और वायु-तत्त्व तालवृन्त के अनिल में मिल जाय, जो प्रियतम श्रीकृष्ण को शीतल वायु प्रदान करता हो।

बाहे रंजित कंकण एक
एक कुण्डल डोलनि ।।
शिथिल छन्द निबिक बन्ध
बेगे धाओत चुवति वृन्द
खसत वसन रशन चोलि
गलित वेणि लोलनि ।
तर्हाहि वेलि सखिनि मेलि
केहु काहुक पथ ना हेरि
ऐछे मिलल गोकुलचन्द
गोविन्ददास गाओनि ।।

श्रीमद्भागवत के रासलीला-प्रसंग में ठीक यही बातें मिलती हैं। लगता है, कवि ने जैसे इनका अनुवाद कर दिया है।[1]

श्रीकृष्ण ब्रज से मथुरा चले गये हैं। उनके विरह में ब्रज के लोग सदा व्याकुल रहते हैं। कोई इस स्थिति का सन्देश श्रीकृष्ण को सुनाता है—"मैंने गोकुल में गोपियों को रोते हुए देखा। नित्य कृष्ण-विरह में रुदन करने के कारण उनके वस्त्र भींगे रहते हैं और वे सदा तुम्हारी ही बाट जोहती रहती हैं। हे माधव !

---

१. भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।१।।
... ...
दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् ।।२।।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ।।३।।
निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ।।४।।
दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ।।५।।
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः ।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ।।६।।
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः ।।७।।
—श्रीमद्भागवतमहापुराण, १०।१-७।

मेरा घर दूर नगर में है। तुम्हारे यहाँ आने के समय मैं गोकुल में ही था। वहाँ मैंने देखा कि एक अल्प वयस की रमणी पुतली की तरह खड़ी थी। रथ के दूर चले जाने पर वह वहीं मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। उसे सभी सखियों ने चारों ओर से घेर लिया और रोने लगी। विरह में कोई अपना केश खींच रही थी, कोई वस्त्र फाड़ रही थी और विधि को गाली दे रही थी। कोई अपने सिर पर बार-बार कंकण से आघात कर रही थी और कोई संज्ञा-शून्य हो गई थी। कवि कहता है कि मैं तभी चला आया, फिर क्या हुआ नहीं जानता :

पेखलुं गोकुल-बसति बेयाकुल
    गोप नारि गण रोइ।
भिगि गेयो वसन लागि रहल तनु
    तोहारि गमन पथ जोई॥
माधव, दूर नगर मझु गेह
तुहुं आओलि यब संगहि गोप सब
    तब हाम गोकुले थेह॥
तहिं एक रमणी थोरिवयस धनि
    पीत पुतली सम थारि।
यब लोचन पथ-दूरहि गेओ रथ
    तबहिं पड़ल तनु ढारि॥
घेरल सकल सखीगण रोयई
    के भेल बलि अवधारि॥
कुन्तल तोड़इ वसन कोई फारइ
    विधि रे देइ केह गारि॥
कोई शिरे कंकण हानइ घन-घन
    कोइ कोइ हरइ गेयान।
कहे घनश्याम हाम चाल आयलुं
    पुन किये भेल नाहि जान॥

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ब्रजबुलि के अन्तिम कवि के रूप में याद किये जाते हैं। उन्होंने भानु सिंह के नाम से ब्रजबुलि के बहुत-से पदों की रचना की है। उनका एक संग्रह 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली' के नाम से सन् १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ था। संगीतात्मकता की दृष्टिकोण से उनके पद अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के हैं। आगे का पद इसका सुन्दर उदाहरण है :

शुन लो शुन लो बालिका, राख कुसुममालिका,
कुंज कुंज फेरणु सखि, श्यामचन्द्र नाहि रे।
दुलइ कुसुम मंजरि, भ्रमर फिरइ गुंजरि
अलस यमुन बहयि याय ललित गीत गाहि रे॥
शशि सनाथ यामिनी विरह विधुर कामिनी
कुसुमहार भइल भार दय तार दाहिछे॥
अधर उठइ कांपिया सखिकरे कर आपिया
कुंजभवने पपिया काहे गीत गाहिछे।
मृदु समीर चंचले हरयि शिथिल अंचले,
बालि हृदय चंचले कानन पथ चाहि रे।
कुंज-प्राने हेरिया अश्रुवारि डारिया,
भानु गाय, शून्य कुंज, श्यामचन्द्र नाहि रे॥

सन्त-कवियों की सामान्य विशेषताएँ

हिन्दी-साहित्य में भक्ति के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है—"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू-जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव-मन्दिर गिराये जाते थे, देव-मूर्त्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुसलिम-साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़नेवाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू-जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[1] आचार्य शुक्ल के इस कथन में आंशिक सत्यता होने पर भी पूर्ण सत्य का अभाव दिखाई पड़ता है। क्योंकि, हमने पिछले अध्यायों में विचार किया है कि भक्ति, ज्ञान, और कर्म की त्रिवेणी की अजस्र धारा हमें वैदिक वाङ्मय में ही दिखाई पड़ती है। हमारे वैदिक ऋषियों ने साधना के तीनों तत्त्वों को न्यूनाधिक रूप में सदा साथ-साथ ग्रहण किया है। वेदों का प्रारम्भिक कर्मकाण्ड या यज्ञकाण्ड का उद्देश्य स्वर्ग तथा वैकुण्ठ की प्राप्ति करानेवाला बताया गया है। वैकुण्ठ में सगुण ईश्वर के श्रीविग्रह की सुन्दरतम चर्चा की गयी है। अतः, कर्मकाण्ड भी सगुणोपासना से सम्बद्ध भक्ति का सहोदर-सा लगता है। परन्तु, उन यज्ञपरक ऋचाओं के साथ ही कभी निर्गुण और कभी विराट् तथा कभी सविग्रह परमात्मा का स्वरूप जिज्ञासा, रहस्य और अनुभव की भाषा में वर्णित मिलता है। पुनः शुद्ध ज्ञान का युग आता है, जिसमें सम्पूर्ण वैदिक उपनिषदों की रचना हुई। उस समय भी यज्ञ अपने चरम उत्कर्ष पर ही दिखाई पड़ता है। उन उपनिषदों की ऋचाएँ भी भक्ति-भावना से युक्त हैं। भगवान् बुद्ध के शून्यवाद ने यज्ञों में पशुबलि का समर्थन करनेवाले सिद्धान्तों को, जो स्वतः अवैदिक था, पराभूत किया। पशुबलि की प्रथा बन्द हुई। परन्तु, धर्मप्राण आर्यों के लिए वह सिद्धान्त अनुकूल नहीं था। आचार्य शंकर ने अपने सुतीक्ष्ण तर्कों से भगवान् बुद्ध के अवैदिक सिद्धान्तों का खण्डन कर

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ६३।

पुनः वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा की। फिर से सम्पूर्ण भारत का आकाश यज्ञ के सुगन्धित धूम तथा दिव्य ऋचाओं से गूँज उठा। लेकिन, शंकराचार्य के सूक्ष्म सिद्धान्त प्रज्ञाचक्षु-सम्पन्न विद्वानों के लिए ही अनुकूल पड़ता था। सामान्य जनता तो हृदय से ही साधना करती है। अतः, आचार्य रामानुज ने भक्ति की गंगा बहाई। जो सामान्य के लिए तो अनुकूल थी ही, विशिष्ट लोगों के लिए भी बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। इस तरह, हम देखते हैं कि निर्गुण-सगुण की भावना हिन्दी के लिए भले ही नवीन हो, परन्तु इनका चरमोत्कर्ष तो संस्कृत-वाङ्मय में अनादिकाल से दिखाई पड़ता है। अतः, मुसलमानों के आगमन से ही हिन्दू-जनता भक्ति की ओर अग्रसर हुई, यह कथन सटीक नहीं लगता। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि अगर इस्लाम नहीं भी आया होता, तो भी हिन्दी-साहित्य का बारह आना वैसा ही होता, जैसा आज है।[1]

सत्य तो यह है कि इस्लाम के आगमन से भक्ति का विकास न होकर ह्रास ही हुआ, अतः उसका विकास सर्वांगीण न होकर एकांगी हुआ।[2] निर्गुण का झण्डा फहराकर भी दोनों में मन्दिर और मस्जिद के स्तर का समन्वय नहीं हो सका। समन्वय भक्ति के क्षेत्र में न होकर अवश्य कुछ सामाजिक स्तर का हुआ, परन्तु शंकालु मन से ही। दोनों खुलकर न तब मिले, न अब भी। दोनों का मेल बाजारू ही रहा। और, सन्तों की निर्गुणोपासना में शून्य और रहस्य की चर्चा पर मुसलिम-प्रभाव न होकर सिद्धों और नाथ-सम्प्रदायों का ही प्रभाव स्पष्ट होता है। क्योंकि, सिद्ध सन्तों के (संवत् आठ सौ के लगभग प्राप्त) हिन्दी में लिखित पदों के देखने से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के निर्गुणोपासक सन्त उनसे बहुत अधिक मात्रा में प्रभावित थे। परन्तु, उनकी साधना का अधिकांश नाथ-सम्प्रदाय से ही प्रभावित है। उन सन्तों में अवश्य कबीर की अपनी अनुभूति की मौलिकता के दर्शन होते हैं।

---

१. हिन्दी-साहित्य की भूमिका, पृ० २३ : सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

२. जहाँतक सगुण भक्ति के स्वरूप का प्रश्न है, उसपर बाहरी प्रभाव बिलकुल नहीं है। साथ ही, इस साहित्य में मुसलमानों की विध्वंसक प्रवृत्तियों का उल्लेख अनेक भक्तों ने किया है। तुलसीदासजी दोहावली में यवन महीपालों की ऐकान्तिक दण्डनीति की बात कहते हैं :

गोंड गँवार नृपाल जग, जमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥ (दो० ५५६)

ऐतिहासिकों ने मुगल-शासन में भी इस सैनिक राज्य—प्रणाली का वर्णन बड़े विस्तार से किया है।

—हिन्दी सगुण-काव्य की सांस्कृतिक भूमिका : रामनरेश वर्मा, पृ० १६।

हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल को हम चार भागों में विभाजित करते हैं—ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी (निर्गुणोपासना), रामाश्रयी तथा कृष्णाश्रयी (सगुणोपासना) इन चारों शाखाओं के प्रमुख प्रवर्त्तक कबीर, जायसी, तुलसी तथा सूरदास हैं। ज्ञानाश्रयी शाखा को सन्त-शाखा भी कहते हैं। सन्त शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से ही विविध अर्थों में होता आया है। कोई इसे पवित्रात्मा,[1] कोई सदाचारी[2], कोई शान्त,[3] परोपकारी[4] तथा कोई सज्जन[5] अर्थ में लेते हैं। परन्तु, सन्तों ने चूँकि सत्त-नाम या सत्यनाम को प्रधानता दी, अतः सत्त शब्द से सम्बद्ध होने के कारण ही उन्हें सन्त कहा गया होगा।

सन्तों की अनुभूति या प्रातिभ ज्ञान : ज्ञान की तीन कोटियाँ हैं—ऐन्द्रिय बौद्धिक तथा प्रातिभ। योगिराज अरविन्द ने ऐन्द्रिय तथा बौद्धिक ज्ञान से ऊपर ज्ञान के पाँच प्रकार की स्थितियों की चर्चा की है—उन्नत-दृष्टि, दिव्य दृष्टि, सहज दृष्टि, असामान्य दृष्टि और अलौकिक दृष्टि। इन दृष्टियों में उतरोत्तर की दृष्टि का उन्नयन होता आया है। फिर भी, प्रत्येक दृष्टि व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक उभय क्षेत्रों में एक दूसरे की पूरक है। परन्तु, असामान्य और अलौकिक दृष्टि ब्रह्म-ज्ञान के अधिक निकट की दृष्टि है। अलौकिक दृष्टि से ब्रह्म की अनुभूति वा साक्षात्कार होता है। क्योंकि, ब्रह्मविषयक ज्ञान में सामान्य तो क्या, अति उच्च बौद्धिक ज्ञान की भी पहुँच नहीं है।[6] वाणी तो उसके सम्बन्ध में मूक ही नहीं हो जाती, बल्कि वाणी की वाचा-शक्ति भी उसी से प्राप्त होती है।[7] इसीलिए, ब्रह्म का ज्ञान कराने-वाली श्रुति की ऋचाओं का स्रष्टा किसी ऋषि को नहीं कहते, बल्कि वे मन्त्रद्रष्टा कहे जाते हैं।[8]

---

१. प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थाणि पुनन्ति सन्तः। (भागवत, स्कं० १।१९।८)

२. आचारलक्षणं धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणम्।—महाभारत।

३. अधिगच्छे पदे सन्त संखारूपसमं सुखं।—भिक्खुबग्ग।

४. सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः।—भर्तृहरि।

५. वन्दौं संत असज्जन चरणा।—रामचरितमानस, बालकाण्ड।

६. (क) यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
(ख) नैषा तर्कण मतिरपनेया।

७. यद् वाचा नभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।—केनोपनिषद्।

८. ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।

अथवा

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एवं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदना॥

प्रातिभ ज्ञान-सम्पन्न साधक सदा संकेत की भाषा में कहता है। प्रातिभ ज्ञान की पूर्णावस्था में साधक कुछ भी कहने में असमर्थ रहता है। वह जो कुछ कहता है, वह अलौकिक ही होता है, परन्तु अभिव्यक्ति के प्रतीकार्थक शब्द लौकिक ही होते हैं। संकेत की भाषा होने के कारण उनके कथनों में रहस्य के दर्शन होते हैं। उनके हंस, मानसरोवर, दुलहिन, चोर, दुल्हा, हाट, धोबी, चुनरी, चोली, चरखा, चक्की, राजा, सती, इसी प्रकार सूफी कवियों के सुलतान, बादशाह, सुग्गा आदि शब्द प्रतीकार्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रातिभ ज्ञान हृदय से अछूता रहता है। सहृदयता तो सन्त-सिद्धान्त की प्रथम शर्त्त है। परन्तु, यह सहृदयता प्रातिभ ज्ञान का पूरक होकर रहती है, सगुणोपासकों की तरह स्वतन्त्र नहीं। अवश्य उसके प्रातिभ ज्ञान पर बौद्धिक ज्ञान का आधिपत्य नहीं होता। यों तो प्रातिभ ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान दोनों, साधना में लोक और अध्यात्म की दृष्टि से, समान रूप से उपयोगी दिखाई पड़ते हैं।

सन्तों का यह अटल विश्वास है कि प्रातिभ ज्ञान की प्राप्ति गुरुकृपा से ही होती है। इसलिए, उनके मत में गुरु का स्थान सर्वोच्च है। सूफी सन्तों ने भी गुरु-महिमा और प्रातिभ ज्ञान का महत्त्व स्वीकार किया है। सूफियों ने इल्म, अर्थात् बौद्धिक ज्ञान को स्वरूप-दर्शन का बाधक या आवरण तथा म्वारिफ या प्रातिभ ज्ञान को प्रकाशक या विद्या कहा है। सूफी कवि जायसी और जूलनून ने उससे एक कदम आगे बढ़कर प्रेम को प्रियतम की प्राप्ति का साधन बताया। सूफी कवि जूलनून ने प्रेम का महत्त्व स्पष्ट करते हुए कहा है—"परमेश्वर का ज्ञान हमें परमेश्वर से प्राप्त होता है।" इमाम जज्जाली ने भी प्रातिभ ज्ञान का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा है— "सूफी इल्म को ईश्वरीय देन नहीं मानते, उनकी दृष्टि में यह बुद्धि-विलास ही है। हाँ, म्वारिफ का सत्कार अवश्य करते हैं। म्वारिफ के उदय से इलम और अक्ल की जरूरत नहीं रहतीं और रूह को परम रूह का साक्षात्कार हो जाता है।"[1]

इस प्रातिभ ज्ञान की स्थिति को सहज सुख कहा गया है। इसका अनुभव साधक को ही हो सकता है। इसलिए, कबीर ने कहा है कि सतगुरु ने उस तत्त्व के विषय में मुझसे विचार करके कहा था, किन्तु मैं उसे केवल अपने अनुभव के अनुसार ही जान सका।

सहज साधना में लीन साधक को अन्य बाह्य उपचारों की आवश्यकता नहीं। उनमें निरन्तर मग्न रहनेवाले के लिए तो सम्पूर्ण कार्य ही साधनामय है। कबीर ने सहज समाधि की चर्चा इस प्रकार की है :

---

१. तसव्वुफ अथवा सूफी मत : चन्द्रबली पाण्डेय।

सन्तो सहज समाधि भली ।
सांई ते मिलन भयो जा दिन तें, सुरत न अंच चली ।।
आंख न मूंदूं कान न रूधूं, काया कष्ट न धारूं ।
खुले नैन में हंस-हंस देखूं, सुन्दर रूप निहारूं ।।
कहूं सो नाम सुनूं सो सुमिरन, जो कछु करूं सो पूजा ।
गिरह उद्यान एक सम देखूं, मान मिटाऊं दूजा ।।
जहं-जहं जाऊं सोह परिकरमा, जो कछु करूं सो सेवा ।
जब सोऊं तब करूं दण्डवत, पूजूं और न देवा ।।
शब्द निरन्तर मनुआं राता, मलिन वासना त्यागी ।
उठत बैठत कबहुं न बिसरै, ऐसी तारी लागी ।।
कहै कबीर यह उन्मनि रहनी, सो परकट कर गाई ।
सुख दुख के इक परै परम सुख, तेहि में रहा समाई ।।[1]

यह सहज समाधि हठयोग की साधना की कठिनाइयों की प्रतिक्रिया-स्वरूप आई । स्वयं कबीर ने भी हठयोग की साधना की थी ।[2] उनके पदों में हठयोग-सम्बन्धी शब्दों के दर्शन होते हैं । कुण्डलिनी, सुषुम्णा, मूलाधार, इडा, पिंगला नाडी, षड्दल, चतुर्दल, द्वादशदल, षोडशदल, सहस्रदल कमल, अनहद नाद, ब्रह्मरन्ध्र, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ, पंचकोष जैसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय, मेरुदण्ड, सुषुम्णा के अन्दर वज्रा, चित्रिणी तथा ब्रह्मनाडी की क्रमशः आभ्यन्तरिक स्थिति एवं धोति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि, कपालभाति आदि काय-शुद्धि के साधन और विविध आसनों, प्राणयाम तथा भोग के और भी अंग-उपांगों से समाधि-स्थिति तक का वर्णन सन्तों की साधना में दिखाई पड़ता है ।[3]

---

१. कबीर-वचनावली ।

२. गगन की ओर निसाना है ।
दहिने सूर चन्द्रमा बायें, तिनके बीच छिपाना है ।।
तनकी कमान सुरत का रोदा, सबद बान ले ताना है ।
मारा बान बेधा तन ही तन सतगुरु का परवाना है ।।
मार्‌यो बान घाव नहिं तन में, जिन जाना तिन माना है ।
... ...
'धोती नेती बस्ती पावो, आसन पदम जुगत से लावो ।
कुंभक कर रेचक करवाओ, पहले मूल सुधार कार्य हो सारा है ।।

३. सन्त धर्मदास ने भी हठयोग के कई पद लिखे हैं । जैसे :
झरि लागै महलिया गगन घहराय ।
खन गरजै खन बिजुली चमकै, लहरि उठै, शोभा बरनि न जाय ।

सूफियों ने भी हठयोग की चर्चा की है। परन्तु, उनकी दृष्टि में योग साध्य की प्राप्ति के लिए साधन-मात्र ही है। पद्मावत में योगी की बाह्य वेष-भूषा के वर्णन से यह बात स्पष्ट होती है। पद्मावत की पूरी कथा प्रतीकार्थ में ही महत्त्व रखती है। सात समुन्दर, गुरु, स्वयं रतनसेन और पद्मिनी, सिंहलद्वीप आदि शब्द योगपरक ही अर्थ रखते हैं। इन यौगिक शब्दों को सीधे न कहकर उलट-वासियों का प्रयोग किया गया है। कबीर में इसकी बहुलता दिखाई पड़ती है। परन्तु, बाद में लगभग सभी सन्तों ने साधना की सहजता पर जोर दिया है।[1]

सन्तों के दार्शनिक सिद्धान्त :

ब्रह्म : निर्गुण सन्तों की दृष्टि में ब्रह्म तीन गुणों से परे है। वह सर्वव्यापी है। फिर भी, कबीर ने ब्रह्म के स्वरूप का विचार सम्पूर्ण विशेषणों से रहित किया है। अतः, वे अपने राम को सगुण-निर्गुण तथा द्वैत-अद्वैत सबसे ऊपर कहा है। उनके राम परात्पर ब्रह्म हैं। ऐसे ही ब्रह्म की चर्चा करते हुए कबीर ने कहा है :

हद में रहे सो मानवा बेहद रहे सो साध।
हद बेहद दोऊ तजै, ताका मता अगाध ॥

सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम आनन्द ह्वै साधु बहाय ॥
खुली केवरिया, मिटी अंधियरिया, मनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरम दास बिनवे करि जोरी, सतगुरु चरण में रहत समाय ॥
(धरमदासजी की शब्दावली से)

जगजीवनदासजी ने भी ध्यान के लिए यौगिक क्रियाओं को ही साधन माना है :

तूं गगन मण्डल धुनि लम्ब रे।
सुरति साधि के पवन चढ़ावहु, सकल सबै बिसराव रे।
थिर ह्वै रहि ठहराय देखु छबि, नयन दरस रस पाव रे ॥
सो तुम होहु मस्त लै मनुआं, बहुरि न एहि जग आव रे।
जगजीवनदास अमर तुरपहु नहिं, गुरु के चरन चित लाव रे ॥

१. सन्तों की साधना में, इसी प्रकार, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग का पूर्ण सामंजस्य है और वे आवश्यकतानुसार राजयोग, हठयोग, मन्त्रयोग वा कुण्डलिनीयोग जैसी साधनाओं का भी उपयोग करने से नहीं चूकते। फिर भी, इनकी प्रधान साधना अपने अन्तःकरण को शुद्ध एवं निर्मल रखते हुए अपने सिद्धान्त और व्यवहार में पूर्ण एकता लाने के यत्न में ही केन्द्रित है। हृदय की सचाई के सामने सभी प्रकार के बाह्याडम्बर तुच्छ हैं और सादगी तथा सदाचरण ही सच्चे मानव की कसौटी है। इसी प्रकार, सन्तों ने प्रवृत्ति वा निवृत्ति-मार्गों के मध्यवर्त्ती सहज मार्ग को अपनाया है और विश्व-कल्याण में सदा निरत रहते हुए भूतल पर स्वर्ग लाने का स्वप्न देखा है।
—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १४

इसी बात को उन्होंने कई तरह से कहा है :

नहिं निरगुन नहिं सरगुन भाई, नहिं सूछम अस्थूल ।
नहिं अच्छर नहिं अविगत भाई, ये सब जग के मूल ।।

अथवा

निरगुन की सेवा करो सरगुन को करो ध्यान ।
निरगुन सरगुन से परे तहां हमारो ग्यान ।

अतः, कबीर ने अपने परात्पर ब्रह्म के लिए कई शब्दों का प्रयोग किया है । उनमें 'साहब' उनका प्रिय नाम है । साहब को जानने के लिए योगादि साधन समर्थ नहीं हो सकते, अतः स्वान्तःकरण में उनकी अनुभूति ही अनिवार्य है ।

वह तो सर्वत्र ओतप्रोत है । उसे देखने के लिए हृदय के नेत्र चाहिए । कबीरदास का सर्वजनप्रिय पद इसी बात को सिद्ध करता है :

मोको कहाँ ढूँढ़ों बन्दे, मैं तो तेरे पास में ।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में ।।
ना तो कौन क्रिया-कर्म में, नहीं योग वैराग में ।
खोजी होय तो तुरतैं मिलिहौं, पल भर की तालास में ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब साँसो की स्वांस में ।।

सन्त रैदास ने भी इसी का समर्थन किया है :

गुन-निरगुन कहियत नहिं जाके
कहौ तुम बात सयानी ।।

सन्त धर्मदास ने स्पष्ट ही निर्गुण और सगुण से भी बढ़कर परात्पर स्थिति तथा गुरुकृपा की महिमा गाई है :

सतगुरु कहत नाम गुन न्यारा ।
कोई निरगुन कोई सरगुन गावै, कोई किरतिम कोई करता ।
लख चौरासी जीव जन्तु में सब घट एकै रमता ।।
सुनौ साध निरगुन की महिमा, बूझै बिरला कोई ।
सरगुन फन्दे सबै चलत है, सुर नर मुनि सब लोई ।।
निरगुन नाम निअच्छर कहिए, रहै सबन से न्यारा ।
निरगुन सरगुन जम कै फन्दा, वोहि कै सकल पसारा ।।
साहेब कबीर के चरन मनावो, साधुन के सिरताजा ।
धरमदास पर दाया कीन्हा बांह गहे की लाजा ।।

इसमें परात्पर स्वरूप का तो संकेत मिलता है, परन्तु 'निरगुन सरगुन जम के फन्दा' कहने से क्या लाभ, जबकि निर्गुण-सगुण दोनों का अवलम्बन लेने वाले भी परम लक्ष्य को प्राप्त करते ही हैं।

निर्गुण सन्तों का परात्पर स्वरूप की उपासना भी वेदादि में वर्णित ब्रह्म की त्रिपाद विभूति से भिन्न नहीं है। ऋग्वेद का 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्या-मृतं दिवि'[1] अथवा अथर्ववेद का 'त्रीणि पदानि निहिता गुहाऽस्य यस्तानि वेद स पितुष्पिता सत्',[2] या 'स भूमिं विश्वतो स्पृष्ट्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' आदि मन्त्रों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि "सन्त-मत के अनुसार सत्य का परम तत्त्व एक अनिर्वचनीय वस्तु है, जो प्रत्यक्ष अनुभव में आकर भी अज्ञेय-सी है, जो निर्गुण वा सगुण दोनों से परे वा परात्पर है और जिसे संकेत-रूप में हम पूर्ण, सर्वव्यापी, नित्य, एकरस, केवल वा सहज जैसे शब्दों द्वारा बहुधा प्रकट किया करते हैं। वही सत्य, परमतत्त्व के नाम से भी अभिहित होता है और उसी के साथ तद्रूपता वा तदाकारता का अनुभव कर कोई साधक फिर अपने को अमरता की स्थिति में ला देता है।"[3]

जीव-निरूपण : निर्गुण सन्तों ने जीव को ब्रह्म का स्वरूप बताया है। दोनों में तत्त्वतः अन्तर नहीं है। शरीर से वियोग होने पर जीवात्मा अपने स्वरूप में मिल जाती है। वैसे ही, जैसे जलपूरित घट जल में ही स्थित हो, तो उसके सर्वांश में जल की ओतप्रोतता दिखाई पड़ती है, केवल घट के स्थूलांश से ही घटस्थित जल का द्वैत मिट जाता है। ऐसा ही अन्तर सर्वव्यापक ब्रह्म और व्यष्टि-देह में स्थित आत्मा में है। कबीरदास ने उपर्युक्त भाव को इस तरह स्पष्ट किया है :

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यहु तत कथै गियानी॥

सुन्दरदास ने जीव और ब्रह्म को अद्वैत बताते हुए कहा है कि जैसे कुत्ता काँच में अपने ही प्रतिबिम्ब को दूसरा कुत्ता समझकर भूँकता है और अन्त में अपने प्राणों को भी गवाँ लेता है तथा चमकीले स्फटिक शिला में किसी अन्य हस्ती का भान होने के कारण मतवाला गजराज उसपर दन्त-प्रहार करके असह्य वेदना का अनुभव करता है एवं कूप में स्वगर्जन की प्रतिध्वनि से दूसरे सिंह की स्थिति का भ्रम करके मृगराज का कूप-पतन होता है, वैसे ही जीवात्मा भी अज्ञान के आवरण

---

१. ऋग्०, १०।९०।२।
२. अथर्व०, २।१।२।
३. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० १४।

के कारण सर्वत्र अपने ही स्वरूप की अभिव्यक्ति होने पर भी अपना-पराया का भेद मानकर सुख-दुःखादि का अनुभव करता है। परन्तु, अपने स्वरूप का साक्षात्कार होने पर द्वैतमूलक भ्रम का आत्यन्तिक निवारण हो जाता है :

जैसे स्वान काँच के सदन मध्य देखि और।
भूंकि भूंकि मरत, अभिमान जू।।
जैसे गज फटिक सिला सू लरि तोरैं दंत।
जैसे सिंह कूप मांहि, उझक भुलान जू।।
जैसे कोउ फेरी खात, फिरत सु देखै जग।
तैसे ही सुंदर सब, तेरो ही अज्ञान जूं।।
अपनो ही भ्रम सो तौ, दूसरो दिखाई देत।
आप कूं बिचार कोऊ, देखिये न आन जू ।।[१]

आत्मविचार की प्रधानता पर जोर देते हुए वे कहते हैं :

देह और देखिये तो, देह पंचभूतन को।
ब्रह्म अरु कीट लग, देह ही प्रधान है।।
प्राण ओर देखिये तो, प्राण सबही के एक।
छुधा पुनि तृषा दोऊ, व्यापत समान है।।
मन ओर देखिये तो, मन को सुभाव एक।
संकल्प बिकल्प करै सदा ही अज्ञान है।।
आतम बिचार किये, आतमा ही दीसे एक।
सुंदर कहत कोऊ, दूसरो न आन है।।[२]

इस तरह जीव को अविद्याजन्य प्रमाद के कारण अहंकार करने से उसे संसृति के चक्कर में पड़ना पड़ा। स्थूल देह के कारण उसको वास्तविक स्वरूप की विस्मृति होती गई और वह संसारी होता गया।

माया : आत्मा का स्वरूप वस्तुतः परम विशुद्ध तथा ज्ञान-स्वरूप है। परन्तु, अनादिकाल से ही अविद्या-माया से मोहित होने के कारण उसे अपने स्वरूप की विस्मृति हो गई है। सन्तों ने वेदान्तियों की तरह ही माया के दो भेद किये हैं— विद्या माया और अविद्या माया। विद्यामात्त्योपाधि-युक्त ब्रह्म ईश्वर कहा जाता है। अविद्या माया के संयोग से जीव की स्वरूप-विस्मृति होती है। विद्यामाया की

---

१. सुन्दरदास : श्रीसन्तबानी-संग्रह, भाग २, सन्तबानी पुस्तकमाला-कार्यालय, प्रयाग से प्रकाशित, पृ० १०४।

२. वही, पृ० १०६।

साधना से जीव सम्पूर्ण क्लेशों से मुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है तथा अविद्या माया के द्वारा अधोगति होती है। कबीर ने कहा है :

माया के दुइ रूप हैं, सत्य मिथ्या संसार।

....

माया है दुइ भाँति की देखी ठोक बजाय।
एक गहावै राम पै, एक नरक लै जाय॥

कबीर की दृष्टि में माया इतनी प्रबल है कि इसके रहस्य का पता त्रिदेवों को भी न लगा।[1] उसने सम्पूर्ण जगत् को मोहित कर रखा है। भागकर भी उससे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन है।[2] उसकी वाणी तो अतिशय सुमधुर है, परन्तु अपनी त्रिगुणात्मक शक्तियों के फाँस से सबको अपने वश में कर रही है।[3] इस माया से कुछ छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन है। घर से भाग जाने-मात्र से माया का प्रभाव कम नहीं हो सकता। जबतक मन में आसक्ति बनी है, तबतक इसका प्रभाव दिखाई पड़ता ही है। इससे विनिर्मुक्त तो वही हो सकता है, जिसके मन में पूर्ण विरक्ति हो गई हो।[4] लेकिन, जो माया इतना कठिन है, वही सन्तों के लिए अनुकूल आचरण भी करती है।[5] दादू भी इस बात का समर्थन करते हैं। उनकी दृष्टि में जो संसार को अपने वश में करती है, वही सन्तों की दासी बन जाती है।[6] कबीर की माया के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी ने कहा है कि कबीर की माया निरंजन की शक्ति है।

---

१. 'एक नारी जाल पसारा, जग में माया अंदेशा।
खोजत काहु अंत न पाया, ब्रह्मा विष्णु महेशा॥'

२. 'कबिरा माया मोहिनी मोहे जान सुजान।
भागै हूँ छूटै नहीं, मारे भरि भरि बान॥'

३. 'माया महाठगिनि हम जानी।
निरगुन फांस लिए कर डोलै बोलै मधुरी बानी॥

४. 'अवधू माया तजी न जाई।
गिरह तज कर बस्तर बांधा, बस्तर तज के फेरी॥
काम तज तें क्रोध न जाई, क्रोध तजे तें लोभा।
लोभ तजे अहंकार न जाई, मान बड़ाई सोभा॥
मन बैरागी माया त्यागी, सब्द में सुरत समाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो यह गम बिरले पाई॥'
—कबीर : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १–६३।

५. माया दासी संत की अभी देइ असीस।
बिलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीश।—कबीर।

६. माया चेरी संत की, दासी उस दरबार।
ठकुरानी सब जगत को, तिन्यू लोक संभार॥

ब्रह्माण्ड में जो माया है, पिण्ड में वही कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी का ही नाम माया है, नागिन है, ठगनिया है, और-और भी कई नाम हैं। इसी नागिन की फुफकार प्रणव है। इसी तरह ब्रह्माण्ड में जो वस्तु निरंजन है, वही पिण्ड में मन है। उसी को नाग कहते हैं। इसी नाग और नागिन ने मिलकर यह सारा प्रपंच खड़ा किया है। इसी नागिन की जहरीली फुफकार जो प्रणव है, उसकी उपासना में दुनिया भटक रही है। इन्हें जो मार सकता है, वही विजयी होता है।[1] इन्हें जो मार सकता है, उसे वश में करने का संकेत है। जायसी ने भी कुछ इसी तरह की कल्पना माया के सम्बन्ध में की है। नागमती और अलाउद्दीन माया के प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हैं।

माया और अविद्या दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।[2] कबीर ने माया का प्रयोग अविद्या-अर्थ में ही किया है। इससे उनपर वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है।

जगत् : सन्तों की सृष्टि-कल्पना भी अद्वैतवाद की तरह ही है। ब्रह्म अपनी इच्छा से सृष्टि करता है। जगत् की रचना का संकल्प करने के बाद आदि नाद 'ओम्' का उच्चारण करता है। यही 'ओम्' आदि स्फोट है। इसी से सृष्टि होती है। कबीर ने 'ओंकार सबै कोई सिरजै, राग स्वरूपी अंग' कहकर इसी की ओर संकेत किया है। कबीर की शब्द-साधना ओंकार की ही उपासना है।[3] कहीं-कहीं

१. कबीर : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।

२. 'स्वाश्रयमव्यामोहयन्ती कर्त्तुरिच्छामनुसरन्ती माया तद्विपरीता अविद्या।' अर्थात्, अपने आश्रय को भ्रान्त नहीं करती हुई कर्त्ता की इच्छा का अनुसरण करनेवाली माया है और इसके विपरीत अविद्या। शुक्ति में प्रतीयमान जो रजत है, उसका उपादानकारण अविद्या ही है; क्योंकि अविद्या का आश्रय जो द्रव्य है, उसको भ्रान्त बना देती है और उसकी इच्छा का अनुसरण भी नहीं करती; क्योंकि उसकी इच्छा नहीं रहने पर भी उसका परिणाम होता ही रहता है। इन लक्षणों से भी माया और अविद्या में भेद प्रतीत होता है, परन्तु यह युक्त नहीं हैं। कारण यह है कि अनिर्वचनीय होना, तत्त्व-प्रतीति का प्रतिबन्धक होना और विपर्यय, अर्थात् विपरीत ज्ञान का अवभासक होना—ये तीनों लक्षण माया और अविद्या में समान रूप से रहते हैं, इसलिए माया और अविद्या परमार्थ में एक ही तत्त्व हैं।—षड्दर्शनरहस्य : पं० रंगनाथजी पाठक।

३. साधो शब्द साधना कीजै।
जेही शब्द ते प्रकट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै॥
शब्द गुरु शब्द सुन सिख भये, शब्द सो बिरला बूझै।
सोई शिष्य सोई गुरु महातम, जेहि अन्तरगति सूझै॥
शब्द सुर-मुनि-संत कहत हैं, शब्द भेद नहीं पावै।
शब्दै सुन-सुन भेष धरत हैं, शब्द करै अनुरागी॥
षट् दर्शन सब शब्द कहत हैं, शब्द कहै वैरागी।
शब्द काया जग उतपानी, शब्दै केरि पसारा॥
कहै कबीर जहं शब्द होत है, भवत भेद है न्यारा॥

कबीर ने सांख्य-दर्शन की तरह पच्चीस तत्त्वोंवाली प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि-रचना का वर्णन किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि पुरुष कर्त्ता न होकर ओंकार या ब्रह्म है।[१] कहीं-कहीं अण्ड-कटाह की तरह निरंजन से भी सृष्टि की चर्चा उनके पदों में दिखाई पड़ती है। जायसी तथा अन्य सूफी सन्तों की भी सृष्टि-कल्पना अद्वैतवाद की ही है। जायसी ने सृष्टि के पूर्व एकमात्र शून्य तथा पाप-पुण्य के आत्यन्तिक अभाव की कल्पना की है। था तो केवल एक पूर्ण पुराण पुरुष ही, जो अत्यन्त गुप्त एवं शून्य था।[२] 'चतुःश्लोकीभागवत' में भी इसी तरह की बातें मिलती हैं।[३] जायसी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अखरावट' में ही मुहम्मद से सृष्टि-रचना का वर्णन मिलता है।[४]

पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकरूपता पर भी जायसी ने विचार किया है।[५]

---

१. करता किरतिम बाजी लाई। ओंकार से सृष्टि उपाई ।।
पांच तत तीनों गुन साजा। ताते सब किरतिम उपराजा ।।

२. हुता जो सुन्न-म-सुन्न।
पूर पुरान पाप नहिं पुन्नू।
गुपुत ते गुपुत, सुन्न ते सुन्नू।—अखरावट ।।

३. अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतस्य योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ।।१।।
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः ।।२।।
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ।।३।।
तदेतदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ।।४।।
—श्रीमद्भागवत, २।९।३२–३५।

४. ऐस जो ठाकुर किय एक दाऊं। पहिले रचा मुहम्मद नाऊं ।।
तेहि के प्रीति बीस अज जामा। भए दुइ बिरिछ सेत औ स्यामा ।।
होतै बिरवा भए दुइ पाता। पिता सरग और धरती माता ।।
सुरुज, चांद दिवस औ राती। एकहि दूसर भएउ संघाती ।।
चलि सो लिखनी भइ दुइ फारा। बिरिछ एक उपजी दुइ डारा ।।
भेटेन्हि जाइ पुन्नि और पापू। दुख औ सुख, आनन्द संतापू ।।
ओ तब भए नरक बैकुंठू। भल और मंद, सांच औ झूठू ।।
—अखरावट।

५. सातों दीप नवौ खंड, आठो दिशा जो आहिं।
जो ब्रह्मांड सो पिंड है, हेरत अंत न जाहिं ।।

सन्त सुन्दरदास ने अवश्य सांख्य-मत के अनुसार सृष्टि-विमर्श किया है। परन्तु, अन्तर तत्त्वों की संख्या में हैं। उन्होंने पच्चीस तत्त्वों के स्थान पर चौबीस तत्त्वों का विचार किया है। साथ ही, सांख्य-दर्शन में सृष्टि को सत्य कहा गया है। लेकिन, अद्वैतवादी होने के कारण उन्होंने इसे मिथ्या कहा है। आचार्य शुक्ल ने कहा है कि इसी प्रकार इन्होंने जो सृष्टि-तत्त्व आदि विषय कहे हैं, वे भी औरों के समान मनमाने और ऊटपटाँग नहीं हैं, शास्त्र के अनुकूल हैं।[1]

मुक्ति या निर्वाण : सन्तों की दृष्टि में आत्मज्ञान प्राप्त होते ही अज्ञान का पर्दा हट जाता है और आत्मा तथा परमात्मा का मिलन हो जाता है। तब ससीम (जीव) और असीम (ब्रह्म) का भेद समाप्त हो जाता है। द्वैत के द्वन्द्व के कारण ही दोनों की सत्ता में पार्थक्य दिखाई पड़ता है उनका आत्मज्ञान प्रेम का सम्बल लेकर चलता है। उनके यहाँ प्रेम के पर्यायवाची शब्द हैं सबद, लौ, अजपा जाप, अन-हद, सुरति, विरति आदि। कहीं-कहीं भक्ति के सन्दर्भ में द्वैतभाव की सत्ता की भी इच्छा की गई है, जिसमें प्रेमी प्रेमरस का निरन्तर पान करता रहता है। कबीर का "कंवल कुआं में प्रेम रस, पीवै बारंबार बारं-बार प्रेमरस-पान अद्वैत सत्ता में आत्यन्तिक लीन होकर नहीं हो सकता है। अतः, ब्रह्मात्मैक्यभाव से उपासना करने पर भी प्रेम की प्यास बनी रहती है। वस्तुतः, 'लौ' शब्द का रहस्य इसी प्रेमरस-पान में ही है। यह प्रेम की सतत प्यास और निरन्तर रसपान मुक्ति से कम महत्त्व नहीं रखता। अतः, कबीरदास यदि कहीं 'फूटा घट जल जलहिं समाना' कहते हैं, तो दूसरी ओर कमलकुआँ में बार-बार रसपान की ओर भी संकेत करते हैं।

वस्तुतः, कबीर का दार्शनिक मत अद्वैतवाद का ही है। कबीर के अतिरिक्त जगजीवनदास, भीखा, दादू, सुन्दरदास, रैदास, मलूकदास आदि सन्तों ने भी जीवात्मा का अद्वैत स्वरूप ही स्वीकार किया है। अज्ञानान्धकार की पूर्ण निवृत्ति

---

१. ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति ते महातत्त्व, पुनि अहंकार है।
अहंकार हू ते तीन गुण सत, रज, तम,
तमहू तें महाभूत विषय प्रसार है॥
रजहू तें इंद्री रस पृथक्-पृथक् भई
सत्तहू तें मन आदि देवता विचार है।
ऐसे अनुक्रम करि शिष्य सूं कहत गुरु
सुंदर सकल यह मिथ्या भ्रमजार है॥
—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ९०।

होने पर सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन होता है।[1] मूलकदास ने कहा है—'साहब मिलि साहब भये कछ् रही न तमाई' तथा 'तीनों लोक हमारी माया। अंत कतहुँ से कोई नहि लाया' से भी उनका अद्वैत-सिद्धान्त स्पष्ट होता है। दयाबाई तथा भीखा साहब प्रभृति अन्य सन्तों ने भी अद्वैत का ही समर्थन किया है।[2]

अद्वैतवादी निर्गुण सन्तों के अतिरिक्त निर्गुण-सम्प्रदाय में कुछ विशिष्ट द्वैत-वादी भी हैं, जिन्होंने जीव और ब्रह्म का सहज अभेद स्वीकार करते हुए भी द्वैत को ही प्रधानता दी है। ऐसे सन्तों में दरियासाहब (बिहारवाले), शिवदयाल, दीन दरवेज, बुल्लैशाह आदि सन्त आते हैं। द्वैत की स्वीकृति के कारण इन्होंने भी जगत् को असत्य माना है। इन सन्तों के अनुसार मुक्ति के बाद भी जीव की स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है। इन सन्तों पर इनके पूर्ववर्त्ती दार्शनिक आचार्यों, जैसे शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बाकाचार्य आदि के सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा है।

सूफी सन्तों ने भी अद्वैत पर ही जोर दिया है। मल्लिक मुहम्मद जायसी ने ईश्वर और जीव की एकता के सम्बन्ध में कहा है :

दरपन बालक हाथ, मुख देखै दूसरे गनै।
तस भा दुइ एक साथ, मुहम्मद एक जानिये॥

सन्त यारी साहब के अद्वैत में कितनी मधुरता है। वे कहते हैं अहंकार का पर्दा जो हमारे और प्रियतम के बीच पड़ा था, वह सदा के लिए मिट गया। वह प्रियतम जो पर्दे में छिपा हुआ था, अर्थात् हम अपने अहंकार के कारण जिसका साक्षात्कार नहीं कर सकते थे, वह पर्दा हट जाने के कारण रू-ब-रू (सामने) आ गया। उसकी ओर दृष्टि जाते ही वह ऐसी लुब्ध हो गई कि अब उसके सिवा कोई और रहा ही नहीं। ऐसे ही अन्तर्भेदी अनुभवी सन्त यारी साहब थे।

इस तरह, हम देखते हैं कि निर्गुण सन्त अद्वैत तथा द्वैत एवं विशिष्टाद्वैत आदि सभी प्रकार के सिद्धान्तों से प्रभावित थे, परन्तु उनमें से अधिकांश सन्तों पर अद्वैत का ही प्रभाव पड़ा है।

---

१. सदा लीन आनन्द में सहज रूप सब ठौर।
दादू देखे एक को दूजा नाहीं और॥

२. (क) भीखा केवल एक हैं किरतिम भया अनन्त।

(ख) जीव ब्रह्म अंतर नहिं कोय।
एके रूप सर्बघट सोय॥
जग बिबर्त सूं न्यारा जान।
परम अद्वैत रूप निर्वाण॥

नाम-महिमा : सन्तों की सबसे बड़ी देन है नाम-महिमा। उन्होंने ईश्वर के नाम-जप पर विशेष जोर दिया है। जो सगुणोपासक सन्त हैं, उनकी दृष्टि में तो नाम और ईश्वर में अभेद है ही, बल्कि नामी से भी बढ़कर नाम-माहात्म्य है। लेकिन, जो निर्गुणोपासक हैं, उन्होंने भी नाम-जप या नाम-भजन की महिमा गाई है। ज्ञानी-शिरोमणि कबीर ने भी राम-भजन का उपदेश दिया है। यद्यपि कबीरदास ने ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण और सगुण से परे कहा तथा 'राम नाम का मरम है आना' कहकर राम के परात्पर स्वरूप की उपासना की ओर प्रवृत्त किया है, तथापि परात्पर ब्रह्म के स्वरूप को भी जानने के लिए सतत नाम-स्मरण प्रमुख साधन है।

यही नहीं, सहज समाधि की स्थिति में निरन्तर बने रहने के लिए भी नाम-स्मरण की परमावश्यता स्वीकार की गयी है। चंचल मन को एकाग्र करने के लिए इससे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। इसे ही 'सुरत शब्दयोग' भी कहते हैं।

नाम-साधना के सम्बन्ध में कबीर कहते हैं कि जो प्रतिक्षण नाम-स्मरण करता है, उसकी कभी विस्मृति नहीं होती। वह अमर नगरी, अर्थात् परम पद को प्राप्त करता है।[1]

सन्त नामदेवजी ने तत्त्वविवेक के लिए नाम-भजन को सर्वोत्कृष्ट साधन कहा है। भगवद्लीला में प्रवेश सहज बात नहीं है। वह तो समुद्र की तरह अगाध है। सोने का सुमेरु पर्वत, हाथी, घोड़ा आदि का दान करने से प्राप्त फल भी नाम-जप की समता नहीं कर सकता। योग, यज्ञ, तीर्थ और व्रतादि से क्या ? ओस पीने से जैसे प्यास नहीं बुझती, वैसे ही इन साधनों से भी भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः, एकमात्र भगवान् का ही भजन करना चाहिए। साधु सहज परोपकारी होते हैं, अतः उनकी सेवा करने से गोविन्द की प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार, इस संसार-सागर से तरने के लिए तो मन, वचन तथा कर्म से नाप-जप का ही सहारा लेना चाहिए। यही

---

१. हंसा करो नाम नौकरी।
नाम बिदेही निसि दिन सुमिरै नहिं भूलै छिन घरी ॥
नाम बिदेही जो जन पावै, कभु न सुरति बिसरी।
ऐसो सबद सतगुरु से पावै, आवा गमन हरी ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, पावै अमर नगरी ॥

सुदृढ जहाज है, जिससे निस्सन्देह भवसागर को पार किया जा सकता है।[१] सन्तशिरोमणि रैदास के नाम-जप में तादात्म्य की कितनी तन्मयता दिखाई पड़ती है ![२] सन्त गुरु नानक ने नाम-जप की आवश्यकता बताते हुए कहा है कि जो राम का भजन नहीं करते, उन्होंने अपना जीवन व्यर्थ ही खो दिया। नाम के अतिरिक्त सम्पूर्ण साधना उनकी दृष्टि में गौण ही है। कलिकाल में तो नाम-भजन से ही मुक्ति हो सकती है।[३] और, सन्त दादूदयाल तो एकमात्र नाम पर ही बलिहारी जाते हैं। क्योंकि, नाम ही संसार से तारनेवाला, तत्त्वज्ञान का प्रचारक, स्वरूप की प्राप्ति करानेवाला तथा

---

१. तत्त गहन को नाम है, भजि लीजै सोई।
लीला सिंधु अगाध है, गति लखै न कोई ।।१।।
कंचन मेरु सुमेरु, हय गज दीजै दाना।
कोटि गऊ जो दान दे, नहिं नाम समाना ।।२।।
जोग जग्य तें कहा सरै, तीरथ व्रत दाना।
ओसै प्यास न भागिहै भजिये भगवाना ।।३।।
पूजा करि साधू जनहिं, हरि को प्रन धारी
उन तें गोबिंद पाइये, वे परउपकारी ।।४।।
एकै मन एकै दसा, एकै व्रत धरिये।
नामदेव नाम जहाज है, भवसागर तरिये ।।५।।

२. अब कैसे छुटै नाम रट लागी।
प्रभुजी तुम चंदन हम पानी, जाकी अंग-अंग बास समानी ।।१।।
प्रभुजी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चंद चकोरा ।।२।।
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती ।।३।।
प्रभुजी तुम मोती हम धागा, जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ।।४।।
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा ।।५।।

३. जामें भजन राम को नाहीं।
तेहि नर जनम खोयो, यह राखो मन माहीं ।।१।।
तीरथ करै बर्त पुनि राखै, नहिं मनुआँ बस जाको।
निसफल धर्म ताहि तुम मानो, साँच कहत मैं याको ।।२।।
जैसे पाहन जल में राख्यो, भेदै नहिं तेहि पानी।
तैसेही तुम ताहि पिछानो, भगतिहीन जो प्रानी ।।३।।
कलि में मुक्ति नाम तें पावत, गुरु यह भेद बतावै।
कहु नानक सोई नर गरुआ, जो प्रभु के गुन गावै ।।४।।

सम्पूर्ण सुखों को देनेवाला है।[१] इस तरह, हम देखते हैं कि निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार के सन्तों ने नाम-जप को सर्वोपरि सिद्ध किया है।

गुरु : 'प्रातिभ ज्ञान' से ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। यह शास्त्राध्ययन से नहीं, बल्कि गुरुकृपा से ही सम्भव है। गुरु के निर्देशानुसार स्वसाधना ही इस कोटि की ज्ञान-प्राप्ति में प्रधान हेतु है।[२] साथ ही सुरतशब्दयोग-साधना के लिए भी सन्तों ने सद्गुरु की महिमा स्वीकार की है।[३] उन्होंने उनका स्थान ईश्वर से भी ऊपर माना है, परन्तु उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए। ऐसा ही गुरु शिष्य की अविद्या को दूर कर सकता है। जबतक उसे सद्गुरु की कृपा प्राप्त नहीं होती, तभी तक वह भवाटवी में भटकता रहता है। अतः, उनकी दृष्टि में सद्गुरु की प्राप्ति ही सबसे बड़ा लाभ है। सन्त कबीरदास ने 'सिर देने पर भी यदि गुरु की

---

१. नाँउ रे, नाँउ रे, सकल सिरोमणि नाँउ रे।
मैं बलिहारी जाउँ रे॥
दूतर तारै पारि उतारै, नरक निवारै नाउँ रे ॥१॥
तारनहारा भौजल पारा, निर्मल सारा नाउँ रे ॥२॥
नूर दिखावै तेज मिलावै, जोति जगावै नाउँ रे ॥३॥
सब सुखदाता अमृत राता, दादू माता नाउँ रे ॥४॥

२. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि उक्त स्वानुभूतिपरक अभ्यास के लिए किसी प्रकार का पण्डित वा गुणज्ञ होना अपेक्षित नहीं। किन्तु, कार्य अत्यन्त दुःसाध्य होने के कारण यह आवश्यक है कि इसके लिए पहले किसी अनुभवलब्ध तथा श्रद्धेय सद्गुरु की सहायता भी प्राप्त कर ली जाय। स्पष्ट है कि ऐसा सद्गुरु भी एक सच्चा पथ-प्रदर्शक व्यक्ति होना चाहिए, जो अपने निजी अनुभव की बातें ठीक ढंग से प्रत्यक्ष न करा सकने पर भी उसकी साधना के लिए पर्याप्त संकेत दे सके। ऐसे गुरु की योग्यता पर ही उसके शिष्य की सफलता निर्भर है; क्योंकि उचित मार्ग न पाकर साधक पथभ्रष्ट भी हो सकता है। शिष्य अपने गुरु में पूर्ण आस्था रखता है, उसके प्रति अपने को पूर्णतः समर्पित कर देता है और तब कहीं उसके द्वारा कार्यक्षेत्र में लाया जा सकता है।

—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० १२।

३. नाम-साधना में गुरुकृपा की प्रधानता बताते हुए आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि "परन्तु नाम के प्रति उक्त प्रकार की साधना गुरु की कृपा द्वारा ही सम्भव है। यदि गुरु की कृपा हो जाय, तो मन में पूरी दृढता आ जाती है और वह चारों ओर दौड़-धूप लगाना छोड़ देता है। उसी की सहायता से मुरारि मिलते हैं और संसार-सागर के पार जाना सरल हो जाता है। वास्तविक देवता गुरुदेव हैं और अन्य सभी देवों की सेवा करना कुछ अर्थ नहीं रखता।"

—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० ११६।

प्राप्ति हो जाय, तो भी सस्ता ही' कहा है।[1] और जब सद्गुरु की प्राप्ति हो जाती है, तब अपने लक्ष्य की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता। आत्मदर्शन के बाद वह कृतकृत्य हो जाता है। उसके व्यक्तित्व में आमूल परिवर्त्तन हो जाता है। तब वह सर्वत्र परमेश्वर का ही दर्शन करता है। उसके सम्पूर्ण कार्य उपासनामय हो जाते हैं।

सन्तों के यहाँ भृंग-कीटन्याय प्रसिद्ध है। भृंग एक प्रकार का कीड़ा होता है, जो मिट्टी का छोटा-सा घर बनाकर उसमें बाहर से किसी विजातीय कीड़े को लाकर रख देता है और स्वयं उसका मुँह बन्द कर शब्द करता रहता है। निरन्तर शब्द-श्रवण से कीड़ा भी भृंग में रूपान्तरित हो जाता है। उसी प्रकार, गुरु भी शिष्य को शरण में आते ही अपने समान बना लेता है। दोनों में अन्तर यह है कि कीड़े को भृंग बनाने में अवधि लगती है और गुरु शिष्य को स्पर्शमात्र से योग्य बना देता है।[2] दयाबाई ने गुरु को सब देवताओं का भी देवता तथा परमेश्वर-तुल्य बतलाया है।[3] "सद्गुरु के शब्द-रूपी वाण के लगने से ब्रह्मभाव में मग्न व्यक्ति अनुभूति का गाथा गाने लगा, अनाहत नाद सुनने में असमर्थ को निरन्तर नाद-श्रवण होने लगा तथा चंचल व्यक्ति शान्त हो गया।"[4] सन्त दरियासाहब ने तो संसार-सागर से पार जाने के लिए सद्गुरु को ही जहाज कहा है।[5] जायसी के अनुसार, हृदय में प्रेम का दीपक जलाकर उसे प्रकाशपूर्ण बनानेवाले गुरु ही हैं।[6]

---

१. यह तन विष की बेलरी गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान ॥—कबीर।

२. दादू सुधि बुधि आत्मा, सतगुर परसे आइ।
दादू भृंगी कीट ज्यों, देखत ही ह्वै जाइ ॥ —दादू।

३. गुरु हैं सब देवन को देवा।
गुरु को कोउ न जानत भेवा ॥
करुणासागर ब्रह्म निधाना।
गुरु हैं ब्रह्मरूप भगवाना ॥
—दयाबाई।

४. गूंगा हुआ बावरा, बहरा हुआ कान।
पापहु ते पिंगल भया, मारिया सतिगुर बान ॥
—कबीर।

५. दरिया भव जल अगम है, सतगुरु करहु जहाज।
तेहि पर हंस चढ़ाइकै, जाय करहु सुख राज ॥
—दरियासाहब (बिहारवाले)।

६. लेसा हिये प्रेम कर दीया।
उठी जोति या निरमल हीया ॥
—जायसी

इसी तरह कुम्भ और कुम्भकार,[१] लोहा और पारखी,[२] कपड़ा और धोबी[३] तथा लोहा और लोहार[४] के दृष्टान्त द्वारा भी गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को दिखाया गया है।

सद्‌गुरु ने कृपा करके एक शब्द से सम्बन्ध जोड़ दिया। उस शब्द के हृदय में पहुँचते ही ज्ञान के अनेक नेत्र खुल गये।[५] दादू की दृष्टि में गुरु ही सर्वस्व हैं। उनके इस गुरु-महिमा-मण्डित पद में गुरु शब्द की जैसे माला बन गई है।[६] अन्यत्र वे कहते हैं कि मनरूपी सर्प में विष भर गया था। उसको निर्विष करनेवाला कोई नहीं था। लेकिन, जैसे ही गुरु-रूपी गारुडी की प्राप्ति हुई, वैसे ही वह विषय-रूपी विष से रहित हो गया है।[७] भक्तिमती मीराँबाई ने भी भेद को बताकर गुरु को भ्रम

---

१. गुरु कुम्हार सिष कुंभ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट।।
—कबीर।

२. सतगुरु पारस रूप है, हमरी लोहा जात।
पलक बीच कंचन करै, पलटै पिंडा गात।।
—गरीबदास।

३. गुरु धोबी सिष कापड़ा, साबुन सिरजन हार।
सुरति सिला पर धोइये, निकसै जोति अपार।।
—कबीर।

४. हम तो लोहा कठिन है, सतगुरु बने लोहार।
जुगन जुगन के मोरचे, तोड़ गढ़े घन सार।।
—गरीबदास।

५. दरियासाहब (मारवाड़वाले)।

६. बाबा गुरमुख ज्ञाना रे, गुरमुख ध्याना रे।।
गुरमुख दाता, गुरमुख राता, गुरमुख गवना रे।
गुरमुख भवना गुरमुख छवना, गुरमुख रवना रे।।
गुरमुख पूरा गुरमुख सूरा, गुरमुख वाणी रे।
गुरमुख देणां गुरमुख लेणां, गुरमुख जाणी रे।।
गुरमुख गहिबा गुरमुख रहिबा, गुरमुख न्यारा रे।
गुरमुख सारा गुरमुख तारा, गुरमुख पारा रे।।
गुरमुख राया गुरमुख पाया, गुरमुख मेला रे।
गुरमुख तेज गुरमुख सेज, दादू खेला रे।।
— दादू।

७. मन भुअंग बहु विष भर्‌या, निर्बिष क्यूंहिं न होइ।
दादू मिल्या गुर गारुड़ी, निर्बिष कीया सोइ।।

का किवाड़ खोलनेवाला बताया है। भ्रम के दूर होते ही सम्पूर्ण शरीर में एक ही आत्मा का दर्शन होने लगा।[१]

इस तरह, हम देखते हैं कि वेद का 'आचार्यदेवो भव' तथा पुराणों का 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः' का भाव इन सन्तों के पदों में प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ता है। किसी-किसी सन्त ने तो गुरु का स्थान गोविन्द से भी उच्च माना है।[२] इसका प्रभाव सगुणोपासक भक्तों पर भी पड़ा है।

साधु-महिमा : इसी प्रकार इन सन्तों ने साधु की महिमा भी गाई है। साधु की संगति भी भगवत्कृपा से ही प्राप्त होती है। क्योंकि, साधु के सान्निध्य से शीघ्र ही भगवद्विषयक रति का उदय होता है, जो क्रमशः प्रेम में परिणत होकर पूर्णता को प्राप्त करता है।[३]

साधु-महिमा के सामने सन्त पलटू ने तो तीर्थसेवा को भी अपराध तक कह डाला। इसमें सन्त का उद्देश्य अपराध से अछूता रहकर तीर्थ की महिमा बताना ही है। सन्त और भगवन्त में कुछ भी अन्तर नहीं है। दोनों एक रूप हैं। अन्तर है तो केवल नाम का। ऐसे भगवत्स्वरूप साधु तो दूसरे के दोषों की ओर बिना ध्यान दिये केवल गुण ही ग्रहण करते है और प्रत्येक घट में व्याप्त परमात्मा को पहचान लेते हैं।[४] साधुओं की कृपा भी सहृदय भावुकों पर ही होती है। भाव-

---

१. लागी मोहि राम खुमारी हो ॥
रमझम बरसे मेहड़ा भीजै तन सारी हो।
चहुं दिस चमकै दमणी गरजै घन भारी हो ॥
सतगुर भेद बताइया खोली भरम किंवारी हो।
सब दीसै आतमा सब ही सूं न्यारी हो ॥
दीपक जोऊं ग्यान का चढ़ूं अगम अटारी हो।
मीरां दासी राम की इमरत बलिहारी हो ॥

२. कबीर ते नर अंध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर ॥
—कबीरदास।

३ साध मिलैं तब उपजैं, हिरदे हरि का भाव।
दादू संगति साध की, जब हरि करै पसाव ॥
— दादू।

४. औगुन कौ तो नाम गहै, गुन ही को लै बीन।
घट-घट महके मधू ज्यों, परमातम लै चीन्ह ॥
—कबीर।

हीन तो मरे की तरह हैं, जो उनकी कृपा से वंचित रह जाते हैं।[१] परन्तु, ऐसे साधुओं की संख्या बहुत ही थोड़ी है, अतः उनको प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। वे सिंह, हंस तथा मणि की तरह झुण्ड या अधिक परिमाण में नहीं मिल सकते हैं।[२]

नाम-रूप-गुण-लीला-धाम के उपासक साधुओं के आगमन से घर पावन हो जाता है। उन्हें देखकर भक्त का विमल हृदय हर्षोल्लास से भर जाता है। वे भगवद्विषयक कथा-वार्त्ता से संसार का मंगल करते हैं तथा जन्म-मृत्यु के चक्कर से मुक्त कर देते हैं।[३] मुक्ति का द्वार सन्त अनन्त से भी बढ़कर है। अतः, सन्तवर पलटू उसे हरि से भी आगे मानते हैं। क्योंकि, वे ही हरि का दर्शन कराते हैं।[४] सुन्दरदासजी ने साधु के लक्षण इस प्रकार बताये हैं :

धूलि जैसो धन जाके, सूलि सो संसार सुख।
भूली जैसो भाग देखे, अंत कैसी यारी है॥
पाप जैसी प्रभुताई, स्राप जैसो सनमान।
बड़ाई बिच्छुन जैसी, नागिन सी नारी है॥

---

१. सिंह साधु की एकमत, जीवत ही कौ खाय।
भाव हीन मिरतक दसा, ता के निकट न जाय॥
—कबीर।

२. सिंहों के लेंहड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँत।
लालों की नहिं बोरियाँ, साध न चले जमात॥

३, आज दिवस लेऊँ बलिहारा, मेरे गृह आया राम का प्यारा॥
आँगन बँगला भवन भयो पावन, हरिजन बैठे हरिजस गावन।
करूं डंडवत चरन पखारूं, तन मन धन उन ऊपरि वारूँ॥
कथा कहैं अरु अर्थ विचारैं, आप तरैं औरन को तारैं।
कहै रैदास मिलैं निज दास, जनम-जनम कै काटैं पास॥
—रैदासजी : संतवाणी-संग्रह, भाग २, पृ० ३२।

४. बड़ा होई तेहि पूजिये सन्तन किया बिचार॥
सन्तन किया बिचार ज्ञान का दीपक लीन्हा॥
देवता तेतिस कोटि नगर में सब कौ चीन्हा॥
सब का खंडन किहा खोजि के तीन निकारा॥
तीनों में दुइ सही मुक्ति का एकै द्वारा॥
हरि को लिहा निकारि बहुर तिन मंत्र बिचारा॥
हरि हैं गुन के बीच सन्त हैं गुन से न्यारा॥
पलटू प्रथमै सन्त जन दूजे हं करतार॥
बड़ा होय तेहि पूजिये सन्त न किया बिचार॥
—पलटू साहब, वही, पृ० २०८।

अग्नि जैसो इन्द्र लोक, विघ्न जैसी बिधि लोक।
कीरति कलंक जैसी, सिद्धि सी ठगनारी है।।
सुंदर कहत ताहि, बंदना हमारी है।।

ऐसे ही साधु सद्गुरु होने के अधिकारी हैं। इन्हीं सन्तों की चरण-धूलि को अंजन बनाने से प्रकट और गुप्त रामचरित-रूपी मणि-माणिक्य दिखाई पड़ते हैं।[१] इस तरह, हम देखते हैं कि सन्तों ने साधु की महिमा को सर्वोपरि बताया है।

सन्तों का प्रेमयोग : प्रेममार्गी सन्तों में सूफी कवि आते हैं। उनकी दृष्टि में जगत् में यदि कोई सार वस्तु है, तो वह प्रेम ही है। प्रेम की मदिरा पीकर प्रेमी अपने को भूल जाता है। प्रेमी-हृदय प्रिय की स्मृति में सदा तपता रहता है। विरह को वह नित्य पसन्द करता है; क्योंकि इससे प्रिय की स्मृति बनी रहती है। परन्तु, प्रेम की सदा माँग है प्रिय-मिलन की। अतः, वह प्रिय-प्राप्ति में आनेवाले विघ्नों को पार करता हुआ उससे जा मिलता है। मिलन के बाद केवल प्रिय ही रह जाता है, प्रेमी तो उसमें उसी प्रकार मिल जाता है, जैसे समुद्र में बादल से विच्युत बूँद।[२] वस्तुतः, उसे इसी मिलन में ही सुख प्राप्त होता है। इसी आत्मसमर्पण में वह अपने जीवन की सार्थकता मानता है। सूफी मत में आत्मा प्रेमी है, जो परम प्रेमास्पद परमात्मा से मिलने के लिए नित्य व्याकुल रहता है। सूफी ईश्वर को हक़ तथा आत्मा को बन्दा कहते हैं। बन्दा हक़ तक इश्क के सूत्र से ही पहुँच सकता है। पूर्ण सम्मिलन की स्थिति को 'मारिफ़त' कहते हैं, जिसमें बन्दा फना होकर 'बक़ा' के लिए प्रस्तुत होता है। परन्तु, परमात्मा से मिलन में शैतान बाधा देता है, जिसकी निवृत्ति पीर या गुरु-कृपा से हो जाती है। सूफी सन्तों का प्रेम अतीन्द्रिय, किंवा अन्तर्मुखी है। उसमें शारीरिक प्रेम का लेश-मात्र भी नहीं है, अतः विमलोज्ज्वल है।

---

१. सूझहिं रामचरित मनिमानिक। प्रकट गुपुत जहँ जो जेहि खानिक।।
—गोस्वामी तुलसीदास : रामचरितमानस, बालकाण्ड।

२. बूँदहि सिंधु समांन, यह अचरज कासों कहौं।
जो हेरा सो हरांन, मुहम्मद आपै आप महँ।।

वैष्णव साधना का विविध कलाकृतियों पर प्रभाव

वैष्णव साधना में नाम, रूप, गुण एवं लीला-धाम प्रभृति साधनाओं को विष्णु की प्रसन्नता का आवश्यक अंग माना गया है। इन अंगभूत साधनों का प्रभाव कालक्रम से कलाओं पर भी दिखाई पड़ता है। अतः, कलाएँ विष्णु की उपासना में अपूर्व योग देती दिखाई पड़ती हैं। कलाओं के प्रत्येक अंश से उपास्य की स्मृति, उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। भारतीय कलाकृतियों का वह क्षेत्र, जो ईश्वर के अवतारों से सम्बद्ध है, भावक या द्रष्टा को ईश्वरीय भावना से ओत-प्रोत कर देता है। हम भारतीय किसी देवी या देवता के चित्र या मूर्त्ति में उसके उपादानों को नहीं देखते, बल्कि हमारी दृष्टि आन्तरिक हो जाती है और वह चित्र या मूर्त्ति हमें देवी या देवता के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

मूर्त्ति या चित्र का सम्बन्ध जब उपासना से हो जाता है, तब हमें प्रतीकात्मकता का बोध होता है। प्रतीक का महत्त्व वास्तविक स्वरूप का बोध कराने के लिए होता है। इसका सम्बन्ध तार्किक बुद्धि से कम, परन्तु भावात्मक प्रज्ञा से विशेष होता है। प्रारम्भ में, प्रतीक के विश्लेषण में हम तर्क करते हैं कि ईश्वर के लीलाभूत उपादान-विशेष का सामान्य भाव न होकर विशेष भाव होना चाहिए। परन्तु, बाद में तर्कबुद्धि शिथिल एवं भावना रूढ होती जाती है। इस रूढ भावना का फल होता है प्रतीकात्मकता का विस्मरण तथा प्रतीक का अभिधार्थ-ग्रहण। इसीलिए, श्रीगणेश की मूर्त्ति को प्रसाद चढ़ानेवाले, तार्किकता के प्रतीक 'मूषक' को भी मिष्टान्न चढ़ाये बिना नहीं रहते।

स्वयं श्रीगणेशजी की आकृति भी ज्ञानियों के लिए योगी-ध्येय 'ॐ' की ही है। लेकिन, स्थूल उपासना में श्रीगणेशजी हस्ती-मुख लम्बोदर हैं, जिन्हें मोदक अतिशय प्रिय है।

इन उपासना-प्रधान कलाओं का सम्बन्ध वेद, पुराण तथा अवतारों का लीला-गान करनेवाले काव्यों-महाकाव्यों से है। ब्रह्म के त्रिपादविभूति-युक्त निर्गुण-स्वरूप का रेखाचित्र 'ॐ' है, जिसके वर्णों (अ + उ + म्) की व्याख्या अत्यन्त सारगर्भ है। लेकिन, जिन्हें लक्ष्य का ज्ञान नहीं, वे इस उदात्त वर्ण की स्थूल उपासना करते हैं। आस्तिक श्रद्धालुओं के भवनों पर 'ॐ' लिखा दिखाई पड़ता है। नित्य अभ्यास से वास्तविकता का ज्ञान संभव हो जाता है। अतः, प्रतीक की स्थूल साधना भी सार्थक

ही है। वैसे ही प्राचीन युग में मांगलिक रेखाचित्र 'स्वस्तिक' (卐) का बहुत प्रचलन हो गया था। आज भी बहुत-से लोग मंगलभावना के लिए इसका उपयोग करते हैं।

पुराणों में ईश्वर के अवतारों के लिए विविध ललित वर्णन मिलते हैं। प्रधान अष्टादश पुराणों के उपास्यों में विष्णु, शिव, सूर्य तथा शक्ति हैं। पुराणकाल में इन उपास्यों के चित्र तथा मूर्त्तियाँ यथापुराणवर्णित प्राप्त होती हैं। इनका जन-जीवन में विस्तार करनेवाले पुराणवाचक व्यास तथा कलाकार दोनों हैं। बल्कि, कलाकारों ने चित्रों तथा मूर्त्तियों द्वारा उपास्यों के स्वरूप का बोध कराया है। पण्डित से मूर्ख तक इससे प्रभावित हुए।

विष्णु के अवतारों में 'राम' और 'कृष्ण' की लीलाएँ मनुष्योचित एवं ललित होने के कारण जन-मानस पर अधिक प्रभाव डाल सकीं। आस्तिक भक्तों ने तो परमात्मा के सम्पूर्ण अवतारों में श्रद्धा एवं पूज्य भावना रखी, सबकी भक्ति की महिमा गाई, परन्तु राम की लीलाओं का आकर्षण विशेष रहा। मत्स्यावतार से कल्कि-अवतार तक के उपासक समान रूप से मुक्ति एवं भक्ति के अधिकारी हैं। लेकिन, राम और कृष्ण के अवतारों में पूर्ण कलात्मकता देखी गई। अतः, भक्तों ने कहा—'रामस्तु भगवान् स्वयम्', 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है। मनुष्य-जीवन में पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, नदी, पर्वत एवं समुद्रादि सभी प्रिय हैं, सभी उपयोगी हैं। परन्तु, मनुष्य को मनुष्य सबसे अधिक प्रिय है। मनुष्य परमात्मा को भी अधिक प्रिय है। क्योंकि, सम्पूर्ण प्राणियों की रचना के बाद मनुष्य की रचना करके ही उन्हें विशेष आनन्द एवं शान्ति मिली थी। अतः, पुराणों से काव्यों-महाकाव्यों तक में भी राम-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन ही पुष्कल परिणाम में मिलता है।

जीवन की दो कामनाएँ हैं। प्रथम, सत्ता की रक्षा, और दूसरी, आनन्द की प्राप्ति। रामलीला से सत्ता-रक्षा की भावना दृढ होती है तथा कृष्णलीला से रक्षित जीवन सरस होता है। अतः, सम्पूर्ण भारत के कोने-कोने में राम-कृष्ण की लीलाओं से सम्बद्ध काव्य-रचना, चित्र, मूर्त्ति, नृत्य तथा मन्दिरों में उपासना की अनेकविध पद्धतियों के दर्शन होते हैं। केवल भारत ही नहीं, भारतेतर देशों में भी उपर्युक्त कलाओं के माध्यम से उनकी लीलाओं का प्रचार-प्रसार दिखाई पड़ता है।

पुराणों में श्रीविष्णु के स्वरूप का जो वर्णन मिलता है, वह अत्यन्त सुन्दर है। अपने शंख, चक्र, गदा, पद्म एवं वनमाला से विभूषित विष्णु का वर्णन कई स्थितियों में हुआ है। कहीं तो वे वैकुण्ठ में लक्ष्मी के साथ परम दिव्य सिंहासन पर बैठे

दिखाई पड़ते हैं, कहीं गरुड पर केवल विष्णु, कहीं लक्ष्मी के साथ तथा कहीं क्षीर-सागर में शेषशय्या पर पौढ़े हुए। युग-युग में पृथ्वी के भार को हरण करने के लिए उनका अवतार अनेक रूपों में होता है। परम सुन्दर विष्णु ही कभी मत्स्य, कभी वाराह, कभी नृसिंह तथा कभी वामन होते हैं। परन्तु, भक्तों को शेषशायी विष्णु का ध्यान ही प्रिय लगता है।[१] इस प्रकार, वैष्णवोपासना में अवतारी विष्णु एवं अवतार राम-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन, उनके यशोगान का श्रवण, मनन तथा उनके अतिशय दिव्य स्वरूप के ध्यान एवं उनकी ललित मूर्त्तियों की उपासना का प्रचार अधिक दिखता है।

वैष्णव साधना का काव्य-सर्जना पर सर्वातिशय प्रभाव पड़ा है। संस्कृत, प्राकृत, बँगला, गुजराती, तमिल, तेलुगु, मलयलम, आसामी, महाराष्ट्री तथा हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में लिखे भक्तिकाव्य इसके प्रमाण हैं। हिन्दी में केवल सगुण कवियों पर ही नहीं, बल्कि उनके पूर्ववर्त्ती एवं परवर्त्ती निर्गुण साधकों पर भी वैष्णव साधना का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसकी चर्चा हम पिछले अध्यायों में कर आये हैं।

वैष्णव साधना का संगीत-कला पर प्रभाव

भारतीय कला का लक्ष्य निःश्रेयस् की प्राप्ति रहा है। अतः, पश्चिमी कलावादी सिद्धान्त 'कला के लिए कला' से यह भिन्न पड़ती है। परन्तु, वेदान्त की भूमिका में 'कला के लिए कला' का भी समन्वय 'लीला के लिए लीला' से हो जाता है। यह निर्गुण ब्रह्म की सगुण सृष्टि-लीला की बात है। सगुण साकार ब्रह्म की केवल लीला ही नहीं होती, उसका भक्तों के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध भी हो जाता है। लीला-गान से वह अपने कष्ट-निवारण की कामना करता है, अर्थ की याचना करता है और इन दोनों से विरक्त होकर कोई मुक्ति के लिए भी प्रयास करता है। लेकिन, सच्चे भक्त मुक्ति की परवाह न कर केवल भक्ति के लिए ही लीला-गान में तन्मय रहते हैं।

भक्ति की साधना में लील-गान का विशेष महत्त्व है। इससे उपास्य की स्मृति नित्य नवीन रहती है। अतः, परवर्त्ती भक्तों ने उपास्य की लीलाओं का वर्णन सरस राग-रागिनियों में किया है। अष्टछाप के सभी भक्त-कवि संगीत-कला के

---

१. शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानिगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥

मर्मज्ञ आचार्य भी थे। सूरदास के 'सूरसागर' में संगीत-कला का सांगोपांग वर्णन श्रीकृष्ण-लीलागान के क्रम में दिखाई पड़ता है :

१. राजति पीत पिछौरी, मुरली बजावै गौरी,
धुनि सुनि भईं बौरी, रहीं तकि अँखियाँ।
चल्यौ न परत पग, गिरि परी सुधैं मग,
यामिनि भव नल याई कर गहे कँखियाँ ॥

(सूरसागर, पद १३८५)

२. रास रसिक गोपाल लाल, ब्रजबाल-संग बिहरत वृन्दावन।
सप्त सुरनि मुरली बाजति, धुनि सुनि मोहे सुर-नर-गंध्रब-जन ॥

× ×

नृत्य करत उघटत सँगीत पद निरखि सूर रीझत मन ही मन।

(वही, पद ११३७)

३. राग-रागिनी प्रकट दिखायौ, गायौ जो जिहि रूप।
सप्त सुरनि के भेद बतावति, नागरि रूप-अनूप ॥

(वही, पद ११४४)

४. मुरली हरि को भावै री।

× ×

छहौं राग छतीसौ रागिनी, इक-इक नीकैं गावै री।
.... हरि के मनहिं चुरावै री ॥

(वही, पद १२३८)

५. मुरलिया बाजति है बहुबान।
तीनि ग्राम इकईस मूर्छना, कोटि उनचास तान ॥

(वही, पद १३५३)

सूरदासजी की सूरसारावली में प्रयुक्त राग ये हैं : १. ललित, २. पंचम, ३. खट, ४. मालकोष, ५. हिंडोल, ६. मेघ, ७. मालव, ८. सारंग, ९. नट, १०. सावन्त, ११. भूपाली, १२. ईमन, १३. कान्हरौ १४. अड़ाना, १५. नायकी, १६. केदारौ, १७. सोरठ, १८. गौड़ मलार, १९. भैरव, २०. विभास, २१. बिलावल, २२. देवगिरि, २३. देशाख, २४. गौरी, २५. श्री, २६. जैतश्री,

२७. पूर्वी, २८. टोड़ी, २९. आसावरी, ३०. रामकली, ३१. गुनकली, ३२. सुघराई, ३३. जैजैवन्ती, ३४. सूहा, ३५. सिन्धूरा और ३६. प्रभाती।[१]

सूरदासजी की संगीत-कला की मर्मज्ञता के सम्बन्ध में डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' ने कहा है कि "सूरसागर में कई अन्य स्थानों पर भी संगीत से सबद्ध सामग्री उपलब्ध होती है। सूर स्वयं संगीतशास्त्र में निष्णात थे। उनका सूरसागर विविध राग-रागिनियों में ही लिखा गया है। अनेक रागों की सृष्टि सूरदास ने स्वयं की थी। जैसा पहले कहा गया, सूर-सारावली की छन्द-संख्या १०१२ से १०१८ तक सोरठ, मलार, केदारौ,जयतश्री आदि विविध रागों के नाम गिनाये गये हैं, जिन्हें संगीतशास्त्र का कोई विशेषज्ञ ही समझ और समझा सकता है। सूरसागर के पृ० ३५२ पर संगीत के सप्त स्वरों के नाम दिये गये हैं।[२] उसके पृ० ३४६ पर उपंग, ताल, मुरज, रवाब, बीना, किन्नरी, मृदंग आदि बाजों के नाम भी आये हैं।"[३]

---

१. ललिता ललित बजाय रिझावत मधुर बीन कर लीने।
जान प्रभात राग पंचम षट मालकोस रस भीने॥
सुर हिंडोल मेघ मालव पुनि सारंग सुर नट जान।
सुर सावंत भुवाली ईमन करत कान्हरौ गान॥
ऊँच अडाने के सुर सुनियत निष्ट नायकी लीन।
करत विहार मधुर केदारौ सकल सूरन सुख दीन॥
सोरठ गौड़ मलार सोहावन भैरव ललित बजायौ।
मधुर विभास सुनत बेलावल दंपति अति सुख पायौ॥
देवगिरी देसाक देव पुनि गौरी श्री सुखबास।
जैतश्री अरु पूर्वी टोड़ी आसावरि सुखरास॥
रामकली गुनकली केतकी सुर सुघराई गाये।
जैजैवंती जगतमोहनी सुर सों बीन बजाये॥
सूआ सरस मिलत प्रीतम सुख सिंधुवार रस मान्यौ।
जान प्रभात प्रभाती गायो भोर भयो दोउ जान्यो॥
(सूरसारावली, छन्द सं० १०१२ से १०१८ तक)

ऐसे ही चतुर्भुजदास की 'षट्ऋतु की वार्त्ता' में छत्तीस राग-रागिनियों का उल्लेख है। इनमें से प्रायः अधिकांश राग 'सूरसारावली' की तालिका में मिलते हैं।—ले०

२. सूरसागर (ना० प्र० स०, १७६९)।

३. (क) वही, ना० प्र० स० १६७७ और १७९८ तथा (ख) भारतीय-साधना और सूर-साहित्य, पृ० ३७८ से)।

प्रसिद्ध संगीतज्ञ भक्त कवि तानसेन की संगीत-कला विश्वविख्यात है। अपने वाद्ययन्त्रों पर वे सदा श्रीकृष्ण का गुण-गान करते रहते थे। भक्तिमती मीराँबाई, भक्त नरसी मेहता तथा सन्त तुकाराम अपने वाद्ययन्त्रों को श्रीकृष्णनामामृत का पान कराते रहते थे। श्रीवल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टयाम सेवार्चन में अष्टछाप के कवि सदा भक्ति के पद गाते रहते थे। यही कारण है कि उपर्युक्त सभी भक्तों के पद गेय हैं।

कविसम्राट् गोस्वामीजी की सभी रचनाएँ गेय हैं। उनकी विनयपत्रिका, गीतावली और कवितावली को भक्तगण अत्यन्त प्रेम से गाते हैं। जानकीमगल, पार्वतीमंगल तथा रामललानहछू के पद मांगलिक कृत्यों में स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं। विद्यापति के पदों से तो संगीतशास्त्र को प्राण ही मिल गया। मिथिला के जीवन में हर शुभ अवसर पर विद्यापति के ही गीतों का प्रचलन है।

बंगाल के चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति में कीर्त्तन को विशेष महत्त्व दिया। कीर्त्तन में संगीतशास्त्रीय नियमों की प्रधानता है। उन्होंने गेय भक्ति के पदों ने कई नवीन वाद्ययन्त्रों को भी जन्म दिया। गौडीय सम्प्रदाय का मृदंग परमात्मा का स्वरूप ही माना जाता है। इस सम्प्रदाय के भक्त भक्ति-ग्रन्थ की तरह ही मृदंग की पूजा करते हैं। बिना कीर्त्तन के इसे बजाना बिलकुल मना है।

भारतवर्ष के लगभग सभी प्रान्तों के लोकगीतों में राम-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन हुआ है। उत्तर भारत के बिहार तथा उत्तरप्रदेश में गाये जानेवाले वसन्त-गीतों में श्रीकृष्ण-लीला का विशेष वर्णन मिलता है।

भक्ति से संयोग होने के कारण राग-रागिनियों के अलौकिक स्वरूप एवं अद्भुत प्रभाव का भी वर्णन संगीत-शास्त्रों में हुआ है। भक्ति-पदों को राग-रागिनियों में आबद्ध कर गाने में हमारी भक्त्यात्मक रागात्मिका वृत्ति पुष्ट होती है। भक्त जब सरस रागों से भगवान् को पुकारता है, वे शीघ्र आने की कृपा करते हैं; क्योंकि उनका विरद है कि :

> नाऽहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
> मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥[1]

रसवादी भक्तों में संगीत-कला

रसवादी भक्तों के बनाये गीतों का गान रासलीला के अवसरपर अथवा स्वतन्त्र रूप से भी 'सामूहिक गान' के रूप में होता था। साथ ही, गीति-मुक्तकों के विशेष प्रचार-प्रसार के कारण इनमें संगीत का विशिष्ट योग दिखाई पड़ता है। रसिक भक्तशिरोमणि श्रीहितहरिवंशजी बहुत अच्छे गायक थे। 'हितचौरासी' की एक हस्तलिखित प्रति के अन्त में इस ग्रन्थ

1. नारदसंहिता, १।७।

के पदों की संख्या रागों के माध्यम से सूचित की गई है।[1] स्वामी हरिदासजी की संगीत-कला की ख्याति तो दूर-दूर तक फैली हुई थी। सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन, बैजू बावरा और गोपालराय इन्हीं के शिष्य माने जाते हैं। तानसेन दीपक के आचार्य थे, तो बैजू बावरा मेघ के। वैसे ही गोपालराय मालकोष के पण्डित बताये जाते हैं। परन्तु, स्वामी हरिदासजी सभी रागों के विशेषज्ञ थे। सुनते हैं कि स्वामीजी की संगीत-कला से प्रभावित होकर बादशाह अकबर भी प्रच्छन्न रीति से आया करते थे। श्रीहरिराम व्यासजी की संगीतशास्त्र पर लिखित एक पुस्तक मिलती है, जो 'रागमाला' नाम से प्रसिद्ध है। वे नृत्य एवं गीत को भगवान् की प्रसन्नता का साधन मानते थे।[2] इस तरह, हम देखते हैं कि ब्रज में शास्त्रवादी और रसवादी कृष्णभक्तों ने संगीत-कला का विकास किया। इन भक्त कवियों की अधिकांश रचनाएँ 'मुक्तक-गीतियों' एवं 'गीति-नाट्यों' की हैं। इस कोटि की रचनाओं में संगीत-तत्त्व का स्वाभाविक योग रहता है। संगीतात्मकता का बहुत अच्छा प्रभाव भावाभिव्यंजन पर पड़ता है। श्रीराधाकृष्ण की सरस लीलाएँ संगीत-तत्त्व के योग से परम मधुर हो जाती हैं। यही कारण है कि लीला के पद गानेवाले भक्तों ने संगीत को इतना महत्त्व दिया।

---

१. छ पद विभास साँझ सात हैं बलावल में
टोढ़ी में चतुर आसावरी में द्वै बनें।
सप्त हैं धनसिरी में जुगल वसन्त केलि
देवगंधार पंच दोई सुरसों सनें॥
सारंग में षोडस है चारि ही मलार एक
गौड़ में सुहायौ नव गौरी रस सों सनै।
षट कल्यान निधि कान्हरौ केदारौ वेद बानी॥
हित जू की सब चौदह राग में गनै।
इति श्री राग सुख्या सुपूरणम् ॥ शुभम् भूयात् ॥
श्रीराधावल्लभो जयति श्रीहित हरिवंशचन्द्रो जयति ॥ इति ॥

—भक्तकवि व्यासजी, पृ० १४२--१४३, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, सं० २००९।

२. नाचत गावत हरि सुख पावत।
नाचि गाइ लीजै दिन द्वै, पुनि कठिन काल दिन आवत।
नाँचत नाऊ, जाट, जुलाहौ, छीपा नीकैं गावत।
पीपा अरु रैदास, विप्र जयदेव सुभ लै रिझावत॥
नाँचत सनक, सनन्दन अरु सुक, नारद मुनि सचुपावत।
नाँचत गन गंध्रर्व देवता व्यासहिं कान्ह जगावत॥

—भक्तकवि व्यासजी, पद २४३।

वेदों के छह अंगों में 'शिक्षा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसमें सामवेद के मन्त्रों के पाठ करने के लिए सांगोपाग राग-रागिनियों का वर्णन किया गया है। परन्तु, भक्तिकाल में इन राग-रागिनियों के विस्तार के साथ ही उनके देवतादि भी सगुण साकार ईश्वर हुए। कुछ राग-रागिनियों की आकृति भी लीलावतारों से सम्बद्ध हुई। 'रागविबोध' में वर्णित पावक राग और मुखरी के चित्र क्रमशः कृष्ण और राधा जैसे ज्ञात होते हैं। 'रागकुतूहल' में कृष्ण का शब्दचित्र दृष्टिगत होता है।[१] ऐसे ही राग 'कानरा' में कृष्णलीला का चित्र दिखाई पड़ता है।

रागों में विष्णु को 'मालव कौशिक' अत्यन्त प्रिय है। बाद के संगीतशास्त्रों में 'संगीतदर्पण' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें 'मालव कौशिक' के साथ ही 'कल्याण नट' को भी विष्णु का प्रिय राग कहा गया है। सम्प्रदायों के प्रभाव के कारण राग-रागिनियों का नामकरण[२] अवतारों के आधार पर हुआ है।

दक्षिण भारत में ईश्वरोपासना का मुख्य साधन संगीत ही है। श्रीपुरन्दरदास कर्नाटकी संगीत के अच्छे ज्ञाता के। उनकी वैष्णव साधना द्वैत भाव की थी। दक्षिण के परम भागवत आलवार भक्तों में सब-के-सब भक्ति के पदों के अच्छे गायक थे। उनके गीत 'द्रविड़प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं। महाराष्ट्र के सन्तों में सन्त नामदेव, गणेशनाथ एवं तुकाराम का नाम विख्यात है, जिन्होंने भगवान् की लीलाओं का प्रचार गाकर किया था। संगीत के प्रति सन्त, नामदेव की भावना देखते ही बनती है, जब वे कहते हैं कि 'मुझे ज्ञान का मार्ग अच्छा नहीं लगता, मुझे तो गा-बजाकर ही अपने भगवान् को रिझाना है। संगीत की अपरिमित शक्ति के सम्मुख भगवान् कबतक अकड़े रहेंगे, उनको एक-न-एक दिन झुकना ही पड़ेगा।'[३]

असम में संगीतशास्त्र का उन्नयन शंकरदेव तथा माधवदेव ने किया। उनके बनाये ब्रजबुलि के सभी पद गेय हैं।

सिख-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सन्त गुरु नानक के पदों में अद्भुत मिठास है। उनकी परम दिव्य आरती में आकाश थाल बन जाता है और सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल उसके जाज्वल्यमान दीप। गुरु नानक के बनाये पदों को उनके अनुयायी वाद्ययन्त्रों पर बड़े प्रेम से गाते हैं। बाद में उनके अनुयायियों द्वारा 'किनड़ी', 'जिकड़ा' और 'मल्ड़ा' आदि रागों का पर्याप्त प्रचार हुआ।

---

१. ओरिजिन ऑव राग, पृ० ११३।

२. नारायण गौल, नटनारायण, रामक्रिया, चक्रधर, रासेश्वरी, रामकली आदि।

३. भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० ३०४।

कबीरपन्थियों में भी कबीरदासजी के पदों को गाने की ही प्रथा है। स्वयं कबीर ने अपने उपदेश गाकर ही दिये थे। कबीर के पदों के गाने की धुन में 'डफली' नामक वाद्ययन्त्र का भी निर्माण हुआ।

इस तरह, वैष्णव साधना ने संगीत-कला को एक नया जीवन प्रदान किया। भक्तिकाल में लौकिक एवं शास्त्रीय दोनों प्रकार के संगीत का चरम विकास हुआ।

नृत्यकला पर वैष्णव साधना का प्रभाव

नृत्य, उपास्य की प्रसन्नता के लिए आत्मविभोरता की स्थिति है। सात्त्विक हृदय की कोमलता एवं निश्छलता की परीक्षा नृत्य में ही होती है। साधना में भावमग्नता नृत्य की सृष्टि करती है। उपास्य की सेवा में तन्मय साधक भावदशा के पुष्ट होते ही नाच उठता है। यही नृत्य सच्चा नृत्य है। महाप्रभु के सम्प्रदायानुयायी हरि-कीर्त्तन करते-करते नृत्य करने लगते हैं। स्कन्दपुराण में इसी नृत्य की आज्ञा है, जो 'सत्यदेव' की पूजा के बाद होता है।[1] मीराँ और नरसी मेहता भी अपने गिरिधर गोपाल के सामने कीर्त्तन करते हुए नाचने लगते थे।

हम नृत्य के द्वारा अपने आन्तरिक भावों का प्रकाशन करते हैं। इसमें अपने अंगों के संचालन द्वारा हाव-भाव एवं हेला द्वारा हृदय की बातों की अभिव्यंजना के लिए विशेष सुविधा रहती है।

यों तो, हम आजीवन अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं में नट की भाँति नृत्य ही करते रहते हैं। और, यह नृत्य भी ज्ञात-अज्ञात रूप से उसी सहृदय सामाजिक परमात्मा की प्रसन्नता के लिए ही होता है। उस परम सहृदय से प्रीति हो जाने पर हमारा नृत्य भी संयत हो जाता है। इस नृत्य में पहले के नृत्य की तरह थकावट नहीं, व्यतिक्रम नहीं।[2] इस शान्त नृत्य में प्रवेश होते ही पूर्व का सांसारिक नृत्य भी कुछ विशेष अलग नहीं दिखाई पड़ता। इसीलिए, भक्त कवि रहीम कहते हैं—"हे स्वामी! आपकी प्रसन्नता के लिए विविध चौरासी लाख योनियों में भटककर नट की नाईं

---

१. प्रसादं भक्षयेद्भक्त्या नृत्यगीतादिकं चरेन्।
ततश्च स्वगृहं गच्छेत् सत्यनारायणं स्मरन्॥
—स्कन्दपुराण, रेवाखण्ड, सत्यनारायण-व्रतकथा।

२. अब तो नाच्यो बहुत गुपाल।
... ...
सूरदास की सबै अबिद्या दूरि करौ नँदलाल॥
—संतवाणी-अंक, पृ० २९४।

अनेक स्वाँग बनाये। यदि उनसे प्रसन्न हैं, तो मेरी मनोवांछा पूर्ण कीजिए और नहीं तो कह दीजिए कि ऐसा स्वाँग बनाकर फिर कभी न आना।"[१]

बाद में, आध्यात्मिक नृत्य ही अनेकशः लौकिक नृत्यों में परिवर्त्तित होता दिखाई पड़ता है। स्वयं विष्णु 'नटनारायण' के रूप में दिखाये गये हैं। कृष्णावतार में वे ही 'रासलीला' का आनन्द अपने भक्तों को प्रदान करते हैं, जिसमें प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण दिव्य नृत्य करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

नृत्य चूँकि कपट की कसौटी है;[२] अतः उस विभु की प्रसन्नता के लिए अनन्त कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड आकाश-मण्डल में नित्य नृत्य करते रहते हैं।

नृत्य, उपास्य की शीघ्र प्रसन्नता का सुन्दर साधन है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में इस सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर कथा मिलती है।[३] नृत्य का वैष्णव सम्प्रदाय की छाया में विशेष विकास हुआ। इसमें विष्णु के विविध अवतारों एवं उनके पार्षदों के नाम पर भी विभिन्न नृत्य-अंगहारों का प्रचार-प्रसार हुआ।[४] 'संगीतरत्नाकर' में तो पूर्वकाल में होनेवाले अवतारपरक अभिनयों का भी वर्णन मिलता है।[५] इसमें कूर्मावतार की नृत्य-पद्धति का सविस्तर वर्णन दिखाई पड़ता है।[६]

मुनिवर भरत के नाट्यशास्त्र में विष्णु के अवतारों एवं उनकी लीलाओं का विशेष प्रभाव पड़ा दिखाई पड़ता है। इनमें मुख्य रूप से राधाकृष्ण की प्रेम-लीलाओं को ही आधार बनाया गया है। आन्ध्रप्रदेश का प्रिय नाट्य 'कुचिपुडी' में भागवत की कृष्णकथाओं को ही आधार बनाया गया है। इसी तरह 'भागवतमेल'

---

१. आनीता नटवन्मया तव पुनः श्रीकृष्ण या भूमिका
व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि ।
प्रीतो यद्यसि ताः समीक्ष्य भगवन् तद् वाञ्छितं देहि मे
नो चेद् ब्रूहि कदापि मा नय पुनर्मामीदृशीं भूमिकाम् ॥

—सन्तवाणी-अंक, पृ० ३३८ ।

२. उदात्त : सिद्धान्त तथा शिल्पन : प्रो० जगदीश पाण्डेय ।

३. अ० ३४, पृ० ३३० ।

४. विष्णुध० पु०, तृतीय खण्ड, अ० ३२, पृ० ३२७ ।

५. संगीतरत्नाकर, पृ० ६२४.७,७, पृ० ६५६-७,२३७ ।

६. वामदक्षिणावर्त्ती मूर्ध्नि वा युगपत्क्रमात् ।
ऊर्ध्वाधोमण्डलाकारभ्रान्तौ स्वस्तिकगौ पुनः ॥
वर्त्तनास्वस्तिकौ पार्श्वे द्वये मण्डल घूर्णितौ ।
अभिमण्डलसम्पूर्णौ यदा तु लुण्ठतः करौ ।
आदिकूर्मावतारं तद्रेचकज्ञाः प्रचक्षते ॥

नाटक भी कृष्णलीला पर ही आधारित है। इसके अतिरिक्त, विष्णु के प्रमुख दशावतारों की लीलाओं को आधार बनाकर प्रचलित 'दशावतार-नृत्य' भी लोकप्रिय रहा है।

दक्षिण भारत का सर्वाधिक प्रिय 'कथकली' नृत्य भी, जो विशेषतः मलबार और केरल में प्रचलित है, 'रामलीला' पर आधारित है। इसकी विशेषता है मूक अभिनय की, जो केवल हाव, भाव आदि के माध्यम से कथात्मकता को प्रदर्शित करता है।

वैष्णव भक्ति के सर्वाधिक प्रचार का श्रेय 'रासलीला' को है। इसके माध्यम से श्रीकृष्ण-भक्ति का प्रचार सम्पूर्ण देश में हुआ।

रासलीला का अन्य नृत्यों पर प्रभाव

रासलीला अपने में सामूहिक नृत्य है।[१] गोपियों की श्रीकृष्ण के साथ नृत्य करने की दिव्य कामना ने इसको जन्म दिया। एक श्रीकृष्ण ने अपनी योगमाया से अनेक रूप धारण कर लिये। इस नृत्य को देखकर भक्तों की भक्तिलता हरी-भरी हो जाती है। इसका प्रधान केन्द्र मथुरा तथा उसके आसपास के क्षेत्र वृन्दावनादि हैं। यहीं से यह नृत्यकला देश-भर में फैली है। यों तो मथुरा एवं वृन्दावन के रसिक भक्तों ने ही इसका शास्त्रीय रूप खड़ा कर दिया था ; फिर भी मणिपुर में आते-आते इसमें विशेष शास्त्रीयता का समावेश हो गया। अतः, मणिपुरी नृत्य मूलतः रास-नृत्य ही है। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में शंकरदेव ने 'रासयात्रा' नामक नाटक लिखा है।[२] श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त 'हर्षचरित' और 'वेणीसंहार' में भी रास की परम्परा देखी जाती है। हिन्दी में रासनाटकों का सबसे अधिक प्रचार हितहरिवंशजी ने किया। बिहार और उत्तरप्रदेश के साथ ही बंगाल में भी रास-नृत्य का प्रभाव दृष्टिगत होता है। राजस्थान के भक्तों ने भी रासलीला का आनन्द लिया। महाराष्ट्र का 'जिम्मा' नृत्य तो रासलीला का ही रूपान्तर-सा लगता है। इसी तरह, गुजरात के 'गरबा' नृत्य, महाराष्ट्र के लोकनृत्य 'टिपरिया' तथा वारकरी सम्प्रदाय में प्रचलित 'डिण्डी-रास' पर भी रास-लीला का प्रभाव आसानी से देखा जा सकता है। बंगाल के खेमटा-नृत्य, कृष्णलीला-नृत्य तथा कीर्त्तन-नृत्य का सम्बन्ध

---

१. षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः रासकं समुदाहृतम् ॥
कामिनीभिर्भुवोः भर्त्तुश्चेष्टितं यत्तु नृत्यते।
रागाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः॥
—नाट्यदर्पण।

२. हिन्दी-सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका : श्रीरामनरेश वर्मा, पृ० ३६२

राधाकृष्ण की लीलाओं से है। उड़िया के 'माया-शबरी-नृत्य', दक्षिण भारत का 'कुद्दकुट्टु' एवं कामरूप के 'फाल्गुनी', 'गीता' और 'कर्णार्जुन-नृत्य' पर भी कृष्ण-लीलाओं का प्रभाव पड़ा है। इस तरह, हम देखते हैं कि रासलीला ने भारतवर्ष के लगभग सभी प्रान्तों के जन-जीवन पर श्रीकृष्ण-लीला का प्रभाव डाला है।

रासलीला की ही तरह रामलीला भी देशव्यापी है। रामलीला के उत्तर भारत में प्रचार-प्रसार का श्रेय गोस्वामी तुलसीदासजी को है। वाल्मीकीय रामायण के प्रभाव में भी, विशेषकर दक्षिण भारत के कुछ प्रान्तों में, रामलीला का प्रचार है। राजस्थान में प्रचलित 'ख्याल नृत्य' महाभारत के साथ ही रामायण से भी प्रभावित है। महाराष्ट्र का 'शिमगा-नृत्य' तथा पंजाब का 'रघुनाथ-नृत्य' रामलीला से विशेष प्रभावित हैं।

चित्रकला पर प्रभाव

भारतीय जीवन में अन्य कलाओं की तरह ही चित्रकला का भी उद्देश्य पारमार्थिक रहा है। परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के लिए कलाओं का उपयोग भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशिषता है। चित्रकला के प्रचलन का इतिहास भी अत्यन्त प्राचीन है। तपस्या में विघ्न डालने के लिए आई हुई अप्सराओं के सौन्दर्याभिमान को दूर करने के लिए नारायण मुनि ने 'उर्वशी' का सुन्दर चित्र भूमि पर बनाया था। उस परम सुन्दरी नवीन अप्सरा को देखकर स्वर्ग की अप्सराएँ लज्जित हो गई थीं। मुनिवर नारायण ने ही चित्रकला की महिमा के प्रकाशन के लिए 'चित्रसूत्र' की रचना की थी। वाल्मीकीय रामायण में चित्रों के बहु प्रचलन की चर्चा हुई है। महाभारत के अनुसार, वाणासुर की पुत्री उषा को स्वप्न में दीखे प्रद्युम्न का चित्र उसकी सखी ने बनाया था। चित्रकला की प्राचीनतम परम्परा का सादर ग्रहण परवर्त्ती पुराणों एवं काव्यों में भी हुआ।

प्राचीन काल में चित्रों का निर्माण मान्य मूर्त्तियों के रेखाकंन या रेखाचित्र के रूप में होता था। राम और कृष्ण की सगुण लीलाओं के प्रचार-प्रसार का प्रभाव चित्रकला पर भी पड़ा। अब वह रेखाचित्रों में रंग भरने लगी और लीलाओं की विविध झाँकियों को प्रकट करने का प्रधानसाधन बन गयी। गुप्तकाल में चित्रकला का विकास सर्वाधिक हुआ। चित्रकला काव्यों से केवल प्रभावित ही नहीं हुई, बल्कि काव्यों को विशेष रूप से प्रभावित भी किया। 'उत्तररामचरितम्' में कवि ने राम के द्वारा सीता के मनोरंजनार्थ अपनी सम्पूर्ण लीलाओं का चित्र अंकित कराने की चर्चा की है।

आगे चलकर चित्रकला की कई शैलियों का प्रचलन हुआ, जिसमें गुजरात-शैली, मुगल-शैली, राजपूत-शैली, पहाड़ी शैली आदि के नाम विख्यात हैं। गुजरात-शैली को ही अपभ्रंश-शैली भी कहा जाता है। इसने बंगाल तथा उड़ीसा की चित्रशैली को प्रभावित किया। जगन्नाथजी के चित्रपटों पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पड़ता है। मुगल-शैली की चित्रकला में ईरानी तथा भारतीय मान्यताओं का समन्वय हुआ। अतः, दोनों देशों की पौराणिक कथाओं का अनुकरण हुआ। सम्राट् अकबर के शासनकाल में प्रचलित चित्रों पर रामायण, श्रीमद्भागवत एवं महाभारतादि का प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतः, मुख्य रूप से राम-कृष्ण की लीलाएँ ही उसका उपजीव्य बनीं।

दक्षिण भारत में प्रचलित द्रविड, वेसर तथा नागर शैलियों पर आलवार-सन्तों एवं वैष्णवाचार्यों का प्रभाव पड़ा था। विष्णुकांची तथा दक्षिण भारत के तिरुपति आदि मन्दिरों में अंकित चित्रों पर इसका प्रभाव लक्षित होता है।

राजपूत-चित्रशैली के चित्रण का मुख्य विषय पौराणिक एवं महाकाव्यात्मक था। इसका विकास राजस्थान तथा बुन्देलखण्ड के राजपूत राजाओं के शासनकाल में हुआ। इसमें कृष्णचरित की प्रधानता है। इसका एक केन्द्र ब्रज में भी था। भावचित्र इसकी विशेषता थी। फिर भी, रामावतार की लीलाओं का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस शैली के चित्रों में नीचे आधारभूत पदों को लिखने की प्रथा थी। इस कोटि की शैली को अधिक रंगीन बनाने की भी प्रवृत्ति देखी जाती है। हिन्दी के सगुण भक्त कवियों के सरस पदों ने इस कोटि की शैली को सर्वाधिक प्रभावित किया। गोस्वामीजी के 'मानस' के अनुसार चित्र भारतीय संस्कृति का अत्यन्त प्राचीन अंग है। अयोध्या की चित्रशालाओं में चित्रों के माध्यम से ही रामचरित का वर्णन किया गया है।[१] इस प्रकार, भवनों में भित्तिचित्रों की प्रथा अत्यन्त पुरानी है।

चित्रकला की पहाड़ी शैली में भी राधा-कृष्ण की लीला ही प्रधानतया गृहीत है। 'पहाड़ी शैली', 'काँगड़ा शैली' के नाम से भी, इस स्थान-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण प्रचलित है। पार्वत्य प्रदेश में श्रीकृष्ण-लीला के प्रचार का प्रभाव वहाँ की चित्रकला पर भिन्न रूप से पड़ा है। कलाकारों ने काँगड़ा-उपत्यका

१. (क) चारु चित्रशाला गृह-गृह प्रति लिखे बनाइ।
राम चरित जे निरख मुनि, ते मन लेहिं चुराइ॥
—मानस, उत्तर०, दो० ९७।

(ख) भगवान् विष्णु के ध्वज पर गरुड का चित्र अत्यन्त प्राचीन कलाकृति का नमूना है। विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण भी गरुड़ध्वज है।

के पर्वतों, नदियों, झरनों, वृक्ष एवं लताओं का दर्शन ही वृन्दावन केरूप में किया है। ऐसा नित्य प्राकृतिक साहचर्य के कारण हुआ है। श्रीकृष्ण के कालियदमन की लीला का बड़ा ही सजीव चित्रण इस शैली में चित्रित हुआ है।

मूर्तिकला पर प्रभाव

कलाओं के अन्य अंगों की तरह ही मूर्त्तिकला का भी इतिहास प्राचीनतम है। भारतीय साधनात्मक जीवन में मूर्त्ति केवल प्रतीक ही नहीं, प्राण-प्रतिष्ठ देवता या देवी होती है। अतः, हमारी साधना में प्रतिक्षण वह दिव्य प्रेरणा प्रदान करती है। भारतीय उपासना में मूर्त्ति के लघु एवं महान् तथा भावात्मक एवं थूल दोनोंस रूप दिखाई पड़ते हैं। जहाँ एक ओर शालग्राम में नारायण की उपासना होती है, वहीं दूसरी ओर सम्पूर्ण दिव्य नदियों का उद्गम-स्थल हिमालय भी हमारी उदात्त भावनाओं के प्रकाशन का सुन्दर आलम्बन बन जाता है।

प्राचीन काल की मूर्त्तियों में प्राकृतिक शक्तियों के रूप दिखाई पड़ते हैं। परन्तु, मूर्त्तिकला के विकास का इतिहास 'पांचरात्रसंहिता' के प्रभाव-स्वरूप प्रारम्भ होता है। यह संहिता वैष्णव साधना से ओत-प्रोत है। अतः, मूर्त्तिकला पर भक्ति का प्रभाव विशेष पड़ा। स्वामी रामानुज, श्रीनिम्बार्क, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य ने विष्णु की विविध मूर्त्तियों की उपासना की परम्परा चलाई। स्वामी रामानुजा की उपास्य मूर्त्ति लक्ष्मीनारायणजी की है। श्रीनिम्बार्क के उपास्य श्रीराधाकृष्ण हैं। "श्रीमध्वाचार्य को श्रीवेदव्यास ने प्रसन्न होकर शालग्राम की तीन मूर्त्तियाँ दीं, जिन्हें इन्होंने सुब्रह्मण्यम्, उदीपि तथा मध्यतल नामक स्थानों पर प्रतिष्ठित किया। समुद्रतल से निकाली गई कृष्णमूर्त्ति की स्थापना आचार्यचरण ने उदीपि में की। तभी से यह स्थान माध्वमतानुयायियों के लिए विशिष्ट तीर्थस्थान माना जाता है। यहीं अपने शिष्यों की सुविधा के लिए आचार्य ने और भी आठ मन्दिर निर्मित किये, जिनमें श्रीसीता-राम, लक्ष्मण-सीता, द्विभुज कालियदमन, चतुर्भुज कालियदमन, विट्ठल आदि आठ मूर्त्तियों की स्थापना की।"[1] आचार्य वल्लभ ने बालरूप श्रीकृष्ण की मूर्त्ति की उपासना का प्रचार किया।[2] इनके पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित अष्टछाप के कवियों की रचनाओं ने भी श्रीकृष्ण की बाल-मूर्त्ति की उपासना का

१. भागवत सम्प्रदाय : आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २२२।

२. वल्लभाचार्यजी के समय में नवनीतप्रिय और श्रीनाथजी के स्वरूपों की प्रतिष्ठा थी। नवनीतप्रिय श्रीकृष्ण के बालरूप हैं। श्रीनाथ का रूप गोवर्धनधर है। ये पहले देवदमन के रूप में ख्यात थे।

—हिन्दी-सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका : श्रीरामनरेश वर्मा, पृ० ३८८।

विकास किया। उन्होंने बाल-छवि को अपने ध्यान का आधार बनाते हुए भी कृष्ण के गोवर्धनधारी स्वरूप का भी चित्रण अनेक ढंग से किया है।[१] विट्ठलनाथ ने इनके अतिरिक्त और सात स्वरूपों की प्रतिष्ठा की—मथुरेश, विट्ठलनाथ, द्वारकाधीश, गोकुलनाथ, गोकुलचन्द्रमा, बालकृष्ण और मदनमोहन।

रसवादी भक्तों ने श्रीराधाजी की उपासना पर विशेष जोर दिया। अतः, श्रीराधाजी की ही मूर्त्ति की पूजा की परम्परा इस सम्प्रदाय की निजी विशेषता है। इस सम्प्रदाय में भी दो परम्पराएँ दिखाई पड़ती हैं। पहली परम्परा वृन्दावन की है, जहाँ राधाजी अनिर्वचनीया होने के कारण मूर्त्तिरूप से पूजित नहीं होतीं, परन्तु गद्दी पर स्थापित राधानामांकित स्वर्णपत्र पूजित होता है। इसी को सम्प्रदाय में गद्दी-सेवा कहा जाता है। किन्तु, श्रीकृष्ण के विग्रह की ही उपासना होती है। दूसरी परम्परा हरिराम व्यास की है। अनुश्रुति है कि हरिराम व्यास को एक स्वप्न हुआ और उन्होंने वृन्दावन में किशोरकूप से युगलकिशोर की मूर्त्ति निकाली। इस मूर्त्ति में राधा और कृष्ण दोनों अंकित हैं। यह मूर्त्ति पन्ना के 'जुगुल-किशोर मन्दिर' में प्रतिष्ठित है। एकान्त भक्त होने के कारण ये अन्य किसी विग्रह की आराधना नहीं करते।"[२]

वैष्णव मूर्त्तिकला में साधारणतः चार प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं :

१. स्मार्त्तों की विष्णु के साथ शिव और ब्रह्मा की प्रतिमाओं का एक साथ विधान,
२. सीताराम की मूर्त्तियों का अंकन,
३. नवनीतनट और गोवर्धनधर के बालकृष्ण रूपों का निर्माण और
४. राधावल्लभ एवं जुगुल की रचना।

अर्थात्, मर्यादावादी तुलसीदास में आरम्भिक दो, शास्त्रवादी भक्तों में अन्तिम दो एवं रसवादी भक्तों में केवल अन्तिम प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।[३]

गोस्वामीजी ने सीतारामजी की मूर्त्ति के साथ ही हनुमान्‌जी की मूर्त्ति की स्थापना की भी परम्परा चलाई। सम्पूर्ण उत्तर भारत के प्रत्येक गाँव में अखाड़े के

---

१. मो मन गिरधर-छवि पर अटक्यौ।
ललित त्रिभंगी अंगन वर चलि, गयौ तहाँई ठटक्यौ॥
सजल स्याम घन चरन नील ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यौ।
कृष्णदास कियौ प्रान न्यौछावर, ये तन जग सिर पटक्यौ॥
—कृष्णदास अधिकारी।

२. हिन्दी-सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका : श्रीरामनरेश वर्मा, पृ० ३८८।

३. वही, पृ० ३८९।

साथ हनुमान्‌जी के मन्दिर का निर्माण लौकिक जीवन में शारीरिक शक्ति के विकास का आधार बना। दक्षिण भारत में हनुमत्पूजन की परम्परा का श्रेय स्वामी रामानन्द को है। गोस्वामीजी ने सीताराम की दिव्य छवि का जो वर्णन किया है, उससे उनके उपास्य देवता की मूर्त्ति-निर्माण पर भी बहुत सुन्दर प्रभाव पड़ा। भारत के अनेक वैष्णव मन्दिरों में, जिनमें राम की उपासना होती है, मानस के आधार पर वर्णित रूप में ही मूर्त्तिमान् हैं।[1]

गोस्वामीजी ने 'विनयपत्रिका' के तीन पदों में बिन्दुमाधव की स्तुतियाँ की हैं। यह वर्णन प्रतिमा-विधान की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। तीनों पदों की प्रासगिक पंक्तियाँ ये हैं :

१. चारि भुज चक्र कौमोदकी जलज दरसरसिजोपरि यथा राजहंस।

+ + +

सकल सौभाग्य संजुक्त त्रैलोक्य श्री दच्छि दिसि रुचिर बारीस कन्या।

(विनय०, पद ६१)

२. भुजग भोग भुजदंड कंज दर चक्र गदा बनि आई।

+ + +

दच्छ भाग अनुराग सहित इन्दिरा अधिक ललिताई।
हेम लता जनु तरु तमाल ढिग नील निचोल उढ़ाई ॥

(वही, पद ३२)

बिन्दुमाधव का मन्दिर काशी के पाँच विशिष्ट तीर्थों में एक है।[2] इसका

---

१. (क) पीत बसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा ॥
तनु अनुहरत सुचन्दन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी ॥
—मानस, बाल०, दो० २१९।

(ख) प्रभु विलोकि मुनि मन अनुरागा।
तुरत दिव्य सिंहासन मांगा ॥
रवि सम तेज सो बरनि न जाई।
बैठे राम द्विजन्ह सिरु नाई ॥
जनकसुता समेत रघुराई।
पेखि प्रहरषे मुनि समुदाई ॥
—मानस, उत्तरकाण्ड, दो० १२ क।

२. तीर्थानां पञ्चकं सारं विश्वेशानन्दकानने।
दशाश्वमेधं लोलार्कः केशवो बिन्दुमाधवः ॥
पञ्चमी तु महाश्रेष्ठा प्रोच्यते मणिकर्णिका ॥
—मत्स्य०, १८२।६८-६९।

उल्लेख मत्स्य, पद्म और नृसिंह पुराणों[१] में है तथा काशीखण्ड[२] में इसके सम्बन्ध में अनेक कथाएँ वर्णित हैं। तुलसीदास के समय में निश्चय ही यह एक विशिष्ट तीर्थ रहा होगा। कालान्तर में इस मन्दिर को यवनों ने तोड़ डाला। बिन्दुमाधवजी की मूर्त्ति काशी के एक सज्जन बाबू बालकृष्णदासजी[३] के यहाँ अब भी सुरक्षित है। उपलब्ध मूर्त्ति परम दिव्य है।

यद्यपि पुराणों में शिव और विष्णु की एकता का सर्वत्र प्रतिपादन किया गया है, फिर भी संकुचित मनोवृत्तियों के कारण शैव तथा वैष्णव सम्प्रदाय में कटुता दिखाई पड़ना मध्ययुगीन साधना की एक आश्चर्यजनक बात है। गोस्वामीजी ने युगों से आती हुई इस अशास्त्रीय मनोभावना को शुद्ध किया। उन्होंने विष्णु तथा शिव की परस्पर एकता का प्रतिपादन किया। समन्वय की इस महान् चेष्टा ने दोनों की कटुता दूर कर दी। शिव एवं विष्णु की एकरूपता को स्वीकार किया गया। विशुद्ध पौराणिक परम्परा सजीव हो उठी। अब शिव के मन्दिर में विष्णु की तथा विष्णु के मन्दिर में शिव की मूर्त्ति की स्थापना नितान्त आवश्यक हो गई। इस तरह, वैष्णव साधना ने जहाँ एक ओर विष्णु के अवतारों से सम्बद्ध मूर्त्तिकला का विकास किया, वहीं दूसरी ओर इसका प्रभाव शैव साधना में गृहीत शिव के अर्चाविग्रहों पर भी पड़ा।

वैष्णव साधना ने मूर्त्तिकला दो रूपों में प्रभावित किया। प्रथम विष्णु का अवतारी स्वरूप तथा दूसरा अवतार रूप। अवतारी स्वरूप में विष्णु शंख, चक्र, गदा एवं पद्मधारी हैं।[४] वे देवासुर-संग्राम में समय-समय देवताओं की सहायता करते हैं। इस कोटि की लीलाओं एवं विष्णु के स्वाभाविक रूपों का मूर्त्तियों में अंकन

---

१. पद्मपुराण, खण्ड ६, अध्याय १३१, श्लोक ४८।

२. काशीखण्ड, उत्तरार्द्ध, अध्याय ६१।

३. मकान नं० ३१।१८, भाट की गली, काशी।
—हिन्दी-सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका : श्रीरामनरेश वर्मा।

४. सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं
सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं
नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्॥

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥

प्राचीनकाल से ही होता रहा है।[1] अवतारी रूपों में नृसिंह हिरण्यकश्यप का वध करते हुए दिखाई पड़ते हैं। नृसिंह-पूर्व वराहावतार की मूर्त्तियाँ दक्षिण भारत के वैष्णव मन्दिरों में दिखाई पड़ती हैं। इसी प्रकार ताड़का का वध करते हुए राम-लक्ष्मण की मूर्त्ति बक्सर के चरित्रवन में निर्मित है। मूर्त्तिकला पर अवतारों की सौम्य एवं ललित लीलाओं का ही विशेष प्रभाव पड़ा।

अन्य कलाओं की तरह मूर्त्तिकला का भी विकास गुप्तकाल में दिखाई पड़ता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने गुप्त-मन्दिरों के बाहर पृथ्वी का उद्धार करते हुए भगवान् वाराह की मूर्त्तिका निर्माण कराया था। बुन्देलखण्ड की वेत्रवती नदी के किनारे देवगढ़ में निर्मित दशावतार-मन्दिर गुप्तवंशीय राजाओं की विष्णुभक्ति का सूचक है।

मथुरा के कई मन्दिरों में नटवर नागर श्रीकृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा की मूर्त्तियाँ दिखाई पड़ती हैं।[2] दक्षिण भारत के वैष्णव मन्दिरों की मूर्त्तियों में 'कालियदमन' की लीला अंकित हुई है।[3]

---

१. (क) शेषशायी विष्णु (गुप्तकालीन : देवगढ़)।
(ख) विष्णु (नारायण) (लगभग सातवीं शती : ऐहोड़े)।
(ग) चतुर्भुज कृष्ण (कुषाणकालीन : मथुरा)।
(घ) चतुर्भुज कृष्ण (गुप्तकालीन मृण्मूर्त्ति : मथुरा)।
(ङ) नृसंहि-वराह-विष्णु (गुप्तकालीन : मथुरा)।
(च) विष्णु (गुप्तकालीन : मथुरा)।
(छ) गोवर्द्धनधारी कृष्ण (लगभग छठी शती : मथुरा)।
(ज) शेषशायी विष्णु (नारायण) (मध्ययुगीन : त्रिवेन्द्रम्)।
(झ) विष्णु की त्रिमूर्त्ति (मध्ययुगीन : राजस्थान म्यूजियम, अजमेर)।
(ञ) चतुर्दशभुजी विष्णु (मध्ययुगीन : राजस्थान म्यूजियम, अजमेर)।
—वैष्णव धर्म : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, चित्र-सूची, पृ० ८।

२. (क) बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारः
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै—
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्त्तिः॥
—श्रीमद्भागवतमहापुराण, १०।२१।५।

(ख) "वृन्दावन के सबसे प्रसिद्ध ठाकुर श्रीबाँकेबिहारीजी हैं, जो स्वामी हरिदासजी के सेव्य स्वरूप हैं। इनका मणिविग्रह स्वामीजी को निधुवन के एक विशिष्ट स्थल से मार्गशीर्ष, शुक्ल ५ को प्राप्त हुआ था। उनका मन्दिर वृन्दावन की पुरान वस्ती में बना हुआ है। यहाँ की सेवा-प्रणाली की यह विशेषता है कि सभी उत्सव; जैसे झूला के दर्शन, होली-दर्शन, चरण के दर्शन आदि वर्ष में केवल एक-एक दिन ही होते हैं। दैनिक झाँकी में थोड़ी-थोड़ी देर पर पर्दा आता रहता है।"
—ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास : श्रीप्रभुदयाल मीतल, पृ० १३७।

३. आ० इन० थ्रू ए० प्लेट, ११०, दी आर्ट ऑव इण्डिया थ्रू दि एजेज।

मध्यभारत में ग्यारहवीं शती की प्राप्त पीतल-मूर्त्ति में वेणु-गोपाल की नृत्य-मुद्रा अंकित है।[१] गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण की मूर्त्ति बनारस के सारनाथ-संग्रहालय में दिखाई पड़ती है। श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर में तो राम-कृष्ण की लीलाओं एवं उनके पार्षदों की बहुत-सी मूर्त्तियाँ अंकित हैं। इनमें कालियदमन-लीला, गोवर्धन-धारण, राम-रावण-युद्ध, नृसिंह-लक्ष्मी, गरुडवाहन, गोपाल-कृष्ण की मूर्त्तियाँ प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त हनुमान्, जगन्नाथ, राहु, बलराम और सुभद्रा के साथ ही मन्दिर की ताखों पर वामन, वाराह और नृसिंह की मूर्त्तियाँ भी स्थापित हैं।[२]

भारत के अन्य प्रसिद्ध कला-क्षेत्रों में चन्देल-कला, खजुराहो तथा पाल्व-कलाएँ भी विष्णु की उपासना से सर्वाधिक प्रभावित हैं। चन्देल-कला में बलराम-रेवती तथा विष्णु-लक्ष्मी की सुन्दर मूर्त्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। इसी प्रकार खजुराहो की एक विष्णुमूर्त्ति के ग्यारह सिर तथा दूसरी के तीन सिर तथा आठ भुजाएँ हैं। इस कला की सबसे बड़ी विशेषता है वराहावतार की मूर्त्ति में विराट् रूप-प्रदर्शन की।[३] वैष्णव पाल्वकला में कृष्णावतार के दो दृश्य गोवर्धन-धारण तथा गो-दोहन के अंकित हैं। श्रीकृष्ण के गो-दोहन के समय राधा उनके समीप खड़ी हैं।[४] इस कला में भी वराह के विराट् रूप के दर्शन होते हैं। यह पाल्वकला तमिल और आन्ध्र-प्रदेश के पाल्ववंशी राजाओं से सम्बद्ध है। उन्होंने कांची, महाबलिपुरम् आदि स्थानों में विष्णु की अनेक प्रकार की मूर्त्तियों का निर्माण कराया था। उन राजाओं में शिव-भक्ति भी दिखाई पड़ती है; क्योंकि विष्णु-मूर्त्ति के साथ ही शिव की भी अनेक मूर्त्तियाँ बहुत-से मन्दिरों में स्थापित हैं। इनके अतिरिक्त पाण्ड्य, चोल तथा राष्ट्रकूटों में भी वैष्णवभक्ति का प्रभाव पड़ा था। चालुक्य राजाओं में विष्णु-भक्ति की प्रधानता देखी जाती है। उन्होंने 'बदामी गुफा' का निर्माण कराया था। इसमें विष्णु के विविध अवतारों से सम्बद्ध अनेक मूर्त्तियाँ सजाई गई हैं।

इस तरह, हम देखते हैं कि वैष्णव साधना की आती हुई प्राचीनतम धारा का प्रभाव भिन्न-भिन्न युग में भारत के लगभग सभी प्रान्तों की कलाकृतियों में दिखाई पड़ता है। इनमें मूर्त्ति-कला के विशेष प्रचार-प्रसार का मुख्य कारण इसकी साधना में सुगमता है। भगवान् के विविध अवतारों में एक अर्चावतार भी है। अर्चा का अर्थ है—पूजा, उपासना; इसके लिए होनेवाले अवतार का नाम अर्चावतार है। दूसरे शब्दों में मूर्त्तियों का ही नाम अर्चावतार है। अर्चावतार की

१. आ० इन० थ्रू ए०, प्लेट १४५।
२. कला० द०, पृ० २४।
३. आ० चन्देल०, पृ० ३६, दि आर्ट ऑव चन्देल्स, प्लेट ४५, ४६ और ४७।
४. आ० पाल०, पृ० १७-१८, दि आर्ट ऑव पाल्वाज।

महिमा बताते हुए स्वयं भगवान् ने कहा है—"जो कार्य मैं पर, व्यूह और विभव-रूप से नहीं कर सका, उसे अब अन्तर्यामी मैं अर्चावतार से पूरा करूँगा।"[१] भक्तों का ऐसा पूर्ण विश्वास है कि भगवान् गण्डकी नदी में शालग्राम के रूप में प्रकट हैं। श्रीरंगादि धामों में वेंकटेशादि के रूप में अर्चावतार की झाँकी स्पष्ट दिखाई देती है। इन दिव्य धामों के अतिरिक्त ब्रज में भी अनेक स्थल हैं, जहाँ उपासकों ने अपनी उपासना के बल से भगवान् को प्रकट किया है। अयोध्या में श्रीसीतारामजी की मूर्त्ति विराजती है। चैतन्य-सम्प्रदाय में राधाकृष्णजी की उपासना होती है। प्रतिमाओं से परमेश्वर के प्राकट्य की अनेक कथाएँ सुनी गई हैं।

सर्वलक्षणसम्पन्न मनोहर प्रतिमा उतने समय तक ही प्रतिमा के रूप में परिलक्षित होती है, जबतक उपासक उसमें भगवान् की दृढ भावना नहीं कर पाता। पर मूर्त्ति में जब भावना दृढ हो जाती है, तब फिर वह मूर्त्ति दारु-पाषाणमयी—जड नहीं रह जाती। वह तो अपने उपासक के लिए ईश्वर हो जाती है। भक्त भी उसे मात्र स्थूल मूर्त्ति नहीं समझता, बल्कि अपना प्रिय परमात्मा समझता है। उसके सामने की मूर्त्ति भगवान् के अतिरिक्त दूसरी कोई चीज नहीं होती।

स्वतःसम्भूत मूर्त्तियों को प्रथम कोटि का 'अर्चावतार' कहा जाता है। कवि कृष्णजी ने कह दिया 'आप सो जायँ', तो भगवान् स्वयं सो गये। मीराँ को देखते-देखते श्रीरणछोड़ रायजी ने अपने अन्दर लीन कर लिया। यही बात रंगनाथ की कृपा से भक्तिमती अन्दाल के साथ भी हुई। उपासिका मीराँ तथा अन्दाल के लिए द्वारकाधीश तथा रंगनाथ निरी जड-मूर्त्ति नहीं, स्वयं चिन्मय भगवान् थे।

मूर्त्ति की दूसरी कोटि देवता और सिद्धों के द्वारा स्थापित मूर्त्तियों की होती है। इनमें भी विशेषताएँ हुआ करती हैं। तीसरा प्रकार मानवों के द्वारा निर्मित विधिपूर्वक प्रतिष्ठापित मूर्त्तियों का हुआ करता है। इन सबमें विशेषताएँ अवश्य होती हैं, तोभी उपासकों द्वारा की गई उपासना की विशेषताएँ सबसे प्रबल होती हैं, जो इन्हें ईश्वर की विशेषताओं से विशेषित कर देती हैं। इसी बात को देखकर प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर ने कहा था—'भारत का विद्वान् इतना उत्कृष्ट है कि जिसने पत्थर को परमात्मा बना दिया।'

अतः, मूर्त्ति की उपासना में अपनी भावना ही विशेष महत्त्व रखती है। भावना के ही परिपक्व होने पर मूर्त्ति में परमेश्वर का प्राकट्य होता है। वैष्णवों ने

---

१. परत्वव्यूहविभवैरपर्याप्तिश्च संग्रहः।
अन्तर्यामी तदद्याहमर्चारूपेण तं लभे॥

प्रतीकोपासना का यह महत्त्व समझा था। अतः, साधना की सर्वजनसुगमता के लिए विष्णु की अनेकविध मूर्त्तियों का सन्तोषजनक विकास हुआ।

वास्तुकला पर प्रभाव

भारतीय उपासना-क्षेत्र में मूर्त्ति यदि भगवान् का अर्चावतार है, तो मन्दिर साकेत, गोलोक तथा कैलास। अतः, वैष्णव साधना के फलस्वरूप विष्णु-मन्दिर के लिए आवश्यक नियम निर्धारित हुए। अन्य कलाओं की भाँति वास्तुकला की भी अभिवृद्धि हुई। इस कला में सम्पूर्ण कलाओं का समन्वय हुआ। विष्णु के मन्दिरों में जहाँ एक ओर मूर्त्तियाँ सजाई गईं, वहीं दूसरी ओर भित्तिचित्र भी बने। साथ ही, मन्दिरों में भगवान् की प्रसन्नता के लिए नृत्य-गीत के विशेष प्रबन्ध की परम्परा चल पड़ी। ब्रज के अष्टछाप के भक्तों एवं परवर्त्ती मधुराचार्यों ने वास्तुकला के विकास में विशेष सहायता की। संगीत और मूर्त्तिकला की भाँति राणा कुम्भा ने वास्तुकला को भी प्रोत्साहन दिया। इनके पश्चात् ओड़छा के वीरसिंह देवजू ने अनेक मन्दिर बनवाये। मथुरा में केशवदेव के मन्दिर बनवाने में उन्होंने तैंतीस लाख रुपयों का व्यय किया। वृन्दावन में इस काल के पाँच मन्दिर—गोविन्ददेवी, राधावल्लभ, गोपीनाथ, जुगुलकिशोर और मदनमोहन अब भी वर्तमान हैं। गोविन्ददेवी सन् १५९० ई० में निर्मित हुआ था।[१] बुन्देलखण्ड में वेगवती नदी के किनारे देवगढ़ में दशावतार-मन्दिर गुप्तकालीन कलाकृति की सर्वश्रेष्ठ निर्मिति है। भारतीय मन्दिरों के निर्माण में काव्यात्मकता के दर्शन होते हैं। भारतीय वास्तुकला में मन्दिर-निर्माणकला आस्तिक भावना के कारण विशेष विकसित हुई। सम्पूर्ण भारत में वैष्णव-मन्दिरों के निर्माण के सम्बन्ध में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि "कलात्मक वस्तुओं की चर्चा करते समय हमारा ध्यान, सर्वप्रथम उन मन्दिरों की ओर जाता है, जो स्थापत्य-कला के अनमोल रत्न हैं और जो दक्षिण भारत के तीर्थस्थानों में बड़ी अच्छी संख्या में पाये जाते हैं। इन मन्दिरों की विशालता इनकी प्राचीन द्राविड रचना-शैली तथा कालचक्र एवं विधर्मी आक्रामकों के प्रहारों से आजतक सुरक्षित इनके रूप इनके प्रति यात्रियों की विशेष श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण इनकी गणना यहाँ की बहुमूल्य निधियों में हुआ करती है। उत्तरी भारत के ऐसे मन्दिरों में गुजरात, ब्रजमण्डल, उत्कल तथा काठियावाड़ के कुछ मन्दिरों का नाम लिया जाता है, जो अपनी-अपनी विशेषताएँ रखते हैं, किन्तु जिनमें उक्त दक्षिणी मन्दिरों

१. हिन्दी-सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका : श्रीरामनरेश वर्मा, पृ० ३८९।

की भाँति भाव जाग्रत् करने की शक्ति नहीं है। मूर्त्तिकला के विचार से भी दक्षिण-भारत की देवमूर्त्तियाँ उत्तरी भारत की मूर्त्तियों से किसी प्रकार घटकर नहीं हैं। विष्णु भगवान् एवं श्रीकृष्ण की वे मूर्त्तियाँ, जो काले पत्थरों की बनी हैं, विशेष आकर्षक उतरी हैं। उत्तरी भारत के कई स्थानों (जैसे, गोरखपुर तथा बलिया जिले) में कुछ इस प्रकार की मूर्त्तियाँ अभी मिली हैं, जो निस्सन्देह अपूर्व हैं। चित्रकला के ऐसे उदाहरणों में राजस्थान-शैली के कुछ सुन्दर चित्र उपलब्ध हैं, जो राधाकृष्ण की युगल-मूर्त्ति दरसाते हैं। इस कला की अधिकांश वस्तुएँ कृष्णावतार से ही सम्बन्ध रखती हैं, जहाँ मूर्त्तिकला के उदाहरणों में प्रायः सभी अवतार आ जाते हैं। मत्स्य, वाराह एवं नृसिंहादि की मूर्त्तियों के अवशेष भी गुजरात, काठियावाड़ एवं दक्षिण में ही अधिक हैं।''[१] बीसवीं शताब्दी में काशी के प्रसिद्ध 'मानस-मन्दिर' में सम्पूर्ण रामचरित की कथाएँ दीवारों पर दोहे-चौपाइयों में अंकित हैं तथा मूर्त्तियों द्वारा भी प्रतिदिन राम-लीलाओं का प्रदर्शन होता है।

देवालय भगवान् का निवास होने के कारण त्रिविध स्थानों का प्रतीक है—देवमन्दिर, सम्पूर्ण विश्व और दिव्यलोक। जिस प्रकार सम्राट् अपने राज्य में, उसी प्रकार भगवान् सम्पूर्ण विश्व के प्रतीक मन्दिर में शासन करते हैं। अतः, नित्य उत्सवों और विशेष पर्वों पर राजकीय पद्धति से आयोजित होनेवाली आगमिक अर्चा देवालयीय परम्परा के रूप में परिकल्पित की गई है।[२]

इस तरह, हम देखते हैं कि वैष्णव साधना से भारतीय कलाएँ पूर्णतया समृद्ध हुईं तथा साथ ही उपर्युक्त कलाओं से सम्पूर्ण भारतवर्ष में ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ।

विदेशों में वैष्णव धर्म का प्रचार

सम्पूर्ण भारत के कोने-कोने में प्रचरित होकर वैष्णव-साधना संसार के अन्य देशों में भी फैलने लगी। सुदूर देशों में प्रसार पाने के लिए उदार वैष्णवता अधिकाधिक उदार होती गई। प्रारम्भ में विदेशों में प्रचार के स्रोत भारत में आये विदेशी ही थे। उनपर इस साधना का विशेष प्रभाव पड़ा। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में भारत में आया हुआ ग्रीक सम्राट् ऐन्तियालिकस का राजदूत हेलियोदोरस वैष्णव हो गया था। यह बात बेसनगर के द्वितीय शताब्दी के प्राप्त शिलालेख से प्रमाणित होता है। इसमें उस राजदूत को भागवत

---

१. वैष्णव धर्म : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १४५।

२. हिन्दी-सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका : श्रीरामनरेश वर्मा, पृ० ९६२।

की उपाधि दी गई है। इस शिलालेख से यह भी स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण को देवत्व कम-से-कम ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य प्राप्त हो गया था। अतः, क्राइस्ट से 'कृष्ण' शब्द की उत्पत्ति भी निराधार ही लगती है। बल्कि, उस युग के ईसाई भक्तों के ललाट पर धारण किया जानेवाला 'पेटालोन'[१] नाम का तिलक तमिल भाषा के 'पलालम्' का रूपान्तर-सा लगता है, जिसे तमिल में 'नाम' भी कहते हैं। यह अंग्रेजी भाषा के उल्टा यू (∩) की आकृति का होता है। इसे ईसाई लोग भारतीय वैष्णवों की तरह अपने दरवाजों पर भी अंकित करते हैं। इससे ईसाई धर्म का ही वैष्णवता से प्रभावित होना सिद्ध होता है।

फादर कामिल बुल्के ने अपने शोधग्रन्थ 'रामकथा' में फ्रेंच, डच, स्पेनिश, पोर्त्तुगीज तथा अंग्रेजी भाषाओं में लिखी गई रामकथा के सम्बन्ध में पुष्कल सामग्री प्राप्त होने की चर्चा की है।[२] श्रीशिशिरकुमार मित्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'दि विजन ऑव इण्डिया'[३] से अर्मेनिया देश में ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व से ही कृष्णोपासना के प्रचार का पता चलता है। वहाँ के बॉन झील के किनारे निर्मित मन्दिरों में कृष्ण की सुन्दर मूर्त्तियाँ भी स्थापित थीं। इतिहासकार जैनब के अनुसार वहाँ लगभग पाँच हजार कृष्णानुयायी भक्त थे।

वैष्णव धर्म का अधिक प्रचार एशिया और इण्डोनेशिया में देखा जाता है। ईसा की दूसरी शताब्दी में ही इण्डोचीन के 'अन्नम्' प्रान्त में भारतीय संस्कृति ने अपना प्रभाव डाला था। वहाँ के निवासी यहाँ की वैष्णव-साधना से विशेष प्रभावित थे। वहाँ के सातवीं शताब्दी के शिलालेखों से 'वाल्मीकीय रामायण' के प्रचार का भी संकेत मिलता है। वैसे ही कम्बोडिया प्रान्त की ख्मेर-भाषा में लिखित रामायण को 'रेआम-केर' या 'रामकीर्त्ति' कहा जाता है, जो बहुत कुछ वाल्मीकीय रामायण पर आधारित है। स्याम देश के उत्तर-पूर्वीय प्रान्तों में बोली जानेवाली 'लाओ' भाषा की रामायण को 'रामजातक' कहा जाता है। ब्रह्मदेश में आये हुए स्याम देश के बन्दियों द्वारा वहाँ रामकथा का प्रचार उनकी नाट्य-कला द्वारा हुआ। वे बन्दीगण स्याम देश में प्रचलित रामकथा से अच्छी तरह परिचित थे। वहाँ के महत्त्वपूर्ण काव्य 'राम-गायन' की रचना भी स्याम देश के नाट्यकला-विशारदों के नाटकों के प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप ही हुई।[४] वहाँ की भाषा में

---

१. बाइबिल के अन्तिम भाग 'रेवेलेशन' में संकेतित : 'तमिल्स एटीन हण्ड्रेड ईयर्स एगो' : कनकस भाई, पृ० ५७।
२. 'रामकथा', पृ० २४६--२४६।
३. वही, पृ० १७४।
४. वही, पृ० २४०।

राम-नाटक को 'यामाले' कहते हैं, जो अत्यन्त लोकप्रिय है। हिन्देशिया के जावा, सुमात्रा आदि देशों के काव्यों एवं कलाओं पर भी रामायण तथा महाभारत का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इण्डोनेशिया में वैष्णव धर्म का प्रभाव वहाँ की रामायण 'रामायण काकाविन' में दिखाई पड़ता है। जावा के 'परम वनम' नामक स्थान में नवीं ईसवी शताब्दी में निर्मित एक शिव-मन्दिर की ऊँची-ऊँची दीवारों पर रामायण की कथाओं का चित्रण पाषाण-चित्रलिपि में किया गया है। मलयन की सर्वलोकप्रिय रचना 'हिकायत सेरी राम' है, जिसमें रामकथा अत्यन्त रोचक शैली में लिखी हुई है। चीन के एक प्राचीन लेखक चिचिआ-ये की रचना में भी रामकथा दिखाई पडती है। इसकी रचना सन् ४७२ ई० में हुई थी। तिब्बत के बोनपा-धर्म में वैष्णवता के प्रतीक गरुड की आकृति भी इसके चित्रों एवं मूर्त्तियों में मिलती है।

सर विलियम जोन्स के अनुसार दक्षिणी अमेरिका के प्राचीन पेरुविया-निवासियों में सूर्योपासना प्रचलित थी। उनका प्रिय उत्सव 'रामसित्तोवा' था। वे अपने को भारतीयों की तरह सूर्यवंशी भी कहते थे।

इस युग में स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों ने भी विदेशों में वैष्णव धर्म के प्रचार का श्लाघ्य कार्य किया है। अमेरिका के प्रधान-प्रधान भागों में वैष्णव मन्दिरों का निर्माण हो चुका है तथा उसमें विदेशी भी वैष्णवता को स्वीकार कर बड़े प्रेम से भजन-कीर्त्तन करते हैं।

इधर कुछ दिनों से ब्राजिल की एक संस्था ने भारतीय वैष्णव धर्म के सम्बन्ध में अन्वेषण करना आरम्भ किया है।

१. रामकथा (वही), पृ० २३२, २३३ और २३५।

वैष्णव साधना का महाराष्ट्र के सन्तों पर प्रभाव

वारकरी-सम्प्रदाय

भारतवर्ष के महाराष्ट्र प्रान्त में भागवत धर्म के प्रचार का सर्वाधिक श्रेय वारकरी-सम्प्रदाय को है। वारकरी शब्द का अर्थ होता है—'अपने उपास्य की परिक्रमा करना।' अतः, प्रतिवर्ष लाखों व्यक्ति इस प्रान्त के पण्ढरपुर में निर्मित भगवान् विट्ठल के दर्शन के लिए आषाढ तथा कार्त्तिक मास की शुक्ला एकादशी तिथि को आते हैं। यों भी प्रत्येक महीने के शुक्ल पक्ष की एकादशी को हजारों तीर्थयात्रियों की भीड़ लगी ही रहती है। वे तीर्थयात्री अत्यन्त प्रेम से भगवान् विट्ठल या विठोबा की पूजा करते हैं।

विट्ठल शब्द की उत्पत्ति 'विष्णु' से हुई है। विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण के बाल-रूप की उपासना श्रीरुक्मिणीजी के साथ होती है। भक्त पुण्डलीक के प्रेमवश ये दम्पति वहाँ एक ईंट पर ही विराजते हैं। भगवान् शंकराचार्य ने इसी छवि का वर्णन 'पाण्डुरंगाष्टक' में किया है।[१] वहाँ विराजमान रुक्मिणीजी को भक्त लोग 'रखूमाई' कहते हैं।

वारकरी-पन्थ के अनुयायी के लिए तुलसी की माला धारण करना परमावश्यक है। तुलसी की माला की प्रधानता के कारण ही इसका एक नाम मालकरी पन्थ भी है। इसे भागवत-पन्थ भी कहा जाता है।

अद्वैत सिद्धान्त की मान्यता से इस सम्प्रदाय की भक्ति और उदात्त हो गई है। इस सम्प्रदाय के सन्तों ने अन्य भक्ति-सम्प्रदायों की भाँति अद्वैतवाद का विरोध नहीं किया, बल्कि उन्होंने इसका महत्त्व देते हुए कहा कि अद्वैत की सच्ची अनुभूति भक्ति के द्वारा ही सम्भव है। उनके विचार से भक्ति की चरमावस्था ही अद्वैतानुभूति है। इन सन्तों की दृष्टि में निर्गुण ईश्वर ही सगुण के रूप में अवतरित होता है। सन्त ज्ञानेश्वर ने निर्गुण और सगुण की इसी एकता को स्वीकार करते हुए अपने एक अभंग में कहा है—हे गोविन्द ! मेरी समझ में नहीं आता कि मैं तुझे सगुण कहूँ या निर्गुण। तुझे स्थूल कहूँ या सूक्ष्म। तू तो इन दोनों में व्याप्त है। तुझे

---

१. महायोगपीठे तटे भीमरथ्या
वरं पुण्डरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः।
समागत्य तिष्ठन्तमानन्दकन्दं
परब्रह्मलिङ्गं भजे पाण्डुरङ्गम् ॥

दृश्य कहूँ या अदृश्य। तू तो दृश्य और अदृश्य दोनों है।[1] पण्ढरपुर में चूँकि श्रीकृष्ण[2] की उपासना होती है; अतः सन्त एकनाथजी ने इसे दक्षिणद्वारका कहा है।[3] इस पन्थ में भागवत तथा भगवद्गीता की अत्यधिक मान्यता है। श्रीविट्ठल-नाथ के चरणों में सर्वसमर्पण ही इसकी अन्तिम साधना है। नाम-नामी के अभेद-चिन्तन द्वारा ही उपासना होती है। श्रीविट्ठल और राम-कृष्ण आदि के नामों में भेद नहीं किया जाता है। इस सम्प्रदाय में 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय,' 'श्रीराम-कृष्ण हरि'—मन्त्र का जप किया जाता है। वीणा, ताल, मृदंग आदि वाद्यों के साथ भजन का आनन्द लिया जाता है, यह ब्रह्मरस कहा गया है। भजन-कीर्त्तन में सन्तवाणी का भी उपयोग किया जाता है। भगवत्कीर्त्तन में सगुण भक्ति-प्रधान अवतार-चरित्र और सन्त-चरित्र का गान करना ही आवश्यक माना जाता है।

गोपीचन्दन-मुद्रांकन इसका चिह्न है। अपने-अपने वर्ण के अनुरूप नित्य-नैमित्तिक विहित कर्माचरण, अहिंसा, सत्य, शौचादि यम-नियमों का यथाशक्ति पालन तथा मद्य-मांसादि निषिद्ध पदार्थों का पूर्णतया त्याग आदि इस सम्प्रदाय के प्रधान कर्त्तव्य हैं। निषिद्ध पदार्थों के त्याग की प्रतिज्ञा के बिना इस सम्प्रदाय में प्रवेश नहीं हो सकता है।

यद्यपि श्रीविट्ठल पाण्डुरंग इस सम्प्रदाय के उपास्य देव हैं, तथापि इसमें हरि-हर में न्यूनाधिक भाव नहीं किया जाता है;[4] सगुण-निर्गुण, साकार और निराकार में भी भेद नहीं माना जाता है।

---

१. मराठी का भक्ति-साहित्य : भी० गो० देशपाण्डे, पृ० १७।

२. (क) आविर्बभूव यो विष्णुः देवक्यां ब्रह्मणार्थितः।
स एवास्ते पौण्डरीके भक्तानुग्रहकाम्यया॥

(ख) गीता जेणे उपदेशिणी। ते हे विटेवरी माऊली।
अर्थात्, जिन्होंने कुरुक्षेत्र में श्रीअर्जुन को गीता का उपदेश दिया, वे ही यहाँ ईंट पर जगत् के उद्धार के लिए खड़े हैं। (सन्त तुकाराम)

३. पावन पांडुरंगक्षिति। जे कां दक्षिण द्वारावती।
जेथ बिराजे श्री विट्ठलमूर्त्ति। नामें जर्जती पंढरी॥
—श्रीएकनाथ, भागवत २९।२४३।

४. (क) रूप पाहतां डोलसूं। सुंदर पाहतां गोपवेषु।
महिमा वर्णितां महेशू। जेणें मस्तकीं वंदिला॥
—श्रीज्ञानेश्वर-अभंग।

(ख) तुका म्हणे भक्ति साठीं हरिहर।
हरिहरा भेद नाहीं। नका करूँ वाद॥
–तुकाराम।

यह पन्थ पूर्ण प्रवृत्तिमार्गी है। इसमें संन्यास की शिक्षा नहीं दी जाती। इसके अधिकांश सन्त गृहस्थाश्रमी ही थे।

इसमें एकादशी व्रत करना आवश्यक है। इस व्रत का पालन तुकारामजी ने आजीवन किया। देवों की एकादशी शुक्लपक्ष की मनाई जाती है तथा सन्तों की कृष्णपक्ष की। अर्थात्, उक्त पक्षों में वे श्रीविट्ठल तथा सन्तों की समाधियों की यात्रा एवं पूजादि करते हैं। इस सम्प्रदाय में युगल उपासना श्रीरुक्मिणी-कृष्ण की होती है। इस सम्प्रदाय में लोक-जीवन की उपेक्षा नहीं है ; अतः इसकी सर्वाधिक प्रियता देखी जाती है।

वारकरी-मत में चार उपसम्प्रदाय माने जाते हैं : १. चैतन्य, २. स्वरूप, ३. आनन्द और ४. प्रकाश।

चैतन्य-सम्प्रदाय के भी दो भेद हैं। पहले में 'राम कृष्ण हरि' यह षडक्षर मन्त्र मान्य है तथा दूसरे में 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्र। श्रीनिलोबाराय के मतानुसार, हंसरूपधारी ब्रह्मा चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश देनेवाले महाविष्णु हैं। पुनः ब्रह्मा से नारदजी तथा नारदजी से व्यासजी एवं व्यासजी से राघव-चैतन्य नामक सन्त दीक्षित हुए। राघवचैतन्य की समाधि कल्याण, गुलबर्गा के पास आज भी वर्त्तमान है। राघवचैतन्य के प्रिय शिष्य थे केशवचैतन्य। इस मत के दूसरे उपसम्प्रदाय की गुरु-परम्परा का सम्बन्ध नाथ-सम्प्रदाय से है।

स्वरूप-सम्प्रदाय का मान्य मन्त्र 'श्रीराम जय राम जय जय राम' है। इसमें भी दो उपसम्प्रदाय हैं—प्रथम श्रीरामानुज स्वामी से प्रभावित, जिसके अनुयायी अपने ललाट पर लाल रंग का तिलक लगाते हैं। द्वितीय है स्वामी रामानन्द से प्रभावित, जिसके अनुयायियों के ललाट पर सफेद रंग का तिलक सुशोभित होता है। इसी में रामदासी भक्त भी समाविष्ट हो जाते हैं।

आनन्द-सम्प्रदाय का मूल मन्त्र 'राम' अथवा 'श्रीराम' है। इसके अन्तर्गत नारद, वाल्मीकि, रामानन्द, कबीर, सेनानाई आदि भक्त आते हैं।

प्रकाश-सम्प्रदाय का मान्य मन्त्र 'नमो नारायण' है। इसके अनुसार, इस सम्प्रदाय के आदि आचार्य नारायण हैं।

इस सम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा इस प्रकार है :
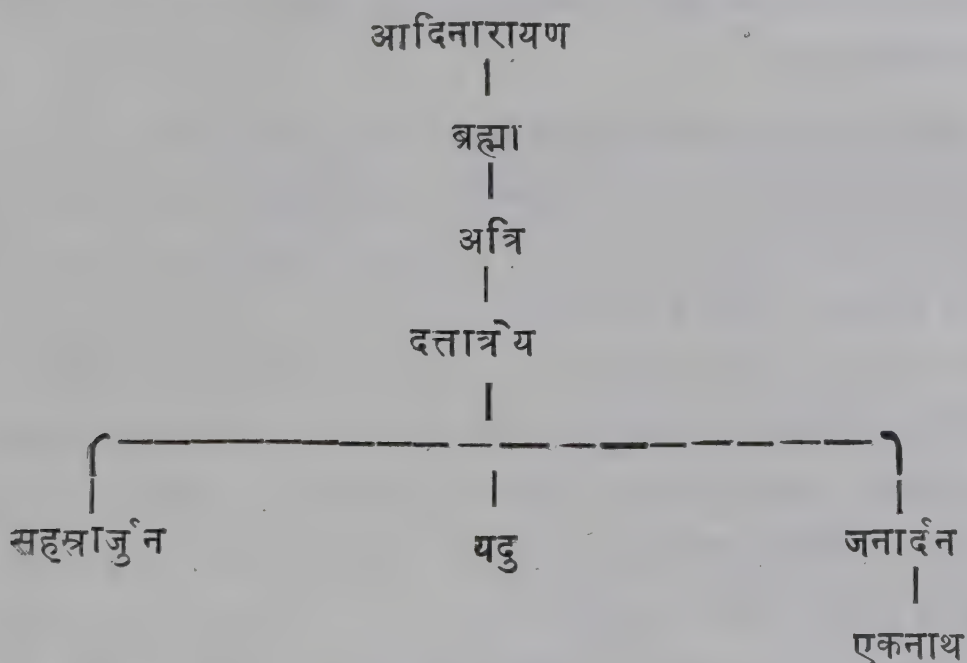
ज्ञानदेव : इस सम्प्रदाय को विकसित करने का श्रेय परम सन्त ज्ञानदेव महाराज को है। इनका जन्म महाराष्ट्र-प्रान्त में संवत् १३३२ की भाद्र कृष्ण-अष्टमी की मध्यरात्रि में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीविट्ठल पन्त तथा माता का श्रीरुक्मिणी-बाई था। इनके पिता ने प्रारम्भ में संन्यास ले लिया था। बाद में श्रीरामानन्द स्वामी के आशीर्वाद के फलस्वरूप इन्हें गृहस्थाश्रम में आना पड़ा। समय पाकर इन्हें चार सन्तानें हुईं। उनमें तीन पुत्र तथा एक पुत्री थी। पुत्रों में सबसे बड़े निवृत्तिनाथ थे। ज्ञानदेवजी द्वितीय तथा सोपानदेव तृतीय पुत्र थे। पुत्री का नाम मुक्ताबाई था। कहते हैं, संन्यासी की संतान होने के कारण इन्हें अपने समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए कठोर प्रायश्चित्त करना पड़ा था। स्वयं इनके माता-पिता ने भी, अपनी सन्तान की सामाजिक अधिकार-प्राप्ति के लिए, त्रिवेणी-संगम में जल-समाधि ले ली थी। किसी तरह इनका प्रारम्भिक जीवन व्यतीत हुआ।

श्रीज्ञानदेवजी बचपन से ही दिव्य प्रतिमा-सम्पन्न थे। यदा-कदा उनकी अलौकिक शक्ति भी देखी जाती थी। एक बार उन्होंने पण्डितों के मध्य एक भैंसे के मुँह से वैदिक मन्त्रों का उच्चारण कराया था।

सन्त ज्ञानेश्वर की प्रसिद्ध पुस्तक 'ज्ञानेश्वरी' श्रीमद्भगवद्गीता पर एक सुन्दर भाष्य है। इसकी रचना मराठी भाषा में हुई है। अब इसका हिन्दी-अनुवाद भी हो चुका है। इसमें अत्यन्त रोचक शैली में अद्वैतवाद का समर्थन हुआ है। सन्त ज्ञानेश्वर के अद्वैतवाद की सबसे बड़ी विशेषता है श्रीकृष्ण-भक्ति से संयुक्त होना। इस महान् कार्य में उनके शेष भाई-बहन भी सहयोगी हुए। ज्ञानेश्वरी के

अतिरिक्त इन्होंने अमृतानुभव, हरिपाठ के अभंग, चांगदेव पैंसठी और सैकड़ों फुट-कर अभंगों की रचना की, जिनमें इनके दार्शनिक विचारों एवं भक्ति की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है।

इसके बाद श्रीज्ञानेश्वर ने तीर्थयात्रा आरम्भ की। यात्रा में इनके साथ थे श्रीनिवृत्तिनाथ, सोपानदेव तथा मुक्ताबाई। कहते हैं, इस यात्रा में विसोबा खेचर, गोरा कुम्हार, चोखामेला, नरहरि सुनार आदि अन्य अनेक सन्त भी साथ हो लिये थे। सबसे पहले ज्ञानेश्वर महाराज पण्ढरपुर गये, जहाँ उन्हें श्रीविट्ठल भगवान् के दर्शन हुए तथा परम विट्ठल-भक्त श्रीनामदेव से भेंट हुई। तत्पश्चात् श्रीनामदेवजी को भी साथ लेकर श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने अनेक स्थानों में अपने ज्ञानोपदेश द्वारा असंख्य मनुष्यों का उद्धार करते हुए उज्जैन, प्रयाग, काशी, गया, अयोध्या, गोकुल, वृन्दा-वन, द्वारका, गिरनार आदि तीर्थस्थानों का परिभ्रमण किया और तदनन्तर वे सब सन्तों के साथ पण्ढरपुर लौट आये।

उपर्युक्त सन्तों के अतिरिक्त इनकी भक्ति-भावना से प्रभावित होकर निम्न स्तर के और भी व्यक्ति प्रसिद्ध सन्त हुए। उनमें साँवता माली, सेनानाई, विसोबा खेचर, राका कुम्हार, बंकाधेड़ जैसे सन्तों के नाम महाराष्ट्र-प्रान्त में बड़ी श्रद्धा से लिये जाते हैं।

वारकरी-सम्प्रदाय की यह सन्त-परम्परा आगे अठारहवीं शती के अन्त तक अखण्ड रूप से चलती वही। इस सम्प्रदाय के परवर्त्ती सन्त साधकों में सत्यामलनाथ, कवि चोंभा, कवयित्री कान्हों पात्रा, भन्त भानुदास, दामाजी पन्त, नृसिंहसरस्वती, जनार्दनस्वामी, दासोपन्त देशपाण्डे, सन्त एकनाथ, कवीश्वर मुक्तेश्वर, सन्त तुकाराम कवयित्री बहिणाबाई, महिपति बोवा, तहरा बादकर प्रभृति सन्त प्रसिद्ध हुए। इन सभी सन्तों ने प्रायः मराठी में ही रचना की है। सन्त ज्ञानेश्वर, नामदेव तथा मुक्ता-बाई आदि कुछ सन्तों की रचनाएँ हिन्दी में भी पाई जाती हैं।

सन्त ज्ञानेश्वर ने अद्वैत को भी भक्ति के लिए द्वैत की तरह ही सुगम सिद्ध किया है। इसे स्पष्ट करने के लिए ज्ञानदेव ने अपने 'अमृतानुभव' ग्रन्थ में एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। वे कहते हैं—"यदि एक ही पर्वत को काटकर उसकी गुफा के भीतर देवता, देवालय तथा भक्त-परिवार का निर्माण एक साथ किया जा सकता है, तो अद्वैतवाद के साथ भक्ति क्यों नहीं सम्भव है।"[1]

---

1. देव देऊल परिवारू। कीजे कोरुनि डोंगरू।
तैसा भक्तीचा वेव्हारू। कां न व्हावा ? ॥४१॥
—'अमृतानुभव'।

इसी तरह वे अपनी 'ज्ञानेश्वरी' में भी कहते हैं कि "अद्वैत भाव के साथ भक्ति का होना व्यक्तिगत अनुभव की बात है। यह शब्दों द्वारा कभी समझाई नहीं जा सकती।"[१]

सन्त ज्ञानदेव में मधुराभक्ति भी दिखाई पड़ती है। वे सरस शब्दों में कहते हैं—"मुझे रात्रि दिन जैसी हो गई है और नींद हराम हो गई है। मेरे पति के परदेश में होने के कारण उसकी स्मृति मुझे सदा जला रही है। ऐ रुक्मिणी के पति श्रीविट्ठल! मुझे त्वरित दर्शन दीजिए।"[२]

इस तरह, हम देखते हैं कि सन्त ज्ञानेश्वर ने महाराष्ट्र में वैष्णव भक्ति की नींव सुदृढ कर दी। उन्होंने संवत् १३५३, मार्गशीर्ष कृष्ण-त्रयोदशी को मात्र इक्कीस वर्ष की अवस्था में उसी प्रान्त के आलन्दी-क्षेत्र में समाधि ले ली। उनकी समाधि लेने के बाद एक वर्ष के अन्दर ही निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, चांगदेव तथा मुक्ताबाई भी एक-एक करके परमधाम को पधार गये।

सन्त नामदेव : इनका जन्म महाराष्ट्र-प्रान्त के सतारा जिलान्तर्गत नरसी-बमनी नामक ग्राम में वि० सं० १३२७, शुक्ला एकादशी को प्रातःकाल हुआ था। उनके पिता का नाम दामा सेठ तथा माता का श्रीगोणाई देवी था। भक्तमाल के अनुसार, ये जाति के छीपी, अर्थात् दर्जी थे। बचपन से ही ये अनन्य भक्त थे। 'भक्त-माल' में इनके अलौकिक कार्यों का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार, स्वयं भगवान् विठोबा ने इनके हाथ से दुग्धपान किया था। इसके अतिरिक्त, एक मरी हुई गाय को जिलाने, ऊविन्दनागनाथ के शिव-मन्दिर के द्वार का इनकी ओर घूम जाने आदि घटनाओं का भी वर्णन मिलता है।[३]

---

१. अद्वैती भक्ति आहे। हें अनुभवाचि जोगे। न ह्वेबोला ऐसें ॥
—'ज्ञानेश्वरी', अ० १८, ओवी ११५१।

२. मराठी का भक्ति-साहित्य : भी० गो० देशपाण्डे, पृ० ३४।

३. नामदेव प्रतिज्ञा निर्बही ज्यों त्रेता नरहरि दास की ॥
बाल दशा 'बीठल्ल' पानि जाके पय पीयौ।
मृतक गऊ जिवाय परचौ असुरन कौं दीयौ ॥
सेज सलिल तें काढ़ि पहिल जैसी ही होती।
देवल उलट्यो देखि सकुचि रहे सब ही सोती ॥
पण्डुरनाथ कृत अनुग ज्यों छानि स्वकर छई घास की।
नामदेव प्रतिज्ञा निर्बही (ज्यों) त्रेता नरहरि दास की ॥
—भक्तचरितांक, भक्तमाल, पृ० ६ (गीता प्रेस, गोरखपुर)।

छोटी उम्र में ही इनका विवाह गोविन्द सेठ सदावर्त्ते की कन्या राजाई के साथ हो गया था। पिता के परलोक-गमन के अनन्तर घर-गृहस्थी का भार इन्हीं पर पड़ा। स्त्री तथा माता चाहती थीं कि ये व्यापार में लगें। परन्तु, जिनका मन एक बार भी परमात्मा में लग जाता है, उन्हें सांसारिक सुख अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता। कुछ ही दिनों के बाद वे घर की ममता का परित्याग कर पण्ढरपुर में आकर रहने लगे। यहाँ गोरा कुम्हार, साँवता माली आदि भक्तों से इनकी प्रीति हो हो गई। चन्द्रभागा नदी का स्नान, भक्त पुण्डलीक तथा भगवान् पाण्डुरंग के दर्शन और प्रेम के साथ विट्ठल का गुण-कीर्त्तन, यही उनकी दिनचर्या थी। इनके मधुर अभंगों में विट्ठल भगवान् की महिमा का वर्णन किया गया है।

एक बार परमसन्त ज्ञानेश्वर ने नामदेव को तीर्थयात्रा पर साथ ले लिया। पहले तो वे भगवान् विट्ठल को छोड़कर जाना ही नहीं चाहते थे। बाद, मार्ग में वे बार-बार भगवान् की स्मृति में भावमग्न हो जाते थे। वे भगवान् विट्ठल के वियोग में व्याकुल हो जाते थे। ज्ञानदेव उन्हें बराबर समझाते जाते थे कि भगवान् क्या एक ही जगह हैं, वे तो सर्वत्र हैं, सर्वव्यापक हैं। यह मोह छोड़ो। तुम्हारी भक्ति अभी एकांगी है, जबतक निर्गुण पक्ष की भी अनुभूति तुम्हें न होगी, तबतक तुम पक्के न होगे।[1] परन्तु, सच्चे प्रेमी नामदेव ने कहा—'आपकी बात तो ठीक है, किन्तु पुण्डलीक के पास खड़े पाण्डुरंग को देखे बिना मुझे कल नहीं पड़ती।'[2] उन्होंने भजन के प्रति अपनी निष्ठा के सम्बन्ध में कहा—"मेरे भाग्य में ज्ञान कहाँ है? मैं न ज्ञानी हूँ, न बहुश्रुत। मुझे तो विठोबा की कृपा का ही भरोसा है। मुझे तो नाम-संकीर्त्तन ही प्रिय लगता है। यही भजन है। गुण-दोष न देखकर सबसे सच्ची नम्रता का व्यवहार करना ही वन्दन है। समस्त विश्व में एकमात्र विट्ठल को देखना और हृदय में उनके चरणों का स्मरण करते रहना ही उत्तम ध्यान है। मुख से उच्चारण किये जाते हुए नाम में मन को दृढतापूर्वक लगाकर तल्लीन हो जाना ही श्रवण है। भगवच्चरणों का दृढ अनुसन्धान निदिध्यासन है। सर्वभाव से एक-मात्र विट्ठल का ही ध्यान, समस्त प्राणियों में उन्हीं का दर्शन, सब ओर से आसक्ति हटाकर उनका ही चिन्तन भक्ति है। अनुराग से एकान्त में गोविन्द का ध्यान करने के सिवा अन्य कहीं भी विश्राम नहीं है।[3]

इनकी नाम-साधना के सम्बन्ध में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है, "इनकी उक्त भक्ति के अन्तर्गत 'नाम-साधना' को बहुत बड़ा महत्त्व प्राप्त है—

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आचार्य शुक्ल, पृ० ६९।

२. भक्तचरितांक, पृ० ४१४, गीता प्रेस, गोरखपुर।

३. वही।

इन्होंने उसे अश्वमेध यज्ञ, तुलादान, प्रयागस्नानादि सभी से श्रेष्ठ बताया है। इन्होंने उसकी प्रशंसा में अनेक पौराणिक भक्त-कथाओं का उल्लेख करके अपने मत की पुष्टि की है। नाम-स्मरण का महत्त्व मुख्य रूप से इस बात में है कि उसके द्वारा हम उसके नाम की ओर अपना ध्यान सदा लगाये रहने में सफल होते हैं। इनका कहना है कि 'मेरा मन रामनाम के साथ इस प्रकार बिंधा हुआ है, जैसे स्वर्ण के तौलते समय ध्यान तुला की ओर बना रहता है। आकाश में उड़ाई जाती हुई पतंग की ओर जिस प्रकार उड़ानेवाले का चित्त लगा रहता है और वह वाह-वाह की झड़ी चारों ओर लगने पर भी विचलित नहीं होता; जिस प्रकार युवतियाँ सिर पर भरे घड़े लेकर चलती हुई आपस में मनोविनोद करती और तालियाँ तक बजाती रहती हैं, किन्तु उनका ध्यान सदा घड़े पर ही रहता है; जिस प्रकार पाँच कोस की दूरी पर भी चरनेवाली गाय का मन अपने बच्चे की ओर ही लगा रहता है और माता का मन उसके घरेलू झंझटों में फँसे रहने पर भी अपने पलने पर पौढ़ाये हुए बालक की ओर ही जाता रहता है, उसी प्रकार मेरा भी मन उसमें लगा रहता है।' परन्तु, नाम के प्रति उक्त प्रकार की साधना गुरु की कृपा द्वारा ही सम्भव है। यदि गुरु की कृपा हो जाय, तो मन में पूरी दृढता आ जाती है और वह चारों ओर दौड़-धूप लगाना छोड़ देता है। उसकी सहायता से 'मुरारि' मिलते हैं और संसार-सागर के पार जाना सरल हो जाता है। वास्तविक देवता गुरुदेव हैं और अन्य सभी देवों की सेवा करना कुछ अर्थ नहीं रखता।"[1]

अपनी सगुणोपासना के पदों में वे पौराणिक भक्तों को भी बड़े प्रेम से स्मरण करते हैं तथा भगवान् की मधुर लीलाओं का गान भी करते हैं।[2]

---

१. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० ११९।

२. अंबरीषि को दियो अभयपद, राज बिभीषन अधिक कर्‍यो।
नव निधि ठाकुर दई सुदामहि, ध्रुव जो अटल अजहूँ न टर्‍यो॥
भगत हेत मार्‍यो हरिनाकुस, नृसिंह रूप ह्वै देह धर्‍यो।
नाभा कहै भगतिबस केसव, अजहूं बलि के द्वार खर्‍यो॥
दसरथ राय नंद राजा मेरा रामचंद। प्रणवै नामा तत्त्व रस अमृत पीजै।

× × ×

धनि धनि मेघा रोमावली, धनि धनि कृष्ण ओढ़े कावँली।
धनि धनि तू माता देवकी, जिह गृह रमैया कँवलापती॥
धनि धनि वनखंड बृंदाबना, जहँ खेलै श्रीनारायना।
बेनु बजावै, गोधन चारैं, नामे का स्वामि आनन्द करै॥

— हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ७१ : आचार्य शुक्ल।

सन्त नामदेव की दृष्टि में तत्त्वज्ञान के लिए भी नाम ही एकमात्र साधन है। इसी का नित्य भजन करना चाहिए। बहुमूल्य वस्तुओं का दान भी नाम की समता नहीं कर सकता।[१] राम-नाम के जप में उसी प्रकार मन को लीन कर देना चाहिए, जैसे मृग बाण लगने पर भी मधुर नाद में ही ध्यान लगाता है तथा कीट भृंग का सतत चिन्तन करने के फलस्वरूप भृंग ही बन जाता है। ऐसी तल्लीनता जरा-मृत्यु के भय से निवृत्ति दिला सकती है। हरि के चरणों में ही वे नित्य निरन्तर रहना चाहते हैं।[२]

वे सदा इन नेत्रों से भगवान् श्रीहरि के दर्शन का ही परामर्श देते हैं। शरीर के सम्पूर्ण अंगों की सार्थकता हरि-सेवा में लग जाने में ही है। इस संसार-रूपी बाजार में सभी मनुष्य वणिक्-समुदाय की तरह हैं। यहाँ तो सावधानीपूर्वक व्यापार के अनुरूप ही लाभ होता है। मूर्ख तो मूल धन भी गवाँ देते हैं। इस शरीर में आत्मा परमात्मा का ही स्वरूप है। इसी में हरि को देखना चाहिए। हरि को भजने के अतिरिक्त दूसरी ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है।[३]

---

१. तत्त गहन को नाम है, भजि लीजै सोई।
लीला सिंध अगाध है, गति लखै न सोई॥
कंचन मेरु सुमेरु, हय गज दीजै दाना।
कोटि गऊ जो दाने दे, नहिं नाम समाना॥

२. अस मन लाव राम रसना।
तेरो बहुरि न होइ जरा-मरना॥
जैसे मृगा नाद लव लावै।
बान लगे वहि ध्यान लगावै॥
जैसे कीट भृंग मन दीन्ह।
आप सरीखे ना वाको कीन्ह॥
नामदेव मनदासन दास।
अब न तजौं हरि चरन निवास॥

३. भाई रे इन हरि पेखो।
हरि की भक्ति साधु की संगति, सोई यह दिल लेखो॥
चरन सोई जो नचत प्रेम से, कर सोई जो पूजा।
सीस सोई जो नवै साधु के, रसना और न दूजा॥
यह संसार हाट को लेखा, सब कोउ बनिजहिं आया।
जिन जस लादा तिन तस पाया, मूरख मूल गवाँया॥
आतम राम देह धरि आयो, ता में हरि को लेखो।
कहत नामदेव बलि-बलि जैहौं, हरि भजि और न देखो॥

—सन्तवाणी-अंक, पृ० १९२ (गीता प्रेस, गोरखपुर)।

भक्ति में दृढ अनन्यता के सम्बन्ध में वे परम्परित प्रेमियों के उदाहरण देते हैं।[1] उनमें माधुर्यपूर्ण भक्ति भी दिखाई पड़ती है।[2] अन्य सन्त साधकों की तरह वे भी गुरु का महत्त्व सादर स्वीकार करते हैं।[3]

सन्त नामदेव सगुण भक्ति के साथ ही अद्वैतवाद का भी समर्थन करते हैं; क्योंकि इन सन्तों की दृष्टि में सबसे अच्छी भक्ति अद्वैत भाव में ही होती है। अद्वैत की स्थिति में उन्हें सब कुछ गोविन्दमय ही दिखाई पड़ता है।[4] उनकी सम्पूर्ण रचनाओं पर विचार करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा[5] ने कहा है कि नामदेव की कविता, उनके जीवनकाल के अनुसार, तीन भागों में विभाजित की जा सकती है:

१. पूर्वकालीन रचनाएँ, जब वे श्रीपण्ढरनाथ की मूर्त्ति की पूजा करते थे।
२. मध्यकालीन रचनाएँ, जब वे अन्धविश्वास से स्वतन्त्र हो रहे थे।
३. उत्तरकालीन रचनाएँ, जब वे ईश्वर का व्यापक रूप सर्वत्र देखने लगे थे। इसी तीसरे काल की रचनाएँ ग्रन्थ साहब में संगृहीत हैं।

आचार्य शुक्ल ने इन्हें सगुणोपासक भक्त मानते हुए निर्गुणोपासक भी माना है। बल्कि, 'निर्गुण पन्थ' के लिए मार्ग निकालनेवाले नाथपन्थ के योगी

---

१. मोहि लागत ताला बेली। बछरे बिनु गाई अकेली ॥
पानीआ बिनु मीनु तलफे। ऐसे राम नामा बिनु बापुरो नामा ॥

—

कामी पुरुष कामनी पियारी। ऐसी नामें प्रीत मुरारी ॥

२. मैं बउरी मेरा राम भरतार।
रचि-रचि ताकउ करउ सिंगार ॥
—हिन्दी को मराठी सन्तों की देन : आचार्य विनयमोहन शर्मा, पृ० १११।

३. जऊ गुरदेऊ न मिलै मुरारी।
गऊ गुरदेऊ न उतरै पारी ॥
—हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० ११३।

४. सभु गोविंदु है, सभु गोविंदु है, गोविंदु बिनु नहीं कोई।
सूतु एकु मणि सत सहस जैसे उतपोति प्रभु सोई ॥
जल तरंग अरु फेन बुद बुदा, जल ते भिन्न न कोई।
इहु परपंचु पारब्रह्म की लीला बिचरत आन न होई ॥

— — —

कहत नामदेऊ हरि की रचना देखहु हिरिदै बिचारी।
घट-घट अंतरि सरब निरंतरी केवल एक मुरारी ॥
—हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० १११।

५. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ३११।

और भक्त नामदेव ही थे।[1] परन्तु, मराठी सन्तों की निर्गुण भक्ति से सगुण भक्ति और विकसित दीखती है। इनकी मधुरा भक्ति को भी सूफियों की देन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उनका भारत में आगमन इन सन्तों के बाद में हुआ है। बल्कि, हिन्दी के सन्त कवियों की भी प्रणय-भावना महाराष्ट्रीय सन्तों की ही भावना के अनुरूप है, सूफियों की भावना के अनुरूप नहीं। सूफी जहाँ परमात्मा को अपनी प्रेयसी के रूप में देखते हैं, वहाँ भारतीय सन्त स्वयं को पत्नी मानते हुए अपनेराम को पति या स्वामी के रूप में स्वीकार करते हैं।

हिन्दी के सन्त-कवियों से मराठी सन्त-कवियों का अन्तर मुख्यतः इस बात का है कि जहाँ मराठी सन्तों ने निर्गुण ईश्वर के साथ-साथ पौराणिक अवतारों—राम और कृष्ण की लीलाओं का भी पर्याप्त गुण-गान किया, वहाँ हिन्दी के सन्त-कवियों ने अवतारों के नामों का ही स्मरण किया, उनकी लीलाओं के गान में अधिक नहीं रमे। इस तरह हम सन्त नामदेव को निर्गुणोपासक स्वीकार करते हुए परम सगुणोपासक भी मान सकते हैं। सबमें सर्वत्र भगवद्दर्शन करनेवाले नामदेव अपनी बनाई हुई रोटी को लेकर भागते हुए कुत्ते के पीछे घी लेकर यह कहते हुए दौड़े थे कि "प्रभो! इन रोटियों में घी भी चुपड़ लो, इन्हें रूखी-सूखी न खाओ।" और तीर्थयात्रा से लौटकर आने पर अपने प्राणधन पाण्डुरंग के दर्शन करके आनन्द में मग्न होकर कहने लगे—'मेरे मन में भ्रम था, इसीलिए तो आपने मुझे भटकाया। संसार में अनेक तीर्थ हैं, पर मेरा मन तो चन्द्रभागा की ओर ही लगा रहता है। आपके बिना अन्य देव की ओर मेरे चरण चलना नहीं चाहते। जहाँ गरुड-चिह्नांकित पताकाएँ नहीं हैं, वह स्थान कैसा! जहाँ वैष्णवों का मेला न हो, जहाँ अखण्ड हरिकथा न चलती हो, वह क्षेत्र भी कैसा।

नामदेवजी के जीवन का पूर्वार्द्ध पण्ढरपुर में और उत्तरार्द्ध पंजाब आदि में भक्ति का प्रचार करते हुए बीता। विसोबा खेचर नामक एक नाथपन्थी कनफटे से इन्हें पूर्ण ज्ञान का बोध हुआ था, अतः उन्हें ये गुरु मानते थे।[2]

इनके मराठी में लगभग तीन हजार अभंग प्राप्त हैं, जो 'नामदेव की गाथा' में संगृहीत हैं। हिन्दी में उनके लगभग सत्तर पद उपलब्ध हैं, जो सिक्खों के 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' तथा श्रीआवटे के 'सकल सन्तगाथा' में संगृहीत हैं। डॉ० विनय-मोहन शर्मा ने इन्हें सुसम्पादित रूप में अपने प्रबन्ध के अन्त में प्रस्तुत किया है।[3]

इन्होंने पण्ढरपुर में आश्विन बदी १३ को, संवत् १४०७ में, समाधि ले ली।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ७२।

२. हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास : डॉ० गणपति चन्द्रगुप्त, पृ० १९८।

३. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन : आचार्य विनयमोहन शर्मा।

समर्थ गुरु रामदासस्वामी

संवत् १६६५ की चैत्र शुक्ला नवमी के दिन, ठीक श्रीरामजन्म के समय रेणुकाबाई ने उस महापुरुष को जन्म दिया, जिसे संसार समर्थ गुरु रामदासस्वामी के नाम से जानता है। इनका नाम पिता ने नारायण रखा। शैशव से ही इनकी प्रीति अध्यात्म में थी। सूर्यदेव को ये नित्य दो हजार नमस्कार किया करते थे। आठ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने श्रीहनुमान्‌जी को प्रसन्न किया और श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन पाये। श्रीरामचन्द्रजी ने स्वय इन्हें दीक्षा दी और इनका नाम रामदास रखा। जब ये बारह वर्ष के हुए, तब इनके विवाह की तैयारी हुई। विवाह-मण्डप में वर-वधू के बीच अन्तःपट डालकर ब्राह्मण मंगलाचरण के श्लोक बोलने लगे। मंगलाचरण के बाद सब लोग जब 'शुभ लग्न सावधान' बोले, तब रामदासजी सचमुच ही सावधान होकर वहाँ से ऐसे भागे कि बारह वर्ष तक फिर घर के लोगों को पता ही नहीं लगा कि वे कहाँ गये। पंचवटी में इन्हें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के फिर दर्शन हुए। उस अवसर पर रामदासजी ने एक 'करुणादशक' द्वारा बड़ी करुणापूर्ण वाणी में प्रभु की विनय की। गोदा और नन्दिनी के संगम पर एक गुफा में रामदासजी ने त्रयोदशाक्षर —'श्रीराम जय राम जय जय राम' राम-मन्त्र का पुरश्चरण किया। रात को रामायण, वेद-वेदान्त, उपनिषद् गीता,भागवत आदि ग्रन्थ देखा करते थे। पुरश्चरण समाप्त होने पर श्रीरामचन्द्रजी ने गुरु रामदासजी को दर्शन देकर यह आज्ञा दी कि 'अब तुम सब तीर्थों की यात्रा करके कृष्णा नदी के तट पर रहो।' तदनुसार, श्रीसमर्थ तीर्थयात्रा को निकले और चारों धाम और विभिन्न तीर्थस्थलों का दर्शन कर त्र्यम्बकेश्वर होते हुए पंचवटी लौटे। फिर, गोदावरी की परिक्रमा में निकले, तो श्रीमाँ के निकट 'जय-जय रघुवीर समर्थ' की टेर लगाकर भिक्षा माँगी। चौबीस वर्ष के बाद माता और पुत्र का मिलन हुआ था।

इस प्रकार, बारह वर्ष तपस्या और बारह वर्ष तीर्थाटन कर श्रीसमर्थ १७०१ वि० सं० के वैशाख मास में श्रीरामचन्द्रजी के आज्ञानुसार कृष्णा नदी के तट पर आये। बड़े-बड़े सन्त लोग इनसे मिलने यहाँ आये। यहीं श्रीतुकारामजी महाराज श्रीसमर्थ से मिलने आये। शाहपुर में श्रीसमर्थ ने 'प्रताप-मारुति-मन्दिर' की स्थापना की। सं० १७०२ से श्रीसमर्थ रामनवमी का उत्सव धूमधाम के साथ करने लगे। श्रीशिवाजी महाराज श्रीसमर्थ की ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने इन्हें गुरु-रूप में वरण कर लिया और त्रयोदशाक्षर मन्त्र का उपदेश प्राप्त किया। छत्रपति

शिवाजी महाराज ने श्रीसमर्थ की झोली में एक पत्र लिखकर डाल दिया, जिसमें यह लिखा था कि 'आजतक मैंने जो कुछ अर्जित किया है, वह सब स्वामी के चरणों में समर्पित है।' श्रीसमर्थ के आदेश पर ही शिवाजी महाराज ने अपने हाथ में शासनसूत्र लिया, पर उनके राज्य का झण्डा 'गेरुआ' ही रहा और स्वामी के मन्त्रणानुसार ही राज्यकार्य सँभालने लगे।

अन्त में, महाप्रयाण का समय आया। श्रीसमर्थ ने इक्कीस बार हर-हर' शब्द का उच्चारण किया और फिर ज्योंही श्रीरामनाम लिया, त्योंही उनके मुख से एक ज्योति निकली और श्रीरामचन्द्रजी की मूर्त्ति में समा गई।

श्रीसमर्थ तीर्थयात्रा में जहाँ-जहाँ भी गये, वहाँ-वहाँ श्रीमारुति की मूर्त्ति की स्थापना की। रामेश्वरम्, बदरीनारायण, केदार, जगन्नाथपुरी, द्वारका आदि सभी तीर्थों में श्रीसमर्थ द्वारा स्थापित श्रीहनुमान्जी के विग्रह विद्यमान हैं—काशी में भी श्रीविश्वनाथ मन्दिर से सटे ही जो श्रीहनुमान्जी की विशाल मूर्त्ति है, वह श्रीसमर्थ द्वारा ही स्थापित की हुई है।

श्रीसमर्थ के प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम हैं—दासबोध, मनोबोध, करुणाष्टक, आत्माराम, रामायण, ओवी चौदह शतक, स्फुट ओवियाँ, षड्रिपु, पंचीकरणयोग, चतुर्थमान, मानपंचक, पंचमान, स्फुट प्रकरण और स्फुट श्लोक्।

श्रीसमर्थ द्वारा स्थापित जो सुप्रसिद्ध ग्यारह मारुति हैं, उनके स्थान ये हैं—शाहपुर, मसूर, चाफल में दो स्थान, डंब्रज, शिरसप्त, मनपाडले, बारगाँव, माजगाँव, शिगणवाडी और बाहें।

श्रीसमर्थ के मठ-स्थानों के नाम ये हैं—जाम्ब, चाफल, सज्जनगढ़, टाफली, तंजावर, डोभगाँव, मनपाडले, मिरज, राशिबड़े, पण्ढरपुर, प्रयाग, काशी, अयोध्या, मथुरा, द्वारका, बदरी, केदार, रामेश्वर, गंगासागर आदि।

श्रीसमर्थ के उपदेशों में ज्ञानोत्तरा भक्ति, अर्थात् पराभक्ति की अनन्यता पर विशेष बल है। ज्ञान की चरमसिद्धि के उपरान्त निर्मल अनपायनी अविरल भक्ति का जो उदय होता है, वह श्रीसमर्थ का अभीष्ट है और इस दिशा में ज्ञानिनामग्रगण्य, भक्तशिरोमणि, जितेन्द्रिय, बुद्धिमतांवरिष्ठं, स्वर्णशैलाभदेह श्रीहनुमान्जी महाराज इनके परम आत्मीय, परम अन्तरंग इष्टदेव हैं। इस प्रकार, श्रीसमर्थ में निर्गुण-निराकार एवं सगुण-साकार का अपूर्व मणिकांचन-योग घटित हुआ है। श्रीसमर्थ का अमिट प्रभाव महाराष्ट्र के साधक-वर्ग पर अनन्त काल तक बना रहेगा और सारा भारतवर्ष इन्हें एक सिद्ध योगी, सिद्ध भक्त, सिद्ध ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी के रूप में पूजता

रहेगा। इनका 'दासबोध' परम प्रामाणिक शास्त्र की तरह पढ़ा-गुना जाता है और गीता की तरह आदर से इसका विधिवत् अनुष्ठान अनेक गृहस्थ परिवारों में होता है। 'जय-जय श्रीरघुवीर समर्थ' तथा 'श्रीराम जय राम जय जय राम' के उद्घोष से सम्पूर्ण महाराष्ट्र परिपूर्ण है और समग्र देश के भक्त ज्ञानी साधक इससे प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

श्रीएकनाथ

श्रीएकनाथजी का जन्म सं० १५९० के लगभग मूल नक्षत्र में हुआ था। बचपन में ही इन्हें गुरुभक्ति का सौभाग्य मिला और देवगढ़ में जनार्दन पन्त के चरणों की सेवा में संलग्न हो गये। जनार्दनस्वामी ने कुछ दिनों तक एकनाथजी को हिसाब-किताब का काम सौंप रखा था। एक दिन इन्हें एक माह का हिसाब नहीं मिला। इसलिए, रात को गुरुसेवा से निवृत्त होकर ये बही-खाता लेकर बैठ गये। तीन पहर तक हिसाब जाँचते रहे। आखिर जब भूल मिली, तब बड़ी खुशी से ताली बजाई। स्वामीजी के पूछने पर एकनाथजी ने बड़ी नम्रता से पाई की भूल का हाल बतलाया। गुरुजी ने कहा—"एक पाई की भूल का पता लगने से जब तुम्हें इतना आनन्द मिल रहा है, तब इस संसार की भारी भूल जो तुमसे हुई है, उसका पता लग जाने पर तुम कितने आनन्दित होगे। इसी प्रकार, यदि तुम भगवान् के चिन्तन में लग जाओ, तो भगवान् का तुम्हें सान्निध्य मिल जाय।" एकनाथजी ने इसे गुरु का आशीर्वाद माना और कृतज्ञता से उनके चरणों में मस्तक रखा। इसके कुछ ही दिनों बाद श्रीगुरुकृपा से एकनाथजी को श्रीदत्तात्रेय भगवान् का साक्षात्कार हुआ। एकनाथजी ने देखा, श्री दत्तात्रेय ही गुरु हैं और गुरु ही श्रीदत्तात्रेय हैं। इसके पश्चात् एकनाथजी को श्रीदत्तात्रेय जब चाहें, दर्शन देने लगे। इस सगुण साक्षात्कार के अनन्तर श्रीगुरु ने एकनाथजी को श्रीकृष्णोपासना की दीक्षा देकर शूलभंजन पर्वत पर रहकर तप करने की आज्ञा दी। घोर तपश्चर्या के अनन्तर तीर्थयात्रा हुई। इसी यात्रा में एकनाथजी ने चतुःश्लोकी भागवत पर ओवीवृत्त में एक ग्रन्थ लिखा, जिसको पहले-पहल उन्होंने पंचवटी पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजी के सामने गुरु श्रीजनार्दनस्वामी को सुनाया। तीर्थयात्रा पूरी करके एकनाथजी अपनी जन्मभूमि पैठन आये, परन्तु फिर भी ये अपने घर न रहकर पिप्पलेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहरे। गुरु की आज्ञा से एकनाथजी ने विवाह किया। इनकी धर्मपत्नी गिरिजाबाई बड़ी पतिपरायणा और आदर्श गृहिणी थीं। इस प्रकार, इनका सारा प्रपंच भी परमार्थ-परायण ही हुआ।

क्षमा, शान्ति, समता, भूतदया, निरहंकारिता, हरिभक्तिपरायणता आदि समस्त दैवी सम्पत्तियों के निधान श्रीएकनाथ महाराज के दर्शनमात्र से असंख्य स्त्री-

पुरुषों के पाप-ताप-सन्ताप नित्य निवारित होते थे। इनका जीवन बद्धों को मुमुक्षु बनाने, मुमुक्षुओं को मुक्त करने और मुक्तों को पराभक्ति का परमानन्द दिलाने के लिए ही था। संवत् १६५६ की चैत्रकृष्ण ६ को एकनाथजी ने गोदावरी-तीर पर अपना शरीर छोड़ा।

श्रीएकनाथ महाराज के ग्रन्थों में सबसे लोकप्रिय और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भागवत एकादश स्कन्ध', 'रुक्मिणी-स्वयवर' और 'भावार्थ रामायण' है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'चिरंजीवपद', 'स्वात्मबोध', 'आनन्दलहरी' आदि अन्य कई छोटे मोटे ग्रन्थ श्रीएकनाथ महाराज के बनाये हुए हैं। इनके सभी ग्रन्थों में ज्ञानोत्तरा परा-भक्ति का अमृतरस लबालब भरा हुआ है।

सन्त जब घर आते हैं, तब दशहरा-दिवाली का-सा आनन्द मिलता है। पहले सन्त, पीछे देवता। राँड़ का काजर लगाना, माँग भरना देखकर संसार उसपर थूकता है। किन्तु, इसी नरदेह को अपनी तपस्या के द्वारा ब्रह्मसायुज्य की गति मिलती है। इसीलिए, देवता मनुष्य-जन्म चाहते हैं और नरदेह की स्तुति करते हैं। मनुष्य-देह में ही वह ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जिससे वह सच्चिदानन्द की पदवी को प्राप्त करे। नारायण ने अपनी कृपादृष्टि से नरदेह को इतना बड़ा अधिकार दे रखा है।

क्या गृहस्थाश्रम में भगवान् नहीं हैं? तब वन में पागल होकर क्यों भटकते हैं? वन में यदि भगवान् होते, तो हरिण, खरगोश और बाघ क्यों न तर जाते? आसन जमाकर ध्यान लगाने से यदि भगवान् मिलते, तो बक-समुदाय का क्षणमात्र में उद्धार क्यों न होता? एकान्त गुफा में रहने से यदि भगवान् मिलते, तो चूहे तरना छोड़कर घर-घर 'चीं-चीं' क्यों करते रहते?

देह को घृणित समझकर त्याग दें, तो मोक्षसुख से वंचित होना पड़े, यदि इसे अच्छा समझकर भोगें, तो सीधे नरक का रास्ता नापना पड़े। इसलिए, इसे न त्यागें, न भोगें, मध्य भाग में विभाग करे, इसे निज स्वभाव से आत्महित के लिए आत्मसाधन में लगावें। श्रीरामनाम के बिना जो मुख है, वह केवल चर्मकुण्ड है। भीतर जो जिह्वा है, वह चमड़े का टुकड़ा है। चिन्तन के लिए कोई समय नहीं लगता, उसके लिए कुछ मूल्य नहीं देना पड़ता। सब समय ही 'रामकृष्ण हरिगोविन्द' नाम जिह्वा पर बना रहे। जो भौंरा सूखे काठ को स्वयं कुरेद डालता है, वह कोमल कमल के बीच आकर प्रीति की रीति में लग जाता है, केसर को जरा भी धक्का नहीं लगने देता। ऐसे ही बच्चा जब बाप का पल्ला पकड़ लेता है, तब बाप वहीं खड़ा रह जाता है, इसलिए नहीं कि बाप इतना दुर्बल है, बल्कि इस कारण से कि वह स्नेह में फँस कर वहीं गड़ जाता है। (नाथ भागवत, २। ७७७-७७९)

एकनाथ महाराज की शैली में फैलाव काफी रहता है, तुकारामजी की वाक्शैली सूत्र जैसी चुस्त और साफ होती है। ज्ञानेश्वरी को नाथ भागवत विशद करता है। यह भागवत-सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है, ज्ञानेश्वर महाराज से भी बहुत पहले का है। इस सम्प्रदाय के मुख्य प्रचारक अवश्य ही ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम हुए। यह भगवान् श्रीकृष्ण के उपासकों का सम्प्रदाय है। श्रीकृष्ण की उपासना इस सम्प्रदाय का परम धर्म है। जो कोई भी श्रीकृष्ण-भक्त होगा, वह इस सम्प्रदाय में सम्मान्य है, उनकी जाति या वर्ण कुछ भी हो। ज्ञानेश्वर महाराज केवल इसलिए मान्य नहीं हैं कि वे ब्राह्मण थे, प्रत्युत इस कारण से पूज्य हैं कि वे परम कृष्णभक्त थे। नामदेव और तुकाराम भी इसी कारण से मान्य हैं। भागवत-सम्प्रदाय में जाति-पाँति का बखेड़ा नहीं है। नरहरि सोनार, रैदास चमार, सजन कसाई. कबीर, वेश्या कान्हुपात्रा, चोखामेला महार, भानुदास, गोरा कुम्हार, दादू धुनिया, शेख महम्मद, मुक्ताबाई, जनाबाई, साँवता माली, तुलाधार वैश्य आदि भगवद्भक्तों को यह सम्प्रदाय परमपूज्य मानता है। हरि-भक्त की जाति नहीं पूछी जाती, वृत्ति नहीं पूछी जाती, पूर्वचरित्र भी नहीं पूछा जाता। हरिभक्ति की कसौटी पर जो बावन तोले, पाव रत्ती सही उतरे, उसी को सन्त कहते हैं। इन सच्चे सन्तों में भी ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम को सन्तों ने ही महाराष्ट्र में अग्रगण्य माना है। जाति के अभिमान या द्वेष से इस चौकड़ी को तोड़ कर कोई अलग करना चाहे, तो वह सम्भव नहीं है। 'ज्ञानदेव, नामदेव, एका, तुका' अथवा 'निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाई','एकनाथ, नामदेव, ज्ञानदेव, तुकाराम'महाराष्ट्र की सर्वसम्मति से बने हुए ये भजन इस बात के साक्षी हैं कि यह चतुष्टय एक ही है, भिन्न नहीं।

सन्त तुकाराम

सन्त तुकाराम का जन्म सं० १६६५ में हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानेश्वर, नामदेव और एकनाथ के अवशिष्ट धर्मकार्य को पूर्ण करने के लिए ही देहू में श्री तुकोबा राय अवतीर्ण हुए। भगवान् श्रीकृष्ण के हृदय से निकलकर महाराष्ट्र में पुण्डलीक के गोमुख से प्रकट होनेवाली भागवत धर्म की भागीरथी ज्ञानेश्वर, नामदेव और एकनाथ रूपी प्रचण्ड प्रवाहों के साथ बहती हुई पूनाप्रान्त-वासिनी जनता के सौभाग्य से यहाँ तुकाराम के रूप में प्रवाहित हुई। ज्ञानेश्वर महाराज ने जिसकी नींव डाली, नामदेव ने जिसका विस्तार किया, एकनाथ ने जिसपर झण्डा फहराया, उस भागवतधर्म-रूप प्रासाद पर तुकाराम-रूप कलश प्रतिष्ठापित हुआ।

भगवान् की यह पहचान है कि जिसके घर वह आते हैं, उसकी गृहस्थी पर चोट आती है। भगवान् की इच्छा तो यह थी कि तुकाराम संसार-बन्धन से मुक्त होकर लोकोद्धार का कार्य करें। दुःख के पहाड़ तुकाराम पर गिरे, एक-से-एक बड़े संकट आने लगे और इन दुःसह संकटों का फल यह हुआ कि उनके संसार-विषयक सब स्नेहबन्धन भी कट गये। भगवत्संकल्प के अनुसार ही सृष्टि के सब व्यापार हुआ करते हैं। सामान्य जीव सांसारिक दुःखों की चक्की में पिस जाते हैं, पर वे ही दुःख भाग्यवान् पुरुषों के उद्धार का कारण बनते हैं। अतः, दुःख कल्याण का द्वार है और भगवान् जो कुछ करते हैं, उसी में हमारा हित है। विपत्तियों पर विपत्तियाँ आईं, पर तुकारामजी कहते हैं—"अच्छा हुआ भगवन् ! अनुताप होने से तेरा चिन्तन तो बना रहा और संसार-वमन हो गया। मैं तेरी शरण में आ गया। बहुत मारा फिरा, बहुत लूट गया, अब तड़पते ही दिन बीतते हैं, जल्दी दौड़े आओ हे दीनानाथ ! संसार में अपना विरद रखो।"

दुःख से जब आँखें खुलती हैं, तब दुःख ही अनुग्रह जान पड़ता है। वैराग्य परमार्थ की नींव है। विरक्ति के बिना कहीं ज्ञान नहीं ठहरता। ऐसा दृढ वैराग्य उत्पन्न होना ही तो भगवान् की दया है। वैराग्य खेल नहीं, भगवान् की दया हो, तभी उसका लाभ हो। भगवान् जिसपर अनुग्रह करना चाहते हैं, उसे वह पहले वैराग्य-दान करते हैं। ऐसा परम शुद्ध वैराग्य तुकारामजी को प्राप्त हुआ और वहाँ से परमार्थ आरम्भ हुआ। सद्ग्रन्थ-सेवन, नामस्मरण, कीर्त्तन और ध्यानधारणादि के अभ्यास में ही उनका सारा समय बीतता था। सद्गुरु श्रीबाबाजी चैतन्य ने स्वप्न में दर्शन देकर 'श्रीकृष्ण राम हरि' मन्त्र का उपदेश किया। उन्हें भगवान् के मन, वचन, नयन सभी प्रत्यक्ष हुए :

भक्तों को न भूलें कदा भगवान्। पूर्ण दयावान् मेरे हरि ॥

भक्तों को श्रीहरि कभी नहीं बिसारते। सतत सत्संग, सत्-शास्त्र का अध्ययन, गुरु-कृपा और आत्माराम की भेंट यही वह क्रम है, जिससे जीव संसार के कोलाहल से मुक्त होता है। 'चन्द्रभागा में स्नान करो और हरिकथा में लगो', बस इतने में ही चित्त को सब समय समाधान है। वारकरियों का विट्ठल ही जीवन है, झाँझ-करताल ही धन है। भक्ति-सुख से मोहित ईंट पर खड़े भगवान् विट्ठल के उस रूप को देखते ही जी में आता है कि अपना जीव-भाव उसपर न्यौछावर कर दें। श्री विट्ठल के चरण पकड़े बैठा हूँ। तुका कहता है कि अब और कोई इच्छा नहीं है।

अमृत का बीज, आत्मतत्त्व का सार, गुह्य का भी गुह्य रहस्य श्रीरामनाम है। यही सुख मैं सदा लेना चाहता हूँ और निर्मल हरिकथा कहा करता हूँ।

हरिकथा में सबको समाधि लग जाती है। लोभ, मोह, आशा, तृष्णा, माया सब हरि-गुणगान से रफूचक्कर हो जाते हैं। पाण्डुरंग ने इसी रीति से मुझे अंगीकार किया और अपने रंग में रँग डाला।

'संत संग हरिकथा संकीर्तन। सुख का साधन रामनाम।'
(संग सज्जनाचा उच्चार नामाचा। घोष कीर्त्तनासा अहर्निशी।)

सज्जनों का संग, नाम का उच्चारण, कीर्त्तन का घोष अहर्निश किया करे।

एक अभंग का रसास्वाद :

नाम संकीर्तन सुलभ साधन। पाप-उच्छेदन जड़मूल ।।१।।
मारे-मारे फिरो काहे बन-बन। आवें नारायण घर बैठे ।।
जाओ न कहीं करो एक चित्त। पुकारो अनंत दयाधन।
'राम कृष्ण हरि विट्ठल केशव'। मंत्र भरि भाव जपो सदा ।।
नहीं कोई अन्य सुगम सुपथ। कहूँ मैं शपथ कृष्णजी की।
तुका कहैं सुधा सबसे सुगम। सुधी जना राम रमणीक ।।

विश्वीं विश्वंभर। बोले वेदान्तींचा सार ।।
जगीं जगदीश। शास्त्रें वदती सावकाश ।।
व्यापिलें हें नारायणें। ऐसी गर्जती पुराणें ।।
जनी जनार्दन। संत बोलती वचन ।।
सूर्याचिया पेरी। तुका लोकीं क्रीड़ा करी ।।

विश्व में विश्वम्भर हैं। सार-रूप वेदान्त यही कहता है। जगत् में जगदीश हैं, यही धीरे-धीरे शास्त्र बतलाते हैं। इस सबको नारायण ने व्यापा है, यही पुराणों की गर्जना है। जन में जनार्दन हैं, यही सन्तों की वाणी है। सूर्य के समान वही श्रीहरि लोक में क्रीडा कर रहे हैं।

तुकारामजी के कथनानुसार, गीता और भागवत की भक्ति ही सार है। जो ब्राह्मण होकर भी भगवान् का भक्त न हो, उसका मुँह काला। उसे मानों राँड़ ने जना हो। चमार है, पर यदि वैष्णव है, तो उसकी माता धन्य है, जिसने उसे जन्म देकर उभय कुल पावन किये। उस बड़प्पन में आग लगे, जिसमें भगवद्भक्ति नहीं, उसपर मेरी दृष्टि भी न पड़े।

कबीर के दोहे और तुकारामजी के अभंगों में सर्वथा समानता देखकर दंग रह जाना पड़ता है। दो-तीन नमूने :

तुकाराम : धर्म भूताची ते दया । सन्त कारण ऐसिया ।।
नव्हे मरञ्जें मत । साक्षा करूनि सांगे सन्त ।।

कबीर : सदा कृपालु दुख पर हरन, वैर भाव नहि दोय ।
क्षमा ज्ञान सत भाखिये, हिंसा रहित जो होय ।।

तुकाराम : खड़ा खाण्डी साखर, जाला नामाचाचि फेर ।
न दिसे अन्तर, गोडी ठायीं निवण्डतां ।।

कबीर : खांड खिलौना दो नहीं, खांड खिलौना एक ।
तैसे सब जग देखिये, किये कबीर विवेक ।।

तुकाराम : लोभी के चित धन रहे, कामिनी चित में काम ।
माता के चित पूत बसे, तूका के मन राम ।।

कबीर : कामी का गुरु कामिनी, लोभी का गुरु दाम ।
कबिरा के गुरु सन्त हैं, सन्तन के गुरु राम ।।

भगवान् भक्ति का उपकार मानते हैं, भक्त के ऋणी हो जाते हैं। हरिभक्तों की कोई निन्दा न करे। गोविन्द उसे सह नहीं सकते। भक्तों के लिए भगवान् का हृदय इतना कोमल होता है कि वह अपनी निन्दा सह सकते हैं, पर भक्त की निन्दा नहीं सह सकते। भक्तों से कोई छल-छन्द करे, तो यह भी उनसे नहीं सहा जाता। शरणागति ही सब धर्मों का सार है। हरि-शरणागति ही सब शुभाशुभ कर्म-बन्धों से मुक्त होने का एकमात्र मार्ग है। जो शरणागत हुए, वे ही तर गये। भगवान् ने उन्हें तारा, उन्हें तारते हुए भगवान् ने उनके अपराध नहीं देखे, उनकी जाति या कुल का विचार नहीं किया। भगवान् केवल भाव की अनन्यता देखते हैं। अनन्य प्रेम की गंगा में सब शुभाशुभ कर्म शुभ ही हो जाते हैं। भगवान् पूर्वकृत पापों को क्षमा कर देते हैं और अनन्यता होने पर तो कोई पाप हो ही नहीं सकता। इस प्रकार, भक्त अनायास कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है।

सन्तों के यहाँ प्रेम-ही-प्रेम रहता है। दुःख का नाम भी नहीं रहता; क्योंकि उनका धन स्वयं श्रीविट्ठल हैं। सन्त प्रेमसुख ही लेते-देते रहते हैं। सन्तों का भोजन क्या है, अमृतपान। वे सदा कीर्त्तन ही करते रहते हैं। तुकाराम जी कहते हैं— ऐसे दयालु सन्त मुझे निरन्तर सावधान रखते हैं, उनके उपकार कहाँतक बखानूँ ? हरिकथा-माता का अमृत क्षीर हैं। उन दयालु हरिभक्तों के दासों का मैं दास हूँ। नाम-स्मरण का चसका बड़ा ही कठिन है, पर एक बार जहाँ यह चसका लगा, वहाँ फिर एक पल भी नाम से खाली नहीं जाता। नाम-स्मरण यह है कि चित्त में रूप

का ध्यान हो और मुख में नाम का जप हो। अन्तःकरण में ध्यान जमता जाय, ध्यान में चित्त रँगता जाय, चित्त की तन्मयता हो जाय, यही वाणी में नाम के बैठ जाने का लक्षण है। नाम लेते मन शान्त होता है, जिह्वा से अमृत झरने लगता है और लाभ के बड़े अच्छे शकुन होते हैं। मन तुम्हारे रंग में रँग गया, तुम्हारे चरणों में स्थिर हो गया, तुमने ऐसी कृपा की। जहाँ भी बैठें, खेलें, भोजन करें, वहाँ तुम्हारा नाम गायेंगे, राम-कृष्ण की माला गूँथकर गले में डालेंगे।

मुझमें इतनी बुद्धि नहीं, जो तुम्हारे उस ध्यान का वर्णन करूँ, जिसका वर्णन करते-करते वेद भी मौन हो गये। तुम्हारे सुन्दर चरण-कमल चित्त में धारण कर लिये हैं। तुम्हारा यह श्रीमुख ऐसा दीखता है, जैसे सुख का ही ढला हुआ हो, इसे देख मेरी भूख-प्यास मिट जाती है। तुम्हारे गीत गाते-गाते रसना मीठी हो गई, चित्त को समाधान मिला। मेरी दृष्टि इन चरणों पर, कुंकुम के इन सुकुमार चरणों पर गड़ी है। इसके समान सुख त्रिभुवन में नहीं है। इससे मन यहीं स्थिर हो गया। तुम्हारे कोमल चरण चित्त में धारण कर लिये, काया शीतल हुई, चित्त विश्रान्ति-स्थान में पहुँच गया, वह अब आगे (संसार की ओर) नहीं जाता है। मेरे सब हौसले पूरे हुए, सब कामनाएँ श्रीपाण्डुरंग ने पूरी की।

नाम लेने से कण्ठ आर्द्र और शरीर शीतल होता है। इन्द्रियाँ अपना व्यापार भूल जाती हैं। यह मधुर सुन्दर नाम अमृत को भी मात करता है, इसने मेरे चित्त पर अधिकार कर लिया है। प्रेमरस से शरीर की कान्ति को प्रसन्नता और पुष्टि मिली। यह नाम ऐसा है कि इससे क्षण-मात्र में त्रिविध ताप नष्ट हो जाते हैं। यह नाम-स्मरण ऐसा है कि इससे श्रीहरि के चरण चित्त में, रूप नेत्रों में और नाम मुख में आ जाता है। यह जीव को हरि-प्रेम का आनन्दामृत-पान कराकर उसका जीवत्व हर लेता है। तब एकमात्र विट्ठल ही रह जाता है, अद्वयानन्द का भोग ही रह जाता है। भजन की ओर चित्त ज्यों-ज्यों झुकता है, त्यों-त्यों भगवत्-सान्निध्य का पता लगता है।

प्रेमामृत से मेरी रसना सरस हो गई और मन की वृत्ति चरणों में लिपट गई। सभी मंगल यहाँ आकर न्योच्छावर हो गये, आनन्द-जल की वहाँ वृद्धि होने लगी। सब इन्द्रियाँ ब्रह्मरूप हो गईं। जहाँ भक्त रहते हैं, वहाँ भगवान् भी विराजते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पण्ढरपुर में श्रीविट्ठलनाथजी की जो मूर्त्ति है, उसे अच्छी तरह देखने पर यह मालूम हो जाता है कि यह भगवान् की बालमूर्त्ति है। यह मूर्त्ति श्रीमहाविष्णु के अवतार श्रीगोपालकृष्ण की है। भगवान् ईंट पर खड़े हैं। ईंट पर भगवान् के

बड़े ही कोमल पदकमल हैं। इन पादपद्मों में कोटि-कोटि भक्तों ने मस्तक नवाये हैं, प्रेमाश्रुओं से सहस्रशः इन्हें नहलाया है, अपने चित्त को निवेदित किया है। इन चरणों ने लाखों जीवों के हृत्ताप हरण किये हैं, उनके नेत्रों को कृतार्थ किया है, उनका जीवन धन्य बनाया है। सहस्रों पापात्माओं और मुक्तों ने, सिद्धों और साधकों ने, रंकों और रावों ने, पतितों और पतितपावनों ने इन चरणों के ध्यान और भजन से अपना जीवन सफल किया है। लाखों जीवों के लिए यह दुस्तर भव-सागर इन चरणों के चिन्तन-चमत्कार से गोपद जितना छोटा-सा हो गया है। ऐसे ये श्रीविट्ठलनाथ के चरण इस ईंट पर स्थिर हैं।

भक्त-समागम से सब भाव हरि के हो जाते हैं, सब काम बिना बताये हरि ही करते हैं। हृदय-सम्पुट में समाये रहते हैं और बाहर छोटी-सी मूर्त्ति बनकर सामने आते हैं। तुम माता से भी बढ़कर ममता रखनेवाले हो, चन्द्रमा से भी अधिक शीतल हो, जल से भी अधिक तरल हो, प्रेम के आनन्दमय किल्लोल हो। हे पुरुषोत्तम! तुम्हारी उपमा तुम्हारे सिवा किससे है? अब और कुछ न कहकर तुम्हारे चरणों में अपना मस्तक रखता हूँ।

तुकाराम महाराज सशरीर वैकुण्ठ को गये और कीर्त्तन करते-करते वे अदृश्य हो गये। यह घटना तो अपूर्व है ही, पर इसी प्रकार की गति और भी कुछ महात्माओं ने पाई है। मुक्ताबाई इसी प्रकार से देखते-देखते ही अन्तर्हित हो गईं। कबीर साहब के बारे में भी ऐसी ही बात कही जाती है। मीराँबाई देखते-देखते द्वारकाधीश के हृदय में समा गईं। द्राविड़ देश के सन्त तिरुपन्न और शैव साधु माणिक्य के विषय में सशरीर हरिस्वरूप में मिल जाने की ऐसी ही कथाएँ प्रसिद्ध हैं।

भक्त ऐसे जाणा जे देहीं उदास
गेले आशापाश निवारूनी।
विषय तो त्यांचा झाला नारायण
नावडे धन-जन माता-पिता।
निर्वाणीं गोविन्द असे मागें पुढें
कांहीच सांकड़े पड़ों नेदी।
तुका म्हणे सत्य कर्माव्हावें साह्य
धातलिया भय नकां जाणें।

वेद अनन्त बोलिला, अर्थ इतुकाचि साधिला।
विठोवासी शरण जावें, निजनिष्ठे नाम गावों॥
सकल शास्त्राची विचार, अंतीं इतुकाचि निर्धार।
अठरा पुराणीं सिद्धांत, तुका म्हणे हाचि हेत॥

पुराण पर उपकार, पाप ते पर पीड़ा
आणिक नाहीं जोड़ा दुजा मासी।
सत्यतोचि धर्म, असत्य तें कर्म
आणिक हें वर्म नाहीं दुजें।
गति तेचि मुखीं नामाचे स्मरण,
अधोगति जाण विन्मुखता ?
संताचां संग तोचि स्वर्गवास,
नर्क तो उदास अनर्गल।
तुका म्हणें उघड़ें आहेहित घात,
जया जें उचित करा तैसें॥

नरसी मेहता

नरसी मेहता गुजरात के एक बहुत बड़े कृष्ण-भक्त हो गये हैं। उनके भजन आज दिन भी न केवल गुजरात में, बल्कि सारे भारत में बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ गाये जाते हैं। उनका जन्म काठियावाड़-प्रान्त के जूनागढ़ शहर में बड़नगरा जाति के नागर-ब्राह्मणकुल में हुआ था। बचपन में ही उन्हें कुछ साधुओं का सत्संग प्राप्त हुआ। जिसके फलस्वरूप उनके हृदय में श्रीकृष्ण-भक्ति का उदय हुआ। वे बराबर साधुओं के साथ रहकर श्रीकृष्ण और गोपियों की लीला के गीत गाने लगे। धीरे-धीरे भजन-कीर्त्तन में ही उनका अधिकांश समय बीतने लगा। यह बात उनके परिवारवालों को पसन्द नहीं थी। उन्होंने इन्हें बहुत समझाया, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। वे निरन्तर पूजा-पाठ में लगे रहते थे। कहते हैं, उनकी पूजा से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण के गोलोक में ले जाकर गोपियों की रास-लीला का अद्भुत दृश्य दिखलाया। बेटे-बेटियों की शादी में स्वयं भगवान् ने सारी व्यवस्था की और कभी इन्हें अभाव का अनुभव होने नहीं पाया। समर्पित जीवन के सौन्दर्य-माधुर्य से इनके जीवन का एक-एक क्षण सुवासित था।

उनका एक सुप्रसिद्ध गीत महात्मा गान्धी को विशेष प्रिय था :

वैष्णवजण तो तेणे कहिए जो पीड़ पराइ जाणे रे।
पर दुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे॥
सकल लोकमां सहुने वंदे, निन्दा न करे केणी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे धन-धन जननी तेणी रे॥

समदृष्टिने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, पर धन नव झाले हाथ रे ।।
मोह माया व्यापे नहिं जेणे, दृढ़ वैराग्य जेणा मनमां रे।
रामनाम शुं ताली लागी, सकल तीरथ तेणा पैनमां रे ।।
वणलोभी न कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे।
भणे नरसैंयो तेणूं दरसन करतां कुल एकोतेर तार्या रे ।।

(२)

अखिल ब्रह्मांडमां एक तुं श्रीहरि,
जुणवे रूपे अनन्त भासे;
देहमां देव तूं, तेजमां तत्त्व तूं,
शून्यमां शब्द भई 'वेद वासे ।।१।।
पवन तूं, पाणी तूं, भूमि तूं भूधरा,
वृक्ष थईं फूली रह्यो आकाशे;
विविध रचना करि अनेक रस लेवाने,
शिव थकी जीव थयो एज आशे ।।२।।
वेद तो एम वदे, श्रुति स्मृति साख दे—
कनक कुण्डल विषे भेद न्होये;
घाट घड़िया पछी नाम रूप जूजवां,
अन्तें तो हेमनूं हेम होये ।।३।।
वृक्षमां बीज तूं, बीजमां वृक्ष तूं,
जोडं पटंतरो एज पासे;
भणे नरसैंयो एमन तणी शोधना,
प्रीत करु प्रेमथी प्रगट थाशे ।।४।।

(३)

जे गमे जगतगुरु देव जगदीश ने,
ते तणी खरखरो फोक करवो;
आपणो चितव्यो अर्थ कांइ नव सरे,
ऊगरे एक उद्वेग धरवो ।।१।।
हूँ करूँ हूँ करूँ एज अज्ञानता
शकटनो भार जेभ श्वान ताणे;
सृष्टि मंडाण छे सर्व एणी पेरे,
जोगी जोगेश्वरा कोइक जाणे ।।२।।

नीणजे नरथी तो कोई ना रहे दुखी,
शत्रु मारीने सी मित्र राखे;
रामने रंक कोई दृष्टि आवे नहिं,
भवन पर भवन पर छत्र दाखे ।।३।।
ऋतु लता पत्र फल फूल अणि यथा,
मानवी मूर्ख मन व्यर्थ शोचे;
जेहना भाग्यमां जे समे जे लख्युं,
तेहने ते समे ते ज पहोंचे ।।४।।
ग्रंथ गड़बड़ करी बात ना करी खरी
जेहने जे गमे तेने पूजे,
मन कर्म वचनची आप मानी लहे,
सत्य छे ए ज मन ए म सूझे ।।५।।
सुख संसारी मिथ्या करी मान जो
कृष्ण बिना बीजुं सर्व काचुं;
जुगल कर जोड़ी करी नरसैंयो एम कहे
जन्म प्रति जन्म हरि ने ज जाचुं ।।६।।

वैष्णव साधना का हिन्दी-निर्गुणोपासक कवियों पर प्रभाव

अनन्तानन्द

भक्तमाल में श्रीनाभाजी ने श्रीअनन्तानन्दजी को श्रीरामानन्द स्वामी का प्रमुख शिष्य कहा है। इनके श्रीचरणों के स्पर्श से योगानन्द, गणेश, कर्मचन्द, अल्ह, पयहारी, सारी रामदास, श्रीरंग तथा नरहरिदास प्रभृति भक्तगण लोकपालों की तरह समर्थ हो गये थे।[1] महात्मा जीवराम के अनुसार ये महात्मा रामानन्द के सम्पूर्ण शिष्यों में ज्येष्ठ थे।[2] उन्होंने उन्हें शृंगारी भक्त, अर्थात् मधुरोपासक माना है। श्रीजानकीजी की इनपर बहुत कृपा रहती थी। रास-रस में निमग्न इस परम भागवत के नेत्रों से आँसुओं की वृष्टि होती थी।[3] स्वामी रामानन्द की भक्ति-कल्पलता को इन्होंने और हरा-भरा बना दिया था। इनके सम्बन्ध में श्रीरूपकलाजी द्वारा वर्णित एक चमत्कारपूर्ण घटना का भी पता चलता है। एक समय ये कुछ योगियों के साथ साँभर देश गये थे। वहाँ योगियों ने विही का पुष्प लेना चाहा। परन्तु मालियों ने वैसा नहीं करने दिया। फलतः, दूसरे दिन सम्पूर्ण देश में ही विही का अत्यन्त अभाव हो गया। यह सुनकर उस देश का राजा श्रीअनन्तानन्द की शरण में आया और अपनी प्रजाओं के साथ भगवद्भक्त बन गया।[4] अनन्तानन्दजी के सम्बन्ध में इससे अधिक ज्ञातव्य बातों का अभाव दिखाई पड़ता है।

---

१. योगानन्द गणेश कर्मचन्द अल्ह पयहारी।
सारी रामदास श्रीरंग अवधि गुणमहिमा भारी।
तिन्हके नरहरि उदित मुदित मेहा मंगलतन।
रघुबर यदुवर गाइ विमल कीरति संच्योधन।
हरिभक्ति सिंधुवेलारचे पानिपद्मजासिर दये।
अनन्तानन्द पद परसि कै लोकपाल से ते भये।।३७।।
—१७७, रूपकला-सम्पादित भक्तमाल, पृ० २९८।

२. रसिकप्रकाश भक्तमाल : जीवाराम, छप्पय ११।

३. रसिक समाधि प्रबल कृपा उर दाह लहे हैं।
जनक लली के कृपा रासरस पूरी रहे हैं।
आँसू चलत समाधि में अद्भुत गति विरही लहे।
शिष्य किये यहु विरतिरति तिनके गुनगन को कहे।।छप्पय ११।।

४. रूपकला : भक्तमाल, पृ० २९९।

कबीर

उच्च श्रेणी के भक्तों में कबीर का नाम बहुत आदर और श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई प्रकार की किंवदन्तियाँ हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार ये एक विधवा ब्राह्मणी से स्वामी रामानन्द के आशीर्वाद के फलस्वरूप पैदा हुए थे। फलतः, लोकलज्जा के भय से ये लहरतारा के ताल के पास फेंक दिये गये थे। अली या नीरू नाम के जुलाहे ने इन्हें अपने घर लाकर पाला-पोसा था।[1] सन्त-साहित्य के विद्वान् आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी इनका जन्म-स्थान काशी अथवा उसके आस-पास का स्थान माना है।[2] ये भी नीरू तथा नीमा को ही इनके पोषक माता-पिता होना स्वीकार करते हैं।[3] कबीरदासजी का जन्म-काल जेठ सुदी पूर्णिमा, दिन सोमवार, विक्रम-संवत् १४५६ माना जाता है।

कबीरदासजी में बचपन से ही 'राम-राम' जपने की प्रकृति थी। यद्यपि इनके माता-पिता मुस्लिम-धर्मानुयायी थे, फिर भी वे इनकी हिन्दूवत् साधना-पद्धति को नहीं दबा सके।

स्वामी रामानन्दजी के शिष्य होने से सम्बन्ध में भी एक रोचक घटना है। यों तो स्वामी रामानन्द हिन्दू-मुसलमान सबके लिए उदार थे। फिर भी, कबीरदास ने उनके शिष्य होने का उपाय सोचा। ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन एक पहर रात रहते ही पंचगंगाघाट की सीढ़ियों पर जा पड़े। वहीं से रामानन्दजी स्नान करने के लिए उतरा करते थे। रामानन्दजी का पैर इनके ऊपर पड़ गया। रामानन्दजी चट 'राम-राम' बोल उठे। कबीर ने इसे ही श्रीगुरुमुख से प्राप्त दीक्षामन्त्र मान लिया और स्वामी रामानन्द को अपना गुरु कहने लगे। स्वयं कबीर के शब्द हैं— 'हम काशी में प्रगट भये हैं, रामानन्द चेताये।' मुसलमान कबीरपन्थियों की मान्यता है कि कबीर ने प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फकीर शेख तकी से दीक्षा ली थी। परन्तु, कबीर ने शेख तकी का नाम उतने आदर से नहीं लिया है, जितना स्वामी रामानन्द का।

जनश्रुति के अनुसार कबीर, के एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम था कमाल और पुत्री का कमाली। इनकी स्त्री का नाम लोई बताया जाता है। इस छोटे-से परिवार के पालन के लिए कबीर को अपने करघे पर कठिन परिश्रम करना

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ७७।

२. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृ० १४३।

३. वही, पृ० १५४।

पड़ता था। घर में साधु-सन्तों की भीड़ लगी ही रहती थी। अतः, सत्संग सदा होता रहता था।

यद्यपि आचार्य शुक्ल इन्हें वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं स्वीकार करते, तथापि इनपर वैष्णव साधना का भी बहुत प्रभाव दिखाई पड़ता है। परन्तु, इनकी भक्ति उन्मानसिक है। इसमें हिन्दू-साधकों के 'ज्ञानमार्ग' एवं सूफियों के 'प्रेममार्ग' का अनूठा मेल है। अतः, इनकी भक्ति-साधना के लिए बाह्य उपादानों की आवश्यकता नहीं है। एक ओर कबीर सर्वनिरपेक्ष ज्ञान की बातें करते दिखाई पड़ते हैं, तो दूसरी ओर मधुर भाव की उपासना के गीत भी गाते सुनाई पड़ते हैं। कबीर भी राम की उपासना करते हैं, परन्तु अवतार की नहीं, अवतारी की। मधुरोपासना के क्रम में उनकी वाणी सरस हो गई है, परन्तु ज्ञान के आवरण को लेकर ही :

राम मोरे पिउ मैं तो राम की बहुरिया।

कबीरदास मूलतः वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित थे; परन्तु युग की आवश्यक माँग तथा चित्त के शुद्ध संस्कार ने उन्हें निर्गुण साधना में प्रवृत्त कर दिया। इनमें समन्वय की अद्भुत प्रतिभा दिखाई पड़ती है। उनके सामने एक ओर तो विशृंखलित समाज को सुसंगठित करने की समस्या थी, तो दूसरी ओर उस युग के विविध सम्प्रदायों में शान्ति-स्थापना की। उन्होंने बड़ी कुशलता से इसका समाधान निकाल लिया। विशुद्ध निर्गुण साधकों के लिए ध्यान-समाधि की बात बताई तथा ब्रह्म-चिन्तन का पाठ पढ़ाया। लेकिन, सामान्य साधकों के लिए नाम-जप को ही श्रेष्ठ सिद्ध किया। यह नाम-जप किसी लौकिक-पारलौकिक सुख-भोग की कामना की पूर्त्ति के लिए नहीं; बल्कि 'स्व' की निरन्तर स्मृति के लिए अपेक्षित है। सामान्य व्यक्तियों को उपदेश देते हुए वे कहते हैं—"हे भाई, निर्गुण राम का जप करो। अविगति की गति लखना सहज नहीं है। वेद, पुराण, स्मृतियाँ, नव प्रकार के व्याकरण तथा शेष, गरुड एवं स्वयं लक्ष्मी भी जिनके चरण-कमलों को नहीं जान सके, ऐसे परमात्मा की शरण में रहने पर ही परम कल्याण हो सकता है।"[१] उनकी दृष्टि में तो सम्पूर्ण कामनाओं के त्यागपूर्वक हरि का नाम जपना ही अभय प्रदान

१. निर्गुण राम जपहु रे भाई। अविगति की गति लखी न जाई॥
चारि वेद जाके सुंमृत पुरांनां। नौ व्याकरनां मरम न जांनां॥
सेस-नाग जाके गरुड़ समांनां। चरन-कँवल कंवला नहिं जांना॥
कहै कबीर जाकै भेदै नाहीं। निज जन बैठे हरि की छाहीं॥
—क० ग्रं०, पद-सं० ४९।

कर सकता है ।[1] पौराणिक उदाहरणों को दिखाते हुए वे नाम-जप पर जोर देते हैं ।[2] नाम-रस के रसिक कबीरदास इसका महिमा कहने में अपने को असमर्थ पाते हैं । इसकी मिठास का वर्णन करना तो गूँगे के गुड़-स्वादवत् है । एक बार नाम का नशा जिसपर चढ़ जाता है, वह दिनानुदिन बढ़ता जाता है, उतरने की बात ही नहीं है । यह देखते-सुनते तथा ध्यान करते प्रेमी को मस्तमौला बना देता है । द्वैत का ज्ञान समाप्त हो जाता है ।[3] अतः, वे बार-बार अपने मन को राम का स्मरण करने के लिए समझाते हैं । क्योंकि, जो राम के स्मरण से हीन हैं, वे ही संसार में डूबते हैं। पुत्र-कलत्र तथा गृह-सम्पत्ति की प्राप्ति तो स्वतः कालक्रम से ही होती है । इसमें पुरुषार्थ का अहंकार ही मूढता है । अजामिल और गणिका प्रभृति पतित भी नाम का जप करके संसार-सागर से पार हो गये । नाम से विमुख होने का ही तो फल है शूकर-कुक्करादि कष्टमय योनियों में भटकना, फिर भी तुम सावधान नहीं होते । तुम व्यर्थ ही अमृत को छोड़कर विषय-रूपी विष का सेवन कर रहे हो । सम्पूर्ण द्वन्द्वों से मुक्त होकर राम-नाम का जप करो एवं गुरु का कृपा से राम की प्रीति करो ।[4] कबीरदास किसी भी सगुणोपासक वैष्णव से कम राम-नाम की महिमा नहीं कहते हैं । वैष्णवों की तरह ही वे जगह-जगह पौराणिक

---

१. परिहरि काम राम कहिं बौरे सुनि सिख बन्धु मोरी ।
हरि को नांव अभैपद दाता कहै कबीरा कोरी ॥

—क० ग्रं०, पद-स० ३४६ ।

२. अजामिल-गज-गनिका पतित करम कीन्हां ।
तेऊ उतरि पार गये रांम-नाम लीन्हां ॥

—क० ग्रं०, पद-सं० ३२० ।

३. नाम अमल उतरै ना भाई ।
और अमल छिन-छिन चढ़ि उतरै, नाम-अमल दिन बढ़ै सवाई ॥
देखत चढ़ै, सुनत हिय लागै, सुरत किये तन देत घुमाई ॥
पियत पियाला भये मतवाला, पायो नाम मिटी दुचिताई ॥
जोजन नाम-अमल रस चाखा, तरी गइ गनिका सदन कसाई ॥
कहै कबीर गूँगे गुड़ खाया, बिन रसना क्या करै बड़ाई ॥

—कल्याण, 'सन्तवाणी-अंक', पृ० २०५ ।

४. मन रे राम सुमरि राम सुमरि, राम सुमरि भाई ।
राम नाम सुमिरन बिना, बूड़त अधिकाई ॥
दारा-सुत नेह-गेह, संपति अधिकाई ।
या मैं कछु नाहिं तेरी, काल अवधि आई ॥

आख्यानों की सहायता लेकर नाम-महिमा की स्थापना करते हैं। इनके एक पद में नाम-प्रेमी प्रह्लाद की अपूर्व निष्ठा दिखाई पड़ती है।[1]

इस प्रकार, कबीर के अनेक पदों में नाम-जप की महिमा दिखाई पड़ती है। वे लौकिक सुख के लिए भी सुमिरन को ही सुन्दर साधन समझते हैं।[2] लेकिन, वे इस अनमोल 'सुमिरन' को बहुत सँभालकर रखने की शिक्षा देते हैं।[3] क्योंकि, यह जप, तप, संयम तथा अन्य विविध साधनाओं से भी श्रेष्ठ है।[4] आत्यन्तिक सुख की

अजामिल गज गनिका, पतित करम कीन्हा ।
तेऊ उतरि पारि गये, राम नाम लीन्हा ॥
स्वान सूकर काग कीन्हौं, तऊ लाज न आई ।
राम नाम अमृत छाड़ि, काहे विष खाई ॥
तजि भरम-करम बिधि-नरवेद राम नाम लेही ।
जन कबीर गुर-प्रसादि, राम करी सनेही ॥
—कल्याण, 'सन्तवाणी-अंक' से, पृ० २०७।

१. नहीं छोड़ूँ रे बाबा राम नाम, मेरे और पढ़न सों नहीं काम ॥
प्रह्लाद पठाये पढ़न साल, संग सखा बहु लिये बाल ॥
मोकौं कहा पढ़ावत आल-जाल, मेरे पटिया पै लिख दे श्रीगोपाल ॥
यह षण्डामरकै कह्यो जाय, प्रह्लाद बुलाये बेग धाय ॥
तू राम कहन की छोड़ बान, तोहे तुरत छुड़ाऊँ कहो मान ॥
मो कौ कहा सताओ बार-बार, प्रभु जल थल नभ किन्हें पहार ॥
एक राम न छोड़ूँ गुरुहि गार, मो को घार जार चाहे मार डाल ॥
काठ खड्ग कोप्यौ रिसाय, कहुँ राखनहारो, मोहि बताय ॥
प्रभु खम्भ तैं निकसे ह्वै विस्तार, हरिणाकुस छेद्यो नख बिहार ॥
श्री परम पुरुष देवाधिदेव भक्त हेत नरसिंह भेख ॥
कहे कबीर कोऊ लख न पार, प्रह्लाद उबारे अनेक बार ॥
—कल्याण, 'सन्तवाणीं-अंक', पृ० २०८।

उपर्युक्त निवेदन के 'मो कौ कहा सताओ बार बार' में कितना करुणापूर्ण आग्रह है तथा 'मो घार जार, चाहे मार डाल' में कैसी दृढ निष्ठा है। कबीर को केवल निर्गुणपन्थी बतानेवाले आलोचकों को ऐसे पदों पर भी ध्यान देना चाहिए।

२. दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, तो दुख काहे को होय ॥

३. सुमिरन की सुधि यों करै, जैसे दाम कँगाल।
कह कबीर बिसरै नहीं, पल-पल लेइ सम्हाल ॥

४. जप तप संयम साधना, सब सुमिरन के माहिं।
कबीर जाने भक्त जन, सुमिरन सम कछु नाहिं ॥

प्राप्ति तथा आत्यन्तिक दुःख की निवृति तो केवल स्वामी परमात्मा में लीन हो जाने में ही है और यह सुमिरन से सहज सुलभ है।[१]

अद्वैत साधक होने पर भी कबीर पाप और पुण्य की सत्ता मानते हैं। उनकी दृष्टि में तो भयंकर से भयंकर पापराशि को दग्ध करने के लिए 'राम' नाम का 'रा' ही पर्याप्त है।[२] स्वप्नावस्था में बर्रा कर जो धोखे से भी नामोच्चारण कर देता है, उसके पैर की जूती को अपने शरीर के चर्म से श्रेष्ठ समझते हैं।[३] इसीलिए सुख से भी बढ़कर वे दुःख को ही समझते हैं, जो बार-बार नाम जपने के लिए बाध्य करता है।[४] परन्तु, नाम-जप के साधक को अपने उपास्य में सदा लीन होने की आवश्यकता है। उसकी साधना भी अनन्यता में ही पूर्णता को प्राप्त होती है। इसे ही अनपायिनी, अव्यभिचारिणी आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। लोक में पतिव्रता की निष्ठा इसका सुन्दर उदाहरण है।[५] पूर्ण ऐकात्म्य में द्वैत-अद्वैतमूलक भेद नहीं रह जाता। द्वैत की भी पूर्णता अद्वैत तक पहुँचकर ही होती है। इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। सच्ची प्रीति ही सच्ची भक्ति है, सच्चा ज्ञान है। सर्वसमर्पण में पातिव्रत्य चमक जाता है, साधक निर्भय हो जाता है।[६]

कबीरदासजी पर वैष्णवता का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था अहिंसा का। हिंसा की व्याधि उस युग की सर्वप्रमुख व्याधि थी। इसे ही दूर करने के लिए युग-युग में अवतार की कामना होती है। 'अहिंसा परमो धर्मः' वैदिक धर्म है।

---

१. सुमिरन सों सुख होत हैं, सुमिरन सों दुख जाय।
कह कबीर सुमिरन किये, साँई माहिं समाय॥
—कल्याण, 'सन्तवाणी-अंक', पृ० २०६।

२. नाम जो रत्ती एक है, पाप जो रती हजार।
आध रती घट संचरै, जारि करै सब छारि॥

३. सपनेहुँ मैं बर्राई कै, धोखेहु निकरै नाम।
वा के पग की पैंतरी, मेरे तन की चाम॥

४. सुख के माथे सिलि परै, जो नाम हृदय तें जाय।
बलिहारी वा दुक्ख की, पल-पल नाम रटाय॥
—कल्याण, 'सन्तवाणी-अंक', पृ० २०६।

५. ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माहिं।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलत नाहिं।

६. कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाम।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाऊँ॥

महात्मा कबीर ने हिंसकों की घोर भर्त्सना की। उन्होंने मांसाहारियों को प्रत्यक्ष राक्षस कहा।[1]

कबीरदास पर वैष्णवता के प्रभाव के सम्बन्ध में डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त का कहना है कि 'कबीर, रैदास, पीपा, सेना, धना आदि सन्त इन्हीं (स्वामी रामानन्द) के शिष्य थे। यद्यपि इन सन्तों ने आगे चलकर सगुण वैष्णव-भक्ति के स्थान पर निर्गुण-भक्ति को अधिक महत्त्व दिया तथा अवतारवाद की उपेक्षा की, किन्तु फिर भी वैष्णव धर्म और वैष्णव भक्तों पर उनकी आस्था सदा बनी रही। इसका प्रमाण यह है कि जहाँ कबीर आदि ने अपने युग के विभिन्न सम्प्रदायों का खण्डन निर्भीकता-पूर्वक किया है, वहाँ वैष्णवों का स्मरण उन्होंने गद्‌गद् भाव से किया है।'[2] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी उनपर वैष्णवता का प्रभाव स्वीकार किया है।[3]

महात्मा कबीरदास पर अहिंसामूलक वैष्णवता का प्रभाव बताते हुए आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र अन्यत्र कहते हैं—'कबीर साहब केवल हिन्दुओं और मुसलमानों ऐक्य-प्रतिपादन तक ही नहीं रहे। उन्होंने भूतदया का भी प्रचार किया। वेद के 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' के सिद्धान्त को उन्होंने व्यावहारिक जीवन में लाने का उपदेश किया। संसार की 'भिन्नरुचि' के अनुसार सनातन वैदिक धर्म के दायरे में सात्त्विक और तामसिक दोनों प्रकार की पूजा और उपासना का विधान था, यद्यपि

१. (क) मांस अहारी मानवा, परतछ राच्छस अंग।
या की संगति करे तें, परत भजन में भंग॥
(ख) मांस मांस सब एक हैं, मुरगी हिरनी गाय।
आँखि देखी नर खात है, ते नर नरकहिं जाय॥
(ग) कहता हों कहि जात हों, कहा जो मान हमार।
जाका गर तुम काटिहौ, सो फिरि काटि तुम्हार॥
—कल्याण, 'सन्तवाणी-अंक', पृ०२१४।

२. मेरे संगी दोइ जणां, वैसनों एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥
साखत बांमण ना मिले, वैसनों मिले चण्डाल।
अंकमाल दे भेंटियो, मानी मिले गोपाल॥
वैश्नों की छपरी भली, न साखत को बड़ गाऊँ।

वस्तुतः, कबीर ने जैसी श्रद्धा वैष्णवों के प्रति व्यक्त की है, वैसी उन्होंने अपने युग के अन्य किसी भी सम्प्रदाय के प्रति व्यक्त नहीं की हैं।

—हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० १८८।

३. कबीर के विचारों में देशी-विदेशी कई धार्मिक विचधाराराओं का मेल है। शंकर अद्वैतवाद, योगियों का हठयोग और वैष्णवों की शरणागति के साथ ही सूफियों का इश्कहकीकी या 'विरह की पीर' भी इनमें मिलती है। —हिन्दी-साहित्य का अतीत, पृ० १४८।

उसमें सात्त्विक पूजा पर ही जोर दिया गया था। किन्तु, यज्ञ-यागादिकों का जोर होने पर 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' की आड़ में रसना की तृप्ति को भी अवकाश मिलने लगा। कर्मकाण्ड की यह प्रबलता भगवान् बुद्ध को खटकी। उन्होंने उसका विरोध किया। केवल भारत ही नहीं, एशिया-खण्ड भर में भगवान् की दिव्यवाणी ने लोगों की करुणा जाग्रत् कर दी। भगवान् बुद्ध के महाप्रयाण के अनन्तर उनके अनुयायियों का पतन आरम्भ हुआ और उनमें भी कर्मकाण्ड का आधिक्य हो गया। धीरे-धीरे फिर जीवहत्या एवं पशुबलि का आधिक्य होने लगा। उन मुसलमानों में भी पशु-हत्या और मांस-भक्षण का प्रचार था, जिनके बीच कबीर साहब का शैशव बीता। इसलिए, जिस भूतदया का प्रचार भगवान् बुद्ध ने किया था, उसी का प्रचार करने के लिए कबीर ने भी अपनी टेढ़ी-सीधी वाणी का सहारा लिया। अन्तर इतना ही है कि भगवान् बुद्ध ने मानव-हृदय को प्रवाहित करने के लिए हृदय की वृत्ति का ही सहारा लिया था, पर कबीर की वाणी अधिकतर तर्क को लेकर चली। पशु-बलि के सम्बन्ध में वे कहते हैं :

माटी के करि देवा काटि काटि जिव देइया।
जो तुम्हरा है साँचा देवा, खेत चरत क्यों न लेइया॥

—— ——

बरबस आनिके गाय पछारिन, गला काटि जिय आप लिया।
जीते से मुरदा कर डारा, तिसको कहत हलाल हुआ॥

—— —— ——

हिन्दु की दया मेहर तुरकन की दोनों घर के त्यागी।
ये हलाल वे झटके मारैं, आग दोनों घर लागी॥

—हिन्दी-साहित्य का अतीत, पृ० १५७।

डॉ० श्यामसुन्दर दास,[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी,[2] आचार्य परशुराम

---

१. "सच बात यह है कि कबीर आदि सन्तों का निर्गुण मार्ग भी शुद्ध ज्ञान-मार्ग नहीं है। वे भक्त थे और भक्ति सगुण की ही की जा सकती है। अतः, भक्ति के लिए उन्हें निर्गुण में भी गुणों का आरोप करना पड़ा है। शुद्ध ज्ञानाश्रयी उपनिषदों तक में उपासना के लिए ब्रह्म में गुणों का आरोप किया गया है। फिर भी, तथ्य की बात यह जान पड़ती है कि जब वैष्णव सम्प्रदायों ने आगे चलकर व्यवहार में सगुण भक्ति का आश्रय लिया; तब भी सन्त मतों ने ज्ञानाश्रयी निर्गुण-भक्ति में ही अपना सम्बन्ध रखा।"

—हिन्दी-साहित्य, पृ० १५२।

"वे भक्त थे और भक्त के बिना योग और ज्ञान आदि को व्यर्थ समझते थे। उन्होंने केवल हिन्दू और मुसलमान धर्मों का मुख्यतया उल्लेख किया है, पर अन्य धर्मों से भी उनका परिचय था। कबीरदास सरल जीवन के पक्षपाती तथा अहिंसा के समर्थक थे।"

—वही, पृ० १५७।

२. भक्ति के लिए केवल एक ही बात आवश्यक है—अनन्यभाव से भगवान् की

चतुर्वेदी[१], डॉ० उदयनारायण तिवारी[२], डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय[३] तथा डॉ० रामखेलावन पाण्डेय[४] प्रभृति विद्वानों ने भी कबीरदास पर वैष्णवता का प्रभाव स्वीकार किया है।

इस तरह कबीरदास की साधना पर अहिंसा, सदाचार, नाम-स्मरण, करुणा आदि के संस्कार वैष्णवता की देन के रूप में निर्विवाद स्वीकार किये जा सकते हैं। कहना तो यही उचित होगा कि उस युग के सम्पूर्ण सन्तों को अपने मार्ग पर अग्रसर करने का श्रेय बहुत-कुछ अंशों में तत्कालीन वैष्णव-साधकों को दिया जा सकता है।

शरणागति, अहैतुकी प्रेम, बिना शर्त्त आत्मसमर्पण। कबीरदास में इन बातों की चरम-परिणति हुई है।"

—कबीर, पृ० १४७।

"जो लोग शास्त्रज्ञान का दावा करते हैं और फिर भी कबीर की, भक्ति और अद्वैत-भावना और निर्गुण-प्रेम को परस्पर विरोधी समझते हैं, उनका उद्देश्य क्या है, यह वही जानें। हम तो दृढता के साथ कहने का साहस करते हैं कि कबीर की भक्ति और भगवद्भावना में न तो युक्ति से विरोध है और न शास्त्र से।" —वही, पृ० १५१।

"प्रेम दोनों का ही मार्ग था; सूखा ज्ञान दोनों को अप्रिय था; केवल बाह्याचार दोनों को सम्मत नहीं था, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनों को अभीष्ट था; अहैतुक भक्ति दोनों की काम्य थी; बिना शर्त्त के भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण दोनों के प्रिय साधन थे। इन बातों में दोनों एक थे।" —वही, पृ० १७५।

१, परन्तु, कबीर साहब द्वारा प्रचलित किये गये मत के साथ न्यूनाधिक साम्य होने के कारण वे कभी वष्णवों की ही श्रेणी में गिने गये, उनका परमात्मा के लिए प्रधानतः 'राम' नाम को स्वीकार करना, अहिंसा एवं संयत जीवन को महत्त्व देना तथा ऐकान्तिक भक्ति को ही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन मानकर नाम-स्मरण में सदा प्रवृत्त रहा करना ऐसी बातें थीं, जो अन्य वैष्णवों के भी अनुकूल थीं। सन्तों के अनेक पन्थों वा सम्प्रदायों ने वैष्णवों के भेषादि को भी स्वीकार कर लिया था।" —वैष्णव-धर्म, पृ० १२३।

२. "कबीर और उनकी परम्परा के सन्तों का ईश्वर निराकार है, लेकिन वे उनके नाम-स्मरण से उनके प्रति अनुरक्ति बनाये रखने के अभ्यासी हैं। असत् लोगों की संगति का परिहार और भगवान् का नाम-स्मरण इनकी भक्ति की भी विशेषता है।"

—हिन्दी-भाषा तथा साहित्य, पृ० ३४।

३. "वास्तव में वे पहुँचे हुए भक्त थे। किन्तु, वे भावावेश में बह जानेवाले भक्त नहीं थे। उनका ज्ञान अत्यन्त सरल और व्यावहारिक ढंग से वर्णित है।"

—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १३०।

४. "कबीर को ज्ञानमार्गी मानना उनकी रागात्मक स्फूर्त्ति पर व्यंग्य है।"

—हिन्दी-साहित्य का नया इतिहास, पृ० ८५।

यों तो कबीरदासजी के लगभग ६१ ग्रन्थों के नाम डॉ० रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'[१] में मिलते हैं। परन्तु, सम्पूर्ण ग्रन्थ कबीर-विरचित ही हैं, इसमें सन्देह है। आचार्य शुक्ल ने कबीर की वाणी के संग्रह को बीजक कहा है, जिसके तीन भाग किये गये हैं—रमैनी, सबद और साखी।[२] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार 'बीजक' में महात्मा कबीर की 'रमैनी' और 'शब्द' के अतिरिक्त ज्ञानचौंतीसा आदि और भी कितने ही छोटे-छोटे वचन हैं।[३] साखी की रचना दोहे में हुई है। इसमें आत्मचिन्तन पर महात्मा कबीरदास ने प्रकाश डाला है। साथ ही जीव, ब्रह्म तथा जगत् से पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा की गई है। इसमें ब्रह्म के प्रति आकर्षण तथा जगत् के प्रति विकर्षण का उपदेश मिलता है। शब्दों की रचना गीत-शैली में हुई है। इसमें गुरु शिष्य को ब्रह्म एवं साधना के स्वरूप का ज्ञान कराते हुए दीखता है। रमैनी की रचना, चौपाई और छन्द में हुई है तथा इसमें जागतिक विचार ही प्रधान है।

गुरु नानक

सिख-मत के आचार्य गुरु नानक का जन्म राइमोइ की तलवण्डी में बेदी डालूचन्द पटवारी के घर १५ अप्रैल (सन् १४६९ ई०) को हुआ था। आप जन्मजात भक्त-हृदय एवं साधु प्रकृति के थे। बचपन में ही इनकी प्रकृति बहुत शान्त एवं एकान्त-प्रिय थी। आरम्भ में इन्हें हिन्दी, संस्कृत एवं फारसी पढ़ाने के लिए अध्यापक रखे गये; परन्तु आगे चलकर वे तीनों इनके ही शिष्य हो गये। सदैव हरि-चिन्ता में लीन रहनेवाले गुरुनानक का ध्यान घर-गृहस्थी की ओर नहीं के बराबर था। रोजगार के हेतु पिता से प्राप्त रुपयों को सन्तों की सेवा में लगाकर इन्होंने लौटकर पिता से कह दिया कि 'सच्चा सौदा' किया है।

संवत् १५५४ में २४ जेठ को आपका विवाह सुलक्षणा देवी से हुआ। जिससे आपको दो पुत्र हुए—श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द। आप दौलत खाँ लोदी के मोदीखाने का कार्यभार सँभालते हुए चित्त से सदैव परमात्मा का ध्यान किया करते थे और साधु-सन्तों को मुफ्त ही सामान बाँट दिया करते थे। अन्तःप्रेरणा से गुरु नानक ने पूरे २५ वर्षों की अपनी चार यात्राओं में भारत के मुख्य तीर्थ-स्थलों से लेकर सिंहलद्वीप, हेमकूट, सिक्कम, भूटान, तिब्बत, मक्का, बिलोचिस्तान, रूम, ईरान, और काबुल आदि की सैर करते हुए सर्वत्र सत्यनाम का प्रचार एवं प्रसार किया।

---

१. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३५८ से ३६७ तक।

२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ८१।

३. हिन्दी-साहित्य का अतीत, पृ० १६१।

सत्तर वर्ष की आयु में आपने २२ सितम्बर, १५३९ ई० में परलोक-गमन किया। अन्तिम संस्कार हेतु परस्पर झगड़नेवाले हिन्दू-मुसलमान और सिखों ने आपके कफन का वस्त्र हटाने के बाद वहाँ से शव को अदृश्य पाकर केवल कफन का संस्कार किया।

आपके उपदेशों और वाणियों को सिखों के पंचम गुरु अर्जुनदेव ने संकलित किया—जपुजी, पट्टी, आरती, दक्षिणीय ओंकार, सिहगोष्ठी आदि आपकी प्रसिद्ध वाणियाँ हैं। 'असा दी बार' आपकी दूसरी प्रसिद्ध रचना है। इनके अतिरिक्त 'सोहिला', 'रहिरास' और 'गुरुग्रन्थसाहिब' में भी आपकी रचनाएँ संकलित हैं।

परम सन्त गुरु नानक ने 'सन्त' का परिचय देते हुए कहा है कि जिनके श्वास-प्रश्वास की प्रत्येक आवृत्ति में हरिनाम का मन्त्रोच्चार होता है तथा जिनकी वाणी कभी हरिनाम-रूपी अनमोल मणि को क्षण-भर भी नहीं भूलती; वही पूर्ण सन्त है और उसी का जीवन धन्य है।[1] श्रीहरि के चरणों में सर्वात्मनाभावेन आत्म-समर्पण ही भक्त या सन्त का प्रधान लक्षण है। 'जो अहर्निश अपने पास उस सर्वान्तर्यामी हरि की उपस्थिति का भान करता है, प्रभु द्वारा सम्पादित सारे कार्यों को प्रिय मानता है, हरिनाम-स्मरण और नाम-कीर्त्तन में जीवन के क्षण बीत रहे हैं, समान हैं शत्रु और मित्र जिनके, ऐसे प्रभु को छोड़कर अन्य किसी को नहीं जानते, वैसे अनन्य भक्तिवाले लोग ही सन्त कहे जाते हैं।[2] 'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने' की अनन्यगति ही भक्त या सन्त का भूषण है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह उपदेश दिया है :

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

गुरु नानक ने भी 'प्रभु बिन अपने अवरु न जानै' की चर्चा करते हुए कहा है कि एकमात्र प्रभु ही भक्तों के कोटि-कोटि पातकों के नाश करनेवाले, भवभीति-भंजक एवं सम्पूर्ण चराचर जीवों के पोषक हैं।'[3]

---

१. "जिना सासि गिरासि न बिसरै, हरि नामां मनि मंत।
धन्नुसि सेई नानका, पूरन सोई संत॥"

२. "आठ पहर निकटि करि जानै। प्रभु का कीआ मीठा मानै॥
एकु नामु संतन आधारू। होई रहै सभ की पग छारू॥
सन्त रहत सुनहु मेरे भाई। उआ की महिमा कथनु न जाई॥
वरतणि जाकै केवल नाम। अनँद रूप कीरतनु बिसराम॥
मित्र सत्रु जाकै एक समानै। प्रभु बिन अपने अवरु न जानै॥

३. "कोटि-कोटि अघ काटनहारा। दुख दुरिकरन जीअ का दातारा॥
सूरबीर बचन के बली। कउला बपुरी सन्ती छली॥
ताका संग बाँछहि सुरदेव। अमोघ दरस सफल जाकी सेव॥
कर जोड़ि नानकु करे अरदासी। मोहि सन्त-टहल दीजै गुणतासी॥"

सन्त की 'रहनी' में अन्तर्मुखता, दीनता, सेवा, बन्दगी, ये चार बातें मुख्य रूप से नानक ने स्वीकार की हैं। अपने अन्तःकरण में स्थित हरि को न पहचानते हुए नाना जागतिक प्रपंचों में ईश-अन्वेषण करना तो अमृत छोड़कर विष खाने के सदृश है।[1] मन-कर्म-वचन से सन्तों की सेवा करना, भूलकर भी अपने को भला और दूसरे को बुरा न समझना, स्वयं को दीन समझते हुए अहंकार का पूर्ण विसर्जन कर देना आदि नानक के अनुसार सन्त के लक्षण हैं।[2] भक्त का जो प्रथम लक्षण साधु-सेवा एवं सन्तों की संगति तथा दूसरा लक्षण हरि के गुणानुवाद करने एवं चरित्रों के श्रवण करने में स्वाभाविक प्रेम का होना[3], जैसा कि अन्य सन्तों ने भी स्वीकार किया है, गुरु नानक के जीवन में प्रारम्भ से ही घटित होता रहा है। तभी तो बाल्यावस्था की स्वाभाविक क्रीडा में एक बार नानक ने सभी बालकों को पद्मासन लगाकर एक गोल पंक्ति में बैठा लिया और कहा कि सत्यकर्त्तार-सत्यकर्त्तार करते रहो। मन्त्रमुग्ध-से सभी बच्चे बड़ी देर तक इसी प्रकार समाधि में रहे। रोजगार-हेतु पिता से प्राप्त रुपयों को सन्तों की सेवा में लगाकर बालक नानक ने 'सच्चा-सौदा' किया।

श्रीबाबा कृष्णानन्दजी उदासीन ने श्रीगुरु नानकदेवजी की जीवनी बड़े विस्तार से लिखी है। इसका नाम 'जनम-साखी' अथवा 'नानक-सत्य-प्रकाश' है। इसमें गुरु नानक की समस्त यात्राओं एवं विवाह आदि का बहुत विस्तार से वर्णन है।

---

१. "अन्तरि बसै, न बाहरि जाई।
अमृते छोड़ि, काहे विषु खाई॥"

२. 'ऐसा गियानु जपहु मन मेरे।
होवहु चाकर साँचे केरे॥
गियानु, धियानु सभु कोई रवै।
बाँधनि, बाँधिया संभु जगु भवै॥
सेवा करे सु, चाकर होइ।
जलि-थलि महि अलि रवि रहिआ सोइ॥
हम नहिं चंगे, बुरा नहिं कोइ।
प्रणवति नानकु तारे सोइ॥"

३. "प्रथम भगति सन्तन कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥"
—गोस्वामी तुलसीदास, रा० च० मानस, अरण्यकाण्ड (दो० ३५)।

उन्होंने लिखा है कि विवाह के समय गुरु नानक ने ये वचन[१] कहे थे—जिनसे उनके जीवन का अणु-अणु भक्ति-रसामृत में सराबोर दीख पड़ता है।

अनन्यगति भक्त के 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' का विरद सँभालनेवाले भगवान् को भक्त नानक की लाज बचाने के लिए मक्का में नानक के पैर की दिशा में स्थान-परिवर्त्तन का कष्ट उठाना ही पड़ा। घटना इस प्रकार है कि देशाटन के सिलसिले में गुरु नानक मक्काशरीफ पहुँचकर काबे की ओर पैर करके सो गए। जब काजी क्रुद्ध हुआ, तब आपने कहा—काजी जी ! जिधर अल्लाह का घर न हो, मेरे पैर उधर ही कर दीजिए। कहते हैं, काजी ने नानक के पैर जिधर फेरे, काबा भी उधर ही फिरता गया। इस प्रकार ,भक्त की लाज हरि ने रख ली।

अपने पवित्रतम ग्रन्थ 'जपुजी' में गुरु नानक ने बहुत विस्तार के साथ नाम की महिमा गाई है। उनका कथन है कि नाम वह साबुन है, जो लाख-लाख जन्मों के पाप को धो डालता है। नाम वह महौषधि है, जो सब रोगों पर रामबाण-सा असर करता है। नानक बार-बार कहते हैं कि जिस प्रकार हाथ-पैर में कीचड़ लग जाने से हम पानी से धो डालते हैं, उसी प्रकार यदि हृदय में पाप का कीचड़ लग जाय, तो वह एक हरि के नाम से धोया जा सकता है। यह नाम ही आवागमन को बन्द कर देता है—परम प्रभु से मिला देता है। नाम की साधना में जाति, आश्रम, ब्राह्मण, चाण्डाल, पुरुष-स्त्री आदि का भेद या प्रतिबन्ध नहीं है। सिखधर्म में नाम की बड़ी महिमा है। वे कहते हैं कि नाम के बिना सारा साधन उसी प्रकार है, जैसे मुरदे का सिंगार। 'सरब बियापक' और 'सरब प्रतिपालक' के दर्शन एकमात्र नाम की साधना से ही हो सकते हैं। बाद के सन्तों में गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'नाम-महिमा' का विशद गुणगान किया है। लगता है कि नानक आदि से इसकी उन्हें प्रेरणा मिली हो।

गुरु नानक ने विश्व के सारे बाह्याडम्बरों को त्यागकर एकमात्र नाम की शरण लेने के लिए ही बारम्बार चिताया—"भक्त का कार्य तो एकमात्र नाम-स्मरण ही है। स्वप्न के राज्य-सुख की भाँति जगत के क्षणिक मान या सुख पर मिथ्या गर्व करना

---

१. "राभ पहिलड़ि हरि हरि नाम ध्याइयै।
मेरे तन मन श्रीरग अगर चन्दन घसि लाइयै ॥
... ...
राम नाम उचरंत रसना सदा हरिरस गाइयै ॥
... ...
बिनवंत नानक सुनहु सन्तहु सभ सफल्यो काज सुहाइया।
उत्साह होया सोभ सेती मगल काल सुहाइया ॥"
—नानक-सत्य-प्रकाश।

तो मूर्खता है। बालू की भीत की तरह क्षणिक जगत् और नश्वर काया पर गर्व कैसा ?"[१]

पुनः नानक ने बाह्याडम्बरों की खिल्ली उड़ाई है, और स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि "बाहरी वेष से भगवान् कभी रीझते नहीं। उन्हें रिझाने के लिए अपने अन्तर में प्रभु की प्रीति होनी चाहिए और साथ ही विषयों के प्रति विरक्ति का होना भी अत्यावश्यक है।"[२]

इतना ही क्यों, संसार में जितने नाम के प्रेमी हैं, वे सभी नानकजी के साथी हैं।[३]

'सरब बियापक' के दर्शन तो एकमात्र नाम की साधना में ही सम्भव है। उस 'सरब प्रतिपालक' प्रभु को पाने के लिए कहीं जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं है, न तो भभूत रमाने की ही आवश्यकता है—घर में ही रहकर, उसके नाम का स्मरण करने से 'वह' मिलता है।[४]

---

१. राम सुमिर, राम सुमिर एही तेरो काज है ॥टेक॥
माया कौ संग त्याग, हरिजू की सरन लाग ।
जगत-सुख मान मिथ्या, झूठो सब साज है ॥१॥
सुपठो ज्यों धन पिछान, काहे पर करत मान ।
बारू की भीत तैसें, बसुधा कौ राज है ॥२॥
नानक जन कहत बात, बिनसि जैहै तेरो गात ।
छिन छिन करि गयौ काल्ह, तैसे जात आज है ॥३॥

२. जटा जनेऊ कंठि धर, छापा तिलक लगाय ।
लक्षण ना वैराग के, जौं लौं भोग सुहाय ॥
इसलिए—
सतगुरु भेंटे सो सुख पाए ।
हरि का नाम मनू बसाए ॥
नानक नदरि करे सो पाए ।
आस अंदेस से निःकेवल हनुं मैं शब्द जलाए ॥

३. हमरे मत महँ कोउ आवै ।
सीताराम गाइ सुख पावै ॥

४. काहे रे वन खोजन जाई ।
सरब निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई ॥१॥
पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर माँहि जस छाई ।
तैसे ही हरि बसै निरन्तर, घट ही खोजो भाई ॥२॥
बाहर भीतर एकै जानों, यह गुरु ग्यान बताई ।
जन नायक बिन आपा चीन्हे, मिटै न भ्रम की काई ॥३॥

नानकदेव ने अपने जीवन के प्रतिपल को हरिनाम-स्मरण एवं सन्त-संगति में लगा देने का उपदेश दिया है, अन्यथा मनुष्य की योनि-प्राप्ति का यह पुण्य-अनमोल अवसर यों ही बीता जा रहा है, इसका कोई लाभ नहीं ।[1]

एकमात्र रामनाम जपने से ही जीवों का उद्धार सम्भव है, अन्यथा इस जीवन की सारी क्रीडाएँ मात्र जीवित रहने तक ही हैं, मृत्यु के बाद नहीं । यह जगत् पूर्ण मृगतृष्णा के रूप में है ।[2]

राम-नाम का जप अपने-आप तो लोग कर ही लेते हैं, किन्तु नानक के मतानुसार यह 'नाम' गुरुमुख से ही प्राप्त होना चाहिए, तभी उसका विद्युत्-प्रभाव देखने में आता है । इस सन्दर्भ में तीसरे गुरु अमरदास की उक्ति द्रष्टव्य है ।[3]

नाम की साधना से ही नाम की 'सिद्धि' होती है—साधन-रूप और सिद्धि-रूप नाम में महान् अन्तर है । सिद्धि-रूप नाम में हमारा मन, हमारी वाणी और हमारे कर्म एकमात्र उस नाम का ही उच्चारण करते हैं—रोम-रोम से हरि-हरि का उच्चारण स्वतः स्फुरित होता रहता है । इसके लिए गुरु नानक ने साधक से सर्वात्मसमर्पण, निःशेष आत्मसमर्पण को अनिवार्य माना है और वे कहते हैं कि जिस प्रकार 'तिरिया' अपने 'पुरुष' का स्मरण करती है, उसी प्रकार साधक अपने परम प्रियतम प्रभु का स्मरण करे । 'नामसुमिरन', 'हरि-कीरतन' और प्रेम-भगति'

---

१. रे मन राम सों कर प्रीत ।
श्रवण गोविन्द गुण सुनो अरु गाऊ रसना गीत ।
कर साधु संगत सुमिर माधो होय पतित पुनीत ॥१॥
काल व्याल ज्यों ग्रस्यो डोले मुख पसारे मीत ।
कहे नानक राम भजले जात अवसर बीत ॥२॥

२. सब कछु जीवत कौ ब्योहार ।
मातु-पिता, भाई-पुत, बान्धव अरु पुनि गृह की नारि ॥
तन तें प्राण होत जब न्यारे, टेरत प्रेत पुकार ।
आध घरी कोऊ नहीं राखैं, घर ते देत निकार ॥
मृगतृष्णा ज्यों जग रचना यह देखौ हृदय बिचार ।
कह नानक भजु राम नाम नित, जातें होत उधार ॥

३. राम राम सभु कोई कहै, कहिये रामु न होय ।
गुरु प्रसादी रामु मनि बसै, ता फल पावै कोइ ॥
अन्तरि गोबिन्द जिसु लागै प्रीति ।
हरि तिसु कदे न बीसरे, हरि हरि करहि सदा मनचीति ॥

यही हैं नानक की साधना के प्राण ।[1] सन्त नानक का भक्तहृदय आठों याम हरि से दर्शन देने की कृपा करने के लिए प्रार्थी बना रहता है ।

हरिनाम का सुधापान कर नानक जागतिक प्रपंचों से ऊपर उठ जाते हैं। दुनिया उन्हें पागल कहकर पुकार उठती है, किन्तु बड़े भावपूर्ण शब्दों में नानक ने अपने दीवानेपन के सम्बन्ध में गाकर लोगों को समझा दिया है कि सच्चा 'दीवाना' वही है, जो हरि को छोड़कर अन्य किसी को जानता ही नहीं ।[2]

पाँच बार जो नमाज पढ़ी जाती है, उसे पाँच शुभ कर्मों के रूप में देखने की आज्ञा नानक ने दी है :

(क) उस सत करतार का, जिसने सबको बनाया है—स्मरण करे और पुनः पुनः उसी का ध्यान करे ।
(ख) धर्माधर्म का विचार रखे कि अपने से किसी को दुःख न पहुँचने पावे ।
(ग) सदा उस मालिक की नेकी को याद रखे ।
(घ) अपने चित्त की वृत्ति को रोके कि वह बुरी वासनाओं में न फँसे ।
(ङ) सदैव वाणी से, मन से, प्राण से, साँस से उसी मालिक करतार के नाम की रट लगाये रहे ।

नानक ने एक सच्चे भक्त की तरह अपने भजन-हीन जीवन के प्रति घोर पश्चात्ताप करते हुए कहा है कि भव-निधि तरने का 'मैं कौन उपाय करूँ ?[3]

---

१. प्रभु मेरे प्रीतम प्राण पियारे ।
प्रेम-भगति निज नाम दीजिये, द्याल अनुग्रह धारे ।।
सुमिरौं चरन तिहारे प्रीतम, हृदै तिहारी आसा ।
सन्त जनाँपै करौं वेनती, मन दरसन को प्यासा ।।
बिछुरत मरन, जीवन हरि मिलते, जन को दरसन दीजै ।
नाम अधार, जीवन-धन नानक, प्रभु मेर किरपा कीजै ।।

२. भया दीवाणा साहु का नानक बौराना ।
हउँ हरि बिनु अवर न जाना ।। रहाव ।।
तब दीवाण जाणियै जौ भव दीवाणा होइ ।
एकी साचिब बाहरी दूजा अवर न जानै कोइ ।।
तब दीवाणा जाणियै जौ साहिब धरै पियार ।
मंदा जाणै आपको और भला संसार ।।

३ अब मैं कौन उपाय करूँ ।
जेबिधि मन को संसय छूटै, भव-निधि पार करूँ ।।
गुरुमत सुन कुछ ग्यान न उपजो, पसुवत उदर भरूँ ।
कह नानक, प्रभु बिरद पिछानो, तब हौं पतित तरूँ ।।

सन्त नानक ने अपने कुटुम्ब का परिचय देते हुए कहा है कि 'हमारी माँ क्षमा, पिता सन्तोष, सत्य चाचा, भाव भाई, शान्ति सहेली, सत्त्व चेली है और एक उँकार हमारा खाविन्द है।'[१]

इसी 'उँकार' का अमृतरस पीकर नानक मस्त हैं, जिसके समक्ष संसार के सारे स्वाद फीके पड़ गये हैं।[२]

इस 'उँकार' की सत्ता अखिल ब्रह्माण्ड के कण-कण में परिव्याप्त है, अतएव नानक ने सबके अन्दर उसी की झलक बताते हुए किसी भी जीव की हिंसा करने से सख्त मना करते हैं।[३]

स्वार्थपूर्ण जगत् के सम्बन्धों में गुरु नानक को कोई सच्चा मित्र नहीं दिखाई पड़ता है—स्त्री, पुत्र, मित्र सभी धनी के ही साथी हैं, निर्धन के नहीं; फिर भी यह

---

१. खिमा हमारी माता कहिए सन्तोष हमारा पिता।
सत हमारा चाचा कहिये जिन संग मनुआ जीता॥
भाव भाई संग हमारे प्रेमजोत सो साँचा।
धी हमारी धीरज बनियै से संग हम राँचा॥
शान्ति हमारी संग-सहेली, सत्त हमारी चेली।
ये ही कुटुम्ब हमारी कहिये साँस-साँस सँग खेलीं॥
एक उंकार हमारा खाविन्द जिन हम बनत बनाए।
उसको त्याग अवर को लागे नानक सो दुःख पाए॥

२. अवर स्वाद सब फिक्के लागै जब सच नाम सुख दीया।
कह नानक सो खरा स्वादी एक उंकार रस पीया॥

३. मुरसिद मेरा मरहमी, जिन मरम बताया।
दिल अन्दर दीदार है, खोजा तिन पाया॥१॥
तसबी एक अजूब है, जाके हरदम दाना।
कुंज किनारे बैठिके, फेर तिन्ह जाना॥२॥
क्या बकरी क्या गाय है, क्या अपनो जाया।
सबको लोहू एक है, साहिब फरमाया॥३॥
पीर पैगम्बर ओलिया, सब मरने आया।
नाहक जीव न मारिये, पोषन को काया॥४॥
हिरिस हिये हैवान है, बस करिलै भाई।
द्वार इलाही नानका, जिसे देवै खुदाई॥५॥

पगला मन दीनानाथ को भूल कर इनसे ही नेह लगाए बैठा है। नानक नाम जप का आधार लेते हैं।[1]

कभी अपने बौरे मन पर खीझ कर नानक कह उठते हैं—यह दुष्ट मन कहा ही नहीं मानता, यह तो 'मद-माया-ब्रस' बावला हो गया है। असल कार्यसिद्धि तो 'जगत के परपंच' से मुख मोड़ कर रामनाम भजने में है।[2]

गुरु नानक ने बताया है कि जिस व्यक्ति पर गुरु की कृपा होती है, वह स्थितप्रज्ञता[3] को प्राप्त करता है, और लौकिक सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, मानापमान, काम-क्रोध, लोभ, मोहाभिमान आदि द्वन्द्वों से न्यारे होकर गोविन्द में लीन हो जाता है, और उसी के घट में ब्रह्म का अच्युत प्रकाश चमकता है।[4]

---

१. या जग मीत न देख्यो कोई।
सकल जगत अपने सुख लाग्यो, दुःख में संग न होई॥
दारा, मीत, पूत, सम्बन्धी, सगरे धन सों लागे।
जबहीं निरधन देख्यो नर को, संग छाड़ि सब भागे॥
कहा कहूँ या मन बौरेकों, इनसों नेह लगाया।
दीनानाथ सकल भय भंजन, जस ताको बिसराया॥
स्वान-पूँछ ज्यों भयो न सूधो, बहुत जतन मैं कीन्हौ।
नानक लाज बिरद की राखौ, नाम तिहारो लीन्हौ॥

२. यह मन नेक न कह्यो करै।
सीख सिखाय रह्यो अपनी-सी, दुरमति तें नटरै॥
मद माया-बस भयौ बावरौ, हरिजस नहिं उचरै।
करि परपंच जगत के डहकै अपनौ उदर भरै॥
स्वान-पूंछ ज्यों होय न सूधौ, कह्यौ न कान धरै।
कह नानक, भजु रामनाम नित, जातें काज सरै॥

३. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितिधीः मुनिरुच्यते॥
... —
समं शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः॥

४. जो नर दुख में दुख नहीं मानै।
सुख-स्नेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै॥
नहिं निन्दा, नहिं अस्तुति जाके, लोभ-मोह-अभिमाना।
हरष सोक तें रहै नियारो, नाहिं मान-अपमाना॥
आसा-मनसा सकल त्यागि कै, जगतें रहै निरासा।
काम-क्रोध जेहि परसै नाहिन, तेहिं घट ब्रह्म निवासा॥
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्ही, तिन्ह यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोबिंद सों, ज्यों पानी संग पानी॥

सांसारिक बाह्याडम्बरों से दूर होकर ही भगवान् का ध्यान करने का नानक ने उपदेश दिया है।[१]

उस परम पुरुष सत करतार की आरती कितनी भव्य है?—आकाश में चन्द्रमा और सूर्य रूप थाल हैं और उस में तारागण दीपक की भाँति जगमगा रहा है। मलयगिरि की सुगन्धि लिये समीरण चँवर झल रहा है। समस्त वनराजि इस आरती के उल्लास में फूल उठी है। अनहद की भेरी बज रही है। इस विराट् आरती में चर-अचर, अपने आनन्दोल्लास के द्वारा योगदान कर रहे हैं।[२]

जहाँ भी, जो कुछ चाँदनी है, वह उसी परम प्रभु के रूप की परिछाहीं हैं और उसके चरणों में एक लोभी भौंरे की तरह नानक मकरन्द पान कर रहे हैं।[३]

गुरु नानक अपने गोविन्द के श्रीचरणों पर बलि जाते हैं, साथ ही प्रभु का जो प्रेमपूर्वक नाम जपता है, उनपर भी वे न्योछावर जाते हैं। जिन साहिब ने ऐसे मजीठ रंग में इस काया को रंग दिया है, जिसके समान रंग कहीं दिखाई नहीं पड़ता, उन्हीं के श्रीचरणों में लीन होने के लिए बराबर नानक ने विनय किया है।[४]

---

१. गऊ बिरामण को कर लम्बहु, गोबरि तरणु न जाई।
धोती टीका तै जयमाली धानु बलेच्छाँ खाई।।
अन्तरि पूजा पढ़हि कतेबा, संजमु तुरका भाई।
छोड़िले पाखण्डा नाम लइए जाँहि तरन्दा।।

२. गगन में थाल रविचन्द दीपक तारका मंडल जनक मोती।
धूप मल्लान लो पवण चँवरो करे सकल बनराइ फुलत जोति।।
कैसे आरती होई भव खण्डना तेरी आरती अनहदा शब्द बाजत भेरी।
सहस तव नैन नन नैन हैं तोहि को सहस मूरति नना एक तोही।
सहस पद बिमल नन एक पद गन्ध बिनु सहस तव गन्ध इव चलत मोही।।

३. सब महं ज्योति ज्योति है सोई।
तिसके चानणि सब महिं चानणि होइ।।
हरि चरण कमल मकरंद लोभित मनो
अनदिनो मोहिं आन्हि प्यासा।
कृपा जल देहि नामक कौ
होई जाते तेरे नाइ वासा।।

४. हौं कुरबाने जाउँ पियारे, हौं कुरबाने जाउँ।।रेक।।
हौं कुरबाने जाउँ तिन्हाँ दे, लैन ओ तेरा नाउँ।
लैन जो तेरा नाउँ तिन्हाँ दे, हौं सद कुरवाने जाउँ।।१।।
काया रँगन जेथिये प्यारे, पाइये नाउँ मजीठ।
रँगनवाला जे रँगे साहिब, ऐसा रंग न डीठ।।२।।
जिनके चोलड़े रत्तड़े प्यारे, कंत तिन्हाँ दे पास।
धूड़ तिन्हाँ कीज मिले जीको, नानकदी अरदास।।३।।

इस प्रकार, हम पाते हैं कि सन्त नानक का सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य जीवन समग्र रूप से भक्ति-रसामृत में सराबोर है।

सन्त दादू

कबीर के ब्रह्मलीन होने के २५ वर्ष बाद दादू का जन्म चैत्र सुदी अष्टमी गुरुवार विक्रम-संवत् १६०१, तदनुसार सन् १५४४ ई०,को हुआ था। अहमदाबाद में लोदीराम नामक एक नागर ब्राह्मण के घर इनका जन्म हुआ था। कहा जाता है कि निःसन्तान लोदीराम ने एक दिन साबरमती नदी में बहते हुए सन्दूक में ज्योतिर्मय बालक दादू को पाया था और घर पर लाकर उनका पालन किया था। ग्यारह वर्ष की अवस्था में भगवान् श्रीकृष्ण ने दादू को एक वृद्ध महात्मा के रूप में दर्शन देकर तत्त्वज्ञान का उपदेश किया।

पण्डित सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि दादू मोची थे और काशी के पास जौनपुर के रहनेवाले थे। दादू मोट सीकर अपनी जीविका चलाते थे।[1] किन्तु दादू जाति के धुनियाँ थे या ब्राह्मण, यह प्रश्न बहुत महत्त्व का नहीं है। हाँ, दादूपन्थियों का यह आग्रह भी कि दादू ब्राह्मण थे, निस्सार है।

दादू अकबर के समकालीन थे और दोनों की भेंट एक बार फतेहपुर सीकरी में हुई थी, जिसमें खुदा की जाति, रंग आदि सम्बन्धी अकबर के प्रश्न पर दादू ने स्पष्ट उत्तर दिया था—'इसक' ही अल्लाह की जाति, रंग है।[2]

उन्नीस वर्ष की अवस्था में दादू घर त्याग कर जयपुर के साँभर गाँव में रहने लगे। रूई धुनकर जीवन-निर्वाह करते हुए बारह वर्ष तक घोर तपश्चर्या एवं योग-साधन के द्वारा उन्होंने पूर्ण सिद्धि प्राप्त की। जयपुर, मारवाड़, बीकानेर आदि कई स्थानों से इन्होंने विचरण किया।

मूर्त्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा, छापा-तिलक आदि को दादू सच्चे साधु के लिए निष्प्रयोजन बतलाते थे और अन्तर्ज्योति के ध्यान, अभ्यास, स्मरण एवं सहज भाव से ईश्वर में लय रहना ही सर्वोपरि साधन मानते थे। वे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, शान्ति, अपरिग्रह, क्षमा, दया, त्याग, तितिक्षा, वैराग्य, समता, निरभिमानता

---

१. साचा समरथ गुरु मिला, तिन तत दिया बताय।
दादू मोट महाबली, सब घृत मथि कर खाय॥

२. इसक अलह की जाति है, इसक अलह का अंग।
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग॥

एवं आर्जव आदि सात्त्विक गुणों की प्राप्ति के लिए साधन करनेवाले को ही 'साधु' मानते थे।[१]

दादू ने अपने मत को कभी सम्प्रदाय-विशिष्ट का रूप नहीं दिया, किन्तु इनके शिष्यों ने 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' का नाम दे दिया। उनके प्रमुख शिष्य जनगोपालदास ने लिखा है कि दादू को हिन्दू या मुसलमान-धर्म का कोई भी आग्रह नहीं था, न अपने को षड्दर्शन के भीतर ही बाँधने की प्रवृत्ति थी। इनके सत्संग-स्थान का नाम 'अलख-दरीबा' था। शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे; जैसे जनगोपालदास, सुन्दरदास, क्षेत्रदास, माधोदास, हरिदास आदि हिन्दू और काजी कदम, शेख, फरीद, काजी मुहम्मद, दरवेश, रज्जब आदि मुसलमान।

दादू-पन्थियों के 'परब्रह्म-सम्प्रदाय' में प्रमुख १५२ शिष्य हुए, जिनमें १०० तो विरक्त हो गए, किन्तु शेष ५२ शिष्यों ने मठ स्थापित किये, शिष्य बनाये। दादू विवाहित थे, इनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। दादू का परमपद-प्रयाण नारायण नामक कसबे में संवत् १६६० में हुआ। यह स्थान जयपुर से बीस कोस दूर है, और दादूपन्थियों का प्रधान अखाड़ा है।

दादू-पन्थ में दो प्रकार के साधु हैं—एक गेरुआ वस्त्रधारी विरक्त साधु और दूसरे सादे सफेद कपड़ोंवाले नागा, जो सभी प्रकार के लोक-व्यवहार का कार्य करते हैं। ये दोनों ही आजीवन शादी नहीं करते और गृहस्थों के लड़कों को चेला मूँड़कर अपना वंश तथा पन्थ चलाते हैं। ये लोग पहले तो मुरदा जंगल में रख आते थे, पर अब चिता लगाकर जला दिया करते हैं। दादू की भाषा अनेक भाषाओं की खिचड़ी है। वे विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे।

परमात्मा की महिमा और उसके सच्चिदानन्दस्वरूप का ध्यान, निर्गुण आराधना, अजपाजाप, धारणा और समाधि, अनहद नाद की ध्वनि सुनना और

---

१. सोई साध-सिरोमणी, गोबिन्द गुण गावै।
राम भजै विषिया तजै, आपा न जनावै ॥ टेक ॥
मिथ्या मुख बोलै नहीं, पर-निंद्या नाहीं।
औगुण छोड़ै गुण गहै, मन हरिपद माँही ॥१॥
निरबैरी सब आतमा, पर आतम जानै।
सुखदाई समता गहै, आपा नहिं आनै ॥२॥
आपा पर अंतर नहीं, निरमल निज सारा।
सतबादी साचा कहै, लै लीन बिचारा ॥३॥
निरभै भज न्यारा रहै, काहू लिपत न होई।
दादू सब संसार में, ऐसा जन कोई ॥४॥

तल्लीन होना, अमृत-बिन्दु का पान और परमानन्द की प्रीति और अन्त में परमेश्वर से अरस-परस और ब्रह्म-साक्षात्कार, यही है दादू-पन्थ की प्रमुख साधन-प्रणाली।[1]

दादू की वाणियों की एक विलक्षण विशेषता यह है कि जहाँ कहीं भी नया प्रसंग चला है, किसी नवीन 'अंग' की चर्चा शुरू हुई है, उन्होंने वन्दना की है और वह वन्दना सर्वत्र एक समान, एक रूप है।[2] अपने गुरुदेव के सम्बन्ध में दादू ने लिखा है—स्वयं श्रीगुरुदेव ने कृपा करके मुझे दर्शन दिया और हृदय से लगा लिया। उस दयाल की कृपा हुई और अन्तस्तल का दीपक जल उठा।[3] गुरु के स्पर्श-मात्र से अन्तर की आँखें खुल गईं, मूक वाचाल हो गया, वाणी फूट पड़ी।[4] दादू के मतानुसार मृत्यु के हाथ से छुड़ानेवाले श्रीगुरुदेव ही हैं।[5] गुरु-मुख से 'शब्द' सुनाते ही सहज रूप से चित्त की धारा प्रीतम की ओर मुड़ गई।[6] इसी कारण मन, वचन और क्रिया में एक दिव्य पवित्रता स्वयं आ गई और सभी विकार छूट गये। तभी जाकर दादू 'निर्मल प्राणी पंच करि' भवसिन्धु से पार जा सके।[7] प्राणी पंच का अर्थ है, पंच प्राण—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान।

---

१. सूरति रूप शरीर का, पिव के परसैं होइ।
दादू तन मन एक रस, सुमिरन कहिये सोइ॥
अंतर गति हरि-हरि करै, तब मुख की हाजत नाहिं।
सहजै धुनि लागी रहै, दादू मन ही माँहि॥
सबद अनाहद हम सुन्या, नख सिख सकल शरीर।
सब घटि हरि-हरि होत है, सहजै हीं मन थीर॥
मस्तक मेरे पाँव धरि, मंदिर माहैं जाव।
सइयाँ सोवैं सेज पर, दादू चम्पैं पाँव॥

२. नमो नमो निरंजन, नमस्कार गुरु देवतः।
वंदन सर्व साधवा प्रणाम पारंगतः॥

३. (दादू) सतगुरु सूँ सहजैं मिल्या, लीया कंठ लगाइ।
दाया भई दयाल की तब दीपक दिया जगाइ॥

४. दादू सतगुरु अँजन बाहि करि, नैन पटल सब खोले।
बहरे मानों सुनने लागे, गूंगे मुख सूँ बोले॥

५. दादू काढ़े काल मुख, सूवनहुँ शब्द सुनाइ।
दादू ऐसा गुरु मिल्या, मिरतक लिये जिलाइ॥

६. साचा सहजैं ले मिलैं, शब्द गुरु का ज्ञान।
दादू हमकुँ ले चला, जहँ प्रीतम अस्थान॥

७. निर्मल गुरु का ज्ञान गहि, निर्मल भगति बिचार।
निर्मल पाया प्रेमरस, छूटे सकल विकार॥
निर्मल तन मन आतमा, निर्मल मनसा सार।
निर्मल प्राणी पंच करि, दादू लंघे पार॥

दादू ने सद्गुरु का लक्षण बतलाया है कि जो रामरस में माता हो, एकक्षण में 'पार' उतार दे और प्रभु का दर्शन करा सके, वही 'सतगुरु' है।[१] उसी गुरुदेव ने कृपाकर मुझमें ही छिपे हुए मेरे स्वामी को परदा हटाकर दिखला दिया—'मुझ में ही मेरा धरनी, पड़दा खोलि दिखाइ', और फिर अपने ही हाथों से प्रेमरस का प्याला भर-भरकर मुझे पिलाया—'भरि-भरि प्याला प्रेम-रस अपने हाथ पिलाइ।' प्रेम और आनन्द का जो अपार पारावार उमड़ा हुआ चला आ रहा है, यह गुरु की कृपा का ही फल है, नहीं तो दसों दिशाओं में सरोवरों के भरे रहने पर भी गुरु-कृपा के अभाव में पंछी जल नहीं पी पाता।[२]

दादू ने सतगुरु का स्थान सीस पर और प्रभु का स्थान हृदय में बताया है। इसे मीराँ ने भी कहा है—'संत सदा सीस पर राम हृदय होई।' इस सिद्धान्त का बड़े स्पष्ट शब्दों में दादू ने विवेचन किया है।[३] यहाँतक कि डंके की चोट दादू ने कहा है कि लाख चन्द्रमा और करोड़ों सूरज उग जायँ, परन्तु बिना गुरु के अन्धकार जा नहीं सकता।[४]

सतगुरु ने कृपा कर अपनाया और अन्तर में 'लौ' लगा दी। उस 'लौ' का स्वरूप 'निरंजन नाँव' है। जो युग-युग से हृदय-गुफा में छिपा हुआ था, जिसे गुरु ने अपने हाथों से उद्घाटित कर दिया; और फिर अब क्या है, वह 'निरंजन नाँव' सहज रूप से प्राणों के साथ क्रीडा कर रहा है।[५]

---

१. सतगुरू ऐसा कीजिये, राम रस्सा माता।
पार उतारै पलक में, दरसन का दाता।।

२. सरवर भरिया दह दिसा, पंखी प्यासा जाइ।
दादू गुरु परसन्द बिना, क्यों जल पीवै आइ।।

३. सनमुख सहगुरु साध सूं, साईं सूं राता।
दादू प्याला प्रेम का, महा रस्सि माता।।
साईं सूं साचा रहै, सतगुरु सूं सूरा।
साधू सूं सनमुख रहै, सो दादू पूरा।।

४. इक लाख चंदा आणि घर, सूरज कोटि मिलाइ।
दादू गुरु गोबिन्द बिना, तौ भी तिमिर न जाइ।।

५. मन-माला तहँ फेरिये, जहँ आपै एक अनन्त।
सहजैं सो सतगुरु मिल्या, जुग-जुग फाग वसन्त।।
सतगुर माला मन दिया, पवन सुरति सूं पोइ।
बिन हाथों निसदिन जपै, परम जाप यूं होइ।।

हृदय-मन्दिर के भीतर जो सेवा-बन्दगी चल रही है, वह गुरु-कृपा का ही प्रसाद है—जो सहज रूप में अनायास ही गुरु-कृपा से प्राप्त हुई है।[1] मसीत और देहरा का अर्थ है मस्जिद और देवालय। अन्तर में जो मस्जिद और देवालय है, जहाँ आठ पहर चौंसठ घड़ी पूजा चलती है, गुरु-कृपा से ही उसके पट खुलते हैं। क्योंकि, गुरु भी अन्तर में ही हैं, शिष्य भी अन्तर में ही है और उपदेश भी भीतर-ही-भीतर हो रहा है।[2] वहाँ सारा कार्य आँखों के इशारे से होता है—बोलने की कोई आवश्यकता नहीं।[3]

गुरु के शब्द-स्पर्श से भृंगी-कीट-न्याय के अनुसार शिष्य की आत्मा तद्रूप हो जाती है।[4] गुरु-कृपा से जब अन्तर के पट खुले, तो प्रभु पर सारी साधना का भरोसा छोड़कर साधक निश्चिन्त हो गया।[5]

अन्त में, उस 'निरंजन नाँव' को—जो गुरु-मुख से प्राप्त होकर हृदय-कमल के कोण में क्रीड़ा कर रहा है—दादू ने बड़े उल्लास से स्मरण किया है।[6] वह 'निरंजन-नाव' ही संसार में व्याप्त सभी प्रकार का मन्त्र है, और सभी मन्त्रों का सरताज है—जो गुरु के द्वारा है उपदेश 'दष्या' के रूप में मिलता है।[7] 'दष्या' का अर्थ है—दीक्षा।

---

१. यह मसीत यह देहरा, सतगुर दिया दिखाइ।
भीतरि सेवा-बंदगी, बाहरी काहे जाय॥

२. मंझे चेला मंझे गुर, मझे ही उपदेस।
बाहरि ढूंढै बावरे, जटा बँधाये केस॥

६. गुर पहली मन सों कहै, पीछे नैंन की सैंन।
दादू सिष समझै नहीं, कहि समझावै बैंन॥

४. दादू सुध बुधि आतमा, सतगुर परसै आइ।
दादू भृंगी कीट ज्यों, देखत ही ह्वै जाइ॥

५. बिन ही कीया होय सब, सन्मुख सिरजनहार।
दादू करि करि वो मरै, सिष शाखा सब भार॥

६. नाँव रे, नाँव रे, सकल सिरोमणि नाँव रे।
मैं बलिहारी नाँव रे॥
नूर दिखावै, तेज मिलावै, जोति जगावै नाँव रे।
सब सुख दाता, अमृतराता, दादू माता नाँव रे॥

७. अबिचल मंत्र, अमर मंत्र, अछय मंत्र,
सजीवन मंत्र, सबीरज मंत्र, सुंदर मंत्र।
अभय मंत्र, राम मंत्र, निज सारा।
सिरोमणि मंत्र, निरमल मंत्र निराकार॥
अलख मंत्र, अकल मंत्र, अगाध मंत्र, अपार मंत्र, अनंत मंत्र राया।
नूर मंत्र, तेज मंत्र, जोति मंत्र, प्रकाश मंत्र, परम मंत्र पाया॥
उपदेश दष्या दादू गुर पाया।

गुरु-मुख से प्राप्त 'राम'-नाम के 'सुमिरन' के सम्बन्ध में दादू ने बड़े ही ओज-भरे, आनन्द-भरे शब्दों में गाया है।[१] उस सुमिरन' का रूप स्थिर करते हुए दादू ने बताया है कि हरि हृदय से कभी न भूलें, प्रत्येक श्वास उनका नाम रटे; क्योंकि 'राम के नाँव' के विना इस जीव की जलन कभी शान्त नहीं हो पाती।[२]

यह 'नामस्मरण' जबतक नियम पालन के लिए होता है, तबतक तो यह हठयोग के ही समान है। नाम का स्मरण दर्द के साथ प्रीतिपूर्वक करने से ही उसका चमत्कार सामने आता है।[३] इस 'नाम' को मथने से ही अन्तर में 'रस' उमड़ता है और पिय का परिचय होता है।[४]

नाम के सहारे ही साधक भँवर कमल को खोलकर आनन्द-सरोवर में किल्लोल करने लगता है और उसका रोम-रोम उस रस में सराबोर हो जाता है।[५] अपने अन्तर में ही प्रीतम के दरस-परस का आनन्द पाकर थके हुए दादू ने उस

---

१. एकै अच्छर पीव का, सोई सतकरि जाणि।
राम नाम सतगुर कह्या, दादू सो परवाणि॥

२. दादू नाका नाँव है, हरि हिरदै न बिसारि।
मूरति मन माहैं बसै, साँसै साँस सँभारि॥
एक राम के नाँव बिन, जिव की जरनि न जाइ।
दादू केते पचि मुए, करि करि बहुत उपाइ॥

३. नाँव सपीड़ा लीजिये, प्रेम भगति गुन गाइ।
दादू सुमिरण प्रीति सौं, हेत सहित ल्यौ लाइ॥
नाँव लिया तब जाणिये, जे तन मन रहै समाइ।
आदि अन्त मध एकरस, कबहूँ भूलि न जाइ॥
नाँव न आवै तब दुखी, आवै सुख सन्तोष।
दादू सेवक राम का, दूजा हरख न सोक॥

४. रंग भर खेलौं पीउ सौं, तहँ कबहूँ न होय वियोग।
आदि पुरष अन्तरि मिल्या, कुछ पूरबले संयोग॥
सब सेजौं साईं बसै, लोग बतावैं दूरि।
निरंतर पिउ पाइया, तीन लोक भरपूरि॥

५. भँवर कँवल रस बेधिया, सुख सरवर रस पीव।
तहँ हंसा मोती चुणैं, पिउ देखे सुख जीव॥
भँवर कँवल रस बेधिया, गहे चरण कर हेत।
पिउ जी परसत ही भया, रोम-रोम सब सेत॥

बेहोशी में गाया है—जब सर्वत्र एक का ही तेजःपुंज अणु-अणु में भरा दिखाई पड़ता है।[१]

'परचा को अंग' में ही दादू ने सूफी साधना की चार मंजिलों की ओर इशारा किया है। वे चार मंजिलें हैं—शरीअत, अर्थात् कर्मकाण्ड; तरीकत, अर्थात् उपासनाकाण्ड; हकीकत, अर्थात् ज्ञानकाण्ड और मारिफत; अर्थात् विज्ञान। इनका वर्णन जिन साखियों में है, वे विशुद्ध फारसी में हैं। हकीकत का बयान करते हुए दादू ने लिखा है—हकीकतवालों का प्रियतम वह प्रभु है, जो खूबों में खूब और तेज का ऐसा पुंज है कि जिसको देखकर आँखें झप जाती हैं, और जो प्रेम के नशे में चूर प्रेमी मस्तों के प्याले की अचरज-भरी शराब है।[२]

परिचय के बाद 'साक्षात्कार' हुआ, तो प्राणों में एक और ही नशा छा गया; क्योंकि उसके 'स्पर्श' से प्राण बेसुध हैं।[३] इस प्रकार, दादू का अस्तित्व, उनका आत्मा उसी तरह परमात्मा में विलय हो गया, जिस प्रकार पानी में नमक घुल जाता है।[४]

उसके बाद बाहर का सारा खटराग मिट जाता है—अनायास ही अन्तर की आराधना जग पड़ती है।[५]

---

१. सदा लीन आनन्द में, सहज रूप सब ठौर।
दादू देखैं एक कौं, दूजा नाहीं और॥
नैनहुँ आगे देखिये, आतम अन्तर सोइ।
तेजपुंज सब भरि रह्या, झिलमिल झिलमिल होइ॥

२. यके नूर खूबे खूबाँ दीदनी हैराँ।
अजब चीज खुर्दनी प्यालै मस्ताँ॥

३. बिगसि-बिगसि दरसन करै, पुलकि-पुलकि रसपान।
मगन गलित माता रहै, अरस-परस मिलि प्रान॥
निरखि-निरखि निज नाँव ले, निरखि-निरखि रस पीव।
निरखि-निरखि पिव कौं मिलै, निरखि-निरखि सुख जीव॥

४. सूरति रूप सरीर का, पिव के परसैं होइ।
दादू तन-मन एक रस, सुमिरन कहिये सोइ॥
पर आतम सौं आतमा, ज्यों पानी में लूंण।
दादू तन-मन एक रस, तब दूजा कहिये कूंण॥

५. अंतरगति हरि-हरि करै, तव मुख की हाजत नाँहि।
सहजैं धुनि लागी रहै, दादू मन ही माँहि॥
अलख नाँव अंतरि कहै, सब घट हरि-हरि होइ।
दादू पाणी लूंण ज्यूं, नाँव कहीजै सोइ॥

दादू पढ़े-लिखे नहीं थे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; परन्तु उनके कई पदों में उपनिषदों की बातें ज्यों-की-त्यों आ गई हैं। इसका एकमात्र कारण उनका आत्मज्ञान का अनुभव ही है। एक स्थान पर उन्होंने विश्वव्यापक निरंजन प्रभु के निराकार रूप का बड़े सरल शब्दों में वर्णन किया है।[१]

परिचय एवं साक्षात्कार के बाद 'सुहाग की घड़ी' आती है, जिसका सभी सन्तों ने बड़े ही उल्लास से स्वागत किया है। दादू भी सभी बीच के पर्दे हटा कर पुष्प के वास और दूध के घी की तरह प्रियतम के साथ मिलकर एक हो जाते हैं।[२]

दादू के मतानुसार, वस्तुतः होशियार वही है, जो अपनी खबर से बेखबर है, अपने तन-मन की सुधि बिसर गया है; क्योंकि वह मालिक की याद के नशे में मतवाला बनकर झूमता रहता है।[३]

हरि-रस को पीनेवाला हर घूँट में नई प्यास पाता है और पीता ही जाता है; क्योंकि 'ज्यों-ज्यों पीवै रामरस त्यों-त्यों बढ़ै पियास'। फिर, पीनेवाला चाहता है कि रोम-रोम में रसना होती, तब कुछ पीते बनता, एक रसना से कितना रस पीया जाय ?[४]

---

१. सबै दिसा सो सारिखा, सबै दिसा मुख बैन।
सबै दिसा स्रवनहुँ सुणै, सबै दिसा कर नैन॥
सबै दिसा पग सीस है, सबै दिसा मन चैन।
सबै दिसा सन्मुख रहै, सबै दिसा अंग ऐन॥
बिन स्रवनहुँ सबकुछ सुनै, बिन नैनहुँ सब देखै।
बिन रसना मुख सबकुछ बोलै, यह दादू अचरज पेखै॥

२. मस्तक मेरे पाँव धरि, मंदिर माहैं आव।
सइयाँ सोवैं सेज पर, दादू चम्पै पाँव॥
प्राण हमारा पीव सौं, यौं लागा सहिये।
पुहुप-बास घृत दूध में, अब कासौं कहिये॥
जब दिल मिला दयाल सौं, तब सब पड़दा दूरि।
ऐसे मिलि एकै भया, बहु दीपक पावक पूरि॥

३. दादू माता प्रेम का, रस में रह्या समाइ।
अंत न आवै जब लगै, तब लगि पीवत जाइ॥
दादू हरि-रस पीवताँ, कबहूँ अरुचि न होइ।
पीवत प्यासा नित नया, पीवनहारा सोइ॥

४. रोम-रोम रस पीजिए, एतो रसना होइ।
दादू प्यासा प्रेम का, यों बिन तृपति न होइ॥

प्रायः सभी सन्तों ने अपने को पतिव्रता-नारी के रूप में देखा है और इस भावना के द्वारा अपनी साधना और सम्बन्ध को दृढ किया है। दादू की साखियों में भी 'पतिव्रता को अंग' प्रमुख रूप से वर्णित है और कहना तो यह चाहिए कि इन साखियों में दादू का दर्दभरा दिल विरह में तड़पता दीख रहा है—एकमात्र प्रियतम के प्रेम-रस में माती पतिव्रता सुन्दर सेज सजाकर प्रिय के आगमन की व्याकुलतापूर्ण प्रतीक्षा कर रही है और प्रिय पर ही तम-मन-धन से कुर्बान है।[1]

यह सुन्दरी और कन्त तथा सेज क्या है ? दादू ने बताया है कि तेजःपुंज की सुन्दरी, तेजपुंज का कन्त और तेजपुंज की सेज है।[2]

प्रायः सभी सन्तों के जीवन में अनन्त मिलन के उल्लास तथा अनन्त विरह की वेदना का अपूर्व सम्मिश्रण देखने में आता है। एक ही क्षण में दादू कहते हैं—अन्तर में साईं से मिलकर बावला हो रहा हूँ; क्योंकि 'सेज हमारी पीव है।' फिर, दूसरे ही क्षण प्रिय-विरह की अपार पीडा में तड़पते हुए दादू

---

१. बाला सेज हमारी रे तूं आवहौं वारी रे दासी तुम्हारी रे।
तेरा पंथ निहारूँ रे, सुन्दर सेज सँवारूँ रे, जियरा तुम पर वारूँ रे॥
तेरा अँगना पेखों रे, तेरा मुखड़ा देखों रे, तब जीवन लेखों रे।
मिली सुखड़ा दीजे रे, यह लाहा लीजे ,रे, तुम देखें जीजे रे॥
तेरे प्रेम की माती रे, तेरे रंगड़े राती रे, दादू वारणे जाती रे।

पिव सौं खेलौं प्रेमरस, तौ जियरै जक होइ।
दादू पावै सेज-सुख, पड़दा नाहीं कोइ॥
तन-मन मेरो पीव सौं, एक सेज-सुख सोइ।
गहिला लोग न जाणहीं, पचि-पचि आपा खोइ॥
पतिवरता गृह आपणे, करै खसम की सेव।
ज्यों राखे त्यों ही रहै, आग्याकारी टेव॥
पीव न देखा नैन भरि, कंठि न लागी धाइ।
सूती नहिं गलबाँहि दे, बीचहि गई बिलाइ॥
सखी सुहागिनि सब कहैं, प्रगट न खेलै पीव।
सेज सुहाग न पाइये, दुखिया मेरा जीव॥
सुन्दरि कौं साईं मिला, पाया सेज-सुहाग।
पिय सौं खेलैं प्रेमरस, दादू मोटे भाग॥

२. तेज पुंज की सुन्दरी, तेज पुंज का कन्त।
तेज पुंज की सेज परि, दादू बन्या बसन्त॥
साईं सुन्दरि सेज परि, सदा एक रस होइ।
दादू खेलै पीव सौं ता समि और न कोइ॥

कह उठते हैं—विरहिणी विरहाग्नि में तड़प-तड़प कर मर रही है, पर प्रिय बात तक नहीं पूछता।[१]

विरह की इस 'ताला बेली' में पिय का पन्थ निहारते जीवन का सुनहला यौवन खिसक गया; परन्तु प्रीतम न आये। जीवन की हरियाली साध न मिटी।[२]

साईं और विरहिणी का प्रेम उतना ही प्यारा है, जितना जीव को देह प्यारी है और जीव देह को प्यारा है। एक दूसरे के विना अपूर्ण है। जीव शरीर के विना अपने को व्यक्त नहीं कर सकता और शरीर जीव के विना मुरदा है, दादू का प्रेम वैसा ही है।[३]

एक दूसरे स्थान पर दादू ने कहा है कि प्रेम की परिणति इसमें है, कि आशिक माशूक हो जाय और माशूक आशिक।[४] प्रेम की यह चरमावस्था है, जब आशिक ही माशूक हो जाय और माशूक ही आशिक हो जाय—जब जीव के प्रेम के लिए प्रभु दर-दर ठोकरें खाते फिरें। प्रेम की इस अवस्था का आनन्द सन्तों के अनुभव के अन्तर्गत है। वस्तुतः, यह विरह और मिलन की परमावधि है, जिसमें विरह भी है और मिलन भी—नित्य विरह और नित्य मिलन का अमर संयोग है। इसलिए, दादू ने इश्क का दर्द वरदान में माँगा है।[५]

---

१. दादू तलफै पीड़ सों, बिरही जन तेरा।
   सिसकै साईं कारणै, मिलि साहिब मेरा॥
   तलफि-तलफि विरहनि मरै, करि-करि बहुत बिलाप।
   विरह अगिनि में जल गई, पीव न पूछै बात॥
   विरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
   जीव लगावै सुरति को, पंच पुकारै पीव॥

२. ना बहु मिलै न मैं सुखी, कहु क्यों जीवन होइ।
   जिन मुझको घायल किया, मेरी दारू सोइ॥
   दादू दरुनै दरदवंद, यह दिल दरद न जाइ।
   हम दुखिया दीदार के मिहरबान दिखलाइ॥

३. देह पियारी जीव कौं, जीव पियारे देह।
   दादू हरिरस पाइये, जे ऐसा होय सनेह॥

४. आशिक मासूक ह्वै गया, इसक कहावै सोइ।
   दादू उस मासूक का, अल्लहि आसिक होइ॥
   राम बिरहनी ह्वै गया, विरहनि ह्वै गइ राम।
   दादू बिरहा बापुरा, ऐसे करि गया काम॥

५. हमकूं अपणाँ आप दे, इस्क मुहब्बत दर्द।
   सेज सुहाग सुख प्रेम-रस, मिलि खेलैं लापर्द॥

उस 'अनदेखे' के लिए जो दिल में दर्द है, वही सन्तों के प्राण का अवलम्ब है।[1] ज्ञान, ध्यान, जप, तप, साधन, योग आदि इस विरह के समक्ष तुच्छ हैं।[2] किन्तु, इस इश्क के लिए तो सीस सौंपना पड़ता है।[3]

प्रेम के मार्ग में लोक-परलोक दोनों की परवाह नहीं रहती और सारी सुध-बुध बिसर जाती है। इस मार्ग पर जिन्होंने दृढता से पैर रखे, उनके मन, प्राण और सुरति उसी में विलीन हो गई और फिर मालिक का आला नूर उनके सामने इस प्रकार प्रकट हुआ कि फिर वे एक क्षण के लिए भी उससे अलग न जा सके।[4]

विरह की ज्वाला में जलते रहने में भी एक आनन्द है, जो प्रेमियों के भाग्य में ही बदा है।[5] सावन-भादों के महीने में जब समस्त पृथ्वी हरी साड़ी पहनकर पिय से मिलन का साज सजाती है, तब विरही दादू के प्राणों से पुकार निकल रही है—दादू के रोम-रोम प्यासे हैं, हे सिरजनहार, उमड़कर राम-घटा बरसाओ।[6]

भक्तों के सर्वस्व भगवान् ही होते हैं, दादू की भी यही तो टेक है।[7] और, परम प्रियतम को भुलाया कैसे जा सकता है?[8] यदि साईं की सेवा न कर सके, तो कलि में जन्म लेना बेकार है।[9]

---

१. देखे का अचरज नहीं, अनदेखे का होइ।
देखे ऊपर दिल नहीं, अनदेखे कौं रोइ॥

२. ज्ञान, ध्यान सब छाड़ि दे, जप, तप, साधन, जोग।
दादू विरहा ले रहै, छाड़ि सकल रस भोग॥

३. जब लगि सीस न सौंपिये, तब लग इसक न होइ।
आसिक मरते ना डरैं, पिया पियाला सोइ॥

४. आशिकाँ रह कब्ज-कर्दः, दिल वजाँ रत्फन्द।
अलह आले नूर दीदम, दिले दादू बन्द॥

५ प्रीत जो मेरे पीव की, पैठी पिंजर माहिं।
रोम-रोम पिण्ड-पिण्ड करै, दादू दूसर नाहिं॥
देह-गेह नहिं सुद्धि सरीरा। निसिदिन चितवत चातक नीरा।
दादू ताहि न भावत आना। राम बिना भई मृतक समाना॥

६ आसा अपरंपार की, बसि अंबर भरतार।
हरे पटम्बर पहिरि करि, धरती करै सिंगार॥
रोम-रोम रस-प्यास है, दादू करहिं पुकार।
राम घटा दल उमँगि कर, बरिसहु सिरजनहार॥

७. तूंही मेरे नख-सिख सकल सरीरा। तूंही मेरे जियरे ज्यूं जलनीरा॥
तुम्ह बिन मेरे और कोइ नाहीं। तूंही मेरी जीवनि दादू माँहीं॥

८. क्यों बिसरै मेरा पीव पियारा। जीव की जीवन प्रान हमारा॥
क्योंकर जीवै मीन जल बिछुरैं। तुम बिन प्राण सनेही॥

९. साईं केरी सेवा न कीन्हीं। इहि कलि काहे कूं आयौ॥
दादू दास भजन भरि लीजै। सुपिने जग डहकायौ॥

सन्त रैदास

मीराँ के मार्गदर्शक, कबीर के समकालीन, धन्ना-पीपा के संगी, प्रातः-स्मरणीय, चिरवन्दनीय सन्त रैदास के जन्म की तिथि अबतक सन्दिग्ध-सी है। कबीर के समसामयिक होने से इनका समय ईसवी-सन् की पन्द्रहवीं शताब्दी ठहरता है। रैदास का जन्म काशी में रघु चमार के यहाँ हुआ था। कथा है कि पूर्वजन्म में ये ब्राह्मण थे, और स्वामी रामानन्द के शाप से चमार के घर उत्पन्न हुए। बचपन से ही रैदास साधु-सेवी थे। इस कारण इनके पिता रघु इनपर क्रुद्ध रहा करते थे। बात यहाँ तक बढ़ी कि उन्होंने रैदास को घर से निकाल दिया और खर्च के लिए एक पैसा भी नहीं दिया। अपनी ओछी जाति के विषय में स्वयं रैदास ने अपने दोहे में स्वीकार किया है।[१]

रैदास अलमस्त फक्कड़ थे। लोक-परलोक की निन्दा-स्तुति की ओर उनकी दृष्टि गई ही नहीं। वे मस्त होकर 'सहज सुन्न' की भट्ठी में बैठकर कलाली से प्याला भर-भरकर माँगते हैं।[२]

रैदास के घर में एक उनकी सती-साध्वी स्त्री थी। जो कुछ घर में होता, उसे तैयार कर पति की सेवा में ला रखती। रैदास एक मामूली झोपड़े में रहते थे। जूते बनाकर अपनी जीविका चलाते थे। पास में ही श्रीठाकुरजी की चतुर्भुजी मूर्त्ति थी। जूते टाँकते जाते और प्रेमविह्वल वाणी में अपने हरि की ओर निहार-निहार कर गाते रहते—'अब कैसे छूटे नाम रट लागी।'[३]

---

१. जाति ओछी, करम भी ओछा, ओछा किसब हमारा।
नीचे से प्रभु ऊँच कियो है, कह रैदास चमारा॥

२. देहु कलाली एक पियाला। ऐसा अवधू है मतवाला॥टेक॥
हे रे कलाली तैं क्या किया। सिर का-सा तैं प्याला दिया॥१॥
कहै कलाली प्याला देऊँ। पीवनहारे का सिर लेऊँ॥२॥
चंद-सूर दोऊ सनमुख होई। पीवै प्याला मरै न कोई॥३॥
सहज सुन्न में भाठी सखे। पावै रैदास गुरुमुख दखे॥४॥

३. अब कैसे छूटे नाम रट लागी॥टेक॥
प्रभु जी, तुम चन्दन, हम पानी। जाकी अँग-अँग बास समानी॥१॥
प्रभुजी, तुम घन बन, हम मोरा। जैसे चितवत चन्दन चकोरा॥२॥
प्रभु जी, तुम दीपक हम बाती। जाकी जोति बरै दिन राती॥३॥
प्रभु जी, तुम मोती, हम धागा। जैसे सोनहि मिलत सुहागा॥४॥
प्रभु जी, तुम स्वामी, हम दासा। ऐसी भगति करै रैदासा॥५॥

कहते हैं, इनकी आर्थिक दुरवस्था को देखकर मालिक को दया आई और उन्होंने साधु रूप में रैदासजी के पास आकर उन्हें पारस पत्थर दिया और उससे जूता सीने के लोहे के एक औजार को सोना बनाकर दिखा भी दिया। रैदास ने उस पत्थर को लेने से इनकार कर दिया, परन्तु साधु भी एक हठी था। लाचार होकर रैदास ने कहा, नहीं मानोगे, तो छप्पर में खोंस दो। तेरह महीने पीछे जब वही साधु फिर आया और पत्थर का हाल पूछा, तब रैदास ने कहा कि जहाँ खोंस गये थे, वहीं देख लो, मैंने उसे छुआ भी नहीं है। यही है परम त्याग की भावना। सच है, जबतक नदी समुद्र को नहीं पा लेती, तभी तक तेजी के साथ आगे बढ़कर मिलने को उत्सुक रहती है। सागर-संगम के बाद नदी की उत्सुकता कहाँ रह जाती है? उसी तरह प्रभु को पा लेने पर जगत् के सुख मिथ्या हैं।[१]

'भक्तमाल' में रैदास के सम्बन्ध में कई बातें लिखी हैं। उनमें एक वह भी है कि चित्तौड़ की रानी ने, जो एक बार काशी-यात्रा के लिए आई थी, रैदास की महिमा सुनकर उनको अपना गुरु बनाया। रैदास के सम्बन्ध में चमत्कार की कई बातें प्रख्यात हैं, जिनसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भगवान् के दरबार में जाति-पाँति का उतना महत्त्व नहीं है, जितना भक्ति और लगन का है। रैदास ने अपने पद में राम से जाति-कुजाति का भेद छोड़कर अपना लेने की भाव-भरी विनती की है।[२]

काशी में एक ब्राह्मण देवता एक रघुवंशी क्षत्रिय की ओर से रोज गंगाजी को फूल, पान और सुपारी चढ़ाया करते थे। एक दिन वह रैदास की

---

१. गाइ गाइ अब का कहि गाऊँ, गावहार को निकट बताऊँ ॥टेक॥
जब लग है या तन की आसा, तब लग करै पुकारा।
जब मन मिल्यौ, आस नंहि तन की, तब को गावनहारा ॥१॥
जब लग नदी न समुद समावै, तब लग बढ़ै हँकारा।
जब मन मिल्यौ राम-सागर सों, तब यह मिटी पुकारा ॥२॥
जब लगि भगति मुकति की आसा, परम तत्त्व सुनि गावै।
जहँ-जहँ आस धरत है यह मन, तहँ-तहँ कछू न पावै ॥३॥
छाड़ै आस निरास परमपद, तब सुख सति कर होई।
कह रैदास जासों और करत है, परम तत्त्व अब सोई ॥४॥

२. रामा हो जगजीवन मोरा। तूं न बिसारि राम मैं जन तोरा। टेक॥
संकट सोच पोच दिनराती। करम कठिन मोरि जाति कुजाति ॥१॥
हरहु विपति भावै करह सो भाव। चरण न छाड़ौं जाव सो जाव ॥२॥
कह रैदास कछु देहु अलंबन। बेगि मिलो जनि करो बिलंबन ॥३॥

दूकान पर जूता खरीदने के लिए पहुँचे। बातों में गंगा-पूजा की चर्चा भी चल पड़ी। रैदास ने कहा कि मैं यों ही आपको जूता देता हूँ, कृपा कर आप एक मेरी सुपारी गंगा मैया को चढ़ा देना। ब्राह्मण देवता ने उसे जेब में रख लिया और दूसरे दिन जब नहा-धोकर रैदास की सुपारी चढ़ाई, तो गंगाजी ने पानी में से हाथ ऊँचा कर उस सुपारी को ले लिया। यह तमाशा देखकर वह बेचारा ब्राह्मण आश्चर्य-चकित हो रहा। परम भक्त रैदास की भक्ति से तो प्रभु प्रसन्न हैं ही, उनकी जाति तो प्रारब्धवश है।[1]

पूरे १२० वर्ष के होकर रैदास ब्रह्मपद में लीन हो गये। उनके पन्थ के अनुयायियों का विश्वास है कि वह सदेह गुप्त हो गये। गुजरात, बिहार आदि कई प्रान्तों में लाखों आदमी ऐसे हैं, जो अपने को 'रैदासी' कहते हैं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी इसका समर्थन किया है—"सन्त रविदास के अनुयायियों को बहुधा 'रविदास' वा 'रैदास' कहते हुए आज तक भी सुना जाता है। इस कारण, अनुमान किया जा सकता है कि मीराँबाई के गुरु सम्भवतः रैदासी सम्प्रदाय के कोई ऐसे आचार्य रहे होंगे, जो उनके समय में जीवित रहे होंगे।"[2]

रैदास निर्गुणवादी सन्त थे। उन्होंने अपने प्रभु को 'माधो' नाम से सम्बोधित किया है। प्रेम और वैराग्य की तो वे मूर्त्ति ही थे। श्रीहरि के चरणों का अनन्य आश्रय ही उनकी साधना का प्राण है।[3]

---

१. कवन भगति ते रहै प्यारो पाहुनो रे।
घर घर देखों मैं अजब अभावनो रे ॥टेक॥
मैला मैला कपड़ा केता एक धोऊँ।
आवै आवै नींदहि कहाँ लों सोऊँ ॥१॥
ज्यों ज्यों जोड़ै त्यों त्यों फाटै।
झूठै सबनि जरै उड़ि गये हाटै ॥२॥
कह रैदास परो जब लेख्यौ।
जोइ जोइ कियो रे, सोइ सोइ देख्यौ ॥३॥

२. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा', पृ० २४२।

३. जो तुम तोरौ राम मैं नाहिं तोरौं। तुमसे तोरि कवन से जोरौं ॥टेक॥
तीरथ बरत न करौं अँदेसा। तुम्हरे चरन कमल क भरोसा ॥१॥
जहँ-जहँ जाओं तुम्हरी पूजा। तुम-सा देव और नहिं दूजा ॥२॥
मैं अपनो मन हरि सों जोर्‌यों। हरि सों जोरि सबन सौं तोर्‌यों ॥३॥
सबही पहर तुम्हारी आसा। मन क्रम बचन कहै रैदासा ॥४॥

रैदास की जीवनधारा भी बड़ी ही सरल और स्वाभाविक है; उनका कहना है कि चंचल मन से भगवान् की भक्ति नहीं की जा सकती। भगवद्भक्ति की पूर्णता के लिए भगवान् और भक्त में तादाम्य-सम्बन्ध होना अनिवार्य है।[१]

जबतक मन में किसी प्रकार का विकार भरा है, जबतक वह पूर्णतः स्थिर नहीं हो गया, तबतक हम 'निर्मल' भक्ति की साधना से कोसों दूर हैं। ऐसी अवस्था में अन्तरात्मा भक्ति से सराबोर हो तो कैसे? वह उज्ज्वल ज्योतिर्मय चिर-प्रकाशमय सवितृदेव सर्वत्र और सर्वदा प्रकाशमान हैं; परन्तु जिसे आँखें ही नहीं, वह देखे तो किस प्रकार? हृदय निर्मल हुए विना भक्ति की साधना हो नहीं सकती और जबतक भक्ति नहीं, तबतक हरि के साथ 'गँटजोर' हो ही कैसे सकता है?[२]

भक्त की और भगवान् की जब आँखें चार होती हैं, तभी 'प्रीति' का उदय होता है। भगवान् तो अहर्निश हमारी ओर देख रहा है, परन्तु हमारी आँखें जगत् के विपयों पर लुभाई हुई हैं-यही सारी गड़बड़ी है। घट-घट में वह साईं रमण कर रहा है, कोई भी सेज सूनी नहीं है—अन्तर का पट हटाकर देखना हम जानते ही नहीं, फिर 'मिलन' हो तो कैसे? सन्तों ने अपने शरीर को दीपक बना और उसमें रक्त का तेल ढाल एवं प्राणों की बत्ती लगा, उसके द्वारा अपने 'पिय' का सुन्दर मुख देखा है। यही अमृत-रस का पान है।[३]

---

१. नरहरि! चंचल है मति मेरी, कैसे भगति करूँ मैं तेरी।
तू मोहे देखै, हौं तोहि देखूँ, प्रीति परस्पर होई।
तू मोहि देखै, तोहि न देखूँ, यह मति सब बुधि खोई॥
सब घटि अन्तर रमसि निरन्तर, मैं देखन नहिं जाना।
गुन सब तोर, मोर सब औगुन, कृत उपकार न माना॥
मैं तैं तोरि-मोरि असमझि सों, कैसे करि निस्तारा।
कह रैदास कृष्ण करुणामय! जै जै जगत-अधारा॥

२. ऐसो कछु अनुभव कहत न आवै, साहिब मिलै तो को बिलगावै॥
सबमें हरि है हरि में सब हैं, हरि अपनो जिन जाना।
साखी नहीं और कोइ दूसर, जाननहार सयाना॥१॥
बाजीगर सों राचि रहा, बाजी का मरम न जाना।
बाजो झूठ साँच बाजीगर, जाना मन पतियाना॥२॥
मन थिर होइ तो कोइ न सूझै, जानै जाननहारा।
कह रैदास बिमल विवेक सुख, सहज सरूप सँभारा॥३॥

३. जब राम नाम कहि गावेगा, तब भेद अभेद समावैगा॥टेक॥
जे सुख हैं या रस के परसे, सो सुख का कहि गावैगा॥१॥
गुरु परसाद भई अनुभौ मति, विस अमरित सम धावैगा॥२॥
कह रैदास मेटि आपा-पर, तब वा ठौरहिं पावेगा॥३॥

सरलहृदय रैदास को अपने हरि की पूजा करने के निमित्त कोई उपयुक्त सामग्री नहीं मिल पाती, जिसके सहारे अर्चन कर सकें। दूध जूठा रहता है इसलिए कि गाय के थन को ही बछड़ा जूठा कर देता है। फूल को भँवरा जूठा कर देता है और जल को मछली अपवित्र बनाये रखती है। मलयागिरि चन्दन को सर्प जूठा कर देता है और फलों को विहग; तो एक मन-रूपी पूजा की सामग्री को छोड़कर कौन ऐसा फल-फूल, जल-दूध या चन्दनादि हैं, जिनसे भगवान् की पूजा की जाय ?[१]

'राम का प्यारा' कोई भक्त जब रैदास की कुटिया पर आ जाता है, तब रैदास के रोम-रोम हर्ष से प्रफुल्लित हो उठते हैं। भक्तों के हरिगुण गाने से घर-आँगन परम पावन हो जाता है। वे स्वयं भवसिन्धु से पार हो जाते हैं और दूसरों को भी पार उतारते हैं; उनके मिलन से कोटि जन्मों का बन्धन कट जाता है।[२]

भक्त-हेतु जिस प्रभु ने क्या-क्या नहीं किया, रैदास के अपराधों को क्षमा करने में वे क्यों देर कर रहे हैं ?[३]

रैदास अत्यन्त उदार और उच्च विचारवाले सन्त थे। तर्क-वितर्क द्वारा प्राप्त कोरे ज्ञान पर इन्हें किंचित् विश्वास नहीं था। इनके सच्चे हृदय में सत्य की पूर्ण अनुभूति के प्रति दृढ आस्था थी। इनका दृढ मत था कि 'राम' का परिचय पाने पर ही 'दुविधा' नष्ट होती है। इस पिण्ड का रहस्य जब मनुष्य को ज्ञात हो

---

१. राम मैं पूजा कहाँ चढ़ाऊँ। फल अरु फूल अनूप न पाऊँ ॥टेक॥
थन तर दूध जो बछरू जुठारी। पुहुप भँवर जल मीन बिगारी ॥१॥
मलयागिरि बेधियो भुअंगा। विष अमृत दोउ एकै संगा ॥२॥
मन ही पूजा मन ही धूप। मन ही सेऊँ सहज सरूप ॥३॥
पूजा-अरचा न जानूँ तेरी। कह रैदास कवन गति मोरी ॥४॥

२. आज दिवस लेऊँ बलिहारा। मेरे घर आया राम का प्यारा ॥टेक॥
आँगन बँगला भवन भयो पावन। हरिजन बैठे हरिगुन गावन ॥१॥
करूँ डंडवत चरन पखारूँ। तन-मन-धन उन ऊपरि वारूँ ॥२॥
कथा कहैं अरु अरथ विचारैं। आप तरैं औरन को तारैं ॥३॥
कह रैदास मिलैं निज दासा। जनम जनम कै काटैं पासा ॥४॥

३. यह अँदेस सोच जिय मेरे। निसिबासर गुन गाऊँ तेरे ॥टेक॥
तुम चिन्तित मेरी चिन्तहु जाई। तुम चिन्तामनि हौ इक नाई ॥ ॥
भगत हेत का का नहिं कीन्हा। हमरी बेर भए बलहीना ॥२॥
कह रैदास दास अपराधी। जेहि तुम द्रवौ सो भगति न साधी ॥३॥

जाता है, तब वह जल के ऊपर तैरनेवाले तूँबे की भाँति संसार ले अलिप्त रहते हुए 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' विचरण करता रहता है।[१]

'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने रैदास के सिद्धान्त के रूप में यह मत प्रतिपादित किया है—"जबतक यह 'परम वैराग्य' की स्थिति प्राप्त नहीं होती, तबतक 'भगति' के नाम पर की जानेवाली सारी साधनाएँ केवल भ्रम-मात्र कही जा सकती हैं। स्वर्ण की शुद्धि उसके पीटे जाने, काटकर टुकड़े-टुकड़े किये जाने, सुरक्षित रखे जाने वा केवल तपाये जाने से ही नहीं, प्रत्युत उसका संयोग सोहागे के साथ कर देने पर हुआ करती है। उसी प्रकार हमारे भीतर का निर्मलत्व भी सत्य की पूरी पहचान हो जाने पर ही निर्भर है। जबतक नदी जाकर समुद्र में प्रविष्ट नहीं हो जाती, तबतक उसमें बेचैनी रहा करती है। समुद्र के साथ मिलन होते ही उसकी 'पुकार' मिट जाती है और उसे शान्ति तथा स्थिरता का अनुभव होने लगता है। तभी उसके जीवन की सफलता की सिद्धि होती है। हमारे भीतर भ्रम का दोष आ गया है, जिस कारण हम अपनी वास्तविक दशा की पहचान नहीं कर पाते। हम उस राजा की भाँति दुःख का अनुभव करते रहते हैं, जिसने स्वप्न में अपने को भिखारी समझकर अनेक प्रकार के कष्ट झेले और जिसकी स्थिति उनके जग जाने पर ही सुधर सकी।[२]

सन्त रैदास ने 'सत्य' या 'राम' का स्वरूप निर्देशित करते हुए कहा है—'जस हरि कहिये, तस हरि नाहीं, है अस जस कछु तैसा।' अर्थात्, हरि अनुपम तथा अनिर्वचनीय हैं। फिर भी वह आदि, मध्य और अन्त, यानी सर्वत्र एकरस हैं और चर-अचर आदि सभी में एक ही प्रकार किसी मणिमाला में अनुस्यूत सूत्र की भाँति ओत-प्रोत हैं। सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् का मूल आधार होने पर भी ब्रह्म सदा उनसे अप्रभावित रहता है। वही एकमात्र अक्षर तथा अविनश्वर है, और हम सबके भीतर वही जीवात्मा के रूप में स्थित है, किन्तु भ्रम के कारण हमें उसका बोध नहीं होता—"सब घट अन्तर रमसि निरन्तर, मैं देखन नहिं जाना।"

हरि का वास्तविक परिचय प्राप्त करने का रहस्य केवल सच्ची 'सोहागिन' ही जानती है, जो अपना तन-मन सभी कुछ न्योछावर कर देती है। वह

---

१. पार गया चाहै सब कोई। रहि उर वार पार नहिं होई ॥टेक॥
पार कहै उर वार से पारा। बिन पद परचे भ्रमै गँवारा ॥१॥
पार परम पद मंझ मुरारी। तामें आप रमै बनवारी ॥२॥
पूरन ब्रह्म बसै सब ठाईं। कह रैदास मिलै सुख साईं ॥४॥

२. आ० परशुराम चतुर्वेदी : 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा', पृ० २४५।

अभिमान का अत्यल्प अंश भी अपने अन्तर में नहीं रखती है, और न कभी भेद-भाव को ही अपने हृदय में प्राश्रय देती है। वह नित्य अपनी रसना से सदा-सर्वदा 'राम-रसायन' का पान करती रहती है। किन्तु, जो अपने पति के साथ नित्य-निरन्तर एकभाव से एकरस प्रेम नहीं करती, वह स्त्री सदा दुःखिनी तथा 'दुहागिनि' हुआ करती है।[१]

सन्त रैदास ने साधक को ब्रह्म में लीन होकर पूर्ण सिद्ध या सन्त बनने के लिए आठ साधन बताये हैं, जिसका नाम 'अष्टांग-साधन' के रूप में प्रचलित है। उस 'अष्टांग-साधन' के आठ अंग इस प्रकार हैं—१. गृह, २. सेवा, ३. सन्त—ये तीन उसके बाह्य अंग हैं और ४. नाम, ५. ध्यान, तथा ६. प्रणति—उसके भीतरी अंग हैं और ७. प्रेम तथा ८. विलय अथवा समाधि उसकी अन्तिम अवस्था को सूचित करनेवाले हैं। इस 'अष्टांग-साधन' का प्रत्येक अंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसके अनुसार गार्हस्थ्य-जीवन में लगे हुए लोग भी क्रमशः अग्रसर होते हुए एक अनुपम आदर्श की स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। सन्त रैदास को एक दीर्घ-कालीन जीवन की साधना का अनुभव प्राप्त था और इन्होंने सभी प्रकार की चेष्टाएँ करके अपना मार्ग अन्त में निश्चित किया था।[२]

रैदास ने अपने प्रियतम का वतन पा लिया है, जो बेगमपुर शहर में है। वहाँ किसी प्रकार की चिन्ता नहीं, कोई क्षोभ, कष्ट नहीं है। उस शहर के जितने वासी हैं, सभी रैदास के मित्र हैं।[३]

---

१. सो कहा जानै पीर पराई। जाके दिल में दरद न आई ।।टेक।।
दुखी दुहागिनि होइ पियहीना, नेह निरति करि सेवन कीना।
स्याम-प्रेम का पन्थ धुहेला चलन अकेला कोई संग न हेला ।।१।।
सुख की सार सुहागिनि जानै, तन-मन देय अन्तर नहिं आनै।
आन सुनाय और नहिं भाषै, राम-रसायन रसना चाखै ।।२।।
खालिक तौ दरमन्द जगाया, बहुत उमेद जबाब न पाया।
कह रैदास कवन गति मेरी, सेवा बन्दगी न जानूँ तेरी ।।३।।

२. नाभादास : 'भक्तमाल', छप्पय ५९ का भाव।

३. अब हम खूब वतन घर पाया। ऊँचा खेड़ा सदा मेरे भाया ।।टेक।।
बेगमपुर सहर का नाम। फिकर अँदेश नहीं तोहि ग्राम। १।।
नहिं जहाँ साँसत लानत मार। हैफन खता न तरस जवाल ।।२।।
आव न जान रहम औजूद। जहाँ गनी आप बसै माबूद ।।३।।
जोई सैलि करै सोई भावै। महरम महल में को अटकावै ।।४।।
कल रैदास खलास चमारा। जो उस सहर सो मीत हमारा ।।५।।

महात्मा सुन्दरदास

"ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध—
धिय : स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥"[1]

'समाधि में स्थित होकर मुनिजन तथा समुद्र में मिल जाने पर नदियाँ जैसे अपने नाम और रूप को गँवा देते हैं, उसी प्रकार अतिशय आसक्तिवश मुझमें ही निरन्तर मन लगे रहने के कारण भक्तों को अपने शरीरादि की भी कोई सुधि नहीं रहती ।

ऐसे ही आत्मदर्शी, हरिचरणानुरागी सन्तों में महात्मा सुन्दरदासजी का एक विशिष्ट स्थान है । ज्ञान की चरम अवस्था में पहुँचकर सन्त का जीवन हरिमय हो जाता है, उसका खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना सब हरि के लिए, हरि में हरि के पूजा स्वरूप होता है और उसमें प्रेरणा का अमृत भी हरि के द्वारा ही अहर्निश प्राप्त होता रहता है । सन्त का मुख सदा हरि की ओर ही होता है और वह उस अपरूप को निरख-निरखकर अलमस्त डोलता है; जहाँ आँखें गईं, वहीं हरि का रूप; जहाँ हृदय गया, वहीं हरि का स्पर्श; जहाँ पैर पहुँचे, वहीं हरि का मन्दिर । सन्त तो सदैव चाहे जहाँ रहें, हरि के मन्दिर में हरि की सेवा में ही रहता है ।[2]

महात्मा सुन्दरदासजी दादूदयाल के प्रमुख शिष्यों में थे । इनके जन्म का वृत्तान्त बड़ा ही कुतूहलपूर्ण है । इन्हें अपने गुरु की आज्ञा से सती के गर्भ में रहना पड़ा । कहानी यों है कि दादू के एक प्रेमी शिष्य जग्गाजी आमेर नगर में अपने वस्त्र बुनने के लिए सूत माँग रहे थे और अपनी उमंग में यह हाँक लगा रहे थे—'दे

---

१. श्रीमद्भागवत, (११।१२।१२)

२. बैठत रामहि ऊठत रामही ।
बोलत रामहि राम रह्यो है ॥
जीमत रामहि पीवत रामही ।
धामहि रामहि राम गह्यो है ॥
जागत रामहि सोवत रामही ।
जोवत रामहि राम लह्यो है ॥
देतहु रामहि लेतहु रामही ।
'सुन्दर' रामहि राम रह्यो है ॥

आई सूत, ले माई पूत।' एक क्वाँरी कन्या ने सूत लाकर कहा—'लो बाबाजी सूत।' जग्गाजी ने कहा—'लो माई पूत।' गुरु को जब यह हाल मालूम हुआ, तब वे चिन्ता में पड़े; क्योंकि उस कन्या के भाग्य में बालक लिखा नहीं था। अन्त में जग्गा जी को ही उसके गर्भ में जाकर वास लेना पड़ा और दिन पूरे होने पर उस कन्या के गर्भ से चैत सुदी नवमी, संवत् १६५३ में उन्होंने जन्म लिया।

संवत् १६५९ में जब सुन्दरदास की अवस्था छह वर्ष की थी, दादूजी इनके घर पधारे। पिता ने बालक को उनके चरणों में डाल दिया। दादूदयाल उनके सिर पर हाथ फेरते हुए बोले, यह बालक बड़ा ही सुन्दर है। सुन्दर नाम आपका तभी से पड़ा। गुरु के दर्शनमात्र से सुन्दरदास का अन्तर्ज्ञान चमक उठा। अपने गुरुदेव दादूदयाल की महिमा सुन्दरदास ने बड़े ही ओजःपूर्ण प्रभावशाली शब्दों में गाई है : मैं संसार-सागर में बहा जा रहा था। श्रीगुरुदेव ने दया कर मुझे अपनाया और हाथ पकड़कर उससे काढ़ लिया। कानों में शब्द सुनाकर सारे सन्देह मिटा दिये। शब्द की टेर सुनते ही अन्तर में पूर्ण ब्रह्म का दिव्य तेज जगमगा उठा, सारे वाद-विवाद छिन्न-भिन्न हो गये, जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। श्रीगुरुदेव ने मुझ पर ऐसी अपार कृपा की है, और वे श्रीगुरुदेव दादूदयाल मेरे हृदय में विराज रहे हैं।[1]

ऐसे कृपालु गुरुदेव का गुण गाते-गाते सुन्दरदास थके नहीं। उनका यह दृढ विश्वास था कि गुरु की कृपा के विना ज्ञान, ध्यान, भक्ति, आत्मज्ञान, प्रेम, नेम, शील, सन्तोष तथा मुक्ति असम्भव है। इस पिण्ड में गुरुदेव ने प्राण डाला है।[2]

---

१. भव जाल में बहि जात हुते जिन, काढ़ि लियो अपनो कहि दादू।
और सँदेह मिटाय दिये सब, कानन टेर सुनाय के नादू॥
पूरन-ब्रह्म प्रकाश कियो पुनि, छूटि गयो यह बाद-बिबादू।
ऐसी कृपा जू करी हम ऊपर, सुन्दर के उर हैं गुरु दादू॥

२. गुरु बिन ज्ञान नहिं, गुरु बिन ध्यान नहिं,
गुरु बिन आतम बिचार न लहतु है।
गुरु बिन प्रेम नहिं, गुरु बिन नेम नहिं,
गुरु बिन सीलहु सन्तोष न गहतु है॥
गुरु बिन प्यास नहिं, बुद्धि को प्रकाश नहिं,
भ्रमहू को नास नाहिं, संसेई रहतु है।
गुरु बिन बाट नहिं, कौड़ी बिन हाट नहिं,
सुन्दर प्रकट लोक, बेद यों कहतु है॥

इस प्रकार के अपने सद्‌गुरु से सुन्दरदासजी ने छोटी अवस्था में ही दीक्षा और आध्यात्मिक उपदेश पा लिया था। पूर्वजन्म के संचित ज्ञान के कारण वे बड़े ही चमत्कारी और होनहार बालक थे। वे बालब्रह्मचारी बालकवि और बालयोगी थे। प्रखर प्रतिभा, भगवत्प्रेम और उदीयमान मेधा वा उत्तम स्वभाव के कारण ये सब के प्रिय हो गये। जगजीवनजी के सत्संग से इन्होंने दादू-वाणी सीख ली और कुछ कविता भी करने लगे। ग्यारह वर्ष की अवस्था में जब ये जगजीवनजी के साथ वार्षिक दादूद्वारे के मेले पर नारायणे आये, तब दादू-शिष्य पाटवी गरीबदासजी की अशिष्टता से क्षुब्ध हो सुन्दरदासजी ने तुरन्त ही कविता बनाकर गरीबदास का दर्प-दमन कर दिया।[1]

'Seeking nothing, give thyself utterly to Me.'

—Srikrishna Prem.

दार्शनिक सत्य की, सन्त शिव की और प्रेमी सुन्दर की उपासना करता है। दार्शनिक सन्त और प्रेमी अपनी साधना की अनन्यता द्वारा परमात्मा की अनुभूति तथा प्रभु के दर्शन की ओर ही बढ़ते हैं; प्रत्येक हृदय में प्यास तो है हरि के दरस-परस की ही। उसी हरि को दार्शनिक परम सत्य मानकर परात्पर ब्रह्म परमात्मा कहता है, उसी हरि को सन्त चराचर की एकमात्र गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण और सुहृद् मानकर 'अनन्त देवेश जगन्निवास' कहकर पुकारता है और उसी हरि को प्रेमी परम प्रियतम, हृदयवल्लभ, प्राणधन, जीवनसर्वस्व मानकर 'मेरे प्यारे' के नाम से पुकारता है। दार्शनिक प्रभु की सर्वव्यापी विराट् सत्ता की अनुभूति में अपने भीतर एक दिव्य ज्ञान का प्रकाश पाकर कह उठता है—'अब हम अमर भये न मरेंगे।' सन्त पग-पग पर प्रभु की अपार अहेतुकी दीनवत्सलता के दर्शन कर रोम-रोम से उसी दयामय हरि के चरणों में प्रणिपात करके आर्त्तभाव से पूछता है—'जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ?' प्रेमी अणु-अणु में बिखरी हुई, इठलाती हुई, छलकती हुई, अपने प्राणप्यारे की परम प्रिय माधुरी का दर्शन कर, उस रस में सराबोर होकर, प्यारे के अधरों का अमृत पीकर दिव्य उन्माद की अर्द्धचेतन दशा में गा उठता है—'बसो मेरे नैनन में नँदलाल।'

---

१. क्या दुनिया अस्तूत करैगी, क्या दुनिया के रूसे से।
साहिब सेती रहो सुरखरू, आतम बखशै ऊसे से॥
क्या किरपन मूंजी की माया, नांव न होय नपूंसे से।
कड़ा वचन जिन्होंने भाष्या, बिल्ली मरे न मूसे से॥
मानूं तो मरजाद रहैगी, नहिं मानूं तो घूसे से।
जन सुन्दर अलमस्त दिवाना, शब्द सुनाया घूसे से॥

इस प्रकार, दार्शनिक का उच्चतम चिन्तन, सन्त की उच्चतम साधना और प्रेमी की उच्चतम संवेदना एक साथ ही हरि के चरणों में जाकर निर्वाण प्राप्त करती है; क्योंकि सभी का परम लक्ष्य तो वही 'एक' है, सारी सृष्टि, समस्त चराचर, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड की भूख-प्यास एकमात्र प्रभु के प्रसाद के लिए ही है। सभी उन्हीं के चरणों की छाया के लिए तड़प रहे हैं। अनादि काल से हमारी राधा-रूपिणी आत्मा की एकमात्र लालसा अपने परम प्रियतम कृष्ण से मिलने की ही है और भिन्न-भिन्न मार्ग से, अबेर-सबेर हम सभी पहुँचेंगे हरि में ही। 'मम वर्त्मनि-वर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।' हरि के सिवा कोई गति है ही नहीं। जीव का शिवत्व हरि को पाये बिना सम्भव नहीं। बन्धनों में प्राण घुट रहे हैं; इसीलिए तो हम सभी ज्ञात-अज्ञात रूप से हरि की ओर जाने के लिए ही बाध्य हो रहे हैं। बाध्य इसलिए कि इस पथ में आये बिना कहीं एक क्षण की शान्ति मिलती ही नहीं, उसके सिवा कोई गति नहीं ; और—

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥'

इसको जानकर ही हम मृत्यु को लाँघ जाते हैं, परमपद-प्राप्ति के लिए दूसरा मार्ग है ही नहीं।

जहाँ 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' की दिव्य अनुभूति है, वहीं 'वासुदेवः सर्वमिति' की भी। और, जहाँ यह अनुभूति है, वहाँ दार्शनिक, सन्त और प्रेमी घुले-मिले हैं। कोरे बौद्धिक व्यायाम को भारत ने कभी दर्शन के रूप में स्वीकार नहीं किया, केवल विचार के द्वारा हम जी नहीं सकते। मनुष्य केवल मस्तिष्क नहीं है, प्रभु ने उसे हृदय भी दिया है। पूर्ण मनुष्य तो विचार और अनुभूति को मिलाकर ही है।

भारतीय दर्शन ने इसीलिए हृदय का बहिष्कार नहीं किया। हमारी उप-निषदें केवल 'नेति-नेति' पर जाकर रुक नहीं गईं, अपितु आगे बढ़कर हृदय को रस में सराबोर कर देनेवाला मनोहर मन्त्र 'रसो वै सः' भी सुनाया और इसे सुनकर हमारी समस्त आत्मा रोम-रोम प्रभु के रस में डूब गई, और उस रसानुभूति में हम अपने भीतर साक्षात् प्रभु के दिव्य आलिंगन का मधु पीकर गा उठे : 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा।' (बृ० उप०, १।४।८)

सन्तवर सुन्दरदास ने स्पष्ट शब्दों में इस भाव की व्याख्या की है—भीतर पैठकर दिल के भीतर गोता मारने पर दिल में ही साईं के दर्शन होते हैं।

वह तो हमारे भीतर ही प्राणों में विहर रहा है; बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं। दिल की सेज पर जीवात्मा जगकर हरि के अधरों का अमृत पीकर छका हुआ है। परम प्रेम की यही दिव्य मनोहर क्रीड़ा है।[१]

सबको हटाकर, सारे स्तरों को बेधकर, मैं अपने भीतर आनन्द का जो लहराता हुआ अपार पारावार देख रहा हूँ; इस उमड़ते हुए अनन्त प्रेम-समुद्र में जो मैं डुबकी लगा रहा हूँ, माधुर्य की इस अजस्र अविरल महावृष्टि में नहा रहा हूँ, यही हमारे प्रियतम की प्रीति है, हम उसके हृदय के वासी हैं। अब हम एक क्षण के लिए प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य के इस पारावार को छोड़ नहीं सकते; अब छोड़कर जाना ही कहाँ है? जबतक नहीं देखा था, जबतक प्राणों को इसकी रसानुभूति नहीं हुई थी, तभी तक संसार के भिन्न-भिन्न पदार्थों में सुख ढूँढ़ रहा था। परन्तु, वहाँ सुख कैसे मिलता? सारा सुख तो केन्द्रीभूत होकर यहाँ लहरा रहा है। यही वह 'प्रिय' है, जिसे जन्म-जन्मान्तरों से हम खोज रहे थे, जिसे पाने के लिए वन-पर्वत, गिरि-गह्वर छानते फिरे। हमारा दिलवर तो हमारे भीतर ही छिपा था, वही तो हमारी 'आतमा' है, वह हमारे प्राणों का प्राण, हृदय का सर्वेश्वर, हमारा सर्वस्व है, उसके बिना हम एक क्षण भी प्राण कैसे धारण कर सकते हैं?

आत्मदर्शन की अनुभूतिमूलक यह मधुर प्रणाली भारतीय जीवन की एक महान् विशेषता है। महात्मा सुन्दरदासजी शान्तरस के और दर्शनविषयक ग्रन्थों के अप्रतिम रचनाकार हुए हैं। 'सुन्दरग्रन्थावली' में इनके ४२ ग्रन्थों का संकलन है, जो 'राजस्थान रिसर्च सोसायटी, २७ वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता' से प्रकाशित है। इसमें चौबोला, गूढार्थ, आद्यक्षरी, आद्यन्ताक्षरी, मध्याक्षरी, चित्रकाव्य, कविता-लक्षण, नवनिधि, अष्टसिद्धि, संख्यावाचक अध्यातम छप्पय, अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, संस्कृत-श्लोक, अन्त समय की साखी इत्यादि वा देशाटन के सवैये आदि हैं। इनकी सम्पूर्ण रचनाएँ भगवत्सम्बन्धी और शान्त रस, भक्ति, ज्ञान, शिक्षा, नीति और सदुपदेशों से भरी हैं, साथ ही उनमें निकृष्ट रस-नायिकाभेद आदि का प्रबल खण्डन है। ऐसी सुन्दर और इतनी बहुल रचना करके महात्मा सुन्दरदास ने जगत् का बड़ा भारी उपकार किया है।

---

१. सुन्दर अन्दर पैसि करि, दिल में गोता मारि।
तो दिल ही मैं पाइये, साईं सिरजनिहारि॥
सखुन हमारा मानिये, मत खोजे कहुँ दूर।
साईं सीने बीच है, सुन्नर सदा हजूर॥
सुन्दर दिल की सेज पर, औरति है अरवाह।
इसको जाग्या चाहिये, साहिब बेपरवाह॥

दीखने में प्रायः सीधी-सरल रहने पर भी इसके अनेक स्थल और विषय ऐसे गहन और रहस्यमय हैं कि विना स्पष्ट टीका के साधारण बुद्धि में आशय का प्रवेश नहीं हो पाता। इसीलिए, इसपर 'सुन्दरानन्दी' टीका की गई। किन्तु, 'सुन्दर' को सिंगार की आवश्यकता ही क्या है ?[१]

महात्मा सुन्दरदास का आशय है कि साधन-पथ में अविराम चलते रहने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम जीवन के सत्य-स्वरूप को पहचानें और और संसार के जो नाते हैं, उसके मूल में जो स्वार्थ का सम्बन्ध है, उसे परखें। ऋषियों ने भी डंके की चोट हमें बतलाया है कि सबके लिए सब प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिए ही सब प्यारे होते हैं। जबतक इस काया में चेतन-शक्ति है, तभी तक भाई, बन्धु, हित, नाता का प्यार-दुलार है। इसके लीन होते ही यह देह अपने प्रिय स्वजनों को भी घिनौनी हो जाती है। पिंजरा रह जाता हैं, पंछी उड़ जाता है। इस पंछी के लिए ही लोग हमें प्यार करते हैं, पहचानते हैं। इसलिए, सब कुछ का मोह छोड़कर हमें इस भीतर के पंछी से नाता जोड़ना चाहिए; क्योंकि एकमात्र वही 'अपना' है। अन्यथा पंछी के उड़ते ही माता-पिता, भाई-बहन, आत्मजा और पत्नी-पुत्र सभी करुण विलाप करते हुए कहने लगते हैं कि अभी कुछ क्षण पूर्व जो पिंजरे में पंछी चहचहा रहा था, उड़कर वह कहाँ चला गया ?[२]

संसार के इस अस्थिर रूप को देखते हुए भी हम द्वार-द्वार जूठी पत्तलें चाटते फिरते हैं। आज इसके आगे हाथ फैलाते है, कल उसके आगे। संसार में न जानें कितनों को अपना प्रभु, स्वामी, मालिक तथा अन्नदाता बनाते फिरते हैं। मालिकों की इस जमघट में हमारा एकमात्र सच्चा 'मालिक' न जाने कहाँ भूल गया है। हम इन प्रभुओं की ओर याचना-भरी दृष्टि से देखते हैं, पेट खलाकर माँगते हैं, इनके सामने दीन-हीन, दरिद्र, असहाय, अनाथ, अनाश्रित न जाने क्या-क्या बनते हैं

---

१. 'सुन्दर' जे हैं आपहिं सुन्दर, उनको कहाँ सिंगार।

२. मातु तौ पुकार छाती कूटि कूटि रोवति है,
बाप हू कहत मेरो नन्दन कहाँ गयो।
भैया हू कहत, मेरी बाँह आज दूरि भई,
बहिन कहति मेरो बीर दुःख दे गयो।
कामिनी कहति मेरो सीस सरताज कहाँ,
उन्हें तत्काल रोई माँग सरापा लयो।
'सुन्दर' कहत कोऊ ताहि नाहिं जानि सकै,
बोलत हुतो सो यह छिन में कहाँ गयो।

और इनकी ओर हसरत-भरी दृष्टि से देखते रखते हैं। एक बार इनके मन में विचार उठा कि हम अपने को निहाल मान लेते हैं और अपने भाग्य को सराहते हैं। परन्तु, हाय ! हमें एक क्षण के लिए भी यह होश नहीं आता कि ये मालिक भी जिस एक मालिक से भीख की याचना करते हैं, उसी के सामने हम हाथ न पसारें और संसार में किसी के सामने भी दीन न बनें। दीन तो एकमात्र प्रभु के सामने ही होना चाहिए, संसार के सामने कभी दीनता लानी ही नहीं चाहिए। एकमात्र भगवान् का भरोसा रखते हुए पाँव पसारकर, संसार से आँखें हटाकर निश्चिन्त सोना है। जहाँतक भगवान् के सिवा और किसी का आश्रय है, वहाँतक रोना-ही-रोना है। चिन्ता हमें क्या है, जिसने पेट दिया है, वह भरेगा ही।[1]

महात्मा सुन्दरदासजी का कथन है कि यह कितनी बड़ी भूल या मूर्खता है कि मनुष्य एक क्षण के लिए भी यह सोचता नहीं कि जन्म तो भगवान् ने दिया है, फिर उन्हीं को हमारी सभी चिन्ताएँ भी हैं और हमारा सारा भार उनके ही ऊपर है। हम नाहक अपना भार औरों पर डालते हैं। संसार में कोई हमारा भार क्या उठा सकेगा ? सब अपने ही भार से दबे जा रहे हैं। आदि, मध्य और अन्त में एक मात्र आश्रय हरि का ही है—वह ढलेंगे ही।[2]

सन्त-महात्माओं ने साधना में अनन्यता की स्थापना के लिए सदा पतिव्रता स्त्री का दृष्टान्त सामने रखा है। जैसे पतिव्रता स्त्री स्वप्न में भी अपने पति के सिवा

---

१. होइ निचिन्त करै मन चिन्तहिं,
    चोंच दई सोइ चिन्त करैगो।
पाउँ पसारि पर्‌यो किन सोवत,
    पेट दियो सोइ पेट भरैगो॥
जीव जिते जल के थल के पुनि,
    पाहन में पहुँचाय धरैगो।
भूखहि भूख पुकारत हैं नर,
    'सुन्दर' तू कह भूख मरैगो॥

२. भाजन आप गढ़े जितने,
    भरिहैं भरिहैं भरिहैं भरिहैं जू।
गावत हैं जिनके गुणकूं,
    ढरिहैं ढरिहैं ढरिहैं ढरिहैं जू॥
आदिहु अन्तहु मध्य सदा,
    हरिहैं हरिहैं हरिहैं हरिहैं जू।
सुन्दरदास सहाय सही,
    करिहैं करिहैं करिहैं करिहैं जू॥

किसी दूसरे की ओर नहीं निहारती, उसी प्रकार साधक भी हरि के सिवा किसी दूसरे की ओर देखता तक नहीं—उसकी गति और मति एकमात्र प्राणपति हरि ही हैं। ज्ञान-ध्यान, जप-योग, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत आदि एकमात्र पतिदेव ही हैं।[1]

महात्मा सुन्दरदासजी का मन्तव्य है कि प्राणों की भीषण ज्वाला एकमात्र पतिदेव के दर्शन-स्पर्श से ही मिटेगी। नदी की भूख तो समुद्र के लिए ही है, ताल-तलैयों से उसकी व्यथा कैसे मिटेगी—वह वहाँ क्यों विरमेगी ? प्राणपति हरि को तजकर जो किसी और को भजता है, उसकी भक्ति भक्ति नहीं, उसकी निष्ठा निष्ठा नहीं। प्रेम की गली में तो 'दो' की गुजर ही नहीं है। जो मूर्ख हरि को छोड़कर किसी दूसरे की उपासना करता है, वह घोर अपमान पाता है, जैसे कोई व्यभिचारिणी औरत अपने पति को छोड़ कर अपमानित होती है, उसे तो इस नारकीय जीवन से डूब मरना ही भला है।[2]

भक्त पतिव्रता नारी की भाँति हृदय में हरि के सिवा किसी को लाये ही नहीं, अनन्य भाव से एकमात्र प्रभु को ही भजे, उसी एक के चरणों में अपने हृदय की भेंट चढ़ाये। सिर झुके तो उसी के सामने, नहीं तो टूक-टूक हो जाय। जिन हाथों से माँग में सिन्दूर पड़ा है, उन्हीं हाथों में हृदय सौंप दिया, उसी के चरणों में अपने-आप को उत्सर्ग कर दिया, वह चाहे तारे या मारे। उसकी समस्त क्रिया, सारे व्यापार में ही एक अपार प्यार भरा है, और किसी का आश्रय लेना ही क्यों ? अमृत पीकर फिर हलाहल के लिए क्यों तरसना ?[3]

---

१. पति ही सूं प्रेम होइ पति ही सूं नेम होइ,
पति ही सूं छेम होइ पति ही सूं रत है।
पति ही है जाप जोग पति ही है रस-भोग,
पति ही सूं मिटै सोग, पति ही को गत है।
पति ही है ज्ञान-ध्यान, पति ही है पुन्नदान,
पति ही है तीर्थ-स्थान, पति ही को मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं,
'सुन्दर' सकल विधि एक पतिव्रत है॥

२. जो हरि को तजि आन उपासत सो मतिमंद फजीहत होई।
ज्यूं अपने भरतारहिं छाड़ि भई बिभचारिणि कामिनि कोई॥
सुन्दर ताहि न आदर मान, फिरै बिमुखी अपनी पत खोई।
बूड़ि मरे किन कूप मँझार कहा जग जीवत है सठ सोई॥

३. होइ अनन्य भजे भगवन्तहि और कछू उर में नहिं राखै।
देवि रु देव जहाँ लगि हैं, डर के तिन सूं कहि दीन न भाखै॥
जोगहु जग्य व्रतादि किया तिनको तो नहीं सुपने अभिलाखै।
सुन्दर अमृत पान कियो, तब तो कहु कौन हलाहल चाखै॥

भक्त की एकनिष्ठता, परम अनन्यता के सम्बन्ध में सुन्दरदास का मत है कि अपने पति के अतिरिक्त और कहीं दृष्टि जाते ही पतिव्रता का धर्म भ्रष्ट हो जाता है। वह और की ओर निहारती ही नहीं। उसके हृदय की एकमात्र साध यही है—मेरा प्यारा प्रियतम अपार रूप-सौन्दर्य का अधिष्ठान है और उसे अपनी आँखों में बसाकर पलकों का कपाट जड़ दिया, अब पलकें खोलने का प्रश्न ही शेष न रहा, जो प्रियतम को छोड़ किसी अन्य को देखा जाय।[१]

मेरे सुन्दर! आ जा, मैं तुझे अपनी आँखों में छिपा लूँ, मैं तुझे देखता रहूँ, तू मुझे। न मैं और को देखूँ, न तुझे और को देखने ही दूँ। पत्नी पति के प्रेम पर ऐकाधिपत्य चाहती है, उसी प्रकार भक्त भी चाहता है कि प्रभु की समग्र प्रीति हमें ही मिले और किसी को इसमें भाग मिले ही नहीं। प्रभु तो प्रेम का भिखारी है। प्रेम के एक कण के लिए वह तरसता है और जहाँ हमारे हृदय में उसके लिए टीस उठी, प्रेम की लहर जगी कि वह हमारे भीतर आकर बन्दी हुआ। पर, उसे बुलाने के लिए हममें से कितने तैयार हैं?

महात्मा सुन्दरदास का यह दृढ विश्वास है कि वही प्रियतम सच्चिदानन्द ब्रह्म इस नाम-रूपात्मक जगत् में नाना रूपों में भासता है, वह नामहीन ही सहस्र नामों में खिला हुआ है। दुनिया के जीव को जब जिस प्रकार की मदद की अपेक्षा होती है, वह वैसा ही रूप धारण कर प्रस्तुत होता है। अपने ग्रन्थ 'गुरु-सम्प्रदाय' के अन्तर्गत सुन्दरदास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सब का गुरु एकमात्र परमात्मा है, जिसने यह सारी चित्रकारी की है और वही सबके भीतर विद्यमान भी है। उसीका नाम ब्रह्मानन्द कहा जा सकता है, जो पूर्णानन्द या अच्युतानन्द है।[२]

गुरु के रूप में भगवान् के अवतरित होने की विशद व्याख्या करते हुए महात्मा सुन्दरदास ने अपने दूसरे पद में बताया है कि 'सद्गुरु ब्रह्म-स्वरूप है और वे संसार में शरीर धारण कर ऐसे शब्द प्रकट करते हैं, जिनसे सारे संशय नष्ट हो जाते हैं। हृदय में शीघ्र ही ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। तब हमारा सम्पूर्ण मोहान्धकार उसी प्रकार दूर हो जाता है, जैसे करोड़ों सूर्यों की दीप्ति के सामने अन्धकार का लेशमात्र भी नहीं रह जाता।[३]

---

१. लालन मेरा लाड़िला, रूप बहुत तुझ माहिं।
सुन्दर राखै नैन में, पलक उघारै नाहिं॥

२. 'सुन्दर-ग्रन्थावली' : पु० हरिनारायण शर्मा-सम्पादित, पृ० १९७।

३. वही, पृ० २४४।

सुन्दरदास ने उस परम तत्त्व, प्रियतम प्रभु का कई रूपों में निरूपण किया है, जो प्रभु पूर्णकाम है, सुख का आगार है, वही नित्य-निरंजन हम सबको सिरजने वाला है और वही हम सबका सेवक होकर कीट से कुंजर तक को आहार पहुँचाता है। दुःख को मिटाकर, घोर दारिद्र्य का निवारण कर सायं-प्रातः हर समय हमारी सुध रखता है। ऐसे परम दयालु प्रभु को छोड़कर जो दूसरे की उपासना करते हैं, उनके जीवन को धिक्कार है।[१]

'शून्य', 'परमपद' और 'निर्वाण' आदि नामों से अभिहित होनेवाले उस परम तत्त्व के स्वरूप को महात्मा सुन्दरदास ने प्रेम तथा सहजमय बतलाया है। यही वह परमात्मतत्त्व है, जिसके विषय में बहुधा 'अनिर्वचनीय' शब्द का प्रयोग होता है।[२]

महात्मा सुन्दरदास ने इस ब्रह्मतत्त्व को जगन्मय और जगत् को ब्रह्ममय कहकर एक प्रकार के सर्वात्मवाद का प्रतिपादन किया है :

'तोही में जगत यह, तूही है जगत माहिं,
तौ में अरु जगत में भिन्नता कहाँ रही'

—कहकर उसे एक ही मिट्टी के बने हुए विविध भाण्डों, जल में उठती हुई अनेक तरंगों, एक ईख के रस की बनी हुई भिन्न-भिन्न मिठाइयों, काठ की बनी विविध प्रकार की पुतलियों, लोहे के बने अनेक हथियार तथा स्वर्ण के बने हुए विविध गहनों के उदाहरण देकर उनकी वास्तविक तथा मौलिक एकता का रहस्य बतलाया है। यह भी कहा है कि उक्त दोनों में भेद केवल उतना ही है, जितना जमे हुए घी वा बर्फ तथा पिघले हुए घी या पानी में होता है।[३]

यह नाम-रूपात्मक चराचर जगत् तो एकमात्र उसी ब्रह्म का प्रतिरूप है। जगत् और ब्रह्म के बीच भेद-प्रतीति का कारण अज्ञान के सिवाय दूसरा कोई नहीं हो सकता। वह अनेक नाम-रूपों में 'जगत्' कहलाता है और एक नाम-रूप में 'ब्रह्म' कहलाता है।[४]

---

१. पूरणकाम सदा सुखधाम, निरंजन राम सिरंजन हारो।
सेवक होइ रह्यो सबको नित, कीटहिं कुंजर देत अहारो।।
भंजन दुक्ख दरिद्र निवारण, चिन्त करे पुनि साँझ सबारो।
ऐसे प्रभू तजि आन उपासत, सुन्दर है तिनको मुख कारो।।

२. 'सुन्दर-ग्रन्थावली', 'आत्मानुभव कौ अंग', ६, पृ० ६१६।

३. 'सुन्दर-ग्रन्थावली', 'अद्वैत ज्ञान कौ अंग' १४—१७, पृ० ६४९-५०।

४. जगत कहे ते जगत है, सुन्दर रूप अनेक।
ब्रह्म कहे ते ब्रह्म है, वस्तु विचारे एक।। —वही, ४३, पृ० ८०५।

इस प्रकार, ब्रह्म इस जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनों प्रकार का कारण है, और सर्वत्र एक समान ही व्यापक है। यदि ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मानकर जगत् को मिथ्या कहा जाय, तो यह सुन्दरदास को कदापि मान्य नहीं हो सकता। यह जगत् आखिर है क्या? उन्होंने कहा कि 'एक अखण्ड ब्रह्म जो है, उसीका पलट कर दूसरा नाम जगत् हुआ है।[1]

भगवान् के सच्चे भक्त तो सदा 'मुकुति निरादर भगति लुभाने' हुआ करते हैं। महात्मा सुन्दरदास ने मुक्ति का उपहास करते हुए और भक्ति की महत्ता प्रतिपादित करते हुए यहाँतक कह दिया है कि मुक्ति तो धोखे का एक चिह्न-मात्र है। ऐसा कोई भी ठौर-ठिकाना नहीं, जहाँ पर मुक्ति ऐसी कोई वस्तु हमें मिल सकती है। कुछ लोग मुक्ति की उपलब्धि आकाश में बतलाते हैं, कोई उसे पाताल में ले जाते हैं, और कोई-कोई पृथ्वी पर ही उसे ढूँढ़ते हुए भटकते फिरते हैं। कोई भी इस बात पर गम्भीरता-पूर्वक विचार नहीं करता, अपितु जिस प्रकार गुबरैला अपनी गोली लेकर निरुद्देश्य चला करता है, उसी प्रकार वे भी अपनी धुन में बढ़ते जाते हैं, जीते-जी इसके लिए अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हैं, धोखे में पड़कर व्यर्थ मरा करते हैं। वास्तविक मुक्ति का स्वरूप तो अपने-आपको पहचानना है। अपने अखण्ड रूपों में संग्रह-त्याग से परे होना ही मुक्ति है।[2]

एक सन्त के वचन हैं—भगवान् की दया पर सर्वथा अपने को छोड़ दो, उसके चरणों में अपना सब कुछ सौंप दो। कोई वस्तु रह न जाय। कल की परवाह न करो। जो कुछ तुम्हारे पास है, दरिद्रनारायणों में बाँट दो। हमारा समर्पण जितना ही सर्वांगीण और संकोचहीन होता है, उतनी ही अधिक अनुकम्पा हम पर प्रभु की बरसती है।[3]

ऐसा सर्वांगीण, संकोचहीन अनन्य समर्पण एकमात्र पत्नी का पति में होता है और इसे ही सब सन्तों ने आदर्श माना है। सुन्दरदास का मत है—प्रभु में हमारा

---

१. सुन्दर कहत यह एकई अखण्ड ब्रह्म,
ताही कौं पलट कै जगत नाम धर्यो है।
—'सुन्दर-ग्रन्थावली', 'जगन्मिथ्या को अंग' ५, पृ० ६५५।

२. निज स्वरूप कौं जानि अखण्डित, ज्यौं का त्यों ही रहिये।
सुन्दर कछू ग्रहै नहिं त्यागै, वहै मुक्ति-पद कहिये॥
—'सुन्दर-ग्रन्थावली', ४, पृ० ८७५-६।

३, 'Fling yourself upon God's proridencc without making any reserve whatever take no thought for the morrow, sell all yon have and give it to the poor. Only when the Sacrifice is ruthless and reckless will the higher safety really arrive.'

पतिव्रत सदा-सदैव एकतार बना रहे। यदि वह हमें सुख दें, तो सुखी हों और दुःख भी दें, तो अपार सुखी हों। प्रियतम की चपत में जो प्यार है, उसका रस बहुतों ने चखा होगा। सुख और दुःख भगवान् की दो भुजाएँ हैं, जिनके द्वारा वह प्रेमी का आलिंगन करता है।[१]

अनन्य शरणागति-भाव से सुन्दरदासजी ने निवेदन किया है—तुम्हीं एकमात्र मेरे प्राणवल्लभ प्रियतम हो। तुम्हारे सिवा मेरा कोई है ही नहीं। तुम भी यों छिपे हुए हो, प्राणों की हाहाकार देखकर तरस नहीं खाते और अपनी एक झलक नहीं दिखलाते, यह तुम्हारी कैसी निष्ठुरता है! प्यारे की इस मीठी निष्ठुरता में भी कितनी ममता है! उसे धूप-छाँह का खेल बहुत ही प्रिय है और एक क्षण छिपकर अदृश्य हो जाता है, जिससे भक्त की व्याकुलता बढ़ जाती है।[२]

किन्तु दूसरे ही क्षण भीतर पैठकर दिल के भीतर गोता मारने पर दिल में ही साईं के दर्शन होते हैं।[३] परम प्रेम की यही दिव्य मनोहर क्रीडा है। मिलन-मन्दिर की यही परम गोपनीय लीला है। इसे वाणी में व्यक्त नहीं कर सकते; क्योंकि यह 'मूकास्वादनवत्' है, स्वसंवेद्य है, अनिर्वचनीय है।

इस प्रकार, महात्मा सुन्दरदास के महान् भावों का आलोडन-विलोडन करके हम पाते हैं कि वह स्वयंप्रकाश और उजागर हैं, उनकी अपार महिमा किससे कही जा सकती है :

'यथा नाम अरु रूप, तथा गुन होत उजागर।'

दादूपन्थ ही में नहीं, बल्कि सारे सन्तसमाज में और प्रधानतः निर्गुण भक्ति-मय ज्ञानवाले पन्थों में महात्मा सुन्दरदासजी सूर्य समान हुए हैं। तभी तो उनकी महिमा में कहा गया है :

'संक्राचारय दूसरो, दादू के सुन्दर भयो।'

और : दादू दीनदयाल के चेले दोय पचास।
कोइ उडगण, कोइ इन्दु हैं, दिनकर सुन्दरदास॥'

सन्तवर सुन्दरदासजी का परमपदगमन 'साँगानेर' में मिति कार्त्तिक शुक्ला अष्टमी, गुरुवार, सं० १७४६ को हुआ।[४]

---

१. सुन्दर पतिव्रत राम सों, सदा रहै इकतार।
सुख देवै तो अति सुखी, दुःख तो सुखी अपार॥

२. प्रीतम मेरा एक तूँ, सुन्दर और न कोइ।
गुप्त भया किस कारने, काहि न परगट होइ॥

३. सुन्दर अन्दर पैसिकर, दिल में गोता मारि।
तो दिल ही में पाइये, साईं सिरजनहारि॥

४. सात बरस सौ में घटै, इतने दिन की देह।
सुन्दर न्यारो आतमा, देह खेह की खेह॥

वैष्णव साधना का रामाश्रयी शाखा पर प्रभाव

गोस्वामी तुलसीदास

हिन्दी की रामाश्रयी शाखा के कवि-सम्राट् हैं गोस्वामी तुलसीदासजी संस्कृत-वाङ्.मय में रामाश्रयी शाखा की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। कहना तो यही उचित होगा कि विश्व-साहित्य में काव्य-रचना का प्रारम्भ ही रामचरित-वर्णन से हुआ है। आदिकवि की रामायण परवर्त्ती रामकाव्यों का उपजीव्य रही है। परन्तु, हिन्दी में रामकाव्य के सर्वश्रेष्ठ आचार्य विश्वकवि तुलसीदासजी ही हैं।

गोस्वामीजी का आविर्भाव उस समय हुआ, जब भारत-भूमि सब प्रकार से जर्जर हो गई थी। विदेशियों के कुशासन से तो जीवन से प्रीति कम हो ही गई थी, दूसरी ओर अवैदिक साधनाओं के चलते भी जनता अनावश्यक रूप से संन्यास की ओर प्रवृत्त हो रही थी। इसका भयंकर प्रभाव परम्परागत ज्येष्ठाश्रम गृहस्थाश्रम पर पड़ रहा था। हिन्दू-जनता के लिए कोई लौकिक आदर्श शेष नहीं था। परलोक का भी कोई निश्चित स्वरूप निर्धारित करना कठिन था। सर्वत्र अनहद नाद-श्रवण की साधना चल रही थी। सामाजिक मर्यादा नष्टप्राय थी। ऐसी विषम परिस्थिति में गोस्वामीजी ने आगे बढ़कर भारतीय सांस्कृतिक जीवन की रक्षा की। उन्होंने वेदसम्मत भक्तिमार्ग की स्थापना कर, जनता में जीवन के प्रति रुचि पैदा की। गोस्वामीजी के अनुसार भक्ति गृहस्थों का ही धर्म है। घोर आसक्ति तथा आत्यन्तिक विरक्ति उनकी दृष्टि में किसी काम की चीज नहीं, अतः मध्यम मार्ग ही श्रेष्ठ है।[१] यद्यपि मध्यम मार्ग की साधना की उपयोगिता भगवान् बुद्ध ने कई सौ वर्ष पूर्व सिद्ध कर दी थी, लेकिन फिर भी उससे गृहस्थ-जीवन को कोई लाभ नहीं पहुँच सका था। गोस्वामीजी ने आसक्ति-विरक्ति के सन्तुलन को रामभक्ति के लिए परम उपयोगी बताया। उन्होंने रामभक्ति में निर्गुण-सगुण, गृहस्थ-विरक्त, ब्राह्मण-शूद्र, पूज्य-पतित, शैव-वैष्णव, देशज-विदेशज सबका समन्वय किया। रामभक्ति को उन्होंने अन्न-जल की तरह सबके लिए सुलभ सिद्ध किया।

दास्यभाव : गोस्वामीजी की रामभक्ति दास्यभाव की है।[२] भक्ति-सम्प्रदाय में पाँच भाव हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा कान्त। शान्त भाव

---

१. घर कीन्हें घर जात है घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेमपुर छाई॥

२. सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजिय राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि॥

से जगन्निर्वेद की स्थिति प्राप्त होती है। जगत् से आवश्यक विरक्ति होने पर ही ईश्वर की ओर प्रवृत्ति होती है। अतः, भक्ति के शेष भावों को शान्त पुष्ट करता है। दास्य शेष तीनों भावों में अनुस्यूत है। गोस्वामीजी दास्यभाव की उपासना को सर्वश्रेष्ठ एवं निरापद कहते हैं। इसमें किसी प्रकार के पतन का भय नहीं है। शरणागति इसका मुख्य आधार है। राम शरणागत भक्त की रक्षा वैसे ही करते हैं, जैसे अबोध शिशु की माता करती है।[1]

नाम-महिमा : भक्तों की साधना में नाम, रूप, गुण, लीला-धाम की प्रधानता है। गोस्वामीजी ने उपासना में नाम-जप को ही उपास्य की प्रसन्नता का सबसे सुगम साधन सिद्ध किया है। नामजापक को उपास्य का नित्य दर्शन होता है; अतः कामादि विकारों से आक्रान्त होने का भय नहीं रहता।

गोस्वामीजी की दृष्टि में निर्गुण ब्रह्म को भी जानने के लिए नाम परमापेक्षित है। सगुण वपुधारी निर्गुण ब्रह्म की दो उपाधियाँ है—नाम और रूप। रूप का सम्बन्ध केवल सगुण से है, परन्तु नाम का निर्गुण और सगुण, प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों से है।[2]

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी
उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥

दुभाषी, अर्थात् सगुण का तो परिचय कराता ही है, निर्गुण का भी रहस्य संकेतित करता है। पुनः सगुण पदार्थ भी विना नाम के पूर्ण परिचय का विषय नहीं बन सकता। पूर्व गुण-श्रवण, नामी के प्रत्यक्ष दर्शन होने पर नाम के माध्यम से ही श्रद्धादि सात्त्विक भावों के उद्रेक में समर्थ होता है। अन्यथा, 'करतलगत न परत पहिचानें' की स्थिति हो जाती है। अतः, गोस्वामीजी **नाम** को 'नामी' से भी श्रेष्ठ बताते हैं।[3]

राम ने कुछ पतितों का उद्धार किया[4], लेकिन उनके 'नाम' ने अनन्त पतितों का कल्याण किया। यह 'राम' नाम कोई साधारण शब्द नहीं; बल्कि सूर्य, अग्नि तथा

---

१. करउँ सदा तिन्हकी रखवारी। जिमी बालक पालहिं महतारी॥

२. सुमिरिय नाम रूप बिनु देखें।
आवत हृदय सनेह बिसेखे॥

३. ब्रह्म राम ते नाम बड़ वरदायक वरदान।
रामायण सत कोटि महँ लिये महेस जिय जान॥

४. राम एक तापस तिय तारी।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

चन्द्रमा का भी मूल कारण एवं ब्रह्म के त्रिविध सगुण स्वरूपमय एवं वेदों के प्राण ही है।[1]

गोस्वामीजी की उपासना का सम्बन्ध विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य रामानुजस्वामी के श्रीसम्प्रदाय से है। अतः, गोस्वामीजी महाराज ने ब्रह्म के साथ ही जीव एवं माया को भी सत्य स्वीकार किया है। जगत् को उन्होंने 'सियाराममय' कहकर प्रणाम किया है। प्रकृति-स्वरूपा सीता अचित् तत्त्व हैं और परब्रह्म राम चित् तत्त्व। इस तरह उपास्य राम चिदचिद्विशिष्ट हैं। दोनों में जो सत्तात्मक अन्तर दिखाई पड़ता है। वह तात्त्विक न होकर व्यावहारिक है—लीलोपाधिक है। वे दोनों 'गिरा अर्थ, जल बीचि सम' की तरह नित्य अभिन्न हैं।

विशिष्टाद्वैत-मत में ईश्वर का स्वरूप पाँच प्रकार का है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। गोस्वामीजी के राम का 'पर-स्वरूप' अनन्त एवं परमानन्दमय है।

पर-स्वरूप : इसी स्वरूप में मुक्त और नित्य जीवों का विलय होता है। उनका यह विग्रह सम्पूर्ण ऐश्वर्यमय है। बालक राम में इस स्वरू पका दर्शन होता है :

'व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति-बस कौसल्या के गोद॥'

व्यूह : व्यूह-रूप से परब्रह्म राम विश्व की सृष्टि एवं संवरण करते हैं। षाड्गुण्य-विग्रह से कोई दो ही गुणों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उनका व्यूह-स्वरूप इस प्रकार वर्णित है :

जाके बल बिरंचि हरि ईसा।
पालत सृजत हरत दस सीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन।
अण्डकोस समेत गिरि कानन॥[2]

विभव : इस रूप से अवतारी राम धर्म-संस्थापनार्थ एवं भक्तमनोरंजनार्थ अवतार लेने का आश्वासन देवताओं एवं ऋषि-मुनियों को देते हैं :

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा।
तुम्हहि लागि धरिहौं नर बेसा॥

---

१. बन्दौं नाम राम रघुवर के। हेतु कृसानु भानु हिमकर के॥
....
बिधि हरिहर मय बेद प्रान सो। अगन अनूपम गुन निधान सो॥

२. मानस, सुन्दरकाण्ड।

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा।
लेइहौं दिन कर वंस उदारा।।
हरिहौं सकल भूमि गरुआई।
निरभय होहु देव समुदाई।।[१]

अन्तर्यामी : इस रूप में परात्पर ब्रह्म राम सबके हृदय की बातों के ज्ञाता एवं प्रेरक हैं। वे अन्तर्यामी सबके हृदय-देश में स्थित होकर उनका नियमन भी करते हैं :

तब रघुपति जानत सब कारन।
उठे हरषि सुरकाज सँवारन।।

अर्चावतार : इस रूप में राम भक्तों की इच्छाओं के अनुरूप स्वतन्त्र या साम्बन्धिक विग्रह धारण करते हैं। इस स्वरूप का वर्णन गोस्वामी जी ने अवतार के समय किया है :

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजिअ सिसुलीला अतिप्रिय सीला, यह सुख परम अनूपा।।
सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा।।[२]

गोस्वामीजी ने साधनत्रय में भक्ति को सुलभ एवं सुगम सिद्ध किया है।

भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन

वे ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को निरापद एवं श्रेष्ठ बताते हैं। भक्ति का सम्बन्ध चूँकि हृदय से है, अतः यह सामान्य एवं विशिष्ट सब प्रकार के व्यक्तियों के लिए उपयोगी है। ज्ञान की साधना केवल सूक्ष्म प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकते हैं। साधनकाल में भी ज्ञान के पथ पर चलना कोई साधारण बात नहीं।[३] यदि अत्यन्त सावधानी से साधना पूर्ण भी हुई, तो भी अनेक बाधाओं का भय बना ही रहता है। इसे गोस्वामीजी ने 'मानस' के उत्तर-काण्ड में 'ज्ञानदीपक' एवं भक्ति-मणि के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है। अहर्निश प्रयास करके ज्ञानदीपक को जलाया जा सकता है, लेकिन काम-क्रोधादि के तीव्र प्रभंजन

---

१. मानस, बालकाण्ड।

२. वही।

३. ज्ञानपन्थ कृपान के धारा।
परत खगेस होइ नहि बारा।। —वही, उत्तरकाण्ड।

उसे बिना बुझाये नहीं छोड़ते। अर्थात्, साधना के सर्वोच्च शिखर पर भी पहुँचकर पतन का भय बना ही रहता है :

जे ज्ञान मान विमत्त तब भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ॥[1]

लेकिन, भक्ति दीपक नहीं, 'मणि' है ,जिसमें न इतर उपादानों की अपेक्षा है, न बुझने का ही भय।

राम भगति चिन्तामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर ॥
परम प्रकाश तेज दिन राती। नहिं तहँ चहिए दिया घृत बाती ॥

सब प्रकार के आनन्द का भोग तो हृदय से होता है; क्योंकि आनन्द कभी ज्ञान का विषय नहीं होता। अतः, मुक्तिजन्य आनन्द भी भक्ति करने से सहज ही प्राप्त हो जाता है। पुनः मुक्ति भक्ति की दासी भी है। गोस्वामीजी की दृष्टि में भक्ति के साधक को मुक्ति के लिए अलग से प्रयास नहीं करना पड़ता :

भगति करत सोइ मुकुति गोसाईं।
अनइच्छित आवत बरिआई ॥

ज्ञान में सदा पतन का भय एवं भक्ति में नित्य निर्भयता की प्राप्ति में हेतु क्या है ? तुलसी बाबा इसे स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान में 'अहं' सदा पुष्ट होता है। 'सोऽहं' तक 'अहं' लगा ही रहता है, भले विशुद्ध एवं उदात्त होकर भी। यह 'अहं' ही 'संसृति मूल सूलप्रद नाना' है। लेकिन, भक्तिपथ में 'अहं' पैर रखते ही गलने लगता है। शरणागति में 'अहं' आत्यन्तिक रूप से नष्ट हो जाता है। भक्त अपने को 'दीन' समझता है। और, राम को 'दीन' ही प्रिय है :

बन्दौं सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥

इस 'अहं' में स्वयं का बल नहीं, स्वामी का भरोसा होता है। गोस्वामीजी महाराज ऐसे 'अहं' को सुन्दर-सुखद बताते हैं। बल्कि, भक्ति का 'अहं' हृदय में नित्य रहे, तो नित्य मंगल की प्राप्ति होती है :

अंश अभिमान जाय नहीं भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥

इस 'अहं' से संसार से अरुचि एवं उपास्य से नित्य नवीन प्रीति होती जाती है। तब मुक्ति की कामना फीकी लगती है :

अस बिचारि हरि भगत सयाने।
मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥

---

१. मानस, उत्तरकाण्ड।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि गोस्वामीजी ज्ञान एवं कर्म को महत्त्व नहीं देते। उनकी दृष्टि में अधिकारी-भेद से वे भी महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने त्रिवेणी के रूपक में उनका भी समन्वय भली भाँति किया है :

राम भगति जहँ सुरसरिधारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा।।
बिधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनन्दनि बरनी।।

लेकिन, ज्ञान और कर्म भी भक्ति के लिए ही मान्य हैं :

सो सब करम धरम जरि जाउ।
जो न राम पद-पंकज भाऊ।।

गोस्वमीजी ने भक्त के लिए सदाचार एवं संयम का पालन परमावश्यक बतलाया है।[1]

मानस के अरण्यकाण्ड में उन्होंने भक्ति के नौ प्रकार बताये हैं।

नवधा भक्ति

इस स्थान पर श्रवणादिक नव भक्ति का उल्लेख उन्होंने भागवत के सर्वमान्य आधार के अनुसार किया है।[2] अध्यात्मरामायण के अरण्यकाण्ड में भी नवधा भक्ति का ऐसा ही वर्णन हुआ है।[3]

१. प्रीति राम सों नीतिपथ चलिय रागरस जीति।
तुलसी सन्तन के मते इहे भगति की रीति।।
—दोहावली, ८६।

२. श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।—भागवत, ७।५।२३।

३. तस्मादभामिनि संक्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम्।
सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्।।
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्।।
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्याऽमायया सदा।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च।।
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम्।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते।।
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा।।
अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा।।
स्त्रियो वा पुरुषस्यापि तिर्यग्योनिगतस्य वा।
भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे।।
—अध्यात्मरा०, अरण्य०, सर्ग १०, श्लोक २२—२८।

मानस में शबरी से राम कह रहे हैं :

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं।।
प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।

गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथी भगति मम गुनगान करइ कपट तजि गान।।

मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा।।
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरन्तर सज्जन धरमा।।
सातव सम मोहिमय जग देखा। मोतें अधिक सन्त करि लेखा।।
आठव जथा लाभ सन्तोषा। सपनेहु नहिं देखइ परदोषा।।
नवम सरल सब सों छल हीना। मन भरोस हिय हरस न दीना।।
नवमहुं एकउ जिन्हकें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनी मोरें। सकल पुकार भगति दृढ़ तोरें।।"[१]

ऐसी भक्ति भी रामकृपा से सद्गुरु की प्राप्ति होने पर ही होती है।[२]

गुरु की आवश्यकता

जैसे पिता कन्या का सम्बन्ध योग्य 'वर' से करा देता है और वह उसे अपना प्राणपति मानने लगती है। उसके सुख के लिए सर्व-समर्पण कर देती है। वैसे ही सद्गुरु भी भक्त का सम्बन्ध भगवान् से करा देता है। तब से भक्त भी पतिव्रता स्त्री की भाँति भगवान् की अव्यभिचारिणी अनन्य भक्ति करने लगता है। इसीलिए, गोस्वामीजी ने रामभक्ति की प्राप्ति के लिए गुरु-भक्ति की आवश्यकता बताई है। रामभक्ति-रूपी 'चिन्तामणि' की प्राप्ति 'श्रीगुरपदनख मनिगन ज्योति' के स्मरण से ही प्राप्त हो जाती है। रामचरित का रहस्य जानने के लिए उसे अलग से प्रयास नहीं करना पड़ता। श्रीगुरु की चरणधूलि ही दृष्टि को विशुद्ध एवं समर्थ बना देती है। हृदय के नेत्र खुल जाते हैं; अतः राम के प्रकट एवं गुप्त—उभय प्रकार की लीलाओं का रहस्य-बोध सुगम हो जाता है :

सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रकट जहँ जो जेहि खानिक।।

दिव्यांजन के लगाने से वन, पर्वत एवं भूगर्भ के रहस्यों को देखना जैसे

---

१. मानस, अरण्य०, दो० ३५, पंक्ति ७ से; दो० ३६, पंक्ति ७ तक।

२. 'मिलइ जो सन्त होहिं अनुकूला।

....

'जब द्रवहिं दीनदयाल राघव साधु संगति पाइए।'

सहज हो जाता है, वैसे ही श्रीगुरु-चरण-रज को धारण करने से राम की सम्पूर्ण दिव्य लीलाओं का साक्षात्कार होता है :

यथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैलबन भूतल भूरि निधान ।।

नवधा भक्ति में प्रपत्ति अन्तिम भक्ति है। इसमें भक्त सदा रक्षासुख का अनुभव करता है। समस्त वैष्णव-सम्प्रदायों में शरणागति को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है। विशिष्टाद्वैत-मत में प्रपत्ति के छह प्रकार बताये गये हैं।[1] गोस्वामीजी ने भी इन छहों भावों का बहुत सुन्दर रीति से वर्णन किया है। शरणागति को पुष्ट करने के लिए ये भाव नित्य आवश्यक हैं :

अनुकूलता का संकल्प :

सुनु कान दिये, नितनेम लिये, रघुनाथहिं के गुन गाथहिं रे।
सुख मन्दिर सुन्दर रूप सदा उर आनि धरे धनु भाथहिं रे ।।
रसना निसि बासर सादर सो तुलसी जपु जानकी नाथहिं रे।
करु संग सुशील सुसंतन सो तजि कूर कुपंथ कुसाथहिं रे ।।

—कवितावली, उ०का०, छ० २९।

अथवा

अबलौं नसानी, अब न नसैहों।
राम कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहो ।।
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर ते न खसैहों।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहों ।।
परबस जानि हर्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हसैहों।
मन मधुकर पुन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहों ।।[2]

प्रतिकूलता का परित्याग :

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो छाँडिये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ।।
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषन वधू, भरत महतारी।

---

१. आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।
—पांचरात्र, लक्ष्मीसंहिता, साधनांक, पृ० ६०, गीता प्रेस गोरखपुर, सन् १९४० ई०।

२. विनयपत्रिका।

बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितनि, भए मुद मंगलकारो ।।
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं ।।
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो ।
जाते होय सनेह राम पद, एतौ मतौ हमारो ।।[१]

रक्षा करेंगे, ऐसा विश्वास :

जोग न विराग जप जाग तप त्याग ब्रत
तीरथ न धर्म जानौं वेद विधि किमि है ।
तुलसी सो पोच न भयो है, नहिं ह्वै है कहूँ
सोचैं सब याके अघ कैसे प्रभु छमिहै ।।
मेरे तो न डरु रघुबीर सुनौ साँची कहौं
खल अनखैहैं तुम्हैं सज्जन न गमिहै ।
भले सुकृती के संग मोहिं तुला तौलिये तो,
नाम के प्रसाद भार मेरी ओर नमिहै ।।[२]

गोप्तृत्व-वरण :

नाहिन भजिबे जोग बियो ।
श्रीरघुबीर समान आन को पूरन कृपा हियो ।।
कहहु कौन सुर सिला तारि पुनि केवट मीत कियो ।
कौन गीध अधम को पितु ज्यों निज कर पिण्ड दियो ।।
कौने देव सबरी के फल करि भोजन सलिल पियो ।
बालित्रास-बारिधि बूड़त कपि केहि गहि बाँह लियो ।।
भजन प्रभाउ विभीषन भाष्यौ सुनि कपि कटक जियो ।
तुलसिदास को प्रभु कोसलपति सब प्रकार बरियो ।।[३]

आत्मनिक्षेप :

मेरे रावरियै गति है रघुपति बल जाऊँ ।
निलज नीच निरधन निरगुन कहँ, जग दूसरो न ठाकुर ठाऊँ ।।१।।

---

१. (क) विनयपत्रिका, : पद १४७ ।
(ख) जरउ सो सम्पति सदन सुख, सुहृदु मातु पितु भाइ ।
सनमुख होत जो राम पद करइ न सहस सहाइ ।।
—मानस, अयोध्याकाण्ड ।

२. कवितावली, उत्तरका०, पद ७१

३. गीतावली ।

हैं घर घर बहु भरे सुसाहिब, सूझत सबनि आपनो दाऊँ।
बानर-बंधु बिभीषन-हितु बिनु, कोसलपाल कहूँ न समाऊँ ॥२॥
प्रनितारति-भंजन जन-रंजन, सरनागत पबि-पंजर नाऊँ।
कीजै दास दासतुलसी अब, कृपासिंधु बिनु मोल बिकाऊँ ॥३॥[1]

कार्पण्य :

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरति हर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मात, गुरु-सखा तू सब विधि हितु मेरो॥
तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावै।
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावै॥[2]

पुनः प्रपन्न के दृप्त और आर्त्त ये दो भेद हैं। भरतजी [3] दृप्त प्रपन्न तथा लक्ष्मणजी[4] आर्त्त प्रपन्न हैं।

इसी तरह विनयपत्रिका में भक्तोचित विनय की सात भूमिकाओं, जैसे दीनता, मानमर्षता, भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य तथा विचारणा के दर्शन होते हैं।[5]

इस तरह गोस्वामीजी ने स्वामी रामानुज के विशिष्टाद्वैत की परम्परा में राम-भक्ति की गंगा बहाई। राम-भक्ति को सुगम बताते हुए भी राम की सगुण लीला को अगम कहा।[6] उनकी दृष्टि में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को 'नेति-नेति' कहकर भी

---

१. विनयपत्रिका, पद १५३।
२. वही, पद ७९।
३. अब गुसाईं मोहि देहु रजाई।
   सेवहुँ अवध अवधि भरि जाई॥
   —मानस, अयो०।
४. राम बिलोकि बन्धु कर जोरे।
   देह गेह सब सन तृन तोरे॥
   —मानस, अयो०।
५. द्र० विनयपत्रिका, पद-सं० ९६, १४१, १८९, १४०, १३७, १०३ और १११।
६. निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन न जानइ कोइ।
   सुगम अगम नानाचरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

जानना सुगम है, सगुण ऐश्वर्य-रूप भी सर्व-शक्तिमत्ता के कारण बोधगम्य हो जाता है। परन्तु, रस रूप की मधुर लीलाओं में भ्रम हो जाता है। माता कौशल्या को 'इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा' से भ्रम हुआ। पुनः भगवान् के ऐश्वर्य-रूप-दर्शन से उसका निवारण भी :

देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

माता ने शीघ्र समझ लिया :

'जगत पिता मैं सुत करि जाना।'

ऐसा ही भ्रम पार्वती और गरुड को भी हुआ था। उनके भी भ्रम का निवारण ऐश्वर्य-रूप-दर्शन एवं गुरुकृपा से ही हुआ। नागपाश से बँधने पर भगवान् शिव ने इसका लीलाहेतुक समाधान किया :

चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥
अस बिचारि जे तग्य बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी॥

इस तरह, गोस्वामीजी ने राम के सगुण स्वरूप की भक्ति को ही सम्पूर्ण मंगल का मूल कहा है।

गोस्वामीजी की सब मिलाकर बारह रचनाएँ हैं। इनमें पाँच बड़ी तथा सात छोटी हैं। बड़ी रचनाओं में रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली, विनयपत्रिका और दोहावली हैं तथा रामललानहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल बरवै रामायण, वैराग्यसन्दीपिनी, कृष्णगीतावली और रामाज्ञा-प्रश्नावली छोटी रचनाएँ हैं। 'हनुमानबाहुक' कवितावली का ही अंश है। गोस्वामीजी का राम-चरितमानस हिन्दी-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह पण्डित से मूर्ख तक एवं राजा से रंक तक समान रूप से प्रिय है। मानस की लोकप्रियता तो इसीमें दिखाई पड़ती है कि यह केवल काव्यग्रन्थ ही नहीं, बल्कि धर्मग्रन्थ होने के कारण घर-घर में पूजित होता है। भारतीय संस्कृति को जीवित रखने का श्रेय मानस को ही है। मानस के रहते भारतीय संस्कृति को कोई भय नहीं है।

केशवदास

ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम काशीनाथ था। इनका जन्म संवत् १६१२ में हुआ था। ये ओरछा-नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीत सिंह की सभा में रहते थे। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहदेव-चरित, विज्ञानगीता, रतन-

बावनी और जहाँगीरजसचन्द्रिका नामक सात ग्रन्थों की रचना की है। 'राम-चन्द्रिका' इनकी रामकाव्य की परम्परा में लिखी रचना है।

स्वामी अग्रदासजी

स्वामी अग्रदासजी श्रीकृष्णदासजी पयहारी के शिष्य थे। ये प्रसिद्ध भक्तमाल के लेखक नाभादास के गुरु थे। इनका आश्रम जयपुर-राज्य के गलता नामक स्थान में हुआ था। इनके लिखे ग्रन्थों की संख्या, आचार्य शुक्ल के अनुसार, चार है।

ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं— हितोपदेश, उपरवाणाँ बावनी, ध्यानमंजरी, रामध्यानमंजरी तथा कुण्डलिया। इनके 'रामध्यानमंजरी' ग्रन्थ में राम की छवि का बहुत ही सुन्दर ध्यान वर्णित है।[1] वे राम से सांसारिक ऐश्वर्यों की कामना नहीं करते। उन्हें तो एकमात्र राम के चरणों में अखण्ड प्रीति चाहिए।[2] अग्रदासजी ने राम का कोमल रूप ही ग्रहण किया है।[3] ये गोस्वामीजी के समकालीन थे।

---

१ स्वर्ण वेदिका मध्य तहाँ एक रतन सिंहासन।
सिंहासन के मध्य परम अति पदुम शुभासन॥
ताके मध्य सुदेश कर्णिका सुन्दर राजै।
अति अद्भुत तहँ तेज वह्नि सम उपमा भ्राजै॥
तामधि शोभित रामनील इन्दीवर ओभा।
अखिल रूप अंभोधि सजल घन तन की शोभा॥
षोडस वर्ष किशोर राम नित सुन्दर राजैं।
राम रूप को निरखि विभाकर कोटिक लाजैं॥
अस राजत रघुवीर धीर आसन सुखकारी।
रूप सच्चिदानन्द वाम दिशि जनक कुमारी॥
जगत ईश को रूप वरणि कह कवन अधिक मति।
कहाँ अल्प खद्योत भानु के निकट करै द्युति॥
कहँ चातक की शक्ति अखिल जल चोंच समावै।
कछुक बूँद मुख परै ताहि ले आनँद पावै॥
—संतवाणी-अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ० ३७५।

२. निबाहो नेह जानकी बर से।
जाचो नाहिं और काहू से, नेह लगै दसरथ के कुँअर से।
अष्ट सिद्धि नव निद्धि महाफल, नहीं काम ये चारों बर से॥
'अग्रदास' की यही बानी, राम नाम नहिं छूटे यहि धर से॥
—संतवाणी-अंक, पृ० ३७५।

३. हिन्दी-साहित्य का अतीत (आदिकाल) : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ३२०।

अष्टछाप के श्रीकृष्णदासजी पयहारी के शिष्य होने पर भी इनकी प्रवृत्ति रामोपासना की ही ओर अधिक थी।

नाभादासजी

नाभादासजी का जन्म तैलंगदेश में रामभद्राचल के समीप बताया जाता है। ये स्वामी अग्रदासजी के शिष्य थे। इनका प्रारम्भिक नाम नारायणदास था। ये भी गोस्वामीजी के समकालीन थे। ये भगवान् राम के अनन्य भक्त थे। इन्होंने रामभक्ति से सम्बद्ध कई अनेक सुन्दर पद लिखे हैं। 'भक्तमाल' इन्हीं की रचना है, जो तीन सौ सोलह छप्पयों में लिखित है। इस ग्रन्थ में दो सौ भक्तों का चमत्कारपूर्ण परिचय दिया गया है। उन भक्तों की संक्षिप्त महिमा का बोध उनके अध्ययन करने से हो जाता है। भक्तों के सम्बन्ध में तिथि आदि का निर्देश 'भक्तमाल' में नहीं किया गया है।

व्रजभाषा में ये पद्यरचना करने में अत्यन्त निपुण थे। आचार्य शुक्ल ने इनके और दो 'अष्टयामों' की चर्चा की है, जिसमें एक व्रजभाषा-गद्य में और दूसरा रामचरितमानस की शैली पर दोहा-चौपाइयों में लिखा गया है।[१] नाभादासजी के नाम को अमर रखने के लिए भक्तमाल ही पर्याप्त है। इन्होंने भक्ति की जो विजयिनी पताका भक्तमाल-रचना के रूप में फहराई है, वह आसेतुहिमाचल मानवता को अनन्तकाल तक के लिए भगवान् की महिमा और भक्ति के चरणों पर नत कर समस्त जीव को जगत् के मोह-माया-बन्धन से मुक्त करती रहेगी।

भक्त नाभादास ने भक्तमाल की भूमिका में ही भक्त, भक्ति, भगवान् और गुरु को एकरूप माना है।[२] वे सदा अपनी चित्तवृत्ति को भगवान् के पार्षदों के साथ ही लगाये रखना चाहते हैं।[३] 'भक्तमाल' को पाकर हिन्दी धन्य हो गई।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आचार्य शुक्ल, पृ० १४४।

२. भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।
इनके पद बंदन किएँ, नासत बिघ्न अनेक॥
—'भक्तमाल', मंगलाचरण।

३. 'मो चित्तवृत्ति नित तहँ रहौ, जहँ नारायण पारषद॥
विष्वकसेन, जय, बिजय, प्रबल बल, मंगलकारी।
नंद, सुनंद, सुभद्र, भद्र, जग आश्रय हारी॥
चंड, प्रचंड, बिनीत, कुमुद, कुमुदाक्ष, करुणालय।
सील, सुशील, सुषेनु, भाव भक्तन प्रतिपालय॥
लक्ष्मीपति प्रीगन प्रबीन, भजनानँद भक्तन सुहृद।
मो चित्तवृत्ति नित तहँ रहौ, जहँ नारायण पारषद॥

सेनापति

सेनापति हिन्दी-भाषा के कवियों में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। एक सफल सेनापति की तरह ही इनका भाषा पर अधिकार था। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवित्त-रत्नाकर' है। इसमें पाँच तरंग हैं। चौथी एवं पाँचवीं तरंगों में रामकथा का वर्णन मिलता है। इनमें इनकी भक्ति की उत्कृष्टता झलकती है। इनकी 'काव्यकल्पद्रुम' नामक एक और रचना का पता चला है।

राम-नाम की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करते हुए वे कहते हैं :

सिव जू की निद्धि, हनुमानहू की सिद्धि,
बिभीषन की समृद्धि बालमीकि नै बखान्यौ है।
बिधि कौ आधार, चार्‌यौ बेदन कौ सार जप-
जग्य कौ सिंगार, सनकादि उर आन्यौ है।।
सुधा के समान, भोग मुकति निधान,
महामंगल निदान सेनापति पहिचान्यौ है।
कामना कौं कामधेनु, रसना कौं बिसराम,
धरम कौ धाम राम नाम जग जान्यौ है।।

(कवित्तरत्नाकर, ४।७५)

सेनापति के एक पद में राम के ऐश्वर्यमय रूप की भक्तवत्सलता का वर्णन मिलता है :

भूषित रघुबर बंस भक्त बत्सल भव खंडन।
मुनि-जन-मानस-हंस, बिहित सीता-मुख-मंडन।।
त्रिभुवन पालन धीर, बीर रावन मद गंजन।
उदित बिभीषण भागधेय निज परिजन रंजन।।
सुरपति नरपति भुजगपति सेनापति बंदित चरन।
राजाधिराज जयजय सदा राम बिस्व मंगल करन।।

(कवित्तरत्नाकर, ४।३)

कतिपय उल्लेख्य कवि

प्राणचन्द चौहान अपनी एक ही रचना 'रामायण महानाटक' के चलते हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध हो गये। इसमें राम की कथा संवाद-रूप में वर्णित है। रामकाव्य की परम्परा की श्रीवृद्धि करनेवालों में हृदयराम भी कम महत्त्व नहीं रखते। इन्होंने सन् १६२३ ई० में संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर भाषा में हनुमन्नाटक लिखा। इसमें रामभक्ति का बहुत ही सुन्दर रीति से वर्णन हुआ है। नाटक में कवित्त एवं सवैया छन्दों की अधिकता है। कवि ने इसका

दूसरा नाम 'रामचन्द्रगीत' भी दिया है। इसकी एक सवैया में राम और हनुमान् के बीच का संवाद बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है—

एहो हनू ! कह्यौ श्री रघुबीर कछू सुधि है सिय की छिति माँही ?
है प्रभु लंक कलंक बिना सुबसै तहँ रावन बाग की छाँही ॥
जीवति है ? कहिबेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमतें बिछुराही ।
प्रान बसै पद पंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं ॥

इनके अतिरिक्त रामभक्ति-काव्य की वैष्णव साधना की परम्परा को विकसित करनेवाले कवियों में बलदास, लालदास, बालभक्ति, रामप्रियाशरण, जानकीरसिक-शरण, प्रियादास, कलानिधि आदि हैं। पंजाब-प्रान्त के अनेक कवियों ने हिन्दी में राम-सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्यों की रचना की है, जिनमें कुछ ये हैं :

१. गुरु गोविन्द सिंह-कृत 'रामावतार' (१७४५ वि०), २. सोढ़ी मिहरबान-कृत 'रामायण' (१७४० वि०), ३. कृष्णलाल-कृत 'रामचरित्र' (१८८४ वि०), ४. गुलाब सिंह-कृत 'अध्यात्मरामायण (१८४६ वि०), ५. हरिसिंह-कृत 'अध्यात्मरामायण' (१९वीं शती), ६. कीरतसिंह-कृत 'कीरत-रामायण' (१९१७ वि०), ७. सन्तोष सिंह-कृत 'वाल्मीकि रामायण' (१८९४ वि०), ८. निहाल कवि-कृत 'रामचन्द्रोदय' (१९०२ वि०), ९. रत्नहरि-कृत 'ललित ललाम' (१९१७ वि०), १०. वीर सिंह-कृत 'सुधासिन्धुरामायण' (१९०९ वि०)।[1]

आचार्य शुक्ल के अनुसार १९वीं और २०वीं शताब्दी में अयोध्या के महन्त बाबा रामचरणदास, बाबा रघुनाथदास, रीवाँ के महाराज रघुराज सिंह आदि ने रामचरित-सम्बन्धी विस्तृत रचनाएँ कीं, जो सर्वप्रिय हुईं। इस काल में रामभक्ति-विषयक कविता बहुत कुछ हुई।[2]

महाराज रघुराजसिंह के पिता महाराज विश्वनाथसिंह ने भी रामभक्ति से सम्बद्ध कई ग्रन्थों की रचना की। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं— आनन्दरघुनन्दन-नाटक, संगीतरघुनन्दन, आनन्दरामायण, रामचन्द्र की सवारी, गीतारघुनन्दन, रामायण। भारतेन्दुजी के अनुसार 'आनन्दरघुनन्दन' हिन्दी का छन्दःप्रधान नाटक है।[3]

१. पंजाब प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य का इतिहास : श्री चन्द्रकान्त बाली, पृ० २०४।

२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १४७।

३. भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ८३७ (इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९२७)।

इनके अतिरिक्त, रामकाव्य के विकास में कुशलमिश्र, मधुसूदनदास, कृपानिवास, गंगाप्रसाद व्यास उदैनियाँ, सर्वसुखशरण, भगवानदास खत्री, गंगाराम, रामगोपाल, परमेश्वरीदास, पहलवानदास, गणेश, ललकदास, रामगुलाम द्विवेदी, जानकीचरण, शिवानन्द, दुर्गेश, जीवाराम, बनादास, मोहन, रतनहरि, रामनाथ, जनकलाड़िलीशरण, जनकराजकिशोरीशरण, गंगाप्रसाद, हरबख्शसिंह, लक्ष्मण, रघुवरशरण, गिरिधरदास आदि भक्तों ने भी पर्याप्त योगदान किया।[१]

बीसवीं शताब्दी में रामकाव्य को समृद्ध करने का श्रेय रामचरित उपाध्याय[२], बलदेवप्रसाद मिश्र[३], ज्योतिषीजी[४] तथा मैथिलीशरण गुप्त को है। इस युग में रामकाव्य-परम्परा की सर्वाधिक श्रीवृद्धि की गुप्तजी ने। उनका 'साकेत' रामचरित का सुन्दर काव्य है। गुप्तजी स्वयं रामभक्त थे। उनकी राम के प्रति अनन्या भक्ति का प्रमाण इन पंक्तियों में मिलता है :

निज मर्यादा पुरुषोत्तम ही मानव का आदर्श
नहीं और कोई कर पाता मेरा हृदय-स्पर्श।[५]

वे अपने राम को ब्रह्म का अवतार मानते हैं और उनके अवतार का उद्देश्य धरती को स्वर्ग बनाना, इसे दिव्य एवं पवित्र बनाना है :

हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।

\+ +

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥[६]

साकेत में भगवान् राम कहते हैं कि मेरे नाम के स्मरण-मात्र से ही लोग बिना प्रयास से ही संसार-सागर को पार कर जायेंगे :

---

१. द्र० हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ६८४ से ६९१ तक।
२. रचना-रामचरितचिन्तामणि।
३. 'कोशलकिशोर' और 'साकेतसन्त'।
४. श्रीरामचन्द्रोदय।
५. पृथ्वीपुत्र।
६. साकेत।

जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे।
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।[1]

इस प्रकार राम के प्रति उनकी दृढ आस्था है। विशिष्टाद्वैत से विशेष प्रभावित होने पर भी गुप्तजी ने ब्रह्म के परव्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार स्वरूपों में विभव का ही अधिक वर्णन किया है। उनके राम के अवतार लेने का मुख्य उद्देश्य 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' ही है, इसीलिए वे नर-लीला करते हैं। साकेत के रामराज्य में प्रजातन्त्र एवं राजतन्त्र के बीच सामंजस्य दिखाई पड़ता है :

निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को।

राम के मर्यादापुरुषोत्तम स्वरूप से वे विशेष प्रभावित हैं। उनकी दृष्टि में राम का उदात्त चरित स्वयं में महाकाव्य है; अतः कोई भी कवि उन्हें अपनी कविता का विषय बनाकर सफल सिद्ध हो सकता है :

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।।

कट्टर सनातनी तथा राम अनन्य भक्त होने पर भी उनमें अन्य धर्मों के प्रति उदारता है। उनकी स्पष्ट घोषणा है :

जाति धर्म या सम्प्रदाय का, नहीं भेद व्यवधान यहाँ।
\+ \+ \+
राम-रहीम बुद्ध ईसा का सुलभ एक-सा ध्यान यहाँ।।

इस तरह गुप्तजी में भी समन्वय की विराट् चेष्टा दिखाई पड़ती है।

गुप्तजी ने लगभग चालीस मौलिक काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में 'रंग में भंग (१९०९ ई०), जयद्रथ-वध (१९१०), भारत-भारती (१९१२), किसान (१९१७), शकुन्तला (१९२३), पंचवटी (१९२५), अनघ (१९२५), हिन्दू (१९२७), त्रिपथगा (१९२८), गुरुकुल (१९२९), विकट भट (१९२९), साकेत (१९३२), यशोधरा (१९३३), द्वापर (१९३६), सिद्धराज (१९३६), नहुष (१९४०), कुणालगीत (१९४२), काबा और कर्बला (१९४२),

१. साकेत।

पृथ्वीपुत्र (१९५०), प्रदक्षिणा (१९५०), जयभारत (१९५२), विष्णुप्रिया (१९५७) आदि उल्लेखनीय हैं। 'साकेत', 'पंचवटी', एवं 'प्रदक्षिणा' राम-सम्बन्धी काव्य हैं।

श्रीमैथिलीशरण गुप्त की अपेक्षा भी श्रीसियारामशरण गुप्त पर वैष्णव प्रभाव सुस्पष्ट है। यह और बात है कि यह प्रभाव महात्मा गान्धी से होकर आया है।

रामभक्ति की रसिक शाखा में पिछले तीन-साढ़े तीन सौ वर्षों में एक-से-एक अनुभवी सन्त, महात्मा एवं साधक हुए हैं, जिनका विपुल साहित्य अत्यन्त महिमामय एवं गौरवपूर्ण रहा है, परन्तु सुधी आलोचकों और पूर्वाग्रही पण्डितों द्वारा सदा उनकी उपेक्षा होती आई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इनके प्रति बहुत कटु वचन कहे और इतनी तीक्ष्ण भाषा में इनकी अवमानना की कि आगे के समालोचकों को इस साहित्य-सम्पदा के वैभव और विलास पर तटस्थ दृष्टि से विचार करने में भी बाधाएँ प्रस्तुत कर दीं। अचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी तथा डॉ० रामअवध द्विवेदी ने इसे पहले-पहल सम्मान और बहुमान प्रदान किया और अब इसपर आलोचना के दो ग्रन्थ[१] ऐसे प्रकाशित हुए, जिनसे इस विषय पर स्वतन्त्र चिन्तन-मनन का मार्ग प्रशस्त हुआ और अब अनेकानेक विद्वान् इसपर सहानुभूति-पूर्ण विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं। आचार्य श्रीचन्द्रबली पाण्डेय ने 'नया समाज' में और आचार्य द्विवेदीजी ने 'कल्पना' में इस विषय पर सर्वथा मौलिक ढंग से विचार कर साहित्य के साधकों और अनुसन्धित्सुओं का ध्यान आकृष्ट किया। इस शाखा के प्रायःसभी सन्तों ने इस साहित्य को 'गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं च सर्वथा' कहकर इसे जनसामान्य में प्रवेश पाने में बाधा उपस्थित की और परिणामतः इस शाखा का प्रायः सम्पूर्ण साहित्य अयोध्या, काशी, जयपुर, चित्रकूट, जनकपुर आदि स्थानों के मठों और मन्दिरों में बेठन में बँधा पूजा-पाठ, धूप-दीप, आरती आदि के भीतर ही परिसीमित रहा।[२]

कहते तो यहाँतक हैं कि स्वयं गोस्वामी तुलसीदास की उपासना भी बाहर-बाहर से दास्यभाव की थी, परन्तु अन्तर के अन्तर में मधुर भाव की ही थी।[३]

---

१. रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय : डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह।

२. रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना : डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव।

३. तुलसी की गुह्य साधना : श्रीचन्द्रबली पाण्डेय, 'नया समाज' सितम्बर, १९५३ तथा व्रजनिधि-ग्रन्थावली, का० ना० प्र० सभा, पृ० २७५—२७७, पद ८६, ८७, ८९, ९०।

राम का 'जानक्या सह सम्प्रीतः क्रीड़ा रसविलम्पटः' तथा 'महारासर-सोल्लासी विलासी सर्वदेहिनाम्' यह रसिक रूप अनेक मर्यादावादी समीक्षकों लिए बड़ा ही अटपटा लगा और उन्होंने हेय दृष्टि से इस सम्पूर्ण साहित्य को अश्लील एवं अमर्यादित कहकर किनारे कर दिया और वह इस सीमा तक कि आगे के आलोचकों के लिए भी यह वज्रद्वार बन्द-सा ही रहा। अब इस साहित्य का प्रीति-पूर्वक अध्ययन-विवेचन-चिन्तन-मनन होने लगा है और बहुत कुछ इस शाखा का साहित्य प्रकाश में आ गया है। यह शुभ लक्षण है। अस्तु;

रसिक साधना में सख्य तथा शृंगार दोनों भावों के अधिकांश आचार्यों ने स्पष्ट रूप से अपनी उपासना-पद्धति को द्वैतपरक माना है। रसिक-सम्प्रदाय के आदि प्रचारक महात्मा रामप्रसाद के शिष्य रघुनाथप्रसादजी ने अन्य मतों पर श्रद्धा रखते हुए भी अपने को द्वैतमतानुयायी कहा है :

यक अद्वैत अरु द्वैत मत, प्रति विशिष्ट अद्वैत।
यदपि तिहूँ मय स्वामि सों, पै राखत मत द्वैत॥ [1]

रसिकाचार्य श्रीरामचरणदासजी 'करुणासिन्धु' ने 'श्रीरामनवरत्नसार-संग्रह' में अपने मत की पुष्टि के लिए 'महाशम्भुसंहिता' से जो उद्धरण दिये हैं, वे भी द्वैत दर्शन का समर्थन करते हैं :

शुद्धं द्वैतमतं विद्धि सेव्यसेवकभावदम्।
सामीप्यं च सुमुक्तिं च नित्यगोलोकधामदम्॥ [2]

स्वयं रामचरणदासजी की निम्नांकित पंक्तियाँ द्वैत-सिद्धान्तपरक प्रतीत होती हैं :

सुनहु चित्त बुधिमते जीवनहिं मिलत ईस कहँ।
दासरूप नहिं मिलत दास होइ रहत ईस पहँ॥
यथा बज्रमनि कनी फूटि तेहि मिले न भाई।
मनि समीप जड़ि जाइ परम सोभा अधिकाई॥ [3]

इधर कुछ अर्वाचीन रसिक सन्त, जिनमें श्रीप्रेमलताजी मुख्य हैं, अपने को विशिष्टाद्वैत-मतानुयायी मानने लगे हैं :

---

१. श्रीमहाराजचरित्र, पृ० १००।

२. श्रीरामनवरत्नसारसंग्रह, पृ० ५५।

३. रसमालिका, पृ० ४१।

विमल आतमा सखीसरूपा । सेवत रुचि लखि दोउ सुर भूपा ।।
अगणित रूप धारि पर धामहिं । सेवत नित सप्रेम सिय रामहिं ।।
ब्रह्म जीव मैं ए तिहुँ रूपा । एक अनादि अखण्ड अनूपा ।।
यह सु विशिष्टाद्वैत मत, मोर सम्प्रदा केर ।
सत्य सनातन जान जिय, आराधहिं जन ढेर ।। [1]

महात्मा बनादास अपने को 'द्वैताद्वैत' मत का अनुयायी मानते हैं । एक स्थान पर वे लिखते हैं :

द्वैत माहिं अद्वैत है, गुह्य, गोपि अतिसार ।
ताते द्वैताद्वैत मत करिहैं सन्त विचार ।। [2]

अपने गुरु श्रीसियावल्लभशरणजी को भी उन्होंने इसी मत का समर्थक बताया है :

द्वैताद्वैत हमार मत, इमि भाखे मो पाहिं ।
सोई तुलसी कृत विषे, भासत मो मन माहिं ।। [3]

इन सब विचारों के समन्वय से यह सिद्ध होता है कि विशिष्टाद्वैत-मत के साथ रसिक-सम्प्रदाय में द्वैताद्वैत की साधना भी परम्परा से चली आ रही है । अग्रदासजी की एक कुण्डलिया से इस रस-साधना को संक्षेप में यों समझा जा सकता है :

रामशृंगार अनूप है तुलवे को कोउ नाहिं ।
तुलवे को कोउ नाहिं सोइ अधिकारी जग में ।
काँचन कामिनी देखि हलाहल जानत तन में ।।
यावत जग के भोग रोग सम त्यागेउ द्वन्दा ।।
पियप्यारी रस सिन्धु मगन नित रहत अनन्दा ।।
रस शृंगार अनूप है तुलवे को कोउ नाहिं ।
नहिं 'अग्र' अस सन्त के सरलायक जग माहिं ।।

रसिक-परम्परा

१. गलता गद्दी (जयपुर)

इस गद्दी की स्थापना स्वामी रामानन्द के प्रशिष्य श्रीकृष्णदासजी पयहारी ने

---

१. बृहद् उपासना-रहस्य, पृ० १०३-१०४ ।

२. आत्मबोध, छं० २२२ ।

३. गुरुमाहात्म्य, छं० २६४ ।

की थी। उनके बड़े शिष्य महात्मा कीरतदास से इसकी परम्परा चली। इसके आचार्य-पद को मधुराचार्य और हरियाचार्य जैसे प्रसिद्ध रसिक महात्मा अलंकृत कर चुके हैं।

२. रैंवासा (शेखावाटी-जयपुर)

इस गद्दी के संस्थापक रसिक-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक अग्रदासजी थे। भक्तमाल के रचयिता नाभाजी इसी गद्दी के शिष्य थे और 'नेहप्रकाश', 'सिद्धान्ततत्त्वदीपिका' आदि साधनात्मक रसिक-ग्रन्थों के विख्यात प्रणेता बाल अलिजी यहाँ के आचार्य थे। रसिकों का यह प्रधान पीठ माना जाता है।

३. श्रीबालानन्दजी की गद्दी (जयपुर)

इस गद्दी की स्थापना तो स्वामी अनभयानन्दजी ने की थी। परन्तु, इसकी प्रसिद्धि स्वामी बालानन्द के समय से हुई। इस गद्दी की शाखाएँ चारों ओर फैली हैं। इनमें हाथीराम का स्थान तिरुपति (दक्षिण भारत), सुरसुरानन्दजी का स्थान सौरोंजी घाट (आबू), भीषमदासजी का स्थान गया (बिहार) तथा रघुनाथ-दासजी की बड़ी छावनी अयोध्या विशेष उल्लेखनीय हैं। इसको ही लश्करी शाखा भी कहते हैं।

४. श्रीटीलाद्वार पीठ (खेलना, भोलास-जयपुर)

टीलाजी पयहारी श्रीकृष्णदासजी के शिष्य और रसिकाचार्य श्रीअग्रदासजी के गुरुभाई थे। रतलाम और इन्दौर में इस सम्प्रदाय के सन्तों का विशेष प्रभाव है। डाकोर का खाकचौक इसी परम्परा के महात्मा मंगलदास ने स्थापित किया था।

५. श्रीसूरकिशोरजी (श्रीजानकीमन्दिर, मिथिला)

श्रीसूरकिशोरजी वात्सल्य-निष्ठा के भक्त थे। राजपूताने से आकर इन्होंने मिथिला में अपनी गद्दी स्थापित की थी। मामा प्रयागदास इन्हीं के शिष्य थे।

६. श्रीबिन्दुकाचार्य महात्मा रामप्रसादजी (बड़ा स्थान, अयोध्या)

रसिकाचार्य रामचरणदासजी 'करुणासिन्धु' इनके प्रशिष्य थे। रामप्रसादजी का सन्तकुल 'बेंदीवाले' के नाम से प्रसिद्ध है। अयोध्या की प्रसिद्ध मनीरामजी की छावनी के संस्थापक महात्मा मनीरामजी श्रीरामप्रसादजी की चौथी पीढ़ी में हुए थे।

७. (क) श्रीजीवाराम युगलप्रियाजी (चिरान, छपरा, बिहार)
(ख) रसिकाचार्य श्रीरामचरनदासजी (जानकी घाट, अयोध्या)

इन्होंने शृंगारसाधना की दीक्षा ली। इनकी दो परम्पराएँ चलीं—एक श्रीलक्ष्मण किला, अयोध्या में और दूसरी इनकी मूल गद्दी चिरान (छपरा) में। श्रीलक्ष्मण किलावाली परम्परा में महात्मा युगलानन्दशरण, महात्मा जानकीवरशरण तथा श्रीरामवल्लभाशरण जैसे प्रतिभाशाली कवि और रससिद्ध साधक हुए। वर्त्तमान स्वामी श्रीसीतारामशरणजी इसी परम्परा में हैं। अयोध्या से गोलाघाट, लक्ष्मण किला, ऋणमोचन घाट उनके मुख्य केन्द्र हैं।

८. श्रीजानकीराजकिशोरीशरण 'रसिकअली' (रसिक-निवास, मिथिला तथा अयोध्या)

रसिक अलीजी शृंगारी साधना के विशिष्ट आचार्यों में प्रमुख हैं। इन्होंने महात्मा रामचरनदास से शृंगारी दीक्षा ली थी। इनकी गद्दियाँ अयोध्या और मिथिला दोनों स्थानों में पाई जाती हैं।

९. महात्मा रामदासजी 'तपसी' (तपसी छावनी, अयोध्या)

तपसीजी कश्मीर के निवासी थे, परन्तु सन्तवेश में अयोध्या में ही रहे और यहीं अपनी ऐहिक लीला संवरण की। अनेक प्रसिद्ध महात्मा इस परम्परा में हुए हैं। सन्त सेवा इस गद्दी की विशेषता है।

१०. श्रीगोमतीदासजी (हनुमन्निवास, अयोध्या)

'हनुमन्निवास' आज शृंगारी परम्परा की गद्दी के रूप में विशेष प्रतिष्ठित है। हनुमन्निष्ठा का भाव मुख्य है।

११. श्रीरूपकलाजी (रूपकलाकुंज, अयोध्या)

श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद 'रूपकला' का आविर्भाव १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में हुआ। इनकी गुरु-परम्परा छपरा में परसा नामक स्थान की वैष्णव गद्दी से चलती है। महन्त रामचरणदास इनके गुरु थे। रूपकलाकुंज के सटे ही दिव्यकलाकुंज है, जिसकी स्थापना श्रीरूपकलाजी के शिष्य श्रीरामपूजाशरणजी ने ने की थी। इन दिनों अयोध्या के रसिक पीठों में यह विशेष उत्कर्ष पर है।

१२. जयपुर-मन्दिर (श्रीप्रमोद, रहस्यवन, अयोध्या)

इसका सम्बन्ध जयपुर की गलता गद्दी से है। महात्मा सियासखीजी की गद्दी आज भी जयपुर में चाँदपोल दरवाजे के निकट सीताराम-मन्दिर में स्थापित है। इस गद्दी के प्रवर्त्तक अग्रदासजी के शिष्य झाँसूदास थे। इस परम्परा में सियासखी, चन्द्रअली और रूपसरस जैसे उत्कृष्ट साहित्यिक महात्मा हुए हैं।

१३. श्रीशीलमणिजी (दरबार श्रीलाल साहेब, अयोध्या)

श्रीशीलमणिजी ने पयहारीदासजी से गुरुदीक्षा ली थी। कनक-भवन से संलग्न उसके द्वार पर ही उत्तर की ओर 'दरबार श्रीलाल साहेब' नाम से गद्दी अबतक स्थापित है। श्रीरामसखेजी के बाद सखा-भाव की साम्प्रदायिक साधना और प्रचार में इस परम्परा के सन्तों ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

१४. श्रीकामेन्द्रमणिजी (साकेत राजमहल, अयोध्या)

श्रीकामेन्द्रमणि सख्यभाव के उपासक थे। सख्य भक्तों की यह शाखा उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाओं के लिए प्रसिद्ध है। श्रीरसरंगमणि जैसे प्रतिभाशाली कवि रसिक-सम्प्रदाय में विरले ही मिलेंगे।

१५. पं० उमापति त्रिपाठी 'कोविद' (नयाघाट, अयोध्या)

पं० उमापतिजी वात्सल्य-निष्ठा के रामभक्त थे।

१६. बाबा रघुनाथदास (बड़ी छावनी, अयोध्या)

महात्मा रघुनाथदासजी दास्यनिष्ठा के प्रमुख सन्त थे।

१७. पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी (जानकीघाट, अयोध्या)

रसिक-साधना के सैद्धान्तिक साहित्य के प्रणयन और प्रकाशन में पं० राम-वल्लभाशरणजी का प्रमुख स्थान है। ये अच्छे विद्वान् और रसज्ञ साधक थे।

१८. महात्मा रघुनाथदास 'रामसनेही' (रामघाट, अयोध्या)

'विश्रामसागर' के रचयिता रघुनाथदास 'रामसनेही' दास्यभाव के विशिष्ट साधक के रूप में प्रख्यात हैं।

१९. नरघोघी (मिथिला)

रामललाजी बालानन्द की शिष्य-परम्परा में हुए।

२०. रामसखेजी (नृत्यराघवकुंज, अयोध्या)

रामसखेजी रामभक्ति में सख्य-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य माने जाते हैं। रीवाँ और मैहर में भी इनकी गद्दियाँ हैं। रामसखेजी माध्व-सम्प्रदाय की गद्दी उडुपी (दक्षिण भारत) की शिष्य-परम्परा में थे।

रामभक्ति की रसिक-शाखा के सभी कवियों की चर्चा न तो सम्भव ही है न अपेक्षित। उनमें से कुछ ही चुने हुए की चर्चा द्वारा हम यह देखना चाहेंगे कि

वैष्णव साधना एवं सिद्धान्त का कितना मधुर मंगलमय शाश्वत प्रभाव इस धारा के साधक कवियों पर पड़ा है और जिनके अध्ययन-अनुशीलन के बिना हमारा यह प्रयास कितना महत्त्वहीन हो जाता। रसिक-साहित्य मुख्यतः मुक्तक शैली में अभिव्यक्त हुआ है—कवित्त, सवैया, कुण्डलिया, दोहा, बरवै, रेखता, गजल, सोहर, कजरी, चैता, झूमर, बारहमासा, आल्हा आदि सभी प्रकार के गीतों और लोकगीतों में रचनाएँ मिलती हैं। रसिक-शाखा में गद्य का नितान्त अभाव नहीं है, यद्यपि यह अपेक्षाकृत कम है। रसिकाचार्य महात्मा रामचरणदासजी 'करुणासिन्धु' ने श्रीरामचरितमानस की एक बृहत् टीका तैयार की और फिर तो टीकाओं की एक परम्परा ही चल पड़ी। काष्ठजिह्वा स्वामी की 'मानस-परिचर्या, सरदार कवि का 'मानस-रहस्य', काशिराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह का 'मानस-परिचर्या-परिशिष्ट', गुरसहाय का 'सन्तमन उन्मनी टीका', और श्रीबैजनाथ कुर्मी की 'मानस-भाषाटीका' महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। वाल्मीकीय रामायण', 'योगवाशिष्ठ' तथा 'महारामायण' का अनुवाद भगवानदास खत्री ने किया। हिन्दी की गद्यशैली के विकास में इन टीकाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अग्रदास 'अग्रअली' की चर्चा पहले आ चुकी है। इनका आविर्भाव राजस्थान में १६वीं शती के उत्तरार्ध में हुआ था। बाल्यावस्था में ही श्रीकृष्णदासजी पयहारी के शरणागत हुए और पयहारीजी के साकेत-वास के अनन्तर अपनी गद्दी स्थापित कर ली। इन्हें सीताजी की प्रियसखी चन्द्रकला का अवतार माना जाता है। इनकी दो रचनाएँ हिन्दी में मिलती हैं : ध्यान मंजरी और कुण्डलिया।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण :

षोड़श बरस किशोर राम नित सुन्दर राजे।
रामरूप को निरखि विभाकर कोटिक लाजें॥
अस राजत रघुवीर धीर आसन सुख कारी।
रूप सच्चिदानन्द वाम दिसि जनक कुमारी॥
नगन जरे छबि भरे विविध भूषन अस सोहैं।
सुन्दर अंग उदार विदित चामीकर को हैं॥ [१]
वहज चलौं जो आपनीं, अनखि मरैंगे लोग।
अनखि मरैंगे लोग, वेद कुल कानिन करिहौं।
भली बुरी सिरधारी अनन मारग अनुसरिहौं॥
देव पितर विधि अविधि, लोक परलोक न सूसो।

१. ध्यानमंजरी, पृ० ११।

सरबसु सीताराम कोऊ रूसो कोउ तूसो ।।
'अग्र' सुमतिपथ हरि बरौं, करिहौं दृढ़ संयोग ।
सहज चलौंगी आपनी अनखि मरैंगे लोग ।।[1]

देखो झूलत राघो डोल ।
जनक सुता लीने संग सोभित गौर स्याम तन लोल ।।
हीरा पन्ना लाल पिरोजा रतन खचित बेमोल ।
क्रीड़त राम जानकी दोऊ बजैं दुन्दुभी ढोल ।।
हँसत परसपर प्रीतम धारी आनँद बढ्यो सचोल ।
श्री 'अग्रअली' सुनि-सुनि सुख पावति बोलहिं मीठे बोल ।।[2]

जगत जपत रघुनाथ नाम सब,
राम करत सीता को सुमिरन ।
रामचन्द्र को ध्यान धरत मुनि,
बसति जानकी रामचन्द्र मन ।।
सिव विरंचि के धनुष धरन धन,
रघुवर के मैथिली महाधन ।
परमहंस कुल राम भजन भर,
'अग्र स्वामि' यक पतनी को जन ।।[3]

नाभादास नामाअली : श्रीनाभादासजी का प्रसंग पहले आ चुका है। सम्भवत: ये जन्मान्ध थे। इनका दीक्षा का नाम नारायणदास और सखी-भाव का नाम 'नामाअली' था। ये गो० तुलसीदासजी के समकालीन थे। इनका 'भक्तमाल' सन् १५८५ ई० में लिखा गया।

जा दिन सीता जन्म भयो ।
ता दिन ते सबही लोगनि को मन को सूल गयो ।।
अध्वर आदि अवनि तें उपज्यो दिवि दुन्दुभी बजाए ।
बरखत कुसुम अपार जै व्योम विमानन छाए ।।

---

१. अग्रदास-कृत कुण्डलिया, पृ० ११।

२. अग्रदास-पदावली, पत्र २०।

३. वही, पत्र ६।

जनकसुता दीपक कुल मण्डन सकल सिरोमनि नारी ।
रावन मृत्यु कुमति अमरन गण, अभयदान भयहारी ।।
सुन्दर शील सुहाग भाग की महिमा कहत न आवै ।
परम उदार राम का प्यारी, पद रज 'नाभो' पावै ।। [१]

बाल कृष्ण 'बालअली' : बाल अलीजी अग्रदास की पाँचवीं पीढ़ी में आते हैं । 'ध्यानमंजरी' और 'नेह-प्रकास' इनकी मुख्य रचना है । इनके अतिरिक्त सिद्धान्त-तत्त्वदीपिका, दयालमंजरी, ग्वालपहेली, प्रेमपहेली, प्रेमपरीक्षा, परतीतपरीक्षा भी इनकी रचनाएँ हैं ।

दुलहिया दूलह बने दिलदार ।
श्री जनक लली ये फली भाग बस भली देव तरु डार ।।
निमि कुल वंश चन्द्रिका प्रगटी अवध कियो उजियार ।
श्री 'बाल अली' रसिकेन्द्र राज की जीवन प्राण अधार ।।[२]

बालानन्द : श्रीबालानन्दजी की 'लश्करी शाखा' रामभक्तों का एक प्रमुख समुदाय माना जाता है । इनकी उपासना राम के बालरूप की थी ।

भवन गवन प्रभु कीजै सेज बिछी, भगन गवन प्रभु कीजै ।।
परिश्रय भए सभा सब बैठे, सबको आयसु दीजै ।
रामदूत हनुमान पवनसुत, संग चौकि को लीजै ।।
कमलमुखी कमला मुख हेरे प्रेम प्रीति रस भीजै ।
मन क्रम वचन तुम्हें प्रभु सेवै, चपला अचल करीजै ।।
मन्द-मन्द मुसकात छबीले बोलत बचन रसीले ।
बालानन्द को देहे किंकरी, श्री पति ऐसे सुसीले ।। [३]

---

१. फुटकर पद ।

२. फुटकर पद ।

३. भजन-रत्नावली, पृ० २३१ ।

रामप्रियाशरण 'प्रेमकली' : मिथिला के रसिक सन्त नेहकलीजी के शिष्य श्रीप्रेमकलीजी अपने ग्रन्थ 'सीतायन' के लिए चिरस्मरणीय रहेंगे। मानस की भाँति 'सीतायन' में भी सात काण्ड हैं—बालकाण्ड, मधुरमालकाण्ड, जयमालकाण्ड, रसमालकाण्ड, सुखमालकाण्ड, रसालकाण्ड और चन्द्रिकाकाण्ड।

छबीली जनक ललिन की जोरी।
करि सिंगार निरखति नयननि भरि, जननि सकल तृण तोरी।
छमछम चलति अरति पुनि दौरति, मणि प्रतिबिंब गहोरी॥
पुनि तेहिते बतलाति बात मृदु, भई जिमि चन्द चकोरी।
हँसति हँसावति अति मन भावति, कढ़ि छबि सिंधु हलोरी॥
यह बिधि बाल विनोद करति सब हँसति परस्पर टकन टकोरी।
'प्रियाशरण' अलबेलिन की छवि लखि शतरती लजोरी॥[१]

रामप्रपन्न (मधुराचार्य) 'मधुरप्रिया' : ये परम प्रसिद्ध तत्त्वज्ञ सन्त और गलता गद्दी (जयपुर) के आचार्य थे। सर्वप्रथम इन्होंने ही वेद, उपनिषद्, तन्त्र, वाल्मीकीय रामायण इत्यादि प्राचीन ग्रन्थों से शृंगार-परम्परा की प्राचीनता सिद्ध की थी। संस्कृत में इनके लिखे 'माधुर्य-केलिकादम्बिनी, 'भगवद्गुणदर्पण' और वाल्मीकिरामायण की शृंगारपरक टीका और 'रामतत्त्वप्रकाश' ये चार ग्रन्थ मिलते हैं।

सखि मैं आजु गई सिय कुंज।
देखि नृपति किसोर दौरे घेरि पिचका पुंज॥
तब कही मैं सुनहु लालन लाल कौसलचंद।
फाग मिस का करहु चोरी चलहु हमरे संग।
'मधुर प्रीतम' आजु तुम कौ जीतिहौं रतिरंग॥[२]

रामसखे : सख्य-परम्परा के प्रधान आचार्य के रूप में आपका स्मरण किया जाता है। आप चित्रकूट के कामदवन में १२ वर्ष तक अनुष्ठानपूर्वक नाम-जप करते रहे। उसी समय का यह दोहा है :

---

१. सीतायन, मधुरमाल काण्ड, पृ० ४१।
२. षड्ऋतु-पदावली, पृ० ११०।

अरे सिकारी निर्दयी करिया नृपति किसोर।
क्यों तरसावत दरस कों राम सखे चित चोर॥

पुनः आराध्य के दर्शनोपरान्त—

अवधपुरी से आइके, चित्रकूट की खोर।
रामसखे मन हर लियो, सुंदर जुगुल किसोर॥

रामसखेजी की प्रमुख रचनाएँ हैं—द्वैतभूषण, पदावली, रूपरसामृतसिन्धु, नृत्यराघवमिलन, दास्यपद्धति, दानलीला, बानी, मंगलशतक और रासमाला।

कितै दिन ह्वै जु गये बिनु देखे।
मेचक कुटिल बदन जुलफन छबि राजमाधुरी वेषे॥
केसर तिलक कंजमुख श्रमजल ललित लसत दोउ रेखैं।
दसरथ लाल लाल रघुवर बिनु बहुत जियब केहि लेखैं॥
डूबि डूबि उर स्याम सुरति कर प्रान रहै अवसेषैं।
रामसखे बिरहिनि दोउ अँखियाँ चाहत मिलन विशेषैं॥[1]

प्रेमसखी : आप सीताजी की सखी के रूप में स्मरण किये जाते हैं। आप आजीवन चित्रकूट में निवास कर 'दिव्य दम्पति' की 'विहार-लीला' का ध्यान और वर्णन करते रहे। 'होली' और 'श्रीसीतारामनखशिख' आपके प्रमुख ग्रन्थ हैं।

कागद तौन उठै करते कर लेखनि कंपित कौन उठावै।
लालन दृष्टि परो जबते प्रिय नाम सुने अँसुवा झरि लावै॥
'प्रेमसखी' मधु की मखियाँ मन जाय फँस्यो अब हाथ न आवै।
मूरति श्री रघुनन्दन की लिखते न बनै लखते बनि आवै॥[2]

कृपानिवास : रसिक-शाखा के ये एक प्रमुख सन्त हैं। ये दक्षिण भारत के निवासी थे और सारे देश के प्रमुख तीर्थों में सत्संग करते रहे। मिथिला में श्रीहनुमानजी से मधुरभाव की दीक्षा मिली और उस 'अपरूप रूप' में ये सदा के लिए खो गये। इनके लिखे अट्ठारह ग्रन्थ हैं, जिनमें 'रूपरसामृतसिन्धु', 'भावनाशतक' और 'लगनपचीसी' बहुत प्रसिद्ध हैं।

---

१. रूपरसामृतसिन्धु, छन्द १७३।

२. महात्मा हनुमानशरण के संग्रह से।

बनि ठनि आज नागरि नव जोवन नवला रस छाये ।
सावन तीज मनावन निकसी मनभावन पियनैन सिराये ।।
चहुँदिसि लोचन चपल चलत जनु खंजन अंजन मद के धाये ।
'कृपानिवास' रामपटरानी रसदामिनि हँसि रस बरसाये ।।[१]

रामचरणदास : रसिक-परम्परा में आप परमोत्कृष्ट सन्त हुए, जिन्हें 'किरुणासिन्धु' नाम से सभी जानते हैं। आपने श्रीरामचरितमानस की शृंगारपरक टीका लिखी और इसके अतिरिक्त आपके लिखे २५ ग्रन्थ हैं, जिनमें 'सियारामरसमंजरी', 'विरहशतक', 'कौशलेन्द्ररहस्य' तथा 'रामनवरत्नसारसंग्रह' मुख्य हैं। आपके शिष्यों में जीवारामजी 'युगलप्रिया', जानकीराजकिशोरीशरण, 'रसिक अली' और हरिदास ने रसिक-साधना के मार्ग को विशेष रूप में प्रशस्त किया। आपका एक दोहा आपकी अन्तर्भावना का बोधक है।

नखसिख सीताराम छबि जब लगि हृदन न बास ।
रामचरण सब साधना तब लगि लखब निरास ।।

सब तजि अवधपुरी रहिए ।
राम रूप हिय रामनाम मुख कर सेवा गहिए ।
मज्जन पान सदा सरयू को समदुख सुख सहिए ।।
जहँ तहँ रामचरित सुनिए नित सहज सुखहिं लहिए ।
श्री रामचरण रघुबीर कृपा तें कछु फल नहिं चहिए ।।[२]

महाराज विश्वनाथ सिंह : आपकी गणना प्रमुख रामभक्तों में की जाती है। आप नित्य श्रीसीताराम की अष्टयाम भावना सखी-रूप में किया करते थे। एक बार चित्रकूट के नित्यरास में आप सखी-रूप में सम्मिलित हो चुके थे। आपके लिखे कुल ३८ ग्रन्थ हैं, जिनमें 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक प्रमुख है।

उठो कुँवर दोउ प्रान पियारे ।
हिमरितु प्रात पाय सब मिटिगे नभ सर पसरे बहु कर तारे ।।

---

१. झूलन-संग्रहावली, पृ० १८।

२. रामनवरत्नसारसंग्रह, पृ० ८५।

जगबन महँ निकस्यो हरषित हिय विचरन हेत दिवस मनियारे।
विश्वनाथ यह कौतुक निरखहु रविमनि दसहुँ दिसनि उजियारे ॥[1]

जीवाराम 'युगलप्रिया' : जीवारामजी ने जानकी घाट पर रामचरितदास 'सम्बन्ध-दीक्षा' ली, फिर चिरान (छपरा) जाकर, कुटी बनाकर सेवा-भज में संलग्न रहने लगे। ये अयोध्या बराबर आया करते थे। इनक 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। 'रसिकप्रका भक्तमाल' के अतिरिक्त इनकी तीन रचनाएँ हैं—पदावली, शृंगाररसरहस्य अष्टयामवार्त्तिक।

जय श्री चन्द्रकला अलबेली।
अति सुकुमारि रूपगुन आगरि नागरि गर्व गहेली।
निमिकुल प्रगटि संग सिय प्यारी प्रियकारी रसकेली ॥
चन्द्रप्रभाजी के सुकृत कल्पतरु उलही लता नवेली।
कंचनवन कमला प्रमोदवन लीला लहरी मेली ॥
मोहन जंत्र बीन स्वर टेरति प्रतिमा चित्त लिखेली।
'युगल प्रिया' अनुराग सदा संबंध राग की डेली ॥[2]

काष्ठजिह्वास्वामी : काष्ठजिह्वास्वामी उच्च कोटि के शृंगारी भक्त थे आपके लिखे १५ ग्रन्थ हैं, जिनमें 'श्यामसुधा', 'रामरंग', 'जानकीबिन्दु', 'रामलगन और 'पदावली' मुख्य हैं। आप काशिनरेश महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिं के गुरु थे।

सियजू की टहल में नित रहिहों।
सतगुरु जस कछु राह बताई वाही रहनि से ये अहिहों ॥
काम क्रोध कौ भीत बनैहों काहूते कबहुँ न कछु चहिहों ॥
वाद विवाद नहीं काहूँ सो सब मत एकै कर गहिहों ॥
सियपद में या चंचल मन को प्रेमरज्जु से धरि नहिहों।
इष्ट देवता श्री सियाजू की पदरज संतन से लहिहों ॥[3]

---

१. साहित्य-संकलन, पृ० ६६।

२. खोजरिपोर्ट, १९१७, पृ० २०७।

३. जानकीबिन्दु, पृ० ६६।

युगलानन्यशरण 'हेमलता' : महात्मा युगलानन्यशरणजी रसिक-शाखा के सर्वोत्कृष्ट सन्त के रूप में पूजे जाते हैं। इनके लिखे ८४ ग्रन्थ हैं, जिनमें रसिक-साधना का सारतत्त्व एवं रहस्य व्यक्त हुआ है। संस्कृत और हिन्दी के तो ये अप्रतिम विद्वान् थे ही, अरबी और फारसी में इनकी गहरी पैठ थी। इनकी भाषा में सूक्तियों की भावपद्धति मिलती है।

ललन कैसे निबहेगी मोरी तोरी प्रीत।
जो भाखत हिय बीच प्राणप्रिय तेहि पथ चलत सभीत॥
महा मलीन मूल परगटवपु तासन नेह प्रतीत।
पलभर कट्यौ न मानत मो मन रचत रीत विपरीत॥
'युगल अनन्य शरण' तापित मन कीजिय सपदि सुसीत॥[1]

बनादास : महात्मा बनादास को भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग आदि पद्धतियों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त था। चौदह वर्ष की अखण्ड कठोर तपस्या के बाद इन्हें इष्टदेव के साक्षात् दर्शन हुए। फिर, ये 'भवहरणकुंज' में रहने लगे। ये दास्य-भाव के उपासक थे, परन्तु इनकी कृतियों में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—सभी रसों के पद मिलते हैं। इनके लिखे ६१ ग्रन्थ हैं, जिनमें 'उभयप्रबोधक रामायण' एक महाकाव्य है।

पिय सो अन्तर ना सहै, झीना बसन पहार।
रोम रोम में रमि रहा, बनादास दिलदार॥
ब्याही जान्यो पीवसुख, अनब्याही अनमेल।
बनादास कैसे लखै खेलत गुड़िया खेल॥
बिरह बान लाग्यो नहीं, भयो न प्रिय को संग।
बनादास कैसे चढ़ै निज सरूप को रंग॥
अकथनीय मन बुद्धि पर, कहै कवन विधि बैन।
बनादास जाने कोऊ, सखी सखी को सैन॥[2]

---

१. उत्सवविलासिका।

२. विवेकमुक्तावली।

पं० रामवल्लभशरण 'प्रेमनिधि' : पण्डितजी उच्च कोटि के विद्वान् होने के साथ ही एक महान् भक्त भी थे। इन्हीं के अध्यवसाय और पाण्डित्य का यह फल है कि रसिक-शाखा के प्रामाणिक आकर-ग्रन्थ टीका-सहित प्रकाशित रूप में अब प्राप्त हैं। महात्मा विद्यादास से इन्होंने रसिक-भाव का सम्बन्ध लिया और 'प्रेमनिधि' स्वरूप से भावना करने लगे।

हे सिय पिय तव रासरस अति गंभीर अथाह।
व्यास वाक्य में हैं भरे, पावत नहिं कोउ थाह॥
तामें मज्जन करन को, मम हिय बढ्यो उछाह।
पैं लघुमति नहिं पैठ सकौं, विना कृपा सिय नाह॥
सखिन सिरोमनि चन्द्रकले, तोहि विनवौं कर जोर।
रसमय बुद्धि देहु मोंहि, वरणों रहस हिलोर॥
रसवर्द्धिनि टीका यह, रसिकन स्वाद रसाल।
होय जगत बिख्यात अलि, मैं तो हौं तव बाल॥ [1]

सीतारामशरण भगवानप्रसाद 'रूपकला' : सरकारी नौकरी करते हुए भी रूपकलाजी का भजन-भाव निरन्तर चलता रहता था। इनकी उपासना रसिक-भाव की थी। इन्हें महात्मा रामचरणदास से पथ-प्रदर्शन मिला था। अन्त में ये अयोध्या चले आये और हनुमत्-निवास के महात्मा गोमतीदास के साथ रहने लगे। ४० वर्ष अखण्ड अवधवास कर इन्होंने प्रियतम की चिद्विलास-लीला में प्रवेश किया। इनके लिखे ७ ग्रन्थ हैं, जो विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हैं; परन्तु १० ग्रन्थ ऐसे हैं, जो रसिक साधकों के लिए कण्ठहार हैं। भक्तमाल की टीका (भक्तिसुधाबिन्दुस्वादतिलक), मानस अष्टयाम और भागवत गुटका इनमें मुख्य हैं।

सुमुख सुलोचन सरस सत चिदानन्द छविधाम।
प्राण प्राण जिय जीव के सुख के सुख सियराम॥
पवनतनय विज्ञानघन कपि बल पवन समान।
रामदूत करुणायतन, बुद्धि विवेक निधान॥
श्री हरिगुरु कर कंज पहि अर्पित मन बच काय।
'रुपया' सोई तुच्छ अति, कृपया ले अपनाय॥ [2]

---

१. बृहत्कोसलखण्ड की टीका, सखारासप्रकरण, पृ० १।
२. भक्तिसुधाबिन्दुस्वादतिलक (समर्पण)।

सियालालशरण 'प्रेमलता' : प्रेमलताजी की गणना शृंगारी परम्परा के रससिद्ध मर्मवेत्ता सन्तों में की जाती है। इनका 'बृहद् उपासना-रहस्य' रसिक-सम्प्रदाय का उपजीव्य ग्रन्थ है। इनके लिखे कुल ३३ ग्रन्थ हैं, जिनमें 'बृहद् उपासना-रहस्य', 'नामतत्त्वसिद्धान्त', 'षोडशभक्ति', 'पंच संस्कार' और 'विश्व-विलासवीथिका' मुख्य हैं।

> डरत मन बरनत युगल विलास।
> हात बड़ेन की बात गुप्त अति प्रगटैं तो लहे त्रास।
> कहत आन होय जात आनहों होत रसा आभास।।
> मौन रहै लखि नीक मुदित सोइ कहि न करै परकास।
> जाने बाढ़त हर्ष जनाये होत सु हृदय हरास।।
> अस विचारि जे चतुर उपासक बार्गाहि भेद न खास।
> कहहिं न खोलि मर्म निज प्रभु कर जहँ तहँ दासी-दास।।
> जुगवत तिन्हैं प्राण सम सो नृप करत अधिक विश्वास।।
> जो प्रभु सर्व चराचर नायक घट घट जाकर वास।
> बरषत मेघ जासु डर निसिदिन बहत पवन उन्चास।।
> पालत हरि, विधि भरत, पाइ रुख काल करत संग्रास।
> सर्बहि नचावत नाच लखत कोउ बिरले सहि परिहास।।
> रँगे रहत तेहि रंग साधुजन तजि प्रपंच जग आस।
> 'प्रेमलता' रटि नाम देह भरि पहुँचत पुनि प्रभु पास।।[1]

श्रीरामकिशोरशरण 'रसमोदलता' : श्रीरामकिशोरशरणजी सौ से ऊपर की आयु पूरी कर अभी कुछ वर्ष पूर्व नित्यलीला में सदा के लिए लीन हो गये। आधुनिक युग में अखण्ड अष्टयाम की उपासना एव रसिक-भाव में निरन्तर रसमग्न रहनेवाले ये अयोध्या में एक आदर्श सन्त हो गये। ये हनुमन्निवास से सटे कोठे पर रहते थे, इसलिए इन्हें 'कोठेवाले सरकार' भी कहते हैं। ऐसा नियम-निष्ठ अष्टयाम उपासक सन्त विरल हैं। कृष्णाश्रयी शाखा की मधुरोपासना में जो स्थान श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार का है, रामाश्रयी शाखा की रसिकोपासना में वही स्थान श्रीरामकिशोरशरणजी महाराज श्रीरसमोदलताजी को है। इन दोनों के चरण-प्रान्त में रहने का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को प्राप्त हुआ और बहुत निकट से देखने-जानने का अवसर मिला। ऐसे सन्त आज के युग में दुर्लभ है।

---

1. प्रेमलता-पदावली, पृ० ५६-५७।

इनकी शुभ प्रेरणा से रसिक-सम्प्रदाय के अनेकानेक ग्रन्थ प्रकाश में आये । इनके पदों का एक संग्रह अभी-अभी प्रकाशित हुआ है । उसमें से एक पद :

करि सोरहों श्रृंगार पियाघर जाना ही होगा ।
रति बिछिया प्रेमा सुमहावर चमकत प्रभा अपार ।
घृत स्नेह तदीय सुनूपुर मधु मदीय मदकार ।।
अरु परसादी सोई धारो कर मनसिज उदगार ।
मान किंकिनी कटि में सोहै, प्रणय उर स्थल हार ।।
कुच पर राग अनुराग कंठमणि महाभाव नथधार ।
रूढ़ सिंदूर अधिरूढ़ सू कज्जल, सौभागिनी सुमकार ।।
मोहन मोदन कर्णफूल धरु जो सोहाग निस्तार ।
सीस फूल मादन मनमथ सम शीश ऊपर सुठिधार ।।
या में नित्य विलास सहस्त्रधा कलि अपरम्पार ।
रति स्थायी की यह सीमा प्रबल अमित रसदार ।।
यहि विधि करि सिंगार मनोहर प्रीतम मन बसकार ।
व्यक्त यौवना तू अति सुन्दर गर्वीली गतिधार ।।
रमकि झमकि के पिय संग मिलिके देहि सुरति सुखसार ।
तब हों सौभागिनी तू पिय के ह्वै जैहो गलेहार ।
तूं वे, वे तूं ऐक्य होय के फिर नहि द्वैत प्रचार ।
यथा अम्बुनिधि मिलिके सरिता ह्वै नहिं एकाकार ।।
शिव शुक सनक शेष श्रुतिहनुमत औ मुनि रसिक उदार ।
यह उपासना रस समुद्र में मज्जत साँझ सकार ।।
बिनु निर्हेतुकी कृपा सीय की यामें नहिं अधिकार ।
यह 'रसमोद' विना रसवेता जानत नाहि गँवार ।।

कृष्णाश्रयी शाखा की रसिक-साधना का साहित्य

रामं लोकाभिरामं रघुवरतनयं कोशलामुक्तिपुर्याम्
खेलन्तं कामकेलिं सुविमलसरयूतीरकुञ्जे नटन्तम् ।
जानक्या चारुहासच्छविविशदशरच्चन्द्रिका कान्तिमत्या
संयुक्तं राजवेषं ललितरसमयं ब्रह्मपूर्णं नमामि ।।

(भुशुण्डिरामायण)

नख सिख सीताराम छबि जब लगि हृदय न बास ।
राम चरण सब साधना, तब लगि लखब निरास ।।

महात्मा सूरदास

महात्मा सूरदास अष्टछाप के कवियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान रखते हैं। इनकी कृष्णभक्ति श्रीवल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग—शुद्धाद्वैत-दर्शन की भाष्यरूपा थी। आचार्य वल्लभ ने भक्ति-प्राप्ति के लिए पुष्टि, अर्थात् 'कृपा' को ही एकमात्र हेतु माना है। सूरदासजी ने भी इसका समर्थन किया है।[१] इन्होंने 'सूरसगार' के तृतीय स्कन्ध के ग्यारहवें पद में भक्ति के दो भेद किये हैं: सकाम और निष्काम। सकाम और निष्काम दोनों प्रकार की भक्ति परम मंगलकारक हैं। भक्ति के ये भेद श्रीमद्भागवत के अनुसार हैं। भक्ति की निष्काम स्थिति में भक्त को किसी चीज की स्पृहा नहीं रहती। न किसी के जाने का शोक ही उसे होता है, न आने

---

१. जापर दीनानाथ ढरै।
सोई कुलीन, बड़ो सुन्दर सोई, जापर कृपा करै ।।
राजा कौन बड़ो रावण तें गर्वहि गर्व गरै ।
रंकन कौन सुदामा हू ते आपु समान करै ।।
रूपन कौन अधिक सीता तें, जन्म वियोग भरै ।
अधिक कुरूप कौन कुबिजा ते हरि पति पाइ बरै ।।
योगी कौन बड़ो शंकर तें, ताको काम छरै ।
कौन विरक्त अधिक नारद तें निसिदिन भ्रमत फिरै ।।
अधम जू कौन अजामिल हू तें, जम तहँ जात डरै ।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु फिरि फिरि जठर जरै ।।

का आनन्द ही। उसके वचनों में कोमलता रहती है एवं प्रभु-प्रेम में वह सदा मग्न रहता है।[१]

भक्ति की सुगमता के कारण ही भक्तों ने इसे सर्वोच्च पद दिया है। शरणागति में निर्भयता का सुख भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है। शरणागत की रक्षा करना करुणासागर का विरद है।[२] इसीलिए, सूर ने ज्ञान या योगमार्ग को कठिन और संकीर्ण एवं भक्तिमार्ग को सरल तथा प्रशस्त कहा है।[३] एक बात और है। निर्गुणोपासना से जहाँ मन को स्थिरता प्राप्त नहीं होती (कोई आधार नहीं मिलने के कारण), वहाँ सगुणोपासना साधार एवं मन को विश्राम देती है।[४] इसीलिए, सूर की गोपियाँ उद्धव के निर्गुण ज्ञानोपासना पर खीझती हैं और अपनी प्रेम-साधना को ही सच्चा ज्ञान सिद्ध करती हैं।[५]

इस तरह, सूरदासजी ने भक्ति की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। उनकी दृष्टि में भक्ति निखिल कार्यों की साधिका है। जप, तप, वेदपाठ आदि सभी लाभदायक होंगे, पर यदि भक्ति नहीं है, तो इनमें से एक भी काम नहीं आ सकेगा।

---

१. (क) भक्ति पन्थ को जो अनुसरै।
पुत्र कलत्र सों हित परिहरै॥
असन वसन की चिन्ता न करै।

—सूरसागर, २।२०, ना० प्र० स०, ३६४।

(ख) गये सोच आये नहिं आनन्द, ऐसो मारग गहिये।
कोमल बचन दीनता सबसों, सदा अनन्दित रहिये॥

—सूरसागर, २।१८,ना० प्र० सं०, ३६१।

२. 'जो प्रभु के शरणागत आवै। ताकों प्रभु क्यों कर बिसरावै॥
शरण गये को को न उबार्यो॥
जब जब भीर परी सन्तन कों, चक्र सुदर्शन तहाँ सँभार्यो।

—सूरसागर, ३।१४, न० प्र० सं०, १४।

३. काहे को रोकत मारग सूधो।
सुनहु मधुप, निर्गुण-कंटक तें राजपन्थ क्यों रूँधो॥
राजपन्थ तें टारि बतावत उरझ, कुबील, कुपैंड़ो।
सूरजदास समाय कहाँ लौं अज के बदन कुम्हैंड़ों॥

४. रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चक्कृत धावै।
सब बिधि अगम बिचारहि तातें सूर सगुन लीला पद गावै॥

५. अहो अजान, ज्ञान उपदेसत, ज्ञानरूप हमहीं।
निसिदिन ध्यान सूर प्रभु को अलि, देखत जित तितहीं॥

'ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं'—इस सिद्धान्त के स्थान पर उनका सिद्धान्त था—'भक्ति के बिना मुक्ति नहीं।' कर्म के बन्धनों से मुक्ति के लिये तो भक्ति ही एकमात्र साधन है—'सूरदास भगवन्त भजन बिनु कर्म रेख न कटी।'' अतः, उनके लिए भक्ति ही व्रत, संयम, योग, स्वाध्याय, तीर्थ आदि सब कुछ थी। [1] इतना ही नहीं, भक्ति के बिना तो जीना भी कठिन है। [2]

श्रीकृष्ण के दिव्य लीला-गान में मग्न रहते हुए सूरदासजी अखिल ब्रह्माण्ड को भी प्रभु की उपासना में रत देखते हैं। [3]

नारदभक्तिसूत्र (सं० ८२) के अनुसार, भक्ति के ग्यारह भेद हैं: गुण-माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और परमविरहासक्ति। सूरसागर में हमें भक्ति के ये सभी प्रकार प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु, सूरदास की साम्प्रदायिक उपासना वात्सल्य भाव की है। अतः, इनमें वात्सल्यासक्ति की ही प्रधानता है। इसीलिए, सूरसागर में श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं से सम्बद्ध पद अधिक हैं। यों तो सूरसागर में गोपियों की उपासना मधुर भाव की है तथा अन्य भक्तों की उपासनाओं में भी लगभग सम्पूर्ण भाव आ ही जाते हैं। परन्तु, ऐसा श्रीमद्भागवत के आधार पर, कथा का वर्णन करने के कारण है।

---

१. यहै जप, यहै तप, यम, नियम, व्रत यहै, यहै मम प्रेमफल यहै पाऊँ।
यहै मम ध्यान, यहै ज्ञान, सुमिरन यहै, सूर प्रभु देहु हौं यहै पाऊँ॥
—सूरसागर (ना० प्र० स०, १६७)।

२. तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूटि गये कैसे जन-जीवत ज्यों पानी बिन प्रान॥
—सूरसागर (ना० प्र० स०, १६९)।

३. हरिजू की आरती बनी।
अति विचित्र रचना रचि राखी परति न गिरा गनी॥
कच्छप अध आसन अनूप अति, डाँड़ी शेष फनी।
मही सराव, सप्त सागर घृत, बाती शैल घनी॥
रवि शशि ज्योति जगत परिपूरण हरत तिमिर रजनी।
उड़त फूल उडगन नभ अन्तर अंजन घटा अनी॥
जाके उदित नचत नाना विधि गति अपनी अपनी।
काल कर्म गुण आदि अन्त नहिं, प्रभु इच्छा रचनी॥
यह प्रताप दीपक सु निरन्तर लोक सकल भजनी।
सूरदास सब प्रकृति धातुमय अतिविचित्र सजनी॥
—सूरसागर (ना० प्र० स०, ३७१)।

श्रीवल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण अष्टछाप के सभी कवियों की उपासना वात्सल्य भाव की है। उनमें कुछ कवियों पर मधुरोपासक भक्त कवियों का भी प्रभाव पड़ा है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति की विशेषता लीलागान में ही चरितार्थ होती है। इस मार्ग में भक्त हरि की विभिन्न लीलाओं का गान कर भगवान् की भक्ति में लीन होता है। सूरदासजी का 'सूरसागर' हरि-लीला-सम्बन्धी मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, सन्ध्या, आरती और शयन एवं अन्य मधुर लीलाओं आदि विषयों पर गाये गये पदों का ही संग्रह है। इन पदों में सूरदासजी ने अपने आराध्य-देव श्रीकृष्ण की लीलाओं का विविध रूपों में वर्णन किया है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के सभी अष्टछाप के कवियों ने भगवान् श्रीकृष्ण के लीला-गान को ही परम सुख माना है। महात्मा सूरदास ने नीचे के एक ही पद में इसका रहस्योद्घाटन कर दिया है :

सो सुख नन्द भाग्य तैं पायौ।
जो सुख ब्रह्मादिक कौं नाहीं, सोई जसुमति गोद खिलायौ ॥
सोइ सुख सुरभि बच्छ बृन्दाबन, सोइ सुख ग्वालनि टेरि बुलायौ।
सोइ सुख जमुना कूल कदँब चढ़ि, कोप कियौ काली गहि ल्यायौ ॥
सुख ही सुख डोलत कुँजनि मैं, सब सुख निधि बन तैं ब्रज आयौ।
सूरदास प्रभु सुख सागर अति, सोइ सुख सेस सहस मुख गायौ ॥

सूरदासजी ने अपने अन्तिम समय में चतुर्भुजदासजी के प्रश्नोत्तर में सम्पूर्ण 'सूरसागर' को ही गुरुमहिमा का वर्णन कहा था। उनकी दृष्टि में गुरु और गोविन्द एक ही थे। उनकी रसना ने गुरु-स्तवन किया :

भरोसो दृढ़ इन चरननि केरो।
श्री बल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो ॥
साधन नाहिं और या कलि में जासों होय निबेरो।
सूर कहा कहै द्विबिधि आँधरो बिना मोल को चेरो ॥

उनका 'सूरसागर' हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। इसके अतिरिक्त 'सूर-सारावली' एवं 'साहित्यलहरी' भी इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

नन्ददास

साहित्यिक साधना एवं श्रीकृष्ण-भक्ति के संवर्द्धन के दृष्टिकोण से अष्ट-छाप के भक्त कवियों में सूरदासजी के बाद नन्ददास जी ही आते हैं। ये भक्तिरस के पूर्ण मर्मज्ञ थे। नाभादासजी के भक्तमाल में इनके सम्बन्ध में संक्षिप्त परिचय मिलता है।[1] भगवत्कृपा से श्रीविट्ठलनाथजी ने इन्हें सांसारिक आसक्ति से मुक्त कर श्रीकृष्ण की भक्ति में लगा दिया। इन्हें विट्ठलनाथजी से दीक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ये नवनीतप्रिय श्रीकृष्ण के दर्शन कर भावविभोर हो उठे और उन्हें देहानुसन्धान नहीं रह गया। चेत होने पर इनकी काम्य वाणी ने भगवान् की लीलारसानुभूति का मांगलिक गान किया। हृदय में भगवत्प्रेम की भागीरथी बहने लगी। गोवर्धन में श्रीनाथजी के दर्शन करने के बाद ये किशोर-लीला के सम्बन्ध में पद-रचना करने लगे। बाद में, श्रीकृष्ण-लीला का प्राणधन रास-रस ही उनकी काव्य-साधना का मुख्य विषय हो गया। ये कभी गोवर्धन और कभी गोकुल में रहते थे।

नन्ददास ने गोपी-प्रेम का अत्यन्त उत्कृष्ट आदर्श अपने काव्य में निरूपित किया है। ब्रज-काव्यसाहित्य में रास-रस का पयोधि ही इनकी लेखनी से उमड़ उठा। नित्य नवीन रास-रस, नित्य गोपी और नित्य श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य में ही वे रात-दिन सराबोर रहते थे। इनकी दृढ़ मान्यता थी :

रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव को, निधरक बरनौं ताहि ॥

नन्ददासजीकी भक्ति-भावना : नन्ददासजी ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुकूल भक्ति का निरूपण किया है। इनके अनुसार भक्ति ही मुक्ति की साधिका है। इन्होंने भक्ति को मुक्ति के सभी साधनों से श्रेष्ठ कहा है। इनके अनुसार कलियुग में उद्धार का एकमात्र साधन श्रीकृष्ण का 'नाम' है।[2] अतः, सम्पूर्ण

---

१. लीलापद रसरीतिग्रन्थ रचना में आगर।
सरस उक्ति रसजुक्ति भक्तिरसगान-उजागर ॥
प्रचुर पयधि लौं सुजस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुफल संबलित भक्त-पद-रेनु-उपासी ॥
श्रीचन्द्रहास-अग्रज सुहृद परमप्रेम पद में पगे।
श्रीनन्ददास आनन्दनिधि रसिक सु प्रभुहित रंगमगे ॥ (भक्तमाल)

२. कलि कलियुग जहँ और नहिं, केवल केशव नाम।
—रासपंचाध्यायी, पृ ७।

आसक्तियों का परित्याग कर उन्हीं का भजन करना चाहिए ।[१] श्रीकृष्ण की भक्ति निश्छल भाव से होनी चाहिए ।[२] यही सच्चा धर्म है ।[३] संसार में वही पुत्र सुपुत्र है, जो इनकी भक्ति करता है ।[४] भगवद्भजन करनेवाले पर माया का कुछ भी वश नहीं चलता ।[५] श्रीकृष्ण की कृपा होते ही ज्ञानदीपक जल उठता है और अज्ञानान्धकार तिरोहित हो जाता है ।[६] भगवान् का नाम जपनेवाली जिह्वा ही सफल है ।[७]

इन्होंने संसार से मुक्ति के लिए हरि के नित्य स्मरण के साथ ही गुरु तथा वैष्णवों की सेवा को भी आवश्यक कहा है ।[८]

'सिद्धान्तपंचाध्यायी' में गोपियाँ सांसारिक ऐश्वर्यों को कष्टप्रद एवं श्रीकृष्ण की शरणागति को परम सुखप्रद कहता है ।[९] रासपंचाध्यायी में श्रवण, कीर्त्तन तथा स्मरण पर विशेष जोर दिया गया है ।[१०] श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करने के लिए गोपियाँ दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन तीनों का आश्रय लेती हैं । 'भ्रमरगीत' में ये ज्ञानमार्ग की उपेक्षा कर 'सूधे प्रेम मारग' की बात करती हैं ।[११] श्रीकृष्ण-

---

१. काम काज जनि भूलि मन, भजि ले हरि अभिराम ।—रासपंचाध्यायी, १५ ।

२. कल्प कपट तजि हरि भजो, कल्पवृक्ष सम सोय । —वही, १९ ।

३. वृष सुधर्म हरि भजौ, जो चाहौ सुखधाम । —वही, २३ ।

४. आत्मज पूत सपूत सो, भजे जो सुन्दर स्याम । —वही, ३८ ।

५. जाल फाँस विद्याजगत, दिखि न भूल नँदनन्द । —वही, ४७ ।

६. तम अज्ञान को हरहु हरि, उर धरि दीप प्रबोध । —वही, ५२ ।

७. रसना जिह्वा तासु की जो भज लै हरिनाम । —वही, ९६ ।

८. बिन जाने घनश्याम के आवागमन न जाइ ।
तातें हरि, गुर, वैष्णवन, भज निसि दिन चित लाइ ।। —नाममाला, २६४ ।

९. दारगार सुत पति इनकरि (कही) कवन आहि सुख ।
बढ़े रोग़ सम दिन दिन छिन छिन दैंहि महा दुख ।।
—सिद्धान्तपं० ५९ ।

१०. श्रवन-कीर्तन सार सार सुमिरन को है पुनि ।
ज्ञान सार हरिध्यान सार स्रुतिसार गहत गुनि ।।—रा० प०, ५।४१ ।

११. कौन ब्रह्म को जोति ज्ञान कासों कहै ऊधौ ?
हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधौ ।। —भ्रमरगीत, ८ ।

प्रेम के सामने तो योग-साधना धूलि के समान है।[1] इनकी दृष्टि में ज्ञान द्विविधा उत्पन्न करनेवाला है, जो केवल प्रेम से ही दूर हो सकती है।[2] 'भ्रमरगीत में गोपियाँ उद्धव के ज्ञानमार्ग का खण्डन बहुत सुन्दर तर्क से करती हैं।[3]

रूपमंजरी में ईश्वर को प्राप्त करने के दो मार्गों की चर्चा हुई है। प्रथम है नादमार्ग और दूसरा रूपमार्ग। ये कठिन होते हुए भी भक्ति-सुधा प्राप्त करानेवाले हैं :

जग में नाद अमृत मग जैसौ। रूप अमीकर मारग तैसौ।
गरल अमृत इकंग करि राखै। भिन्न-भिन्न कै बिररै चाखै।।

यहाँ नादमार्ग से कवि का अभिप्राय मुरली-ध्वनि श्रवण कर उसी का अनुसरण करते हुए श्रीकृष्ण के समीप जाना है। दूसरे प्रकार के मार्ग में रूपासक्ति ही प्रेम और मिलन का आधार है। नन्ददास की गोपियाँ श्रीकृष्ण-प्रेम में दोनों का आधार लेती हैं।

श्रीवल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण इनकी रचनाओं में लीलागान की भी प्रधानता दिखायी पड़ती हैं। श्रीकृष्ण के गोवर्द्धन-धारण करने के दृश्य का इन्होंने अत्यन्त सुन्दर रीति से वर्णन किया है :

कान्ह कुँवर के कर पल्लव पर, मनौं, गोवर्धन नृत्य करै।
ज्यौं ज्यौं तान उठत मुरली की, त्यौं त्यौं लालन अधर धरै।।
मेघ मृदंगी मृदंग बजावत, दामिनि दमक मानौं दीप जरै।
ग्वाल ताल दै नीकैं गावत, गायन कैं सँग सुर जु भरै।।
देत असीस सकल गोपीजन, बरषा कौ जल अमित झरै।
अति अद्भुत अवसर गिरिधर कौ, 'नन्ददास' के दुःख हरै।।

---

१. ताहि बतावौ जोग जोग ऊधौ जेहि पावौ।
प्रेम सहित हम पास नन्द नन्दन गुन गावौ।।
नैन बैन मन प्रान में मोहन गुन भरपूरि।
प्रेम पियूषै छाँड़िकै कौन समेटे धूरि।। —रासपंचाध्यायी, १२।

२. प्रेम बिवस्था देखि सुद्ध यों भक्ति प्रकासी।
दुबिधा ज्ञान गलानि मन्दता सगरी नासी।। —वही, ६२।

३. जौ उनके गुन नाहि और गुन भए कहाँ तें।
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ तें।।
वा गुन की परछाँह री माया-दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे भए, अमल वारि जल कीच।।
सखा सुनु स्याम के।

यमुना के किनारे नटवर नागर की सुमधुर लीला का वर्णन कवि ने अत्यन्त सरस एवं सांगीतिक शब्दों में किया है :

देखौ री नागर नट निरतत कालिन्दी तट,
गोपिन के मध्य राजै मुकुट लटक।
काछनी किंकनी कटि पीताम्बर की चटक,
कुंडल किरन रबि रथ की अटक।।
ततथेई ततथेई सबद सकल घट
उरप तिरप गति पद की पटक।
रास मध्ये राधे-राधे मुरली में थेई रट
'नन्ददास' गावै तहाँ निपट निकट।।

इसमें 'निपट निकट' से इनकी सिद्धावस्था का पता चलता है।

श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त होते हुए भी इनके एक पद में 'राम' की ऐश्वर्य-छवि का भी दर्शन होता है :

राम कृष्ण कहिए उठि भोर।
अवध ईस वे धनुष धरे हैं,
यह ब्रज माखन चोर।।
उनके छत्र चँवर सिंहासन,
भरत सत्रुहन लछुमन जोर।
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर,
नित गायन सँग नन्द किसोर।।
उन सागर में सिला तराई
इन राख्यौ गिरि नख की कोर।
नन्ददास प्रभु सब तजि भजिए,
जैसे निरखत चन्द चकोर।।

इस तरह, हम देखते हैं कि भक्ति के क्षेत्र में नन्ददास का योगदान महत्त्वपूर्ण है। इनकी प्रामाणिक पुस्तकें ये हैं : (१) रूपमंजरी, (२) रस-मंजरी, (३) मानमंजरी या नाममाला, (४) अनेकार्थमंजरी, (५) श्याम सगाई, (६) भँवरगीत, (७) रुक्मिणीमंगल, (८) रासपंचाध्यायी, (९) सिद्धान्त-

पंचाध्यायी, (१०) दशमस्कन्ध, (११) विरह-मंजरी, (१२) पदावली (फुटकर पदों का संग्रह)।

नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित नन्ददास-ग्रन्थावली में इनकी दो और छोटी-छोटी पुस्तकों की चर्चा हुई। इनके नाम हैं: 'गोवर्धनलीला' तथा 'सुदामाचरित'।

रासपंचाध्यायी, सिद्धान्तपंचाध्यायी, रुक्मिणीमंगल, गोवर्धनलीला, दशमस्कन्ध तथा सुदामाचरित श्रीमद्भागवत के आधार पर रचित हैं।

कृष्णदास

कृष्णदासजी अष्टछाप के एक दूसरे कवि हैं। ये श्रीवल्लभाचार्यजी के शिष्य थे। इनका जन्म सं० १५९० में गुजरात-प्रदेश के अहमदाबाद-जनपद में चलोतर गाँव में हुआ था। पाँच वर्ष की अवस्था में ही वे भगवान् के लीला-कीर्त्तन, भजन तथा उत्सवों में सम्मिलित होने लगे थे। बचपन से ही इनमें सत्य-निष्ठा एवं निर्भयता देखी जाती थी। एक बार इन्होंने अपने पिता के एक कुकृत्य का विरोध किया, जिसके फलस्वरूप इन्हें घर से निकाल दिया गया। मथुरा के विश्रामघाट पर श्रीवल्लभाचार्यजी से इनकी भेंट हुई। आचार्यप्रवर को ऐसे संस्कारी व्यक्ति को पहचानते देर नहीं लगी। उन्होंने इन्हें दीक्षित कर श्रीनाथजी के मन्दिर का अधिकारी नियुक्त किया। इनकी देखरेख में श्रीनाथजी की सेवा राजसी ठाट से होने लगी। ये श्रीनाथजी की सेवा करते थे और सरस पदों की रचना करके भक्तिपूर्वक समर्पित करते थे। इनके पदों में मधुरोपसना की प्रधानता है। 'युगलमान-चरित्र' की रचना-माधुरी और विशिष्ट कवित्व-शक्ति से प्रभावित होकर श्रीविट्ठलनाथ ने इन्हें अष्टछाप में गौरवपूर्ण स्थान से सम्मानित किया। ये आजीवन अविवाहित रहे।

'युगलमान-चरित्र' के अतिरिक्त इनके दो और ग्रन्थों की चर्चा होती है—भ्रमरगीत और प्रेमतत्त्वनिरूपण। इनके कुछ फुटकर पदों के संग्रह भी प्राप्त होते हैं। इन्हें पुष्टिमार्ग के सैद्धान्तिक पक्ष का अच्छा ज्ञान था।

सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति के अनुसार, इन्होंने श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का भी वर्णन किया है। ये श्रीकृष्ण की बालछवि का वर्णन करते हुए कहते हैं:

बाल दसा गोपाल की, सब काहू प्यारी।
लै लै गोद खिलावहीं, जसुमति महतारी ।।
पीत झगुल तन सोहहीं, सिर कुलह बिराजै ।
छुद्र घंटिका कटि बनी, पग नूपुर बाजै ।।
मुरि मुरि नाचै मोर ज्यौं, सुर नर मुनि मोहैं ।
'कृष्णदास' प्रभु नन्द के आँगन अति सोहैं ।।

इनके एक पद से श्रीराधिकाजी की जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ला अष्टमी ज्ञात होती है, जो सर्वमान्य है :

भादौं सुदि आठैं उजियारी, आनद की निधि आई ।
रस की रासि, रूप की सीमा, अँग अँग सुन्दरताई ।
कोटि बदन वारों मुसिकनि पर, मुख छबि बरनि न जाई ।।
पूरन सुख पायौ ब्रजबासी, नैनन निरखि सिहाई ।
'कृष्णदास' स्वामिनि ब्रज प्रगटीं, श्रीगिरिधर सुखदाई ।।

श्रीकृष्ण-प्रेम में तन्मय भक्त को संसार की कोई भी वस्तु प्रिय नहीं लग रही है । उसे अब लोक-लज्जा का भी भय नहीं है :

जगन्नाथ मन मोह लियौ रे ।
घर अँगना मोहै कछू न भावै, लोक लाज सब छाड़ि दियौ रे ।
नील चक्र पर ध्वजा बिराजै, परसत ही आनन्द भयौ रे ।।
साँवरि सूरत रज लपटानी, लाल दुसाला ओढ़ लियौ रे ।
श्री बलभद्र सहोदरा संगहि, 'कृष्णदास' बलिहार कियौ रे ।।

कहते हैं, नीचे के इस ललित पद को गाकर इन्होंने गोलोकवास किया था :

मो मन गिरिधर छबि पै अटक्यो ।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै, चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो ।।
सजल स्याम-घन-बरन लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो ।
कृष्णदास किए प्राण निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो ।।

परमानन्ददास

परमानन्ददासजी भगवान् की लीला के मर्मज्ञ कवि और कीर्त्तनकार थे । ये भी स्वामी वल्लभाचार्य के शिष्य एवं अष्टछाप के कवियों में थे । इनका

जन्म संवत् १५५० वि० में कन्नौज के एक पवित्र ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके जन्म के दिन ही इनके पिता को पर्याप्त धन प्राप्त हुआ था। अतः, घर में आनन्द ही आनन्द छाया हुआ था। इसीलिए, पिता ने प्रसन्न होकर इनका नाम परमानन्द रखा।

जागतिक परिवर्त्तन के न्याय से इनके घर में गरीबी आ गई। इनके पिता धनोपार्जन के उद्देश्य से परदेश चले गये और इधर परमानन्ददासजी अपना समय भगवान् के गुण-कीर्त्तन, लीलागान और साधु-समागम में बिताने लगे। छब्बीस साल की अवस्था तक ये कन्नौज में रहे, उसके बाद प्रयाग चले आये। वहीं आचार्य-प्रवर को इन्होंने निम्नांकित विरह का पद गाकर सुनाया और दीक्षित हो गये :

जिय की साध जु जियहि रही री।
बहुरि गोपाल देखि नहिं पाये बिलपत कुंज अहीरी॥
इक दिन सो जु सखी यहि मारग बेचन जात दही री।
प्रीति के लिएँ दान मिस मोहन मेरी बाँह गही री॥
बिनु देखैं छिनु जात कलप सम बिरहा अनल दही री।
परमानंद स्वामी बिनु दरसन नैनन नदी बही री॥

एक समय आचार्य वल्लभ इनके मुख से 'हरि तेरी लीला की सुधि आवै' पद सुनकर तीन दिनों तक सुध भूले रहे।

ये आचार्यप्रवर के साथ सर्वप्रथम गोकुल आये। कुछ दिनों तक वहाँ रहकर उन्हीं के साथ गोवर्धन चले आये। ये सदा के लिए गोवर्धन में ही रह गये। सुरभि-कुण्ड पर श्यामतमाल वृक्ष के नीचे इन्होंने अपना स्थायी निवास स्थिर किया। ये नित्य श्रीनाथजी के दर्शन करने जाते थे। कभी-कभी नवनीतप्रियजी के दर्शन के लिए गोकुल भी जाया करते थे।

इनके पदों में श्रीकृष्ण की बाललीला का बहुत ही सुन्दर वर्णन हुआ है। इनमें वात्सल्य-भाव की भक्ति के साथ ही दास्य, सख्य एवं माधुर्य-भाव की उपासना भी दिखाई पड़ती है।

श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद की विरह-दशा का कितना स्वाभाविक वर्णन नीचे के एक पद में दिखाई पड़ता है :

ब्रज के बिरही लोग बिचारे।
बिन गोपाल ठगे से ठाढ़े, अति दुर्बल तन हारे।।
मात जसोदा पन्थ निहारत, निरखत साँझ सकारे।
जो कोउ कान्ह कान्ह कहि बोलत, अँखियन बहत पनारे।।
ये मथुरा काजर की रेखा, जे निकसे ते कारे।
'परमानन्द' स्वामी बिन ऐसे, ज्यौं चन्दा बिनु तारे।।

ये भगवान् श्रीकृष्ण से अनन्या भक्ति की याचना करते हुए कहते हैं :

माधव यह प्रसाद हौं पाऊँ।
तुअ भृत्य भृत्य भृत्य परिचारक, दास कौ दास कहाऊँ।।
यह परमारथ मोहिं गुरु सिखयौ, स्यामा स्याम की पूजा।
यह बासना बसो जिय मेरे, देव न देखूँ दूजा।।
परमानन्द दास तुम ठाकुर, यह नातौ जिन टूटौ।
नन्दकुमार जसोदानन्दन, हिलमिल प्रीत न छूटौ।।

परमानन्ददासजी ने अपने एक पद में राम और कृष्ण की एकरूपता का वर्णन किया है। इनकी दृष्टि में राम और कृष्ण नित्य एक ही हैं :

मदन गोपाल हमारे राम।
धनुष बान धर, बिमल बेनु कर,
पीत बसन अरु तन घनश्याम।।
अपनी भुज जिन जलनिधि बाँध्यो,
रास नचाये कोटिक काम।
दस सिर हति सब असुर सँहारे,
गोबर्धन धार्‌यौ कर बाम।।
तब रघुबर अब जदुबर नागर,
लीला नित्य बिमल बहु नाम।
'परमानँद' प्रभु भेद रहित हरि,
निज जन मिलि गावत गुन ग्राम।।

अन्त में, श्रीराधाकृष्ण की रूप-सुधा का चिन्तन करते हुए इन्होंने अपनी गोलोक-यात्रा सम्पन्न की। इनके ८३५ पद 'परमानन्दसागर' में हैं।[१]

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आचार्य शुक्ल।

कुम्भनदास

कुम्भनदास का जन्म गोवर्धन के निकट जमुनावतो ग्राम में, संवत् १५२५ वि० में, क्षत्रिय-परिवार में हुआ था। इनके पिता एक साधारण किसान थे। परिवार बहुत बड़ा था, परन्तु आय स्वल्प। फिर भी, ये किसी से किसी चीज की याचना नहीं करते थे। ये गृहस्थाश्रम में रहकर परम निःस्पृह एवं त्याग का जीवन व्यतीत करते थे। एक समय मानसिंह इनके मधुर पद सुनने के लिए इनके गाँव में आये। इनकी दयनीय आर्थिक स्थिति देखकर आर्थिक सहायता करनी चाही। परन्तु, इन्होंने अस्वीकार कर दिया।

आचार्य वल्लभ से दीक्षित होकर उनकी आज्ञा से ये श्रीनाथजी की सेवा करने लगे। श्रीनाथजी की मूर्त्ति का प्राकट्य इनके दीक्षित होने के केवल पन्द्रह वर्ष पूर्व हुआ था। ये नित्य उन्हें नये-नये पद गाकर सुनाने लगे। पुष्टि-सम्प्रदाय में सम्मिलित होनेपर इन्हें कीर्त्तन की ही सेवा दी गई थी।

श्रीनाथजी के शृंगार-सम्बन्धी पदों की रचना में इनकी विशेष रुचि थी। इनके युगल-लीला-सम्बन्धी पदों से प्रसन्न होकर आचार्य वल्लभ ने कहा कि 'तुम्हें तो निकुंज-लीला के रस की अनुभूति हो गई।' कुम्भनदास यह सुनकर गद्गद हो गये। इन्होंने विनम्रभाव से कहा कि 'मुझे तो इसी रस की नितान्त आवश्यकता है।'

महाप्रभु वल्लभाचार्य के लीला-प्रवेश के बाद कुम्भनदाजी गोसाईं विट्ठलनाथजी के संरक्षण में रहकर भगवान् का लीला-गान करने लगे।

एक समय ये गोसाईं विट्ठलनाथजी के साथ द्वारका जा रहे थे। इन्हें श्रीनाथजी का वियोग एक पल के लिए भी सह्य नहीं था। ये गोसाईंजी के साथ अप्सरा-कुण्ड तक ही गये थे कि श्रीनाथजी के सौन्दर्य-स्मरण से इनके अंग-अंग पुलकित हो गये। उनकी विरह-वेदना से इनका हृदय घायल हो चला। इन्होंने श्रीनाथजी के वियोग में निम्नांकित पद गाया :

केते दिन जु गए बिनु देखैं।
तरुन किसोर रसिक नँदनन्दन, कछुक उठति मुख रेखैं॥
वह सोभा, वह कांति बदन की कोटिक चन्द बिसेखैं।
वह चितवन, वह हास मनोहर, वह नटवर बपु भेखैं॥

स्याम सुन्दर सँग मिलि खेलन की आवति हिये अपेखैं।
'कुम्भनदास' लाल गिरिधर बिनु जीवन जनम अलेखैं ।।

यह सुनकर गोसाईंजी बहुत प्रभावित हुए और इन्हें श्रीनाथजी की सेवा के लिए लौटा दिया। श्रीनाथजी के दर्शन कर ये स्वस्थ हुए।

एक बार अकबर बादशाह के बुलाने पर इन्हें फतहपुर-सिकरी जाना पड़ा, जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ। पर, इसका इन्हें बराबर खेद ही रहा, जैसा कि इस पद से व्यंजित होता है :[1]

सन्तन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरि नाम ।।
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करबे परी सलाम।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम ।।

वृद्धावस्था में भी कुम्भनदास नित्य जमुनावतो से श्रीनाथजी के दर्शन के लिए गोवर्धन आया करते। एक दिन संकर्षण-कुण्ड पर आन्योर के निकट वे ठहर गये। यह उनके महाप्रयाण का क्षण था। उस समय समीप में गोसाईं विट्ठलनाथजी तथा चतुर्भुजदासजी थे। गोसाईंजी ने पूछा कि 'इस समय मन किस लीला में लगा है ?' इन्होंने अत्यन्त प्रेम से कहा कि 'लाल तेरी चितवन चितहि चुरावै' और तदनन्तर युगल-स्वरूप की छवि के ध्यान में निम्नांकित पद गाया :

रसिकनी रस में रहत गड़ी।
कनक बेलि वृषभानु नन्दिनी, स्याम तमाल चढ़ी ।।
बिहरत श्री गिरिधरन लाल सँग, कोने पाठ पढ़ी।
'कुम्भनदास' प्रभु गोबरधन धर रतिरस केलि बढ़ी ।।

और, कुम्भनदासजी गोलोक की नित्य-लीला में सम्मिलित हो गये।

इनका कोई विशेष ग्रन्थ नहीं मिलता। फुटकर पदों का संग्रह अवश्य मिलता है। इनके दो सरल पदों को देखिए :

बिलगु जिन मानौरी कोउ हरि कौ।
भोरहि आवत नाच नचावत, खात दही घर घर कौ ।।
प्यारो प्रान, दीजै जो पइए, नागर नन्द महर कौ।
'कुम्भनदास' प्रभु गोवर्धनधर, रसिक राधिका बर कौ ।।

....

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आचार्य शुक्ल।

नैंन भरि देख्यौ नन्द कुमार ।
ता दिन तें सब भूलि गयौ हौं बिसर्‌यौ पन परिवार ।।
विन देखैं हौं बिकल भयौ हौं अंग अंग सब हारि ।
ताते सुधि साँवरि मूरति की लोचन भरि-भरि बारि ।।
रूप रास पैंमित नहिं मानो कैसे मिलैं कन्हाई ।
'कुँभनदास' प्रभु गोबर्धन धर मिलियै बहुरि री माई ।।

चतुर्भुजदास

चतुर्भुजदास महात्मा कुम्भनदासजी के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १५७५ वि० में जमुनावतो ग्राम में हुआ था। कहते हैं, कुम्भनदासजी के सत्प्रयत्न से गोसाईं विट्ठलनाथजी ने चतुर्भुजदासजी को जन्म के इकतालीस दिनों के बाद ही दीक्षित कर दिया था। सात्त्विक पारिवारिक जीवन का इनके चरित्र पर बहुत प्रभाव पड़ा था। ये बचपन से ही अपने पिता के साथ श्रीनाथजी के दर्शन के लिए जाया करते थे। श्रीनाथजी की सेवा में इनका मन बहुत लगता था। बाल्यावस्था से ही भगवान् की अन्तरंग लीलाओं की अनुभूति इन्हें होने लगी थी।

अपने पिता की देखा-देखी ये बाल्यावस्था से ही लीलापरक पदों की रचना करने लगे थे। प्रौढ होने पर इनकी काव्य और संगीत की निपुणता से प्रसन्न होकर श्रीविट्ठलनाथजी ने इन्हें अष्टछाप में सम्मिलित कर किया। वृद्ध पिता के साथ ही अष्टछाप के कवियों में एक प्रमुख स्थान पाना इनकी दृढ भगवद्भक्ति, कवित्व-शक्ति और विरक्ति का परिचायक है।

इनकी रचनाओं में श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं का बहुत ही सुन्दर वर्णन हुआ है। कीर्त्तन के लिए रचित इनके पद अत्यन्त सरस एवं संगीतात्मक हैं। बाल-लीला से सम्बद्ध एक-दो पदों की छटा देखिए :

जसोदा ! कहा कहौं हौं बात ?
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहिं जात ।।
भाजन फोरि डारि सब गोरस लै माखन दधि खात ।
जौं बरजौं तौ आँखि दिखावै, रंचहु नाहिं सकात ।।
और अटपटी कहँ लौं बरनौं, छुवत पानि सों गात ।
दास चतुर्भुज गिरिधर गुन हौं कहति कहति सकुचात ।।

मोहन चलत पैंजनि पग ।
शब्द सुनत चकित ह्वै चितवत,
ठुमकि-ठुमकि लौं धरत जु हैं डग ।।
मुदित जसोदा चितवति सिसु तन,
लै उछंग लावै कण्ठ सु लग ।
चतुर्भुज प्रभु गिरिधरन लाल कौं,
ब्रज जन निरखत ठाढ़े ठग ठग ।।

इन्होंने विक्रम-संवत् १६४२ में गोलोक के लिए महाप्रयाण किया । इनके तीन ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं : १. द्वादशयश, २. भक्तिप्रताप और ३. हितजू को मंगल । इनके अतिरिक्त भी इनके फुटकर पदों का संग्रह मिलता है ।

छीतस्वामी

छीतस्वामी मथुरा के चौबे थे । इनका जन्म लगभग वि० संवत् १५७२ में हुआ था । इनका प्रारम्भिक जीवन असंयत था । परन्तु, श्रीविट्ठलनाथजी ने इन्हें दीक्षित कर सन्मार्ग पर ला दिया । दीक्षा-ग्रहण के बाद इन्होंने नवनीत-प्रिय के दर्शन किये । कुछ समय के बाद ये स्थायी रूप से गोवर्धन के निकट पूँछरी स्थान पर श्यामतमाल वृक्ष के नीचे रहने लगे । ये श्रीनाथजी के सामने कीर्त्तन करते और उनकी लीला के सरस पदों की रचना करते थे । उनके पद सीधी-सादी सरल भाषा में हैं । ब्रजभूमि के प्रति उनमें प्रगाढ अनुराग था । 'ए हो बिधिना ! तो सों अँचरा पसारि माँगौं, जनम जनम दीजै याही ब्रज बसिबौं, से उनकी व्रजक्षेत्र के प्रति आस्था का पता चलता है ।

गोसाईं विट्ठलनाथजी ने इनकी दृढ भक्ति और सरस पद-रचना से प्रसन्न होकर उनको अष्टछाप में सम्मिलित कर लिया । ये निःस्पृहता के मूर्त्तिमान् रूप थे । संवत् १६४२ वि० में अपने निवासस्थान पूँछरी में इन्होंने गोलोक-वास किया ।

रचना के दृष्टिकोण से इनके फुटकर पदों का ही संग्रह प्राप्त होता है । इनके पदों में अत्यन्त माधुर्य है । देखिए :

मेरी अँखियन देखौ गिरिधर भावै ।
कहा कहौं तो सौं सुनि सजनी, उतही कौं उठि धावै ।।

मोर मुकुट कानन कुण्डल लखि, तन गति सब बिसरावैं ।
बाजू बंद कंठ मनि भूषन, निरखि निरखि सचु पावै ।।
'छीतस्वामी' कटि छुद्र घंटिका, नूपुर पदहि सुनावै ।
इहि छबि सदा श्रीविट्ठल के उर, मो मन मोद बढ़ावै ।।
भोर भए नवकुंज सदन तें आवत लाल गोबर्धनधारी ।
लटपर पाग मरगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी ।।
बिनु-गुन माल बिराजति उर पर, नखछत द्वै चंद अनुहारी ।
छीतस्वामी जब चितए मो तन, तब हौं निरखि गई बलिहारी ।।

गोविन्दस्वामी

श्रीगोविन्दस्वामीजी का जन्म व्रज के निकट अँतरी ग्राम में सं० १५६२ वि० में हुआ था । ये सनाढ्य ब्राह्मण थे । कुछ दिनों तक गृहस्थाश्रम में रहकर इन्होंने वैराग्य ले लिया तथा महावन में जाकर भगवान् के भजन-कीर्त्तन में तन्मय रहने लगे । ये गानविद्या के आचार्य थे । इन्होंने संवत् १५९२ वि० में श्री विट्ठलनाथजी से दीक्षा पायी । इनके रचे पदों से प्रसन्न होकर आचार्यप्रवर ने इन्हें अष्टछाप में स्थान दिया । इन्होंने गोवर्धन को ही अपना स्थायी निवास स्थिर किया । इस पर्वत के समीप ही इन्होंने कदम्बों का एक सुन्दर उपवन लगाया था । वह स्थान 'गोविन्ददास की कदमखण्डी' नाम से प्रसिद्ध है । श्रीनाथजी की सेवा ये अपने सरस पदों को गाकर करते थे । व्रज के प्रति इनका दृढ अनुराग था ।

भक्ति-पक्ष में इन्होंने दैन्य-भाव कभी नहीं स्वीकार किया । जिनके मित्र अखिलेश्वर हों, दैन्य भला उनका स्पर्श ही कैसे कर सकता है । इनका स्वाभिमान तो भगवान् श्रीकृष्ण की सख्य-निधि में संरक्षित था । गोसाईं विट्ठलनाथ ने इन्हें कवीश्वर की संज्ञा से समलंकृत किया था । संगीत-सम्राट् तानसेन तक इनकी संगीत-माधुरी का आस्वादन करने के लिए इनके पास आया करते थे । भगवान् श्रीकृष्ण के साथ सखारूप से क्रीडा करने की इनसे सम्बद्ध कई कथाएँ भक्तों में प्रचलित हैं ।

इनके भी फुटकर पदों का संग्रह ही प्राप्त होता है । इनके 'बाललीला'-सम्बन्धी पदों के नमूने इस प्रकार हैं :

अहो दधि मथति घोष की रानी ।
दिव्य चीर पहरैं दक्खिन कौ, किंकनि रुनझुन बानी ।।
सुत के क्रम गावत आनँद भरि, बाल चरित जनि जानी ।
स्रम-जल राजै बदन कमल पर, मनहुँ सरद बरसानी ।
पुत्र सनेह चुचात पयोधर, प्रमुदित अति हरषानी ।
'गोबिन्द' प्रभु घुटुरुनि चलि आये, पकरी रही मथानी ।।
....

प्रात समय उठि जसोमति, दधि मन्थन कीन्हौं ।
प्रेम सहित नवनीत लै, सुत के मुख दीन्हौं ।।
औटि दुध घैया कियौ, हरि रुचि सौं लीन्हौं ।
मधु मेवा पकवान लै, हरि आगे कीन्हौं ।।
इहि विधि नित क्रीड़ा करैं, जननी सुख पावै ।
'गोबिन्द' प्रभु आनन्द में, आँगन में धावै ।।

श्रीकृष्ण के प्रति पवित्र प्रेम का दर्शन गोपियों की इन उक्तियों में होता है :

ब्रजजन लोचन ही कौ तारौ ।
सुनि जसुमति तेरौ पूत सपूत अति, कुल दीपक उजियारौ ।।
धेनु चरावन जात दूरि जब, होत भवन अति भारौ ।
घोष सँजीवन मूरि हमारौ, छित इत उत जिन टारौ ।।
सात द्यौस गिरिराज धर्‍यौ कर, सात बरस कौ बारौ ।
'गोविन्द' प्रभु चिरजीवौ रानी, तेरौ सुत गोप बंस रखवारौ ।।

श्यामसुन्दर के सौन्दर्यामृत का पान करने के लिए विधाता ने रोम-रोम में नेत्र प्रदान नहीं कर बड़ी भूल की है । ० उनके वचनामृत-पान के लिए यदि सम्पूर्ण शरीर में कान होते, तो कितना अच्छा होता । ऐसे ही, उनके प्रेमालिंगन के लिए हृदय में जो सन्ताप है, वह तो करोड़ों भुजाओं को प्राप्त कर आलिंगन करने पर भी नहीं मिटता :

बिधाता बिधिहु न जानी ।
सुन्दर बदन पान करिबे कूँ रोम-रोम प्रति नयनन दीने,
करी यह बात अयानी ।।
स्रवन सकल वपु होत री मेरे सुनती पिय मुख अमृत बानी ।
एरी मेरैं भुजा होति कोटिक तौ हौं भेंटति गौबिन्द प्रभु सौं
तौउ न तपत बुझानी ।।

गदाधर भट्ट

गदाधर भट्ट का जन्म दक्षिण के एक ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनके जन्मकाल के विषय में निश्चित रूप से कुछ पता नहीं चलता। भक्तमाल के अनुसार ये चैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे। गौडीय सम्प्रदाय में ऐसा प्रसिद्ध है कि ये महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे। भागवत की कथा सुनाने की पुष्टि भक्तमाल से भी होती है।[१] बाद में ये महाप्रभु से दीक्षित हो गये। ये संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने व्रजभाषा में जो भक्ति एवं लीलापरक पदों की रचनाएँ की हैं, वे अत्यन्त सरस एवं सुमधुर हैं। संस्कृत का पाण्डित्य भी उनमें स्पष्ट झलकता है। कभी-कभी, संस्कृत शब्दों के प्रयोग के कारण, गोस्वामीजी की विनयपत्रिका के प्रारम्भिक पदों से इनके पद मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं। राधाकृष्णजी के प्रेम का इन्होंने अत्यन्त तन्मयता से वर्णन किया है। कहते हैं, इनके एक पद को सुनकर जीवगोस्वामी अत्यन्त प्रसन्न हुए थे। पद इस प्रकार है :

सखी हौं स्याम रंग रँगी।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरत माहिं गई ।।
संग हुतो अपनो सपनो सो सोइ रही रस खोई।
जागेहु आगे दृष्टि परै, सखि, नेकु न न्यारो होई ।।
एक जु मेरी अँखियनि में निसि द्यौस रह्यो करि भौन !
गाय चरावन जात सुन्यो, सखि, सोधौं कन्हैया कौन ?
कासों कहौं कौन पति भावै, कौन करै बकवाद।
कैसे कै कहि जाति गदाधर, गूँगे तें गुर-स्वाद ।।

संस्कृतनिष्ठ पदावलियों के दो-एक उदाहरण देखिए :

नन्द कुल चन्द वृषभानु कुल कौमुदी,
उदित वृन्दा विपिन विमल अकासे।
निकट वेष्टित सखी वृन्द वर तारिका
लोचन चकोर तिन रूप रस प्यासे ।।
रसिक जन अनुराग उदधि तजी मरजाद
भाव अगनित कुमुदिनीगन विकासे।

१. भागवत-सुधा बरखै बदन, काहू को नाहिन दुखद।
गुणनिकर गदाधर भट्ट अति सबहिन को लागै सुखद ।।
(भक्तमाल)

कहि गदाधर सकल विघ्न असुरति बिना
भानु भव ताप अज्ञान न विनासे ॥

विनयपत्रिका-सी संस्कृत-शब्दावलियों का प्रयोग :

जयति श्रीराधिके, सकल-सुध-साधिके,
तरुनि-मनि नित्य नवतन किसोरी ।
कृष्ण-मुख-लीन-मन, रूप की चातकी,
कृष्ण-मुख-हिम-किरन की चकोरी ॥
कृष्ण-दृग-भृंग विश्राम-हित पद्मिनी,
कृष्ण-दृग-मृगज-बन्धन सुडोरी ।
कृष्ण-अनुराग-मकरन्द की मधुकरी,
कृष्ण-गुन-गान-रससिन्धु बोरी ॥
विमुख पर चित्त तें चित्त जाको सदा,
करति निज नाह की चित्त चोरी ।
प्रकृति यह गदाधर कहत कैसे बने,
अमित महिमा, इतै बुद्धि थोरी ॥

मीराँबाई

मीराँबाई मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर के बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधाजी की प्रपौत्री थीं । इनका जन्म सं० १५७३ में चोकड़ी नाम के एक गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराजजी के साथ हुआ था । ये आरम्भ से ही कृष्ण-भक्ति में लीन रहा करती थीं । बचपन में ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया । अतः, इनके पालन-पोषण का भार इनके दादा राव दूदाजी पर पड़ा । दूदाजी परम वैष्णव थे । मीराँ के संस्कार बचपन से ही कृष्ण-प्रेम से ओत-प्रोत थे । बहुत बचपन में ही मीराँ ठाकुरजी की पूजा के लिए पुष्प चुनतीं, माला बनातीं और बड़े ही प्रेम से ठाकुरजी को पहनातीं । भगवान् का शृंगार कर वह अपनी तुतली बोली में जाने क्या-क्या गुनगुनातीं । प्रातः काल नींद खुलते ही ठाकुरजी ! बस ठाकुरजी के सिवा न कुछ कहना, न कुछ सुनना । दादाजी जब भगवान् की षोडशोपचार पूजा करते, तब मीराँ एकटक देखा करतीं ।

बचपन की ही एक घटना है—मीराँ के घर एक साधु आये । उनकी पूजा में श्रीगिरधरलालजी की मूर्त्ति थी । मीराँ को वह मूर्त्ति ऐसी लगी, मानों वह

उनके जन्म-जन्म का साथी हो। उसे पाने के लिए मीराँ का हृदय मचला, पर वह साधु मूर्त्ति क्यों देने लगे! मीराँ को उस मूर्त्ति के बिना कल कैसे पड़ती! उसने खाना-पीना छोड़ दिया और छटपटाने लगी। साधु ने स्वप्न में देखा कि उसके गिरधरलालजी उस अल्हड़ बालिका के पास मूर्त्ति पहुँचा आने का आदेश कर रहे हैं। भोर होते ही वह साधु मीराँ को मूर्त्ति दे आया। अब मीराँ की प्रसन्नता का क्या पूछना! आनन्दोल्लास में वह फूली-फूली फिरतीं।

ऐसी ही एक और विचित्र घटना है—मीरा के गाँव में एक बरात आई। लड़कियों को अपने बचपन में अपने भावी पति को जानने की बड़ी ही सरलतापूर्ण उत्कण्ठा रहती है। मीराँ ने बड़ी सरलता से अपनी माता से पूछा—"माँ मेरा विवाह किससे होगा?" बच्ची के प्रश्न पर हँसती हुई माँ ने कहा—'गिरधरलालजी से' और सामने की मूर्त्ति की ओर संकेत किया। मीराँ के मन में यह बात बैठ गई कि गिरधरलालजी ही वास्तव में उनके पति हैं।

अट्ठारह वर्ष की अवस्था में मीराँ का विवाह मेवाड़ के इतिहास-प्रसिद्ध स्वनामधन्य राणा साँगा के ज्येष्ठ कुँवर भोजराजजी के साथ हुआ। मीराँ अपनी ससुराल में भी इष्टदेव की मूर्त्ति लेती आईं। मीराँ का दाम्पत्य जीवन बड़ा ही आनन्दपूर्ण था। परन्तु, ऐसा सुखद जीवन अभी पनप ही रहा था कि पतिदेव चल बसे। अब तो मीराँ की जीवन-धारा एकबारगी पलट गई। संसार के सभी सम्बन्ध हटाकर वह एकान्त-भाव से गिरधरलालजी की सेवा में रहने लगीं।

इनकी भक्ति दिनानुदिन बढ़ती ही गई। ये मन्दिर में जाकर भक्तों एवं सन्तों के मध्य श्रीकृष्ण भगवान् की मूर्त्ति के सामने प्रेममग्न होकर नाचती और गाती थीं। इनके इस आचरण से लोक-लाज की चिन्ता कर इनके स्वजन रुष्ट रहा करते थे। राणा साँगा की मृत्यु के बाद उनके छोटे पुत्र विक्रमाजीत तथा पुत्री ऊदा ने इन्हें अनेक कष्ट दिये। कहते हैं कि एक बार विष एवं सर्प भी इनके पास भेजे गये थे। श्रीकृष्ण की कृपा से विष अमृत-तुल्य एवं सर्प माला बन गया था। पीछे ये घरवालों के इस तरह के अमानुषिक व्यवहार से तंग आकर वृन्दावन में आकर रहने लगी थीं। वहीं इनकी भेंट चैतन्य-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् महात्मा जीवगोस्वाजी से हुई थी। पहले तो जीवगोस्वामीजी ने स्त्री समझकर दर्शन देना अस्वीकार कर दिया था; परन्तु जैसे ही उन्होंने इनका यह पत्र पढ़ा कि 'मेरे जानते तो संसार में केवल एक ही पुरुष श्रीकृष्ण हैं, शेष सभी तो स्त्रियाँ हैं। ये दूसरे पुरुष कहाँ से आये?' वैसे ही शीघ्र कुटिया से बाहर आकर, चरणों में गिर, क्षमा माँगी।

मीराँ के पदों में निर्गुण-पदावलियों को भी देखकर इनके सम्प्रदाय के सम्बन्ध में जिज्ञासा होती है। परन्तु, उन पदों में विद्वान् समालोचकों ने सगुणोपासना की ही प्रधानता देखकर इन्हें सगुणोपासक ही सिद्ध किया है। कुछ निर्गुणोपासनापरक शब्दों का प्रयोग उस युग में प्रचलित निर्गुणोपासना के प्रभाव के कारण ही है। भक्ति में भावों के दृष्टिकोण से ये मधुरोपासिका थीं। इनकी रचना में विरह का उत्कर्ष इसका प्रमाण है।

कुछ काल वृन्दावन में निवास कर सं० १६०० के आसपास मीराँ द्वारकाजी चली गईं और वहाँ भगवान् श्रीरणछोड़जी का भजन करती हुई उन्हीं में सदा के लिए लीन हो गईं।

मीराँ के पदों में जो विरह का वेदना है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनके विरह में गहराई अधिक है, व्यापकता कम। उनमें प्रकृति के नाना रूपों एवं विलासों के साथ तन्मयता स्थापित करने की न चिन्ता ही है और न अवकाश ही! भावों को तीव्र करने के लिए तथा अपनी साधना को अटल करने के निमित्त भक्तलोग भिन्न-भिन्न भावनाओं एव सम्बन्धों को सामने ला-लाकर भाव-मग्न हुआ करते हैं। मीराँ ने भी अपने विरह की तीव्रता को मीन, चातक, चकोर, पपीहा द्वारा व्यक्त किया है। कवियों का दुःख बहुधा उधार लिया हुआ होता है। फिर भी, वे पाठकों को रुला तक देते हैं। वे उस परिस्थिति में, जिसमें निर्वासिता सीता, उपेक्षिता शकुन्तला तथा तिरस्कृता पार्वती, विरह-विधुरा पद्मावती एवं नागमती रहती हैं, डालकर अपने को तन्मय, तल्लीन कर देते हैं और इसी हेतु पाठकों पर भी प्रभाव डालने में सफल होते हैं। भवभूति के 'उत्तररामचरित' में मनुष्य को कौन कहे, 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'—पत्थर भी रोने लगता है, वज्र का हृदय टूक-टूक हो जाता है। हाँ, इसमें कवि की सफलता अवश्य समझी जाती है और वस्तुतः कवि-कर्म है भी यही। मीराँ के हाथ में न गोपियाँ ही थीं, न नागमती, न सीता ही थीं, न पार्वती ही। मीराँ की बात दूसरी है। इनका विरही हृदय अपने प्राणनाथ के साक्षात्कार के लिए व्याकुल होकर तड़प रहा है। दुनिया की ओर देखने की न आवश्यकता ही है और न अवकाश ही। हिन्दी-साहित्य तथा विश्व के किसी भी साहित्य में सर्वस्व-आत्मसमर्पण का वह दिव्य सौन्दर्य और माधुर्य, जो मीराँ के गीतों में व्यक्त हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। गीतों में इनके हृदय की धड़कन स्पष्ट सुनाई पड़ रही है। इनका 'दर्द-निवाता दिल' इनके भीतर से स्पष्टतः उन गीतों में लिपटा हुआ प्रतिबिम्बित हो रहा है। मीराँ गाती हैं; क्योंकि

वह विरह से बेचैन है। मीराँ का दुःख कवि का दुःख नहीं है, वह एक सच्चे प्रेमी का निजी दुःख है। जैसा कहा गया, कवि का दुःख तो प्रायः उधार लिया होता है, किन्तु प्रेमी का दुःख सर्वथा अपना होता है, स्वसंवेद्य।

विरह में प्रेम पलता है। कहिए कि यही प्रेम की सच्ची कसौटी है। मीराँ के प्रेम एवं विरह की कितनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति इन पदों में हुई है :

मैं तो गिरधर के घर जाऊं।
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।।
रैण पड़ै तब ही उठि जाऊँ, भोर भये उठि आऊं।
रैण दिना वाके सग खेलूँ, ज्यूँ त्यूँ वाहि रिझाऊँ।।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीत पुराणी उण विन पल न रहाऊँ।।
जित बैठावे तितहीं बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊं।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ।।

कोई कहियो रे प्रभु आवन की।
आवन की मनभावन की।।कोई०।।
आपन आवै लिख नहिं भेजै वाँण पड़ी ललचावन की।
ए दोइ नैण कह्यौ नहि मानैं, नदियाँ बहै जैसे सावन की।।
कहा करूँ कछु नहिं बस मेरो पाँख नहिं उड़ जावन की।
मीराँ कहै प्रभु कब रे मिलोगे चेरि भई हूँ तेरे दाँवन की।।

आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में मीराँ के चार ग्रन्थों की चर्चा की है। इनके नाम हैं—नरसीजा का मायरा, गीतगोविन्द टीका, राग गोविन्द, राग सोरठ के पद।

सूरदास मदनमोहन

सूरदास मदनमोहन जाति के ब्राह्मण तथा नैष्ठिक वैष्णव थे। इनका प्रारम्भिक नाम सूरध्वज था। सम्राट् अकबर की सभा में इनकी पूरी पहुँच थी। बादशाह ने प्रसन्न होकर इनको सण्डीले का अमीन नियुक्त किया था। ये महान् साधुसेवी थे। पास में जो कुछ भी रहता, सब सन्तों की सेवा में लगा देते थे।

एक बार इनके जीवन में एक अत्यन्त विचित्र घटना हुई। इन्होंने सण्डीले सूबे के तेरह लाख रुपये साधुओं की सेवा में लगा दिये और खजानेवाली पेटी में एक कागज डालकर उसे राजधानी में भेज दिया। कागज पर लिखा था :

तेरह लाख सँडीले आये, सब साधुन मिलि गटके।
सूरजदास मदनमोहनजी आधि रात को सटके ॥[1]

टोडरमल ने बादशाह को बहुत समझाया कि अमीन ने बहुत बड़ा अपराध किया है, यदि कड़े-से-कड़ा दण्ड न दिया गया, तो राज्य में अराजकता फैल जायगी। परन्तु, बादशाह मदनमोहनजी की सत्यनिष्ठा से अत्यन्त प्रभावित हुए और इन्हें क्षमा प्रदान करते हुए बुला भेजा। लेकिन, इनका मन अब वृन्दावनविहारी के साम्राज्य में रम चुका था। उन्होंने आना अस्वीकार कर दिया तथा विनम्र भाव से निवेदन किया कि 'अब तो मैं किसी और का हो चुका हुँ। वृन्दावन की गलियों में झाड़ू देना मुझे अत्यन्त सुखद प्रतीत होता है।' ये व्रजराज की भक्ति में तल्लीन होकर कालिन्दी-तटपर भगवान् की मुरली-माधुरी का रसास्वादन करने लगे। ये नित्य अपने प्रियतम से निवेदन करते थे :

मधु के मतवारे स्याम! खोलौ प्यारे पलकैं।
सीस मुकुट लटा छुटी और छुटी अलकैं ॥
सुर नर मुनि द्वार ठाढ़े, दरस हेतु कलकैं।
नासिका के मोती सोहै बीच लाल ललकैं ॥
कटि पीतांबर मुरली कर श्रवन कुंडल झलकैं।
सूरदास मदनमोहन दरस दैहौ भल कैं ॥

श्रीराधाकृष्णजी के मधुर प्रेम का वर्णन इस पद में दिखाई पड़ता है :

---

१. प्रियादासजी ने इस घटना का निर्देश 'भक्तमाल की टीका' में किया है :
पृथ्वीपति संपति लै साधुन खवाय दई,
भई नहीं शक यों निशंक रग पागे हैं।
आये सो खजानो लैन मानो यह बात अहो,
पाथर लै भरे आप आधी निशि भागे हैं ॥
रुक्का लिखि डारे, 'दाम गटके ये संतनि ने,
याते हम सटके हैं' चले जब जागे हैं।
पहुँचे हजूर, भूप खोल कै सँदूक देखैं,
पेखैं आँक कागद में रीझि अनुरागे हैं ॥
(भक्तमाल सटीक, पृ० ७२६)

नवल किशोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया।।
करत विनोद तरनि-तनया-तट, स्यामा स्याम उमगि रस भरिया।
यौं लपटाइ रहे उर अंतर मरकत मनि कंचन ज्यों जरिया।।
उपमा को घन दामिनी नाहीं, कँदरप कोटि वारने करिया।
सूर मदनमोहन बलि जोरी नँदनंदन वृषभानु-दुलरिया।।

अतिशय सरसता के कारण इनके पदों का सम्बन्ध सूरसागर से भी हो गया। सूरसागर का 'सूरदास मदनमोहन' वाले पद सम्भवतः इन्हीं के हैं। इन्होंने श्रीकृष्ण के लीला-गान में जिस काव्य-माधुर्य का स्रोत उँडेला है, उससे वैष्णव साहित्य अत्यन्त सरस हो गया है। इनके भी कुछ स्फुट पदों के संग्रह ही प्राप्त होते हैं।

श्रीभट्ट

श्रीभट्ट निम्बार्क-सम्प्रदाय के महाकवि केशव कश्मीरीजी के अन्तरंग शिष्य और राधाकृष्णजी के अनन्य भक्त थे। ये व्रज और मथुरा की ही सीमा में रहने को परम सुख और आनन्द का साधन समझते थे तथा भगवान् की रसरूप-माधुरी की उपासना में रात-दिन तल्लीन रहते थे। जब ये तन्मय होकर पद गाने लगते थे, तब कभी-कभी भगवान् की दिव्य झाँकी का साक्षात्कार हो जाता था।

एक बार ये भगवती कालिन्दी के परम पवित्र तटपर विचरण कर रहे थे। इन्होंने नीरव एवं छविमान् निकुंजों की ओर दृष्टि डाली। भगवान् की लीला-माधुरी का रस नयनों में उमड़ आया। वंशीवट के नीचे नित्य रास करनेवाले राधा-रमण की वंशीस्वर-लहरी ने उनकी चित्तवृत्ति पर पूर्ण अधिकार कर लिया। ये उनके चरणों में सर्वस्व समर्पण करने के लिए विकल हो उठे। दर्शन के लिए अतिशय लालायित हृदय से सहसा मधुर पद निकल पड़ा :

भीजत कब देखौं इन नैना।
स्यामाजू की सुरँग चूनरी, मोहन को उपरैना।

भगवान् से इनका विरह-दुःख अब और न सहा गया। उन्होंने रासरासेश्वरी के साथ प्रकट होकर इन्हें अपने दर्शन दिये। श्रीभट्टजी कृतकृत्य हो गये। शेष पद को रासविहारी ने पूरा किया :

स्यामा स्याम कुंजतर ठाढ़े, जतन कियो कछु मैं ना।
श्रीभट्ट उमड़ि घटा चहुँ दिसि तें घिरि आई जल सेना।।

इनका कविता-काल संवत् १६२२ माना जाता है। इनके सौ पदों का एक संग्रह 'युगलशतक' नाम से प्रसिद्ध है, जो कृष्णभक्तों में बहुत समादृत है। इसके अतिरिक्त इनकी एक और छोटी पुस्तक 'आदि बानी' भी मिलती है। इनके पदों में भगवान् के रस-रूप का चिन्तन अधिकता से हो सका है। इनकी रसोपासना से प्रभावित होकर अन्य रसोपासकों ने श्रीराधाकृष्ण की निकुंज-लीला माधुरी के स्तवन एवं गान से भक्ति-साहित्य की जो श्रीवृद्धि की है, वह सर्वथा स्तुत्य है। इनके दो-एक पदों का माधुर्य देखिए :

सेव्य हमारे श्रीप्रिय प्यारी वृन्दाविपिन बिलासी।
नन्द-नँदन बृषभानुनन्दिनी चरन अनन्य उपासी।।
मत्त प्रनय बस सदा एक रस विविध निकुंज निवासी।
'श्रीभट्ट' जुगलरूप बंसीबट सेवत सब सुख रासी।।

जाको मन बृन्दा विपिन हर्‌यो।
निरखि निकुंज पुंज-छवि राधेकृष्ण नाम उर धर्‌यो।।
स्यामा स्याम-स्वरूप सरोवर परि स्वारथ बिसर्‌यो।
श्रीभट राधे रसिकराय तिन्ह सर्बस दै निबर्‌यो।।

जय जय बृन्दावन आनँदमूल।
नाम लेत पावत जु प्रनयरति जुगल किसोर देत निजकूल।।
सरन आय पाए राधाधव मिटी अनेक जन्म की भूल।
ऐसेहि जानि बृँदाबन श्रीभट रज पर वारि कोटि मखतूल।।

श्रीव्यासजी

श्रीव्यासजी का जन्म वि० संवत् १५६७ में ओरछा में हुआ था। ये जाति के सनाढ्य शुक्ल ब्राह्मण थे। इनका बचपन का नाम हरिराम था। ये अत्यन्त तीव्र प्रतिभा-सम्पन्न थे। संस्कृत-भाषा पर इनका असाधारण अधिकार था। फलतः, वे शास्त्रार्थ में अधिक रुचि रखते थे। एक समय इन्होंने काशी के विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ में विजय पाई। उसी रात्रि में इन्हें शास्त्रार्थ की निरर्थकता एवं भक्ति की श्रेष्ठता का स्वप्न हुआ। जगने पर इनके स्वभाव में आ

परिवर्त्तन हो गया। इनका विद्या का नशा उतर गया था। काशी में विजय प्राप्त करके भी अपने को पराजित मान रहे थे। और, यही इनकी सच्ची विजय थी। इनके जीवन का मन्त्र हो गया—'वही पढ़ विद्या, जामें भक्ति को प्रबोध होय।' ये सीधे ओरछा लौट आये। अब इन्हें धन-दौलत या प्रतिष्ठादि सब व्यर्थ लगने लगे। इन्होंने गृहासक्ति का परित्याग कर संन्यास ले लिया। वृन्दावन में आकर श्रीहितहरिवंशजी से दीक्षित हो गये। सेवाकुंज के पास राधाकृष्ण का एक मन्दिर बनवाकर ये उनकी नित्यसेवा में लग गये।

श्रीव्यासजी भगवान् श्रीकृष्ण की बाललीला एवं शृंगारलीला में सदा मग्न रहते थे। कहते हैं, एक बार ये रासलीला में तल्लीन थे। इन्होंने देखा कि श्रीराधारानी के चरणों का नूपुर टूट गया। इन्होंने झट अपना यज्ञोपवीत तोड़कर उसे गूँथ दिया। लोगों के पूछने पर उसे स्पष्ट करते हुए इन्होंने उसका सदुपयोग सिद्ध किया।

लीला-गान के साथ ही इन्होंने ज्ञान और भक्ति की विवेचना सुन्दर ढंग से की है। प्रेम को इन्होंने शरीर की सीमा से ऊपर की वस्तु कहा है। इनके रचित स्फुट पद पर्याप्त परिमाण में पाये जाते हैं।

व्रजभाषा में रचित इनके मधुर पदों की झाँकी देखिए :

हम कब होंहिगे ब्रजबासी।
ठाकुर नन्द किसोर हमारे, ठकुराइन राधा सी॥
कब मिलिहैं वे सखी सहेली हरिबंसी हरिदासी।
बंसीवट की सीतल छैयाँ सुभग नदी जमुना सी॥
जाकौ वैभव करत लालसा कर मीडत कमला सी।
इतनी आस व्यास की पुजवहु बृन्दा विपिन बिलासी॥

सुघर राधिका प्रवीन बीना बर रास रच्यो,
स्याम संग बर सुढंग तरनि-तनया तीरे।
आनँदकन्द बृन्दावन सरद मन्द मन्द पवन,
कुसुम पुंज तापदवन, धुनित कल कुटीरे॥
रुनित किंकिनी सुचारु, नूपुर तिमि बलय हारु,
अंग बर मृदंग ताल तरल रंग भीरे।
गावत अति रंग रह्यो, मोपै नहिं जात कह्यो,
व्यास रस प्रवाह बह्यौ निरखि नैन सी रे॥

ध्रुवदास

ध्रुवदास ने स्वप्न में ही श्रीहितहरिवंशजी से दीक्षा पाई थी। इनका निवा स्थान वृन्दावन था। इनकी रचनाओं में श्रीकृष्ण-लीला की प्रधानता के साथ प्रेम और भक्ति पर भी पर्याप्त विचार किया गया है। इनके पद कई शैलि में रचित हैं। छोटे-बड़े मिलाकर लगभग इनके चालीस ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं।[1] ध्रुवद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्त-नामावली' में इनके समय तक के भक्तों की चर्चा की गई है भक्तिकाल की रचनाओं में इनके ग्रन्थ अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। श्रीकृष्णन की महिमा का वर्णन करते हुए ये कहते हैं :

हेम को सुमेर दान, रतन अनेक दान,
गजदान, अन्नदान, भूमिदान करहीं।
मोतिन के तुलादान, मकर प्रयाग न्हान,
ग्रहन मैं कासी दान, चित्त सुद्ध धरहीं॥
सेजदान, कन्यादान, कुरुक्षेत्र गऊदान,
इत मैं पापन को नेकहूँ न हरहीं।
कृष्ण केसरी को नाम एक बार लीन्हे 'ध्रुव'
पापी तिहुँ लोकन के छिनहि माहिं तरहीं॥

रसखान

रसखान दिल्ली के किसी शाही वंश की परम्परा के एक पठान सरदार इनका जन्म वि० संवत् १६१५ के लगभग हुआ था। कहते हैं, इनका प्रारम्भिक जी भौतिक प्रेममय था। एक समय इन्होंने अपनी प्रेमिका से ही श्रीकृष्ण-प्रेम महिमा सुनी। अब क्या था! हृदय का भौतिक रस आध्यात्मिक रंग में गया। वे घर से वृन्दावन के लिए चल पड़े। पैरों ने हृदय का साथ दिया। सो

---

१. वृन्दावनसत, सिंगारसत, रसरत्नावली, नेहमंजरी, रहस्यमंजरी, सुखमंजरी, रतिमं वनविहार, रंगविहार, रसविहार, आनन्द-दसा-विनोद, रंगविनोद, नृत्यविलास, हुलास, मानरसलीला, रहसलता, प्रेमलता, प्रेमावली, भजनकुण्डलिया, भक्तनामाव मनसिंगार, भजनसत, प्रीतिचौवनी, रसमुक्तावली, बामन-बृहत्-पुराण की भाषा, स मण्डली, रसानन्दलीला, सिद्धान्तविचार, रसहीरावली, हित-सिंगार-लीला, ब्रजल आनन्दलता, अनुरागलता, जीवदशा, वैद्यलीला, दानलीला, ब्याहलो आदि।

जाते थे, इस मूर्ख मन ने लोक-बन्धन में मुक्ति-सुख मान लिया था। पहुँच गये अब वृन्दावनधाम ! व्रजरज का मस्तक से स्पर्श होते ही, भगवती कालिन्दी के जल की शीतलता के स्पर्श-सुख से उन्मत्त समीर के मदिर कम्पन की अनुभूति होते ही और श्याम तमालों की छवि के दर्शन होते ही वे अपनी सुध-बुध खो बैठे। जगत् विस्मृत हो गया, भगवान् में मन रम गया। इन्होंने पावन वृन्दावन की स्तुति की, वहाँ के जड-चेतन से आत्मीयता स्थापित की। उनसे अपने जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध जोड़ा। वे गा उठे :

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तो कहा बसु मेरौ चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन ॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यौ करछत्र पुरन्दर-धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ॥

ये व्रज की अनुपम छवि पर बिक चुके थे। उसके सौन्दर्य के सामने तो इन्हें तीनों लोकों का ऐश्वर्य-सुख भी फीका-फीका ही लगने लगा :

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर कौं तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि कौ सुख नन्द को गाइ चराइ बिसारौं ॥
आँखिन सौं 'रसखानि' कबौं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक-हू-कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं ॥

कितना अद्‌भुत आत्मसमर्पण था। प्रेमसुधा का निरन्तर पान करते वे व्रज की शोभा देख रहे थे। रसखान के दर्शन से व्रज धन्य हो उठा। व्रज के दर्शन से रसखान का जीवन सफल हो गया।

वे गोवर्धन पर श्रीनाथजी के दर्शन के लिए मन्दिर में जाने लगे। द्वारपाल ने धक्का देकर निकाल दिया। इधर रसखान की स्थिति विचित्र थी। इन्हें अब एकमात्र अपने प्राणेश्वर श्यामसुन्दर का भरोसा था। दर्शन के लिए अन्न-जल छोड़ दिया। तीन दिन बीत गये। भक्त के प्राण कलप रहे थे। उधर भगवान् भी भक्त के लिए विकल थे। रसखान पड़े-पड़े सोच रहे थे :

देस बिदेस के देखे नरेसन रीझि की कोउ न बूझि करैगो।
ताते तिन्हैं तजि मान गिर्‌यौ गुन सौगुन औगुन गाँठि परैगो ॥
बाँसुरीवारो बड़ो रिझवार है स्याम जो नैकु सुढार ढरैगो।
लाड़लो छैल वही तौ अहीर कौ पीर हमारे हिए की हरैगो ॥

सत्य ही, अहीर के छैल ने इनके हृदय की वेदना हर ही तो ली। श्यामसुन्दर ने इन्हें साक्षात् दर्शन दिये। बाद में परम भागवत श्रीविट्ठलनाथजी के दर्शन हुए। उन्होंने इन्हें गोविन्दकुण्ड पर स्नान कराकर दीक्षित किया। अब रसखान पूरे 'रसखानि' हो गये। ये सर्वात्मना अपने को श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कर उनके लीला-गान में तन्मय रहने लग। श्रीकृष्ण के साक्षात्कार की गवाही उनके नेत्रों से सुनिए :

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन-गानन, वेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्यो, रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुंज-कुटीर में बैठो पलोटत राधिका-पाँयन॥

ये आजीवन व्रज में ही भगवान् की लीला को काव्यरूप देते हुए विचरण करते रहे। श्रीकृष्ण ही इनके एकमात्र स्नेही, सखा और सम्बन्धी थे।

इनकी दो रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं—'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान'। रसखान की भावना सीधे हृदय का स्पर्श करती है। भावमग्नता इनकी कविता का विशेष गुण है।

रहीम

रसखान की ही तरह जिन मुसलमान हिन्दी-कवियों पर वैष्णवता का प्रभाव पड़ा, वे हैं अब्दुर्रहीम खानखाना या रहिमन कवि तथा मियाँ नजीर अकबराबादी। रहीम कवि का जन्म वि० संवत् १६१० में लाहौर में हुआ था। ये अकबर के अभिभावक सरदार बैरम खाँ खानखाना के पुत्र थे। अरबी और फारसी के विद्वान् होने के साथ ही ये संस्कृत-भाषा के भी अच्छे पण्डित थे। इनकी अधिकांश रचनाएँ हिन्दी में मिलती हैं। यद्यपि ये अपने दोहे के लिए प्रसिद्ध माने जाते हैं, तथापि इन्होंने बरवै, कवित्त, सवैया, सोरठा एवं पद में भी थोड़ी-बहुत रचना की है।

इनके दोहों में जीवन की सच्ची अनुभूति झलकती है। श्रीकृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध इनके दो-एक पदों का माधुर्य देखिए :

छबि आवन मोहन लाल की।

काछें काछनि कलित मुरलिकर,

पीत पिछौरी साल की ।।
बंक तिलक केसर को कीने
दुति मानो बिधु बाल की ।
बिसरत नाहिं सखी ! मो मन ते,
चितवनि नयन बिसाल की ।।
नीकी हँसनि अधर सधरनि की,
छबि छीनी सुमन गुलाल की ।
जल सौं डारि दियौ पुरइन पर,
डोलनि मुकता माल की ।।
आप मोल बिन मोलनि डोलनि,
बोलनि मदन गुपाल की ।
यह सरूप निरखै सोइ जानै,
इस रहीम के हाल की ।।

कमल दल नैननि की उनमानि ।
बिसरत नाहिं सखि ! मो मन ते मंद मंद मुसकानि ।।
यह दसननि-दुति चपलाहूं ते महाचपल चमकानि ।
बसुधा की बसकरी मधुरता सुधा-पगी बतरानि ।।
चढ़ी रहै चित उर बिसाल की मुकुतमाल थहरानि ।
नृत्य समय पीतांबर हूं की फहर फहर फहरानि ।।
अनुदिन श्रीवृंदावन ब्रज तें आवन आवन जानि ।
अब रहीम चित ते न टरति है सकल स्याम की बानि ।।

इनके ग्रन्थों में 'रहीम-दोहावली', 'बरवै नायिका', 'मदनाष्टक', 'रासपंचाध्यायी' और 'शृंगारसोरठ' प्रसिद्ध हैं । इनका ब्रज और अवधी-भाषाओं पर समान रूप से अधिकार था ।

श्रीकृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध इनके एक संस्कृत-श्लोक का माधुर्य देखिए :

रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय ।

आभीरवामनयनाहृतमानसाय
दत्तं मनो यदुपते कृपया गृहाण ॥

अर्थात्, रत्नाकर (समुद्र) तो आपका घर है, साक्षात् लक्ष्मीजी आपकी पत्नी हैं, आप स्वयं जगदीश्वर हैं, भला आपको क्या दिया जाय। किन्तु, हे यदुनाथ ! गोप-सुन्दरियों ने अपने नेत्रकटाक्ष से आपका मन हर लिया है, इसलिए अपना मन आपको अर्पण करता हूँ, कृपया इसे ग्रहण कीजिए ।

मियाँ नजीर अकबराबादी

मियाँ नजीर अकबराबादी का जन्म लगभग वि० संवत् १७९७ में आगरा में हुआ था । ये वस्तुतः सूफीमत के सन्त थे; परन्तु इनपर श्रीकृष्ण-भक्ति का बहुत प्रभाव पड़ा था । इन्होंने श्रीकृष्ण-लीला से सम्बद्ध कई पदों की रचना की है। इनके द्वारा रचित श्रीकृष्ण की बाल-लीला का वर्णन बहुत ही सरस एवं ललित हुआ है। गोपियाँ नन्दकिशोर की चंचलता की शिकायत माँ यशोदा से करती हैं :

सब मिल जसोदा पास यह कहती थी आके, बीर,
अब तो तुम्हारा कान्हा हुआ है बड़ा शरीर ।
देता है हम को गालियाँ, और फाड़ता है चीर,
छोड़े दही, न दूध, न माखन मही, न खीर ।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन ।

यह सुनकर यशोदा श्रीकृष्ण को डाँटती है । इसपर बालक कृष्ण की निश्छल उक्तियाँ कितनी प्रिय लगती हैं :

माता, कभी ये मुझ को पकड़ कर ले जाती हैं,
औ गाने अपने साथ मुझे भी गवाती हैं ।
सब नाचती हैं आप - मुझे भी नचाती हैं,
आपी तुम्हारे पास ये फरियादी आती हैं ।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन !

मैया, कभी ये मेरी छगुलिया छिपाती हैं,
जाता हूँ राह में तो मुझे छेड़े जाती हैं ।

आपी मुझे रुठाती हैं आपी मनाती हैं,
मारो इन्हें ये मुझको बहुत-सा सताती हैं।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन।

इनके एक पद में मुरली की मधुर ध्वनि भी सुनाई पड़ती है :

जब मुरलीधर ने मुरली को अपने अधर धरी,
क्या-क्या परेम-प्रीत भरी उसमें धुन भरी।
लै उसमें 'राधे-राधे' की हरदम भरी खरी,
लहराई धुन जो उसकी इधर औ उधर जरी।
सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी,
ऐसी बजाई कृष्ण कन्हैया ने बाँसुरी।

इनके भी कुछ फुटकर पद ही प्राप्त होते हैं, जिनमें उर्दू के ललित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। श्रीकृष्ण-भक्ति में तन्मय देखकर ही इन मुसलमान कवियों के प्रति भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने कहा था—'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दू वारिये।'

नरोत्तमदास

नरोत्तमदास का जन्म सीतापुर जिले के 'बाड़ी' नामक कसबे में हुआ था। इनका आविर्भाव-काल संवत् १६०२ माना जाता है। अपनी केवल एक ही रचना 'सुदामाचरित' के चलते ये हिन्दी-कवियों में अमर हो गये। इनके एक और ग्रन्थ 'ध्रुवचरित्र' की भी चर्चा होती है; परन्तु वह अभी तक अप्राप्त है। खोज में 'विचारमाला' नाम की इनकी एक और रचना का भी उल्लेख हुआ है।

सुदामाचरित इनका खण्डकाव्य है। इसमें सुदामा की दरिद्रता तथा श्रीकृष्ण-कृपा से ऐश्वर्य की प्राप्ति—इन दो ही बातों का वर्णन किया गया है। इसकी रचना व्रजभाषा में हुई है। शब्द परिमार्जित हैं एवं भाव स्पष्ट। इसमें आद्योपान्त सख्य रस की अजस्र धारा प्रवाहित है।

दरिद्रता से पीड़ित सुदामा की पत्नी उन्हें अपने बालसखा त्रिभुवन-नायक श्रीकृष्ण के पास जाकर दारिद्र्य-निवारण के लिए निवेदन करने का परामर्श

देती है। इसपर सुदामा की सन्तुष्ट एवं सात्त्विक मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया होती है। वे कहते हैं :

सिच्छक हौं सिगरे जग को तिय ताको कहा अब देति है सिच्छा।
जे तप कै परलोक सुधारत सम्पति की तिनके नहिं इच्छा॥
मेरे हिये हरि के पदपंकज बार हजार लै देखु परिच्छा।
औरन को धन चाहिए बावरि, बाम्हन को धन केवल भिच्छा॥

पत्नी के बहुत आग्रह करने पर सुदामाजी श्रीकृष्ण के यहाँ जाते हैं। सिंहद्वार पर उनके पहुँचने पर द्वारपाल ने जाकर श्रीकृष्ण से उनका जो परिचय दिया है, उससे उनकी दीन दशा का स्पष्ट पता चलता है :

सीस पगा न झगा तन मैं नहिं जानै को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पायँ उपानह की नहिं सामा॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल के धाम बतावत आपनो नाम सुदामा॥

सुदामा का नाम सुनते ही भगवान् श्रीकृष्ण दौड़ पड़े। उन्होंने सिंहासन पर बैठाकर अपने हाथों उनके चरण धोये। मित्र की दीन दशा देखकर आँखों से अजस्र धारा बह चली। चरण धोने के लिए परात का जल रखा ही रह गया :

ऐसे बेहाल बेवाइन तें पग कंटक-जाल लगे पुनि जोए।
हाय सखा दुख पायो महा तुम आए इतै न कितै दिन खोए॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैननि के जल सों पग धोए॥

श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी ठहरे। आने का उद्देश्य समझ गये। परन्तु, जाते समय कुछ दिया नहीं। लेकिन, सुदामा के लौटने के पूर्व ही प्रचुर ऐश्वर्यों से उनका घर भर गया। श्रीकृष्ण की कृपा से इनकी दरिद्रता दूर हो गई।

श्रीकृष्ण-काव्यधारा में सुदामाचरित का बहुत महत्त्व है। अपनी सरसता के कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है।

घनानन्द

घनानन्द का जन्म संवत् १७४६ के लगभग हुआ था। ये जाति के कायस्थ तथा दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के मीरमुंशी थे। काव्य और संगीत का इन्हें अच्छा अभ्यास था। कहते हैं, प्रारम्भ में ये बादशाह के दरबार की एक 'सुजान' नामक वेश्या पर आसक्त थे। दरबार के कुछ कुचक्रियों ने बादशाह से इनकी संगीत-कला की प्रशंसा की। बादशाह ने इनसे गान का आग्रह किया। परन्तु, ये नहीं गाये। पर 'सुजान' के कहने पर इन्होंने उसी की ओर मुख करके गाया। सारी सभा में आनन्द छा गया। बादशाह ने इनकी प्रशंसा की, पर आज्ञोल्लंघन के अपराध में इन्हें राजधानी से बाहर निकलवा दिया। चलते समय इन्होंने सुजान से भी साथ देने को कहा, पर वह न गई। इससे इनके मन में घोर विरक्ति उत्पन्न हुई। ये वृन्दावन में आकर निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। इनकी उपासना सखी-भाव की थी। इनका साम्प्रदायिक सखीनाम 'बहुगुनी' है।[1] कहा जाता है कि यह नाम स्वयं श्रीराधाजी ने रखा था।[2]

इनकी उपासना में वियोग की प्रधानता है। आकाश में उमड़ते बादलों को देखकर अनुनयपूर्वक कहा करते कि 'तुम मेरे नयनों के अश्रु-जल को सुजान घनश्याम के आँगन में बरसा दो।' प्रेम की गूढातिगूढ अन्तर्दशा की सूक्ष्मता का परिचय इनकी इस उक्ति में अच्छी तरह मिलता है।

ये प्रायः वंशीवट के निकट वृक्ष के ही तले रहा करते थे। कभी-कभी समाधि में दो-तीन दिन तक बीत जाते थे। वृन्दावन-भूमि के प्रति प्रेम की झलक इस कवित्त में दिखाई पड़ती है :

गुरनि बतायो, राधा मोहन हू गायो सदा,
सुखद सुहायो वृंदावन गाढ़े गहि रे।
अद्भुत अभूत महिमंडन, परे तें परे,
जीवन को लाहु हा हा क्यों न ताहि लहि रे॥

---

१. नीको नावँ बहुगुनी मेरो। बरसाने ही सुन्दर खेरो॥
(वृषभानपुर-सुषमावर्णन)

२. राधा नावँ बहुगुनी राख्यौ। सोई अरथ हिये अभिलाख्यौ॥
(वृषभानपुर-सुषमावर्णन)

आनँद को घन छायो रहत निरन्तर ही,
सरस सुदेय सो, पपीहापन बहि रे।
जमुना के तीरे केलि कोलाहल भीर ऐसी,
पावन पुलिन पै पतित परि रहि रे॥

ये अपने मनोरथ की पूर्त्ति के लिए श्रीकृष्ण से कहते हैं :

जा हित मात कौ नाम जसोदा सुवंस कौ चन्द्रकला कुलधारी।
सोभा समूहमयी 'घन आनँद' मूरति रंग अनंग जिवारी॥
जान महा, सहजै रिझवार, उदार बिलास, सु रासबिहारी।
मेरो मनोरथ हूँ पुरवौ तुमहीं मो मनोरथ पूरनकारी॥

आचार्य शुक्ल के अनुसार, 'कृष्णभक्ति-सम्बन्धी इनका एक बहुत बड़ा ग्रन्थ छत्रपुर के राजपुस्तकालय में है, जिसमें प्रियाप्रसाद, व्रजव्यवहार, वियोगबेली, कृपाकन्दनिबन्ध, गिरिगाथा, भावनाप्रकाश, गोकुलविनोद, धामचमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाममाधुरी, वृन्दावनमुद्रा, प्रेमपत्रिका, रसवसन्त इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं। इनकी 'विरहलीला' व्रजभाषा में, पर फ़ारसी के छन्द में है।[1]

इसके अतिरिक्त इनका सुजानसागर, विरहलीला, रसकेलीवल्ली तथा कृपाकाण्ड प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

इन भक्तों के अतिरिक्त, निपट निरंजन, बिहारी, लक्ष्मीनारायण, बलभद्रमिश्र, गणेशमिश्र, कादिर, मोहन, मुबारक, अहमद, भीष्म, चतुरदास, भुवाल, धर्मदास, सुखदेवमिश्र, रसिकदास, हरिवल्लभ, जगतानन्द, मनोहर कवि, जपतराम, बीरबल, होलराय, टोडरमल, नरहरि बन्दीजन, गंग आदि कवियों ने भी कृष्णकाव्य की श्रीवृद्धि की।

उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों में बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीअयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तथा पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने श्रीकृष्ण-लीला से अपने काव्य को मण्डित किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने श्रीवल्लभ-सम्प्रदाय में शिक्षा पाई थी। उन्होंने आजीवन श्रीकृष्ण को ही अपना उपास्य माना। उन्होंने रास-रसिकेश्वर घनश्याम की वन्दना में कहा :

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३२०।

भरित नेह नव नीर नीत, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ॥

कभी-कभी वे दाम्पत्य-भाव से ओत-प्रोत होकर नन्द-नन्दन का आवाहन करते थे और कभी उनकी निर्ममता और निष्ठुरता से खीझकर उनको उलाहना देते थे; उनका भावुक मन श्रीराधाकृष्ण-प्रेमार्णव में सदा डूबता-उतराता रहता था। उनका भगवान् प्रेम-मूलक था। वे केवल रसिक-भक्त ही नहीं, ज्ञानी भी थे। पर, उनके ज्ञान ने सदा 'श्रीकृष्णः शरणं मम' का ही जप किया। उन्होंने समस्त जगत् में श्रीराधाकृष्ण की सरस परिव्याप्ति पाई। इनके सरस पद का नमूना देखिए :

हरिचन्द एतेहू पै दरस दिखावै क्यों न,
तरसत रैनदिन प्यासे प्रान पातकी।
एरे ब्रजचन्द ! तेरे मुख की चकोरी हूँ मैं,
एरे घनश्याम ! तेरे रूप की हौं चातकी ॥

पर, श्रीराधारानी से वे एक सीधे-सादे सच्चे भक्त की तरह दिन-रात कहा करते थे :

श्रीराधे मोहि अपनो कब करिहौं।
जुगल रूप रस अमित माधुरी कब इन नयननि भरिहौं ॥

इन्होंने श्रीनाभादासजी के भक्तमाल की तरह ही एक और 'भक्तमाल' की रचना की। स्वरचित भक्तमाल के अन्त में निम्नांकित श्लोक लिखा है :

हरिश्चान्द्रो माली हरिपदगतानां सुमनसां
सदाम्लानां भक्तिप्रकटतरगन्धां च सुगुणाम्।
अगुम्फत्सन्मालां कुरुत हृदयस्थां रसपदा
यतोऽन्येषां स्वस्य प्रणयसुखदात्रीयमतुला ॥

भारतेन्दु बाबू ने अपने पदों में श्रीराधाकृष्ण और श्रीसीताराम के चरण-चिह्नों की जो व्याख्या की है, वह भक्तों के लिए परम उपयोगी है।

हरिऔधजी का 'प्रियप्रवास' 'रत्नाकरजी' का 'उद्धवशतक' सत्यनारायण 'कविरत्न' का 'भ्रमरदूत' कृष्ण-काव्यधारा को सुन्दर गति देते दिखाई पड़ते हैं। इन रचनाओं पर युग की छाप दिखाई पड़ती है।

आधुनिक युग में श्रीकृष्णाश्रयी शाखा के सर्वश्रेष्ठ अनुभवी सन्तकवि हुए नित्यलीलालीन स्वनामधन्य 'कल्याण'-सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार। 'श्रीराधा-माधव-रससुधा' आपका एक ऐसा विशद ग्रन्थ है, जिसमें श्रीराधाकृष्ण-तत्त्व एवं रहस्य का दिव्य मंगलमय उद्घाटन हुआ है।

यह ग्रन्थ अपने विषय की सर्वश्रेष्ठ रचना है और सन्तों, साधकों, साहित्यिकों और रसपिपासुओं के लिए अनमोल सम्पदा है। इनके रचे 'षोडश गीत' का अनुवाद बँगला, गुजराती, उड़िया, मराठी, उर्दू तथा रूसी भाषाओं में हो चुका है।

ब्रजभाषा-निबद्ध उक्त 'षोडश गीत' अनुवाद-सहित यहाँ प्रस्तुत है।

श्रीराधा-माधव-रससुधा

[षोडश गीत]

(अनुवाद-सहित)

नम्र निवेदन

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण का आनन्दस्वरूप या ह्लादिनी शक्ति ही श्रीराधा के रूप में प्रकट है। श्रीराधाजी स्वरूपतः भगवान् श्रीकृष्ण के विशुद्धतम प्रेम की ही अद्वितीय घनीभूत नित्य स्थिति हैं। ह्लादिनी का सार प्रेम है, प्रेम का सार मादनाख्य महाभाव है और श्रीराधाजी मूर्त्तिमती मादनाख्य महाभावरूपा हैं। वे प्रत्यक्ष साक्षात् ह्लादिनी शक्ति हैं, पवित्रतम नित्य वर्द्धनशील प्रेम की आत्मस्वरूपा अधिष्ठात्री देवी हैं। कामगन्धहीन स्वसुख-वांछा-वासना-कल्पना-गन्ध से सर्वथा रहित श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमयी श्रीकृष्णसुखजीवना श्रीराधा का एकमात्र कार्य है—त्यागमयी पवित्रतम नित्य सेवा के द्वारा श्रीकृष्ण का आनन्दविधान। श्रीराधा पूर्णतम शक्ति हैं, श्रीकृष्ण परिपूर्णतम शक्तिमान् हैं। शक्ति और शक्तिमान् में भेद तथा अभेद दोनों ही नित्य वर्त्तमान हैं। अभेदरूप में तत्त्वतः श्रीराधा और श्रीकृष्ण अनादि, अनन्त, नित्य एक हैं और प्रेमानन्दमयी दिव्य लीला के रसास्वादनार्थ अनादिकाल से ही नित्य दो स्वरूपों में विराजित हैं। श्रीराधा का मादनाख्य महाभावरूप प्रेम अत्यन्त गौरवमय होने पर भी संदीयतामय मधुर स्नेह से आविर्भूत होने के कारण

सर्वथा ऐश्वर्य-गन्ध-शून्य है। वह न तो अपने में गौरव की कल्पना करता है, न गौरव की कामना ही। सर्वोपरि होने पर भी वह अहंकारादि दोष-लेश-शून्य है। यह मादनाख्य महाभाव ही राधा-प्रेम का एक विशिष्ट रूप है। राधाजी इसी भाव से आश्रयनिष्ठ प्रेम के द्वारा प्रियतम श्रीकृष्ण की सेवा करती हैं। उन्हें उसमें जो महान् सुख मिलता है, वह सुख श्रीकृष्ण 'विषय' रूप से राधा के द्वारा सेवा प्राप्त करके जिस प्रेमसुख का अनुभव करते हैं, उससे अनन्तगुना अधिक है। अतएव, श्रीकृष्ण चाहते हैं कि मैं प्रेम का 'विषय' न होकर 'आश्रय' बनूँ, अर्थात् मैं सेवा के द्वारा प्रेम प्राप्त करनेवाला 'विषय' ही न बनकर सेवा करके प्रेमदान करनेवाला भी बनूँ। मैं आराध्य ही न बनकर आराधक भी बनूँ। इसी से श्रीकृष्ण नित्य राधा के आराध्य होनेपर भी स्वय उनके आराधक बन जाते हैं। जहाँ श्रीकृष्ण प्रेमी हैं, वहाँ श्रीराधा उनकी प्रेमास्पदा हैं और जहाँ श्रीराधा प्रेमिका के भाव से आविष्ट हैं, वहाँ श्रीकृष्ण प्रेमास्पद हैं। दोनों ही अपने में प्रेम का अभाव देखते हैं और अपने को अत्यन्त दीन और दूसरे का ऋणी अनुभव करते हैं; क्योंकि विशुद्ध प्रेम का यही स्वभाव है।

रस-साहित्य में अधिकांश रचनाएँ ऐसी ही उपलब्ध होती हैं, जिनमें श्रीकृष्ण प्रेमास्पद के रूप में और श्रीराधा प्रेमिका के रूप में चित्रित की गई हैं। इन सोलह गीतों में आठ पद ऐसे हैं, जिनमें श्रीकृष्ण श्रीराधा को अपनी प्रेमास्पदा मानकर उन्हें प्रेम की स्वामिनी और अपने को प्रेम का कंगाल स्वीकार करते हैं और उनके उत्तर-रूप में आठ पद श्रीराधा के द्वारा कहे गये हैं, जिनमें श्रीराधा अपने को अत्यन्त दीना और श्रीकृष्ण को प्रेम के धनी-रूप में स्वीकार करती हैं। इस प्रकार, सोलह पदों में प्रेमिगत दैन्य और प्रेमास्पद की महत्ता का उत्तरोत्तर विकास दृष्टिगत होता है।

महाभाव-रसराज-वन्दना

दोउ चकोर, दोउ चंद्रमा, दोउ अलि, पंकज दोउ।
दोउ चातक, दोउ मेघ प्रिय, दोउ मछरी, जल दोउ ॥१॥
आस्रय-आलंबन दोउ, बिषयालंबन दोउ।
प्रेमी-प्रेमास्पद दोउ, तत्सुख-सुखिया दोउ ॥२॥
लीला-आस्वादन-निरत महाभाव-रसराज।
बितरत रस दोउ दुहुन कौं, रचि बिचित्र सुठि साज ॥३॥

सहित बिरोधी धर्म-गुन जुगपत नित्य अनंत।
बचनातीत अचिंत्य अति, सुषमामय श्रीमंत ।।४।।
श्रीराधा-माधव-चरन बंदौं बारंबार।
एक तत्त्व दो तनु धरैं, नित-रस-पारावार ।।५।।

श्रीराधा-माधव दोनों एक दूसरे के लिएँ चकोरहू हैं और चन्द्रमाहू। भ्रमरहू हैं और कमलहू हैं। पपीहाहू हैं और मेघहू हैं। मछरीहू हैं और जलहू हैं ।।१।।

प्रिया-प्रियतम एक दूसरे के प्रेमहू हैं और प्रेमास्पदहू। प्रेमी कूँ कहैं—आश्रय-आलम्बन और प्रेमास्पद कूँ विषयालम्बन। कहूँ श्यामसुन्दर प्रेमी सजैं हैं तो राधाकिशोरी प्रेमास्पद है जायँ हैं और कहूँ राधारानी प्रेमिका कौ बानौ धारण करैं तहाँ श्यामसुन्दर प्रेमास्पद है जायँ हैं। प्रेम कौ स्वरूप ही है प्रेमास्पद के सुख में सुख माननौ। याही सौं प्रेमी कूँ तत्सुख-सुखिया कहैं हैं। श्रीराधाकिशोरी और उनके प्राण-प्रियतम श्रीकृष्ण—दोनों ही तत्सुखसुखी हैं। श्रीराधा कूँ सुखी देखि कैं श्यामसुन्दर कूँ सुख होय और श्यामसुन्दर कूँ सुखी देखि कैं श्रीराधा सुखी होय हैं ।।२।।

प्रेम की अन्तिम परिणति कौ नाम है महाभाव। महाभाव कौ मूर्त्तिमान विग्रह है श्रीराधा। यही प्रकार रसन में सर्वश्रेष्ठ रस है—उज्ज्वल अथवा शृंगार-रस। याके मूर्त्तिमान स्वरूप हैं श्रीकृष्ण। या प्रकार श्रीराधा और श्रीकृष्ण के रूप में साक्षात् महाभाव-रसराज ही परस्पर लीला-रस कौ आस्वादन करते रहैं हैं और नाना प्रकार के नित्य नूतन एवं परमाकर्षक बानिक धारण करि कैं एक दूसरे कूँ रसदान कर्‌यो करैं हैं ।।३।।

प्रिया-प्रियतम दोनों ही एक ही काल में परस्पर-विरोधी अनन्त नित्य मन-वाणी के अगोचर अत्यन्त शोभामय एवं दिव्य गुण-गणन सौं विभूषित रहैं हैं ।।४।।

ये तत्त्वतः—स्वरूपतः एक होते भए दो भिन्न रूपन में प्रगट ह्वैकें लीला करैं हैं। नित्य रस के समुद्र उन श्रीराधा-माधव के चरननि-की मैं बारम्बार वन्दना करूँ हूँ ।।५।।

[१]

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

राधिके ! तुम मम जीवन मूल ।
अनुपम अमर प्रान-संजीवनि, नहिं कहुँ कोउ समतूल ।।
जस सरीर में निज-निज थानहिं सबही सोभित अंग ।
किन्तु प्रान बिनु सबहि ब्यर्थ, नहिं रहत कतहुँ कोउ रंग ।।
तस तुम प्रिये ! सबनि के सुख की एक मात्र आधार ।
तुम्हरे बिना नहीं जीवन-रस, जासौं सब कौ प्यार ।।
तुम्हरे प्राननि सौं अनुप्रानित, तुम्हरे मन मनवान ।
तुम्हरौ प्रेम-सिंधु-सीकर लै करौं सबहि रसदान ।।
तुम्हरे रस-भंडार पुन्य तैं पावत भिच्छुक चून ।
तुम सम केवल तुमहि एक हौ, तनिक न मानौ ऊन ।।
सोऊ अति मरजादा, अति संभ्रम-भय-दैन्य-सँकोच ।
नहिं कोउ कतहुँ कबहुँ तुम-सी रस-स्वामिनि निस्संकोच ।।
तुम्हरौ स्वत्व अनन्त नित्य, सब भाँति पूर्न अधिकार ।
कायब्यूह निज रस-बितरन करबावति परम उदार ।।
तुम्हरी मधुर रहस्यमई मोहनि माया सौं नित्त ।
दच्छिन बाम रसास्वादन हित बनतौ रहूँ निमित्त ।।

हे प्यारी राधिके ! तुम मेरे जीवन की मूरि हौ, मेरे प्रानन की अनुपम अमर संजीवनी हौ। तुम्हारे समान कोऊ दूसरी कहूँ नायँ है। जैसे शरीर में अपनी-अपनी ठौर पै सगरे अंग सोभा देय हैं, परन्तु प्रानन बिना सब कछु बेकार है, सगरे अंग फीके—सोभाहीन है जायँ हैं, तैसेंई हे प्यारी! सबरेन के सुख की एकमात्र आधार तुम ही हौ। तुम्हारे बिना जीवन में रस नायँ रहि जाय है, जा (जीवन) के ताईं सब कोई प्यार करै है। मेरे प्रान तुम्हारे प्रानन तेई संचालित रहैं हैं, तुम्हारे मन तेई मैं मनवान बन्यौ हूँ—तुम्हारे मन तेई मेरे मन की सत्ता है। तुम्हारे प्रेमरूपी समुद्र की एक बूँद कूँ लैकेंई मैं सबन कूँ रसदान करूँ हूँ। तुम्हारे

पुन्यमय—पवित्र रस-भण्डार तेई सगरे भिच्छुक चून—रस-कन पावैं हैं—सब कूँ रस वहीं ते मिलै है; तुम्हारे समान तौ एकमात्र तुम ही हौ, या में तुम नैंकहू कसर मती समझौ। या प्रकार मैं तुम्हारेई रस-भण्डार में ते रसदान करूँ हूँ; परन्तु वामें बड़ी ही मरजादा, बड़ौ संजम, भय, दीनता, अरु संकोच बन्यौ रहे है। (मुक्त-हस्त ते—उदारतापूर्वक नायँ कर सकूँ।) तुम जैसी संकोच छोड़ि कैं रस बाँटिबेवारी रस की स्वामिनी तौ एक तुम ही हौ, दूसरौ कहूँ कोऊ कबहूँ नायँ। फेर, मोपै तौ सदाईं तुम्हारौ अनन्त स्वत्व है—कबहूँ नायँ खूटै, ऐसौ हक है। (मैं तौ नित्य तुम्हारी ही सम्पत्ति हूँ।) याते मोपै सब ही प्रकार ते तुम्हारौ पूरौ अधिकार है। (याही सौं मोकूँ निमित्त बनाय कैं) तुम अपनी कायव्यूहरूपी—अंगस्वरूपा गोपीजनन के द्वारा परम उदार ह्वैकैं खुले हाथन रस कौ बितरन करवावौ हौ—रस बँटवावौ हौ। मैं तौ येई चाहूँ हूँ कि तुम्हारी रहस्यमई, मेरे जीवन कूँ सदा मुग्ध राखिबेवारी मीठी माया के—रसमई प्रीति के बस भयौ मैं तुम्हारे दच्छिन और बाम दोनों प्रकार के भावन के रसास्वादन में निमित्त बनतौ रहूँ।

[२]

श्रीराधा के प्रेमोद्गार—श्रीकृष्ण के प्रति

हौं तो दासी नित्य तिहारी।
प्राननाथ जीवन-धन मेरे, हौं तुम पै बलिहारी॥
चाहें तुम अति प्रेम करौ, तन-मन सौं मोहि अपनाऔ।
चाहें द्रोह करौ, त्रासौ, दुख देइ मोहि छिटकाऔ॥
तुम्हरौ सुख ही है मेरौ सुख, आन न कछु सुख जानौं।
जो तुम सुखी होउ मो दुख में, अनुपम सुख हौं मानौं॥
सुख भोगौं तुम्हरे सुख कारन, और न कछु मन मेरे।
तुमहि सुखी नित देखन चाहौं निसि-दिन साँझ-सबेरे॥
तुमहि सुखी देखन हित हौं निज तन-मन कौं सुख देऊँ।
तुमहि समरपन करि अपने कौं नित तव रुचि कौं सेऊँ॥

तुम मोहि 'प्रानेस्वरि', 'हृदयेस्वरि', 'कांता' कहि सचुपावौं।
यातैं हौं स्वीकार करौं सब, जद्यपि मन सकुचावौं।।

हे प्राननाथ ! मैं तौ तुम्हारी नित्य दासी, सदाँ की चेरी हूँ। तुम मेरे प्रानन के स्वामी तथा जीवन-सर्वस्व हौ, मैं तुम पै बलिहारी हूँ—न्योछावर हूँ। चाहें तुम मोसूँ अत्यन्त प्रेम करौ, शरीर और मन सूँ मोकूँ अंगीकार करौ अथवा द्रोह करौ, त्रासौ, दुख दैकैं मोकूँ छोड़-छिटकाय देऔ। तुम्हारौ सुख ही मेरौ सुख है, दूसरौ कोऊ सुख मैं रंचमात्र नायँ जानूँ। जो तुम मेरे दुख में सुख कौ अनुभव करौ तौ (तुम कूँ सुखी देखि कैं) मैं इतने महान् सुख कौ अनुभव करूँ, जाकी कहूँ तुलना नायँ। मैं जो सुख बिलसूँ हूँ, सोऊ तुम्हारे सुख के कारन ही, मेरे मन में दूसरे सुख की कल्पनाहू नायँ। मैं तुम कूँ नित्य साँझ सौं सबेरे ताईं और सबेरे ते साँझ ताईं—रात-दिनाँ सुखी देखनौ चाहूँ है। तुम कूँ सुखी देखिबे के ताईं ही मैं अपने सरीर और मन कूँ सुखी राखूँ हूँ—मौकूँ सुखी देखि कैं तुम कूँ सुख होय है, याईं कारन मैं सरीर और मन ते सुखी रहूँ हूँ। अपने-आप कूँ तुम्हारे अरपन करि कैं मैं सदा तुम्हारी रुचि कौई सेवन करूँ हूँ। तुम मोकूँ प्रानेस्वरी, हृदय की स्वामिनी, कान्ता (प्यारी) कहि कैं फूले नायँ समाऔ, याई ते मैं इन सम्बोधनन कूँ स्वीकार कर लऊँ हूँ, ग्रहण कर लऊँ हूँ, जद्यपि इन शब्दन कूँ सुनि कैं मोकूँ बहुत संकोच होय है—संकोच के मारें मैं गड़ि जाऊँ हूँ।

[३]

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

हे आराध्या राधा ! मेरे मनका तुझमें नित्य निवास।
तेरे ही दर्शन कारण मैं करता हूँ गोकुल में वास।।
तेरा ही रस-तत्त्व जानना, करना उसका आस्वादन।
इसी हेतु दिन-रात घूमता मैं करता वंशीवादन।।
इसी हेतु स्नान को जाता, बैठा रहता यमुना-तीर।
तेरी रूपमाधुरी के दर्शनहित रहता चित्त अधीर।।
इसी हेतु रहता कदम्बतल, करता तेरा ही नित ध्यान।
सदा तरसता चातक की ज्यों, रूप-स्वाति का करने पान।।

तेरी रूप-शील-गुण-माधुरि मधुर नित्य लेती चित चोर।
प्रेमगान करता नित तेरा, रहता उसमें सदा विभोर।।

हे आराध्या राधा ! मेरौ मन सदा—दिन-रात तोही में बस्यौ रहै है। तेरौ दरसन मो कूँ मिलतौ रहै, याई लोभ सौं मैं गोकुल में बसि रह्यौ हूँ। तेरेई रस के तत्त्व कूँ जानिबे और वाकौ आस्वादन करिबे के ताईं मैं बाँसुरी बजाँवतौ रात-दिनाँ इत-उत घूमतौ डोलूँ हूँ। याई के ताईं मैं अस्नान करिबे कूँ जमुना पै जायौ करूँ और वाके तीर पै बैठ्यौ रहूँ हूँ। तेरी रूप-माधुरी के दरसन करिबे के ताईं मेरौ चित्त बेचैन रहै है। याई कारन मैं कदम तरें बन्यौ रहूँ और नित्य तेरौ ध्यान—तेरौई चितवन करतौ रहूँ हूँ। तेरी रूपछटारूप स्वाती के जल कौ पान करिबे के ताईं मैं पपीहा की नाईं कहा सदा तरसतौ रहूँ—छटपटातौ रहूँ हूँ। तेरे मोहक रूप, सील—सुभाव तथा गुनन की मधुरता (बरबस) मेरे चित्त कूँ चुराय लेय है। याई सौं मैं नित्य तेरे प्रेम कौ बखान करतौ भयौ वाई के गान में बिभोर—अपने कूँ भूल्यौ रहूँ हूँ।

[४]

श्रीराधा के प्रेमोद्गार-श्रीकृष्ण के प्रति

मेरी इस विनीत विनती को सुन लो, हे व्रजराजकुमार !
युग-युग, जन्म-जन्म में मेरे तुम ही बनो जीवनाधार।।
पद-पंकज-पराग की मैं नित अलिनी बनी रहूँ, नँदलाल !
लिपटी रहूँ सदा तुमसे मैं, कनकलता ज्यों तरुतमाल।।
दासी मैं हो चुकी सदा को, अर्पण कर चरणों में प्राण।
प्रेम-दाम से बँध चरणों में, प्राण हो गये धन्य महान।।
देख लिया त्रिभुवन में बिना तुम्हारे और कौन मेरा।
कौन पूछता है 'राधा' कह, किसको राधा ने हेरा।।
इस कुल, उस कुल—दोनों कुल, गोकुल में मेरा अपना कौन ?
अरुण मृदुल पद-कमलों की ले शरण अनन्य, गयी हो मौन।।
देखे बिना तुम्हें पलभर भी मुझे नहीं पड़ता है चैन।
तुम ही प्राणनाथ नित मेरे, किसे सुनाऊँ मन के बैन।।

रूप-शील-गुणहीन समझकर कितना ही दुतकारो तुम।
चरणधूलि मैं, चरणों में ही लगी रहूँगी, बस, हरदम।।

मेरी या नम्र बीनती कूँ, हे व्रजराजकुमार! तुम ध्यान दै कैं सुनि लीजौं। जुग-जुगान्त में, जनम-जनम में तुम ही मेरे जीवन के आधार बने रहौ—याई मैं चाहूँ हूँ। तुम्हारे चरन-कमल के पराग की, हे नन्दलाल! मैं नित्य भ्रमरी बनी रहूँ—उन पै मँडराती डोलूँ। इतनौई नायँ, जैसैं सोने की बेल नबीन तमाल के वृच्छ सौं सदाँ लिपटी रहै, वाई प्रकार मैंहूँ तुम्हारे, श्रीअंग ते सटी रहूँ। तुम्हारे चरनन पै अपने प्रानन कूँ न्योछावर करि कैं मैं सदाँ के ताईं तुम्हारी चेरी बनि चुकी हूँ—नायँ-नायँ, प्रेम की डोरी सौं तुम्हारे चरननमें बँधि कैं मेरे ये प्रान अत्यन्त धन्य है गए। मैंने परिच्छा करिकैं देख लीनी, त्रिलोकी में तुम कू छाड़िकैं मेरौ और कौन है—कौऊ नायँ। 'राधा' नाम लैकैं दूसरौ कौन मोकूँ टेरै हैं और मो राधा की हू दृष्टि और कौन की माऊँ गई है? मेरे पीहर में और सासुरे में दोनों परिवारन में या गोकुल (व्रज) में मेरौ सगौ कौन है—कोऊ नायँ। एकमात्र तुम्हारे लाल-लाल सुकुमार चरन-कमलन कौ आसरौ लैकैं मैं मौन है गई हूँ। तुम कूँ देखे बिना मोकूँ एक पलहूँ चैन—सांति नायँ मिलै। कारन, सदा के लिएँ तुम ही मेरे प्रानन के स्वामी हौ, तुम कूँ छाड़ि कैं और कौन कूँ अपने मन की बात सुनाऊँ? रूप, सील-सुभाव तथा गुनन ते हीन समुझि कैं तुम मो कूँ कितनौहू दुतकारौ, मैं तौ तुम्हारे चरनन की रज हूँ और हर छन चरनन मेंई चिपटी रहूँगी—बस, इतनी बात जानूँ हूँ।

[५]

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

हे वृषभानुराज-नन्दिनि! हे अतुल प्रेम-रस-सुधा-निधान।
गाय चराता वन-वन भटकूँ, क्या समझूँ मैं प्रेम-विधान।।
ग्वाल-बालकों के सँग डोलूँ, खेलूँ सदा गँवारू खेल।
प्रेम-सुधा-सरिता तुमसे मुझ तप्त धूल का कैसा मेल?
तुम स्वामिनि अनुरागिणि! जब देती हो प्रमभरे दर्शन।
तब अति सुख पाता मैं, मुझपर बढ़ता अमित तुम्हारा ऋण।।

कैसे ऋण का शोध करूँ मैं, नित्य प्रेम-धन का कंगाल।
तुम्हीं दया कर प्रेमदान दे मुझको करती रहो निहाल॥

हे वृषभानु राजा की बेटी ! हे प्रेम-रस-सुधा की अनुपम खानि ! मैं तौ गाय चरावँतौ बन-बन में भटकतौ रहूँ; मैं भला, प्रेम की रीति-नीति—प्रेम कैसैं कियौ जाय हैं, सो कैसैं जानूँ। मैं तो ग्वाल-बालन के संग डोल्यौ करूँ तथा सदा गँवारू खेल खेलतौ रहूँ हूँ। तुम तौ प्रेमरूपी अमृत की सरिता हौ और मैं तपी भई बारू हूँ। मेरौ तुम्हारे साथ कहा मेल है। हे अनुरागभरी स्वामिनी ! जबहू तुम मोकूँ प्रेमभरे दरसन देऔ हौ, वा छन मोकूँ अपार सुख कौ अनुभव होय है और मो पै तुम्हारौ रिन अपार बढ़ि जाय है। मैं तौ सदाई प्रेम-धन कौ कंगाल हूँ, तब मैं तुम्हारे या अत्यन्त बढ़े भए रिन कूँ कैसैं चुकाय सकूँ हूँ। तुम दया की खानि हौ, तुमहीं प्रेम कौ दान दैकैं मोकूँ निहाल—कृतार्थ करती रहौ, याई मेरी बीनती है।

[६]

श्रीराधा के प्रेमोद्गार—श्रीकृष्ण के प्रति

सुन्दर श्याम कमल-दल-लोचन, दुखमोचन व्रजराजकिशोर।
देखूँ तुम्हें निरन्तर हिय-मन्दिर में, हे मेरे चितचोर॥
लोक-मान-कुल-मर्यादा के शैल सभी कर चकनाचूर।
रक्खूँ तुम्हें समीप सदा मैं, करूँ न पलक तनिक भर दूर॥
पर मैं अति गँवार ग्वालिनि, गुणरहित, कलंकी सदा कुरूप।
तुम नागर, गुण-आगर अतिशय, कुलभूषण, सौन्दर्य-स्वरूप॥
मैं रस-ज्ञान-रहित, रसवर्जित, तुम रस-निपुण, रसिक-सिरताज।
इतने पर भी, दयासिन्धु ! तुम मेरे उर में रहे विराज॥

कमल जैसे नेत्रनवारे स्यामसुन्दर ! हे दुःख ते छुड़ायबेवारे ब्रजराज-किसोर ! हे मेरे चितचोर ! मैं तुम कूँ अपने हृदयरूप भवन में निरन्तर—बिना अटक के निहारती रहूँ। मेरौ मन चाहै है कि लोकलाज, इज्जत-आबरू तथा कुल की मरजादारूप सबरे पहारन कूँ चकनाचूर करि कैं मैं तुम कूँ सदाईं अपने ढिग

बनायौ राखूँ, एक पलकहू नैंकहू दूर नायँ रहिबे दऊँ। परंतु मैं तो निरी गँवार ग्वारिनी हूँ, गुनन ते रीती, कलंकिनी और सदाँई कुरूपा हूँ। याके बिपरीत तुम अत्यन्त चतुर, गुनन के भंडार, कुल के महान भूषन तथा सुन्दरता के स्वरूप ही हौ। कहाँ मैं रस के ग्यान ते सर्बथा सून्य, रसहीन, और कहाँ तुम रस के मर्मग्य तथा रसिकन के सिरमौर हौ। इतनेहू पै तुम दया के सागर! (मो पै दया करिकैंई) हृदय में सदाँ बसे रहौ हौ।

[७]

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

हे प्रियतमे राधिके! तेरी महिमा अनुपम, अकथ, अनन्त।
युग-युग से गाता मैं अविरत, नहीं कहीं भी पाता अन्त॥
सुधानन्द बरसाता हिय में तेरा मधुर वचन अनमोल।
बिका सदा के लिये मधुर दृग-कमल, कुटिल भ्रुकुटी के मोल॥
जपता तेरा नाम मधुर अनुपम, मुरली में नित्य ललाम।
नित अतृप्त नयनों से तेरा रूप देखता अति अभिराम॥
कहीं न मिला प्रेम शुचि ऐसा, कहीं न पूरी मन की आश।
एक तुझी को पाया मैंने, जिसने किया पूर्ण अभिलाष॥
नित्य तृप्त, निष्काम नित्य में, मधुर अतृप्ति, मधुरतम काम।
तेरे दिव्य प्रेम का है यह जादूभरा मधुर परिणाम॥

हे प्रियतमे राधिके! तेरी महिमा उपमारहित, कहिबे में नायँ आवै ऐसी और अपार है। मैं जुग-जुगान्तर सूँ बिना बिराम लिएँ वाकौ गान करतौ आय रह्यौ हूँ, तोऊ वाकौ कहूँ अन्त—ओर-छोर नायँ मिलै। तेरे मधुर अनमोल बोल मेरे हृदय में अमृत-सरीखौ आनन्द बरसायौ करैं हैं। तेरे कमल-से मधुर नेत्र तथा बाँकी भौंह के मोल मैं सदाँ के लिएँ बिकि गयौ हूँ। अपनी मुरली में मैं तेरे उपमा-रहित मधुर एवं श्रेष्ठ नाम की रात-दिनाँ रट लगायौ करूँ हूँ और अतृप्त नेत्रन सूँ तेरे अत्यन्त मनोहर रूप कूँ निहारतौ रहूँ हूँ। तेरै जैसौ निर्मल प्रेम मोकूँ कहूँ नायँ मिल्यौ, कहूँ मेरे मन की आसा पूरन नायँ भई। एकमात्र तूही मोकूँ ऐसी मिली है, जाने मेरी अभिलाखा पूरन करी है। मैं (अपने ही आनन्द सूँ) नित्य तृप्त रहिबेवारौ और सदा निष्काम—कामनाहीन हूँ। ऐसे मोमें मधुर अपरि-

मित अतृप्ति और अत्यन्त मधुर अपरिमित कामना जगाय देनौ—ये तेरे अलौकिक प्रेम कोई जादूभर्‌यौ मधुर फल है।

[८]

श्रीराधा के प्रेमोद्‌गार—श्रीकृष्ण के प्रति

सदा सोचती रहती हूँ मैं, क्या दूँ तुमको, जीवनधन ?
जो धन देना तुम्हें चाहती, तुम ही हो वह मेरा धन ।।
तुम ही मेरे प्राणप्रिय हो, प्रियतम ! सदा तुम्हारी मैं ।
वस्तु तुम्हारी तुमको देते पल-पल हूँ बलिहारी मैं ।।
प्यारे ! तुम्हें सुनाऊँ कैसे अपने मन की सहित विवेक ।
अन्यों के अनेक, पर मेरे तो तुम ही हो, प्रियतम ! एक ।।
मेरे सभी साधनों की, बस, एकमात्र हो तुम ही सिद्धि ।
तुम ही प्राणनाथ हो, बस, तुम ही हो मेरी नित्य समृद्धि ।।
तन-धन-जन का बन्धन टूटा, छूटा भोग-मोक्ष का रोग ।
धन्य हुई मैं, प्रियतम ! पाकर एक तुम्हारा प्रिय संयोग ।।

हे जीवनधन ! मैं सदा सोचती रहूँ हूँ कि तुम कूँ कहा दऊँ। जो धन मैं तुम कूँ देनौ चाहूँ हूँ, वो मेरो धन तौ तुम ही हौ। तुम ही मोकूँ प्राननहू ते प्यारे हौ और हे प्रियतम ! मैं सदा तुम्हारी हूँ। तुम्हारी ही वस्तु तुम कूँ देती भई मैं पल-पल तुम पै बलिहारी—न्योछावर हूँ। हे प्यारे ! मैं अपने मन की बात विवेकपूर्वक—होस-हवास में तुम ते कैसैं कहूँ। औरन के तो अनेक हैं, परन्तु मेरे तौ हे प्रियतम ! तुम एक ही हौ। ज्यादा कहा कहूँ, मेरे सबरे साधनन की सिद्धि—सफलता एकमात्र तुम ही हौ। तुम ही मेरे प्राणनाथ हौ और तुम ही मेरी स्थिर सम्पत्ति हौ—केवल इतनी बात मैं जानूँ हूँ। देह, धन और परिवार कौ बन्धन टूटि गयौ, भोग और मोक्ष कौ रोगहू मिटि गयौ। एक तुम्हारौ प्यारौ संजोग—मिलन पाय कैं हे प्रियतम ! मैं धन्य-धन्य है गई।

[९]

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्‌गार—श्रीराधा के प्रति

राधे, हे प्रियतमे, प्राण-प्रतिमे, हे मेरी जीवन-मूल ।
पल भर भी न कभी रह सकता, प्रिये मधुर ! मैं तुमको भूल ।।

श्वास-श्वास में तेरी स्मृति का नित्य पवित्र स्रोत बहता ।
रोम-रोम अति पुलकित तेरा आलिंगन करता रहता ।।
नेत्र देखते तुझे नित्य ही, सुनते शब्द मधुर यह कान ।
नासा अंग-सुगन्ध सूँघती, रसना अधर-सुधा-रस-पान ।।
अंग अंग शुचि पाते नित ही तेरा प्यारा अंग-स्पर्श ।
नित्य नवीन प्रेम-रस बढ़ता, नित्य नवीन हृदय में हर्ष ।।

हे राधे ! हे प्रियतमे ! हे मेरे प्रानन की पूतरी ! हे मेरी जीवन-मूरि ! हे प्रिये ! मधुरातिमधुर तोकूँ बिसारि कैं मैं काहू छिन पलकहू नायँ रहि सकूँ हूँ। स्वास-स्वास में तेरी याद कौ पबित्र झरना बह्यौ करै है । मेरौ रोम-रोम अत्यन्त पुलकित हैकैं नित्य-निरन्तर तेरौ आलिंगन करतौ रहै है । मेरे नेत्र नित्य तोई कूँ निरखते रहैं हैं और ये कान तेरेई मधुर-मनोहर बोल सुनते रहैं हैं । मेरी नासिका तेरेई अंगन ते निकसिबेवारी परम मनोहर सुगन्ध कूँ सूँघती रहै है और रसना तेरेई अधरन के सुधामय रस कौ पान करती रहै है । मेरौ एक-एक अवयव तेरे प्यारे अंगन कौ स्पर्श पाय कैं नित्य पवित्र होतौ रहै है । तेरे प्रेम कौ रस (स्वाद) नित्य नयौ बढ़तौ रहै है और वाके सँग मेरे हृदय में हर्षहू नित्य नयौ बढ़तौ रहै है ।

[१०]

श्रीराधा के प्रेमोद्गार—श्रीकृष्ण के प्रति

मेरे धन-जन-जीवन तुम ही, तुम ही तन-मन, तुम सब धर्म ।
तुम ही मेरे सकल सुख-सदन, प्रिय निज जन, प्राणों के मर्म ।।
तुम्हीं एक, बस, आवश्यकता; तुम ही एक मात्र हो पूर्ति ।
तुम्हीं एक, सब काल, सभी विधि, हो उपास्य शुचि सुन्दर मूर्ति ।
तुम ही काम-धाम सब मेरे, एकमात्र तुम लक्ष्य महान ।
आठों पहर बसे रहते तुम मम मन्दिर में भगवान ।।[१]

---

१. (दूसरा पाठ) आठों पहर सरसते रहते तुम मन सर-वर में रसवान ।।

दूसरे पाठ के अनुसार अर्थ :

आठ पहर तुम मेरे मनरूपी सरोवर में रसवान—अखिल-रस-सुधा-सम्पन्न रूप में सरसते रहो हो ।

सभी इन्द्रियों को तुम शुचितम करते नित्य स्पर्श-सुख-दान।
बाह्याभ्यन्तर नित्य निरन्तर तुम छेड़े रहते निज तान॥
कभी नहीं तुम ओझल होते, कभी नहीं तजते संयोग।
घुले-मिले रहते करवाते-करते निर्मल रस-सम्भोग॥
पर इसमें न कभी मतलब कुछ मेरा तुमसे रहता भिन्न।
हुए सभी संकल्प भंग मैं-मेरे के समूल तरु छिन्न।
भोक्ता, भोग्य—सभी कुछ तुम हो, तुम ही स्वयं बने हो भोग।
मेरा मन बन सभी तुम्हीं हो अनुभव करते योग-वियोग॥

हे प्रानप्रियतम ! मेरौ धन, परिवार तथा जीवन तुम ही हौ; तुम ही मेरी देह और मन हौ; तुम ही सम्पूर्ण धर्म हौ। तुम ही मेरे सगरें सुखन की खानि हौ। तुम ही प्रिय निजजन और तुम ही प्रानन के मर्म—आधार हौ। अधिक कहा कहूँ, तुम ही मेरी एकमात्र आवश्यकता हौ और तुम ही वाकी एकमात्र पूर्ति हौ। तुम ही सब समैं और सब रीति ते मेरे लिएँ उपासना करिबे योग्य पवित्र और मधुर मनोहर मूर्ति हौ। तुम ही मेरे सगरे काम और घर हौ और तुम ही मेरे एकमात्र महान् लक्ष्य हौ। आठ पहर तुम मेरे मनरूपी मन्दिर में भगवान्—इष्टदेव के रूप में बसे रहौ हौ। तुम मेरी सगरी इन्द्रीन कूँ नित्य पवित्रतम स्पर्श-सुख कौ दान करते रहौ हौ। मेरे भीतर और बाहर तुम सदा अबिराम अपनी मधुर तान छेर्‌यौ करौ हौ। तुम कबहूँ मेरे नेत्रन ते दूर नायं होऔ और एक पलकहू संजोग कूं नाय तजौ हौ, और घुरे-मिले रहि कैं पवित्र रस कौ संभोग करते और करवाँवते रहौ हौ। परन्तु यामें मेरौ तुम ते भिन्न कबहूँ कछू दूसरौ अभिप्राय नायँ रहै। मेरे सगरे संकल्प भंग है गए और अहंकार तथा ममता के रूँख जरि सौं कटि गए। भोगिबेवारे और भोगिबे की वस्तु—सब कछू तुम ही हौ और तुम ही स्वयं भोग की क्रिया बने हौ और मेरौ मन बनि कैं तुमही संजोग और बियोग कौ अनुभव कर्‌यो करो हौ।

[११]

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

मेरा तन-मन सब तेरा ही, तू ही सदा स्वामिनी एक।
अन्यों का उपभोग्य न भोक्ता है कदापि, यह सच्ची टेक॥

तन समीप रहता न स्थूलतः, पर जो मेरा सूक्ष्म शरीर।
क्षणभर भी न विलग रह पाता, हो उठता अत्यन्त अधीर ।।
रहता सदा जुड़ा तुझसे ही, अतः बसा तेरे पद-प्रान्त।
तू ही उसकी एकमात्र जीवन की जीवन है निर्भ्रान्त ।।
हुआ न होगा अन्य किसी का उसपर कभी तनिक अधिकार।
नहीं किसी को सुख देगा, लेगा न किसी से किसी प्रकार ।।
यदि वह कभी किसी से किंचित् दिखता करता-पाता प्यार।
वह सब तेरे ही रस का, बस, है केवल पवित्र विस्तार ।।
कह सकती तू मुझे सभी कुछ, मैं तो नित तेरे आधीन।
पर न मानना कभी अन्यथा, कभी न कहना निज को दीन ।।
इतने पर भी मैं तेरे मन की न कभी हूँ कर पाता।
अतः बना रहता हूँ संतत तुझको दुख का ही दाता ।।
अपनी ओर देख तू मेरे सब अपराधों को जा भूल।
करती रह कृतार्थ मुझको, दे पावन पद-पंकज की धूल ।।

अहो प्रानप्यारी मेरी देह और मन—सब तेरौई हैं, तूही मेरी सदाँ एक-मात्र स्वामिनी है। मेरौ ये सरीर और मन और काहू कौ काहू काल में न तौ उपभोग्य—भोगिबे की बस्तु है और न भोगिबेबारौ है—ये मेरी साँची टेक—प्रन है। मेरी देह स्थूलरूप ते तेरे ढिंग (सदाँ) नायँ रहै—ये साँची है। परंतु मेरौ जो ये सूच्छम सरीर हैं, वो एक छिनहू तोते बिलग नायँ रहि सकै, (तेरे वियोग में) अत्यन्त अधीर—विकल ह्वै जाय है। ये सदा-सर्वदा तोही सौं जुर्यौ रहै है और यासौं तेरेई चरनन के ढिंग बस्यौ रहै है। कारन, तू ही वाके जीवन की जीवन—आधार है, यामें कोई भ्रम नायँ। वापै काहू दूसरे कौ काहू काल में रंचमात्र अधिकार नायँ है सकै। वाते काहू कूँ सुख हू नायँ मिलिबे कौ और न वाकूँ काहू ते प्रकार कौ सुख मिलि सकै है। जो कहूँ काहू छिन वो काहूसौं रंचमात्र हू प्यार करतौ अथवा पाँवतौ दीखै, तौ (समझि लेनौं चाहिये कि) वो बस एकमात्र तेरेई रस कौ पवित्र विस्तार है, और कछू नायँ। तू मोकूँ जी चाहै सो कहि सकै है, मैं तौ सदा तेरे आधीन हूँ। परन्तु मेरी या बात कूँ कबहूँ अन्यथा मत मानियौं और न अपने कूँ काहू छिन दीन कहियौं। इतनेहू पै मैं तेरे मन की कबहूँ नायँ करि पाऊँ। याही सौं मैं सदाँ तेरौ लिएँ दुःख कौई कारन

बन्यौ रहूँ हूँ। परंतु मेरी तौ तोसूँ या बीनती है कि तूँ अपने माऊँ कूँ देखि कैं मेरे सगरे अपराधन कूँ भूलि जा और मो कूँ अपने चरन-कमलन की पावन धूरि देकैं कृतार्थ—निहाल करती रह।

[१२]

श्रीराधा के प्रेमोद्गार—श्रीकृष्ण के प्रति

तुमसे सदा लिया ही मैंने, लेती-लेती थकी नहीं।
अमित प्रेम-सौभाग्य मिला, पर मैं कुछ भी दे सकी नहीं॥
मेरी त्रुटि, मेरे दोषों को तुमने देखा नहीं कभी।
दिया सदा, देते न थके तुम, दे डाला निज प्यार सभी॥
तब भी कहते—'दे न सका मैं तुमको कुछ भी, हे प्यारी !
तुम-सी शीलगुणवती तुम ही, मैं तुमपर हूँ बलिहारी'॥
क्या मैं कहूं प्राणप्रियतम से, देख लजाती अपनी ओर।
मेरी हर करनी में ही तुम प्रेम देखते, नन्दकिशोर ! ॥

हे प्रानेस्वर ! तुम ते सदा मैंने लियोई लियौ है, लैती-लैती मैं काहू छिन थकी—अघाई नायँ। तुम ते मोकूँ अपार प्रेम और सौभाग्य मिल्यौ, परन्तु मैं तुम कूँ कछु नायँ दै सकी। मेरी त्रुटि अथवा दोस तुमने कबहूँ नायँ देखे, तुम सदाईं दियौ करे, देते-देते कबहूँ थके—अघाए नायँ, अपनौ सगरौ प्यार मोकूँ दै डार्यौ। याऊ पै तुम कहौ हौ कि 'हे प्यारी ! मैं तोकूँ कछु नायँ दै सक्यौ। तुम्हारे-जैसी सील-सुभाव और गुनवारी नागरी एक तुम ही हौ, मैं तुम पै बलिहारी—न्यौछावर हूँ।' मैं अपने प्रान-प्रियतम तुम ते कहा कहूँ, मैं अपने माऊँ कूँ जब देखूँ तौ लाज के मारैं गड़ि जाऊँ हूँ। प्यारे नन्दकिसोर ! (मैं कहा कहूँ) मेरी प्रत्येक करनी में तुम कूँ प्रेम केई दरसन होय हैं। (ये तुम्हारी प्रेममई दृष्टि की चमत्कार है !)

[१३]

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

राधे ! तू ही चित्तरंजनी, तू ही चेतनता मेरी।
तू ही नित्य आत्मा मेरी; मैं हूँ, बस, आत्मा तेरी॥

तेरे जीवन से जीवन है, तेरे प्राणों से हैं प्राण।
तू ही मन, मति, चक्षु, कर्ण, त्वक्, रसना, तू ही इन्द्रिय प्राण।।
तू ही स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रिय के विषय सभी मेरे सुखरूप।
तू ही मैं, मैं ही तू, बस, तेरा-मेरा सम्बन्ध अनूप।।
तेरे बिना न मैं हूँ, मेरे बिना न तू रखती अस्तित्व।
अविनाभाव विलक्षण यह सम्बन्ध; यही, बस, जीवन-तत्त्व।।

प्यारी राधे ! तूही मेरे चित्त कौ रंजन करिबेवारी है—नायँ-नायँ, तूही मेरी चेतनता है—तेरी ही सत्ता ते मैं चेतन बन्यौ भयौ हूँ। तूही मेरी सनातन आत्मा है और मैं तेरी आत्मा हूँ—याते अधिक और कहा कहूँ। तेरे जीवन सौंईं मेरौ जीवन है और तेरे प्रानन सौंईं मेरे प्रान टिके भए हैं। मेरे मन, बुद्धि, नेत्र, कान, त्वचा, रसना और घ्राणेन्द्रिय (नासिका) तू ही है। मेरी स्थूल एवं सूक्ष्म इन्द्रीन के सुखरूप विषय तू ही है। तू ही मैं है, मैं ही तू हूँ। बस, तेरौ और मेरौ सम्बन्ध निरालौ—अद्वितीय है। तेरे बिना मेरी कछु हस्ती नायँ और मेरे बिना तेरौ कछू अस्तित्व नायँ। तेरौ-मेरौ ये अनौखौ अबिनाभाव सम्बन्ध है—मेरे विना तू और तेरे बिना मैं नायँ रहि सकूँ। बस, येई जीवन कौ तत्त्व—सार है।

[१४]

श्रीराधा के प्रेमोद्‌गार-श्रीकृष्ण के प्रति

तुम अनन्त सौन्दर्य-सुधा-निधि, तुममें सब माधुर्य अनन्त।
तुम अनन्त ऐश्वर्य-महोदधि, तुममें सब शुचि शौर्य अनन्त।।
सकल दिव्य सद्‌गुण सागर तुम लहराते सब ओर अनन्त।
सकल दिव्य रस-निधि तुम अनुपम, पूर्ण रसिक, रसरूप अनन्त।।
इस प्रकार जो सभी गुणों में, रस में अमित, असीम, अपार।
नहीं किसी गुण-रस की उसे अपेक्षा कुछ भी, किसी प्रकार।।
फिर, मैं तो गुणरहित सर्वथा, कुत्सित-गति, सब भाँति गँवार।
सुन्दरता-मधुरता-रहित, कर्कश, कुरूप, अति दोषागार।।
नहीं वस्तु कुछ भी ऐसी, जिससे तुमको मैं दूँ रस-दान।
जिससे तुम्हें रिझाऊँ, जिससे करूँ तुम्हारा पूजन-मान।।

एक वस्तु मुझमें अनन्य, आत्यन्तिक है विरहित उपमान।
मुझे सदा प्रिय लगते तुम, यह तुच्छ किन्तु अत्यन्त महान ॥
रीझ गये तुम इसी एक पर, किया मुझे तुमने स्वीकार।
दिया स्वयं आकर अपनेको, किया न कुछ भी सोच-विचार॥
भूल उच्चता, भगवत्ता सब, सत्ता का सारा अधिकार।
मुझ नगण्य से मिले तुच्छ बन, स्वयं छोड़ संकोच-सँभार ॥
मानो अति आतुर मिलने को, मानो हो अत्यन्त अधीर।
तत्त्वरूपता भूल सभी, नेत्रों से लगे बहाने नीर॥
हो व्याकुल, भर रस अगाध, आकर शुचि रस-सरिता के तीर।
करने लगे परम अवगाहन, तोड़ सभी मर्यादा धीर॥
बढ़ी अमित, उमड़ी रस-सरिता पावन, छायी चारों ओर।
डूबे सभी भेद उसमें, फिर रहा कहीं भी ओर न छोर॥
प्रेमी, प्रेम, परम प्रेमास्पद—नहीं ज्ञान कुछ, हुए विभोर।
राधा प्यारी हूँ मैं, या हो केवल तुम प्रिय नन्दकिशोर॥

हे प्रानप्यारे ! तुम सौन्दर्यरूप सुधा की अनन्त निधि हौ, तुम में सब प्रकार के अनन्त माधुर्य भर्‌यौ है। तुम ऐस्वर्य केऊ अनन्त महासागर हौ और तुम्हारे भीतर सब प्रकार को पवित्र सूर-बीरताहू अनन्तरूप में भरी है। सम्पूर्ण दिव्य श्रेष्ठ गुनन के अनन्त सागररूप तुम सब दिसान मैं लहरायौ करौ हौ। तुम सम्पूर्ण अलौकिक रसन की निधि हौ, अनुपम एवं पूर्ण रसिक हौ और अनन्त रसरूप हौ। या प्रकार सौ जो सम्पूर्ण गुनन में तथा रस में परिमानरहित, सीमा रहित और अपार होय, वाकूँ काहू गुन अथवा रस की काहू प्रकार ते नैंकहू अपेच्छा—चाह अथवा प्रयोजन नायँ है सकै। याके विपरीत मैं तौ सब प्रकार ते गुनहीन, बेढंगी एवं सब तरह सौं गँवारिन हूँ। सुन्दरता, मधुरता कौ मोमें नाम निसान हूँ नायँ। इतनौई नायँ, मैं कठोर सुभाव की, अत्यन्त कुरूपा और दोसन की घर हूँ। मोपै ऐसी कोई बस्तु नायँ, जासौं मैं तुम कूँ रस—आनन्द दै सकूँ, जासौं मैं तुम कूँ रिझाय सकूँ, जासौं मैं तुम्हारी पूजा करि सकूँ, तुम्हारौ सम्मान करि सकूँ। हाँ, एक तुच्छ परन्तु अत्यन्त गौरव की वस्तु मोपै अवस्य ऐसी है, जो काहू दूसरे पै नायँ, जाकौ अन्त नायँ है सकै और जाकी बराबरी कोई

नायँ करि सकै। वो येई है कि तुम मोकूँ सदा प्यारे लगौ हौ। याई एक वस्तु पै तुम रीझि गए और तुम ने मोकूँ अंगीकार कर लियौ। यापै तुम ने स्वयं आय कैं अपने आप कूँ मोकूँ दै दीनौ,कछू सोच-विचार नायँ कीनौ। अपनी सम्पूर्ण महानता, भगवत्ता एवं सत्ता कौ सगरौ अधिकार भूलि कैं और संकोच को बोझा उतारि कैं तथा परवा छोड़ि कैं स्वयं तुच्छ बनि कैं तुम मो नगन्य—नाचीज सूँ या प्रकार मिले मानौं कोई मिलिबे के ताईं अत्यन्त आतुर—उतावरी और अधीर होय। या प्रकार अपनी तत्त्वरूपता—वास्तविक सर्वरूपता कूँ भूलि कैं नेत्रन ते आसूँ बहायबे लगे। इतनौई नायँ, ब्याकुल है कैं अगाध रस भरि कैं तथा पवित्र रस की सरिता के तीर पै आय कैं सब प्रकार की मरजादा एवं धीरज कौ बाँध सर्वथा तोरि कैं वा रस नदी में तुम गहरे गोता लगायबे लगे। वा समै पावन रस की सरिता अपार रूप में बढ़ि गई और उमड़ि कैं चार्यो ओर छाय गई—ब्याप्त है गई। सब प्रकार के भेद-भाव वाकी गहिराई मैं डूबि गए—बिलीन है गए और वा रस-सरिता कौ कहूँ ओर-छोर नायँ रह्यो। प्रेमी, प्रेम और परम प्रेमास्पद कौ भेदग्यान नैंकहू नायँ रह्यौ और तुम बिभोर (बाह्यज्ञानशून्य) है गए। वा समै तुमकूँ येऊ ग्यान नायँ रहि गयौ कि केवल मैं तुम्हारी राधा प्यारी हूँ अथवा केवल मेरे प्रियतम तुम नन्दकिसोर ही हो। (केवल मैं रह गयी हूँ या केवल तुम ही हौ—या बात कौऊ भान नायँ रह्यौ)।

[१५]

श्रीकृष्ण के प्रेमोद्गार—श्रीराधा के प्रति

राधा! तुम-सी तुम्हीं एक हो, नहीं कहीं भी उपमा और।
लहराता अत्यन्त सुधा-रस-सागर, जिसका ओर न छोर॥
मैं नित रहता डूबा उसमें, नहीं कभी ऊपर आता।
कभी तुम्हारी ही इच्छासे हूँ लहरोंमें लहराता॥
पर वे लहरें भी गाती हैं एक तुम्हारा रम्य महत्त्व।
उनका सब सौन्दर्य और माधुर्य तुम्हारा ही में स्वत्व॥
तो भी उनके बाह्य रूप में ही, बस, मैं हूँ लहराता।
केवल तुम्हें सुखी करने को सहज कभी ऊपर आता॥

एकछत्र स्वामिनि तुम मेरी अनुकम्पा अति बरसाती।
रखकर सदा मुझे संनिधि में जीवन के क्षण सरसाती।।
अमित नेत्र से गुण-दर्शन कर, सदा सराहा ही करती।
सदा बढ़ाती सुख अनुपम, उल्लास अमित उर में भरती।।
सदा, सदा मैं सदा तुम्हारा, नहीं कदा कोई भी अन्य—
कहीं जरा भी कर पाता अधिकार दास पर सदा अनन्य।।
जैसे मुझे नचाओगी तुम, वैसे नित्य करूँगा नृत्य।
यही धर्म है, सहज प्रकृति यह, यही एक स्वाभाविक कृत्य।।

प्यारी राधा ! तुम्हारे-जैसी तौ तुम ही हौ, और कहूँ तुम्हारी समता नायँ। तुम्हारे भीतर सुधा-रस कौ अनन्त सागर लहरायौ करै है, जाको कहूँ ओर-छोर नायँ दीखै। वामें मैं सदा डूब्यौ रहूँ, कबहूँ उतराऊँ नायँ। काहू छिन तुम्हारी इच्छा तेई (ऊपर आय कैं) तरंगन में मैं लहरावतौ रहूँ हूँ। परन्तु वे तरंगहू एक तुम्हारेई परम रमनीय महत्त्व कौ गान कर्यो करैं हैं, बिन लहरन कौ सगरौ सौन्दर्य तथा माधुर्य एकमात्र तुम्हारी ही सम्पत्ति है। ताहूँ पै विनके बाह्य रूप में मेंई मैं लहरातौ रहूँ हूँ, केवल तुम कूँ सुखी करिबे के ताँईं-ही काहू छिन सहज रूप ते मैं उतरायबे लगूँ हूँ। मेरी एकछत्र स्वामिनी ! तुम मोपै अपार दया बरसाँवती रहो हौ और मोकूँ सदा अपने समीप राखि कैं जीवन के छनन कूँ सरसाँवती रहौ हौ। अपने अनन्त नेत्रन ते मोमे गुन देखि कैं सदा मोकूँ सराह्यौ करौ हौ तथा अनुपम रस की धारा बहाँवती एवं हृदय में अपार उल्लास भरती रहौ हौ। सदा-सदा मैं सदा तुम्हारौ हूँ, तुम्हारे या नित्य अनन्य दास पै कहूँ कोऊ दूसरो कबहूँ रंचमात्रहूँ अधिकार नायँ करि सकै। जा प्रकार ते मोय तुम नचाऔगी, मैं वाई प्रकार ते सदा नाच्यौ करूँगौ। येई मेरौ धर्म है, येई मेरौ सहज सुभाव है और येई मेरौ स्वाभाविक कर्म है।

[१६]

श्रीराधा के प्रेमोद्‌गार—श्रीकृष्ण के प्रति

तुम हो यन्त्री, मैं यन्त्र; काठ की पुतली मैं, तुम सूत्रधार।
तुम करवाओ, कहलाओ, मुझे नचाओ निज इच्छानुसार।।

मैं करूँ, कहूँ, नाचूँ नित ही परतन्त्र; न कोई अहंकार।
मन मौन-नहीं, मन ही न पृथक्; मैं अकल खिलौना, तुम खिलार॥
क्या करूँ, नहीं क्या करूँ—करूँ इसका मैं कैसे कुछ विचार।
तुम करो सदा स्वच्छन्द, सुखी जो करे तुम्हें, सो प्रिय विहार॥
अनबोल, नित्य निष्क्रिय, स्पन्दन से रहित, सदा मैं निर्विकार।
तुम जब जो चाहो, करो सदा बेशर्त, न कोई भी करार॥
मरना-जीना मेरा कैसा, कैसा मेरा मानापमान।
हैं सभी तुम्हारे ही, प्रियतम! ये खेल नित्य सुखमय महान॥
कर दिया क्रीडनक बना मुझे निज कर का तुमने अति निहाल।
यह भी कैसे मानूँ-जानूँ, जानो तुम ही निज हाल-चाल॥
इतना मैं जो यह बोल गयी, तुम जान रहे—है कहाँ कौन।
तुम ही बोले भर सुर मुझमें मुखरा-से, मैं तो शून्य मौन॥

हे प्रियतम! तुम यन्त्र के चालक हौ, मैं यन्त्र हूँ; मैं काठ ही पूतरी हूँ, तुम सूत्रधारा—पूतरी कूँ नचायबेवारे हौ। तुम अपनी इच्छा के अनुकूल मोते क्रिया करवायो तथा बुलवायो एवं अपने इशारे पै नचायो करौ हौ। मैं तुम्हारे आधीन हैकैं सदा क्रिया करती, बोलती तथा नाचती रहू हूँ; मेरे भीतर कोई अहंकार—मैंपनौ नायँ। मेरौ मन सर्वथा मौन—क्रियाहीन है गयो है—नायँ-नायँ मेरे मन की अलग सत्ताई नायँ रही—तुम्हारौ मन ही मेरौ मन बनि रह्यौ है। मैं तो अचिन्त्य (काहू की धारणा में नायँ आवै, ऐसौ) खिलौना हूँ, तुमही वाकूँ खिलायबेवारे हौ। मोकूँ कका करनौ चहियै और कहा नहीं करनौ चहियै, यापै में कैसें कछू विचार करूँ। तुम ही स्वयं सोचि कैं, जासैंतुम कूँ सुख होय, ऐसौ तुम कूँ प्यारो लगिबेवारो बिहार—तुम्हारी रुचि कौ खेल तुम स्वच्छन्दता ते (काऊ तरह को संकोच न करि कैं) नित्य करते रहो। मैं तो सदा अनबोल—बोलिबे में असमर्थ, क्रियाहीन, चेष्टाशून्य (हिलवे-डोलबे में हूँ अशक्त) तथा विकाररहित (प्रतिक्रिया शून्य) हूँ। तुम जा खन जो करनो चाहौ, सोई सदाँ कर्‌यौ करौ—मेरी आड़ी सूँ कोई सर्त अथवा करार नायँ है। मेरे ताईं मरिबौ जीबौ—कैसौ और

मान-अपमानहू कछ् अर्थ नायँ राखै। हे प्रियतम! ये सागर तुम्हारेई महान सुखमय नित्य के खेल है। तुम अपने हाथ कौ खिलौना बनाय कैं गौकूँ अत्यन्त निहाल करि दीनौ है। येऊ मैं कैसैं मानूँ अथवा जानूँ। अपनौ हालचाल तुम ही जानौ (कारन, तुम ही सब कछू करौ-कराऔ हौ)। इतनी बात जो मैं महि गई, सोऊ तुम जानौ हौ कि कौन कहाँ पै है। साँची बात तौ ये है कि मोमें सूर भरि कैं तुम ही मुखरा-जैसे बने बोले हौ। मैं तो बाचालता ते शून्य, मौन हूँ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत :

वेदचतुष्टय—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद
ऐतरेय ब्राह्मण
शतपथब्राह्मण
तैत्तरीयसंहिता
छान्दोग्य उपनिषद्
कठोपनिषद्
श्वेताश्वतरोपनिषद्
निरुक्त : भास्कराचार्य
निरुक्त : टीका दुर्गाचार्य
महाभारत, शान्तिपर्व
विष्णुसहस्रनामस्तोत्र : शांकर भाष्य
श्रीमद्भागवत महापुराण
अष्टाध्यायी : पाणिनि
ब्रह्मवैवर्त्त पुराण
पद्मपुराण
स्कन्दपुराण
देवीभागवत
नारदपांचरात्र
भक्तिसूत्र : नारद
भक्तिसूत्र : शाण्डिल्य
पाद्मतन्त्र
राधातन्त्र
ब्रह्मसूत्र : रामानुजभाष्य
ब्रह्मसूत्र : निम्बाकाचार्य
उज्ज्वलनीलमणि : रूपगोस्वामी
हरिभक्तिरसामृतसिन्धु : रूपगोस्वामी
षट्सन्दर्भ रिान्धु : जीवगोस्वामी

भगवद्भक्तिरसायन : मधुसूदनसरस्वती
राधातापनीयोपनिषद्
गीतगोविन्द : जयदेव
राधासुधानिधि : हितहरिवंश ।

हिन्दी :

भारतीय संस्कृति और साधना (दो भाग): म० म० पं० गोपीनाथ कविराज
श्रीराधामाधवचिन्तन : श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार
भागवत सम्प्रदाय : आचार्य बलदेव उपाध्याय
ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास : श्रीप्रभुदयाल मीतल
वैष्णवधर्म : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
कबीर : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
राधावल्लभ : सम्प्रदाय और साहित्य : डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
श्रीहितहरिवंश : सम्प्रदाय और साहित्य : श्रीललिताचरण गोस्वामी
मध्यकालीन प्रेमसाधना : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
मध्यकालीन धर्मसाधना : आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
अष्टछाप का सांस्कृतिक मूल्यांकन : डॉ० मायारानी टण्डन
भागवत धर्म : आचार्य विनोबा भावे
मानसदर्शन : डॉ० श्रीकृष्णलाल भट्ट
मानसचिन्तन : श्रीरामकिंकर उपाध्याय
मानसदर्शन : डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र
भक्तिसुधा (भाग १, २) : स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज
उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा : आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
सीमा के भीतर असीम का प्रकाश : श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय
अष्टयाम सेवाविधि : श्रीरूपलाल गोस्वामी
केलिमाल और सिद्धान्त के पद : स्वा० हरिदास
चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस

अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, : डॉ० दीनदयालु गुप्त
नागरीदास अष्टक : श्रीनागरीदास
चैतन्यचरितावली : श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी
गीतारहस्य : लोकमान्य बालगंगाधर तिलक
सन्तवाणी-संग्रह : वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
महावाणी : श्रीहरिव्यास देवाचार्य
भारतीय साधना और सूर-साहित्य : डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'
ब्रजबुलि : डॉ० रामपूजन तिवारी
सूरसाहित्य : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
सूर और उनका साहित्य : डॉ० हरवंशलाल शर्मा
हिन्दी सगुण-काव्य की सांस्कृतिक भूमिका : डॉ० रामनरेश वर्मा
ब्रजमाधुरीसार : श्रीवियोगी हरि
आश्रम-भजनावली : नवजीवन प्रकाशन-मन्दिर, अहमदाबाद
रामानन्द-सम्प्रदाय : हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव
भागवत दर्शन : डॉ० हरवंशलाल शर्मा तथा डॉ० बद्रीनारायण श्रीवास्तव
सोलहवीं शताब्दी के हिन्दी और बंगाली वैष्णवकवि : डॉ० रत्नकुमारी
तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा : डॉ० श्रीधर सिंह
सूर का रामकाव्य : त्रिलोकचन्द्र गुप्त
हिन्दी-साहित्य का इतिहास : डॉ० श्यामसुन्दरदास
हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ० रामकुमार वर्मा
हिन्दी-साहित्य की भूमिका : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी-साहित्य : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी-साहित्य का अतीत (भाग १,२) : आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र
हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास : डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त
हिन्दी-साहित्य का इतिहास : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
हिन्दी-भाषा और साहित्य : डॉ० राजेन्द्र सिंह गौड़

हिन्दी-भारती : डॉ० रामरतन भटनागर
हिन्दी-साहित्य का नया इतिहास : डॉ० रामखेलावन पाण्डेय
हिन्दी-भाषा तथा साहित्य : डॉ० उदयनारायण तिवारी
हिन्दी-साहित्य को मराठी कवियों की देन : डॉ० विनयमोहन शर्मा
आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन : डॉ० मनोहर काले
सन्त-साहित्य और साधना : डॉ० माधव
मीराँ की प्रेमसाधना : डॉ० माधव
रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना : डॉ० माधव
रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय : डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह
रसमीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
रससिद्धान्त : डॉ० नगेन्द्र
साकेत : एक अध्ययन : डॉ० नगेन्द्र
सन्त-परम्परा और साहित्य : सं० आचार्य नलिनविलोचन शर्मा
सन्त-परम्परा और साहित्य : सं० डॉ० माधव तथा डॉ० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
सन्त-काव्य में परोक्ष सत्ता का स्वरूप : डॉ० बाबूराव जोशी
निर्गुण धारा : बैजनाथ विश्वनाथ
हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति-काव्य : डॉ० के० भास्करन् नायर
रामकथा : डॉ० कामिल बुल्के
उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन : प्रो० जगदीश पाण्डेय
मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद : डॉ० कपिलदेव पाण्डेय
सन्तों का भक्तियोग : डॉ० राजदेव सिंह
सन्त ज्ञानेश्वर : श्रीजगमोहनलाल चतुर्वेदी
सन्त तुकाराम : श्रीलक्ष्मणनारायण गर्दे
मानस की रूसी भूमिका : अनु० डॉ० केसरीनारायण शुक्ल
निम्बार्कमाधुरी : सं० व्रजविहारीशरण
निम्बार्क वेदान्त : आचार्य ललितकृष्ण गोस्वामी
भागवती कथा : श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

भक्तितत्त्व : स्वा० श्रीअखण्डानन्द सरस्वती

भक्तकवि व्यासजी : श्रीवासुदेव गोस्वामी

भक्तनामावली (ध्रुवदासकृत) : श्रीराधाकृष्णदास

भक्तमाल : श्रीनाभादास

रसिक-प्रकाश भक्तमाल : श्रीयुगलप्रिया

भक्तमाल की टीका : श्रीरूपकलाजी

महावाणी (हरिव्यास देवाचार्य) : प्र० व्रजविहारी शरण

युगलशतक (श्रीभट्टदेव) : प्र० व्रजविहारी शरण

रसिकपथ-चन्द्रिका : चाचावृन्दावनदास

रामचरितमानस : गो० तुलसीदास

कवितावली : गो० तुलसीदास

गीतावली : गो० तुलसीदास

विनयपत्रिका : गो० तुलसीदास

दोहावली : गो० तुलसीदास

सूरसागर : काशी ना० प्र० सभा.

रासपंचाध्यायी (नन्ददासकृत) : सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

व्यासबानी (श्रीहरिरामव्यास) : प्र० राधावल्लभ वैष्णव सभा

श्रीहितचरित्र : श्रीगोपालप्रसाद शर्मा

श्रीहितराधावल्लभ भक्तमाल

श्रीहितहरिवंशसहस्रनाम

श्रीराधा का क्रम-विकास : डॉ० शशिभूषणदास गुप्त

मधुररस : डॉ० रामपदार्थ शर्मा 'अभिनव'

सूरदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

तुलसीदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

भक्ति का विकास : डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'

विद्यापति : डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

षड्दर्शनरहस्य : पं० रंगनाथ पाठक

भारतीय दर्शन : डॉ० विश्वनाथप्रसाद वर्मा
भारतीय दर्शनों का समन्वय : डॉ० आदित्यनाथ झा
सावित्री : श्रीमती विद्यावती कोकिल
भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा : आचार्य बलदेव उपाध्याय

पत्र-पत्रिकाएँ :

'कल्याण' : गीता प्रेस 'गोरखपुर'
'सन्तवाणी'-अंक
'भक्तचरितांक'
'उपासना-अंक'
'भक्ति-अंक'
'सन्तांक'
'हिन्दू-संस्कृति-अंक'
'श्रीरामांक'
'परिषद्-पत्रिका', बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
'श्रीकृष्ण-सन्देश', श्रीकृष्ण-जन्मस्थान, मथुरा
'चिन्तामणि', 'सत्साहित्य-प्रकाशन-ट्रस्ट, बम्बई
'श्रीअवध सन्देश', लक्ष्मण किला, अयोध्या
'अग्निशिखा' और 'पुरोधा, श्रीअरविन्दाश्रम, 'पाण्डिचेरी-२
'आनन्दवार्त्ता', काशी
काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, काशी
'विश्वभारती', शान्तिनिकेतन

अँगरेजी :

The Hindu View of Life : S. Radhakrishnan
The Idealist View of Life : S. Radhakrishnan
The Life Divine : Sri Aurovindo
The Science of Emotions : Dr. Bhagwan Das
The Savitri : Sri Aurovindo

An Introduction to the Post-Chaitanya
Sahajia Cult : Manindra Mohan Bose
An Outline of the Religious Literature of India :
I. N. Farquhar
Aspects of Early Vaishnavism : I. Gauda
The Synthesis of Yoga : Sri Aurovindo
Bhakti cult in Ancient India : B. K. Goswami
History of Mediaeval Hindu India : C. V. Vaidya
Materials for the Study of the Early History of the
Vishnu Sect : Dr. H. Raychoudhary
Religions in Vedic Literature : Dr. P.S. Deshmukh
Vaishnavism, Shaivism and other Religious systems of India : Dr. R.G. Bhandarkar
The Nirgun School of Hindi Poetry :
Dr. P. D. Barthwal
The Theory & Art of Mysticism :
Dr. R. K. Banerjee
Mysticism : Miss Evelyn Underhill
The Mother India : Shri Aurovindo Ashram
Pondicherry—2.

★